रक्षोहणं वलग-हनं वैष्णवीमिदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे निष्ट्यो यममात्यो निचखानेदमहं तं वलगमुत्किरामि । य मे समानो यमसमानो निचखानेदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे सबन्धुः यमसबन्धुर्निचखानेदमहं तं वलगमुत्किरामि । यं मे सजातो यमसजातो निचखानोत्कृत्या किरामि । यजु० अ० ५ । २३ ॥

राक्षसों के नाश करने और घातक प्रयोगों के नाश करने वाली राजनीति का मैं उपदेश करता हूं कि—'मेरा पुत्र, या मित्र, बराबर वाला, या कम, बन्धु या अबन्धु, सहोदर या दूर के रिश्ते का कोई पुरुष भी वलग नामक घातक प्रयोग भूमि में गाड़ दे तो मैं उसको भूमि खनकर निकाल बाहर करूं। इस प्रकार (कृत्याम् उत् किरामि) कृत्या अर्थात् घातक प्रयोग को भी उखाड़ फेंकूं।

इस यजुष् की व्याख्या करते हुए शतपथ ने लिखा है कि—

देवाश्च वा असुराश्च । उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे । ततो असुराः एषु लोकेषु कृत्यां वलगान् निचख्नुः, उत एवं चिद् देवान् अभिभवेमेति । तद्वै देवा अस्पृण्वत । त एनैः कृत्यां वलगान् उद् अखनन् । यदा वै कृत्यामुत्खनन्त्यथ साऽलसा मोघा भवति । तथो एवैष एतद् यत् यस्मा अत्र कश्चिद् द्विषन् भ्रातृव्यः कृत्यां वलगान् निखनति तान् एव एतदुत्किरति । तस्माद् उपरवान् खनति ।

अर्थ—देव और असुर दोनों ही प्रजापति के सन्तान थे । वे परस्पर लड़ते थे । तब असुरों ने इन लोकों में 'कृत्या' और 'वलग' इनको गाड़ दिया । कि इन से देवों को परास्त करेंगे । देवों को यह पता चल गया । देवों ने इन २ उपायों से कृत्या और वलग दोनों को उखाड़ डाला । जब कृत्या को लोग उखाड़ देते हैं तो वह (अलसा) मन्द पड़ जाती है और (मोघा) व्यर्थ हो जाती है । इसी प्रकार यह भी होता है कि कोई शत्रु द्वेष करके जिस किसी के लिये कृत्या और वलगों को गाड़ देता है उनको खोद डालता है । इसी से उपरवों को खोदता है ।

शतपथ के उद्धरण ने स्पष्ट कर दिया है कि ये 'वलग' गुप्त बारूद या विस्फोटक पदार्थ के गोले हैं जो बड़े वेग से फूट कर प्राणों का नाश करते हैं और उनको खोद देने पर फिर उनका कुछ बल नहीं रह जाता है । वे

क्षुप हो जाते हैं। वे 'उपरव' कहाते हैं क्योंकि जब ये फूटते हैं आवाज़ करके फूटते हैं। इनके अतिरिक्त इसी के साथ यजुर्वेद में 'बृहद्वा' शब्द का भी प्रयोग किया है।

'बृहद् असि बृहद्वा बृहतीमिन्द्राय वाच वद'। यजु० ५। २२॥

यह उपमा से यहां सेनापति के वर्णन में आया है। कदाचित् तोप या महती शक्ति बृहद्वा' कही जाती है। और मगन गोले 'उपरव' कहाते हों। वेद ने 'बृहद्व' शब्द का प्रयोग किया है ब्राह्मणकार ने 'उपरव' शब्द का भी परिचय दिया है।

इन मगन गोलों को गाड़ने का भी विशेष प्रकार पूर्व विद्वानों को ज्ञात था वे उनको व्यूहाकार में खोद कर गाड़ते थे। शत० ३। ५। ४। ६। ७॥

कुछ कृत्याएं ऐसी होती थी जिनका प्रतीकार ओषधि द्वारा दूर किया जाता था। ये अवश्य रोगों को फैलाने की क्रियाएं होंगी। क्योंकि उनसे ही अनायास राष्ट्र में और सेनाओं में रोगादि फैल कर नर संहार होते थे। उनका प्रतीकार रोगनाशक तीव्र ओषधियों से किया जाता होगा। इसी प्रकार विषैली गैसों का प्रयोग और विष से लिपे पदार्थों का प्रयोग भी कृत्या कहाता था। खेतों में, गौओं में और पुरुषों में भी हत्याकारी प्रयोग करके अन्न, दूध और पुरुषों के व्यवहार और सम्पर्क से नाना पीड़ाएं उत्पन्न करते थे। उनका प्रतीकार भी ओषधियें ही थी।

अनयाहमोषध्या सर्वाः कृत्या अदूदुषम्।
यां क्षेत्रे चक्रुर्यां गोषु यां वा ते पुरुषेषु॥ अथर्व० १०। ४॥

हे राजन्! तेरे खेत में गौओं में और पुरुषों में जिस २ घातक क्रिया का प्रयोग किया है उन सब कृत्याओं को मैं इस विशेष २ ओषधि से निर्वल करूं और दूर करूं।

कृत्या विशेष यन्त्रकला के रूप में भी तैयार की जाती थी जिसके सब कल पुर्जे विशेष शिल्प द्वारा तैयार किये जाते थे। जैसा लिखा है —

यस्ते परूंषि संदधौ रथस्येव ऋभुर्धिया ।

जिसने तेरे पोरुओं को ऐसे जोड़ा है जैसे शिल्पी अपनी अक़्ल से रथके कलपुर्ज़े जोड़ता है । यहां पुर्जों के लिये 'परूंषि' शब्द आया है । उसकी रचना को शिल्पी अर्थात् 'ऋभु' लोग बड़ी बुद्धिमत्ता से बनाते हैं ।

वह कृत्या छूटते समय या प्रतिप्रयोग करते समय भी घोर शब्द करती थी ।

अरुकान नानदती विनद्धा गर्दभी इव ॥ १० । १३ ॥

खुली गधी के समान घोर नाद करती हुई तू दूर चली जा ।

वह कृत्या तोप के समान पहियों पर चलती और चलते समय बड़े बड़े पदार्थों को तोड़ती फोड़ती सेना के समान नाना रूप वाली, और कठोर शब्द करती थी ।

तेनाभि याहि भञ्जती अनस्वती वाहिनी विश्वरूपा कुरूटिनी ॥ १० । १५ ॥

इसीसे यह भी ज्ञात होता है कि सेना या 'वाहिनी' भी कृत्या कहाती है । उस सेना को नाश करने का उपाय उत्तम तलवारों को बतलाया गया है।

स्वायसाः असयः सन्तु नो गृहे विद्मा ते कृत्ये यतिधा परूंषि ।
उत्तिष्ठैव परेहि इतोऽज्ञाते किमिहेच्छसि । १० । २० ॥

कृत्या के प्रयोग से निरपराध जीवों का भी बहुत नाश होता है ।

'अनागो हत्या वै भीमा कृत्ये० ।' १० । २० ॥

इस कारण वह जहां भी हो वहां से उसको दूर करना चाहिये । राजा को चाहिये कि अपने पालक बल से सदा इस हिंसा प्रयोग को न्यून मात्रा में ही रहने दे, बढ़ने न दे ।

यत्र दत्तासि निहिता ततस्त्वा उत्थापयामसि ॥ १० । २९ ॥
पर्णाल् लघीयसी भव ॥ १० । २९ ॥

## ( २ ) अभिचार कर्म

अभिचार कर्म के विषय में हमने अपना पूर्ण मन्तव्य द्वितीय खण्ड की भूमिका ( पृ० १४–१५ ) में पर्याप्त रूप से खोलकर दर्शा दिया है। इसी प्रकार का० २ से ६ तक विनियोगकारों ने जिन २ सूक्तों का विनियोग अभिचार में दर्शाया था उनकी संक्षिप्त आलोचना की थी। इस प्रसङ्ग में हम इस खण्ड में आये उन सूक्तों की भी विवेचना करेंगे जिन्हें विनियोगकारों ने अभिचार करने के लिये लिखा है। काण्ड १० के सू० ५ 'इन्द्रस्यौज स्थ ०' इत्यादि पर सायण भाष्य नहीं है। केवल पण्डित शङ्कर पाण्डुरंग ने इस सूक्त की उत्थानिका में निम्न लिखित प्रक्रिया लिखी है जिनका हम पूर्ण रीति से उल्लेख करते हैं।

अभिचारकर्मैतत्। शत्रुनाशनसमर्थजलम् उदके प्रवेश्य तदुदके यत्र च यत्रापि वा शत्रुम् अभिलक्ष्य तत् प्रक्षिपति। तदेवम्। आपः सम्बोध्य यस्मात् यूय इन्द्रस्यौजः भवथ इन्द्रस्य सह आदि भवथ तस्माद् इन्द्रबलैर्युष्मान युक्ता करोमि इत्याह। अनन्तरम् इन्द्रस्य भाग अर्थात् अंशा भवथ सोमस्य भाग स्थ वरुणस्य मित्रावरुणयोर्भाग स्थ यमस्य भाग स्थ पितृणा सवितुश्च भागस्थेत्याह। अनन्तर योऽपां भैलारयस्य सन्तानानां भाग पूजनीयो युष्मासु अर्थात् पूर्वोक्तासु अप्सु भवति यश्च तादृश ऊर्मि यश्च तादृशा वत्स अर्थात् अपानपात् नाम वैद्युतोऽग्नि यश्च तादृशोवृषभो महान् कश्चित् पशु, यश्च अपा मध्ये उत्पन्न इति वेदप्रसिद्धो हिरण्यगर्भ इति आद्यो देव यश्च अप्सु वर्तमानो नाना वर्णोऽश्मवर्तीको मेघ ये च अपा मध्ये वर्तमाना अग्नयस्तान् सर्वान् प्रत्येक शत्रु प्रति क्षिपामि। स शत्रुमद हन्याम्। तमनेन मन्त्रेण अनेन कर्मणा अनेन वज्रेण विदारयामीत्याह। अनन्तर स्वकृतात् वैदायणादनृतवचनपापात् प्रक्षण याचते। अनन्तर शत्रोरुपरि उदवज्र प्रक्षेप्तु प्रक्रामति यश्च प्रक्रामति स्वक्रम सम्बोध्य तम् आह त्व विष्णो क्रमोऽसि अर्थात् येन क्रमेण विष्णुस्त्रीन् लोकानाक्रमत तादृशो बलवान् असि। स्वय पृथ्व्या च तीक्ष्णीकृत तेजस्तम् असि। तेन त्वया शत्रु पृथिव्या सकाशान्निर्णोदयामि तथैव त्वमन्तरिक्षतीक्ष्णीकृतोऽसि द्यौ सशितोऽसि दिक्सशितोऽसि आशासशितोऽसि ऋक्सशितोऽसि यज्ञसशितोऽसि ओषधीसशितोऽसि अप्सुसशितोऽसि

क्षपितंगितोऽसि शापसंशितोऽसि तस्मात्ततः अभिमातिप्रदेशात् तं शत्रुं निर्णाशयामि इति । एतदुक्तं जितमस्माकम् जिताः शत्रुसेनाः इत्यादि । अनन्तरं दक्षिणां दिशं सरति किञ्चन् त्वया तामभिमुखो भवति इत्यर्थः । तथैव इतरा दिशश्च, सप्तर्षिनाम नक्षत्रं, आपश्चांश्च अभिमुखो भवति प्रत्येकं च तेभ्यः सकाशाद् द्रविणं याचते । यंच शत्रुन् अन्विष्यामि तं हनामि स्य समित् ते हेति भूत्वा भक्षतु इत्याह । अनन्तर भुवस्पतिमन्नं याचते । तथैव अग्नि वर्चः प्रजान् आयुश्च याचते । अग्नि यातुधानभेदनं याचते । पूर्वोक्तानि उदकानि तान्येव चतुर्भृष्टिं वज्रं कल्पयित्वा शत्रुशिरश्छेदाय प्रक्षिपति सच शत्रोरंगानि भिनत्तु देवाश्च तत्सर्वं मेऽनुजानन्तु । इत्याशास्ते ।

अर्थ—यह अभिचार कर्म है। शत्रु को नाश करने में समर्थ बल जल में डाल कर, जल को वज्र मान कर शत्रु को लक्ष्य करके फेंकता है। वह इस प्रकार कि—सबसे पहले जलों को सम्बोधन करके कि 'हे आपः! तुम क्योंकि इन्द्र के ओज, सहः आदि हो इसलिये तुमको इन्द्र के बलों से युक्त करता हूं।' ऐसा कहता है। इसके पश्चात्='तुम इन्द्र के भाग (अर्थात् अंश) हो, सोम के भाग हो वरुण के अंश हो, मित्रावरुण दोनों के भाग हो, यम के भाग हो पितर और सविता के भाग हो' ऐसा कहता है। इसके पश्चात् 'तीनों लोकों के समस्त जल ( अर्थात् अपः ) का जो पूजनीय भाग तुम पूर्वोक्त जलों में है और जो वैसा ऊर्मि (तरङ्ग) है, और जो वत्स अर्थात् 'अपांनपात्' नामक विद्युत् सम्बन्धी अग्नि है और जो वैसा 'वृषभ' अर्थात् बड़ा बलवान् कोई पशु है और जो जलों के बीच में पैदा हुआ है, वह वेदों में प्रसिद्ध 'हिरण्यगर्भ' नाम बड़ा बलवान् सबसे पहला 'देव' और जो जलों में वर्तमान नाना रङ्ग के पत्थर के समान मेघ है और जो जलों के बीच में विद्यमान अग्नियें हैं उन सबको एक २ कर शत्रु पर फेंकता हूं। उस शत्रु को मैं मारता हूं। उसको इस मन्त्र से, इस उदवज्र [ जल के बने वज्र ] से फाड़ता हूं" ऐसा कहता है। उसके बाद अपने किये तीन वर्ष के असत्य भाषण के पाप से रक्षा की याचना करता है। उसके बाद शत्रु के ऊपर

उद्वज्र (जलवज्र) फेंकने लगता है। जब फेंकने लगता है तब अपने 'क्रम' (=फेंकने के कार्य) को सम्बोधन करके उसे कहता है कि-'तू विष्णु का क्रम है अर्थात् जिस क्रम से विष्णु तीनों लोकों को आक्रमण करता है तू वैसा बलवान् है। तू स्वयं पृथ्वी से तीखा किया गया शस्त्र है। उस मुझ (शस्त्र) से पृथिवी से मैं शत्रु को खदेड़ता हूं। इसी प्रकार 'तू-अन्तरिक्ष से तीखा किया गया है, द्यौ से तीखा किया गया है, दिशा से तीखा किया गया है, 'आशा' से तीखा किया गया है, ऋचा से तीखा किया गया है, यज्ञ से तीखा किया गया है, ओषधियों से तीखा किया गया है, जलों से तीखा किया गया है, कृषि से तीखा किया गया है, प्राणों से तीखा किया है इसलिये उस २ (द्यौ, दिशा, आशा आदि) के प्रदेश से उस शत्रु को निकालता हूं।" इतना कहकर कहता है कि—"हमने जीत लिया, शत्रुकी सेना हमने जीत ली।" उसके बाद दक्षिण दिशा की ओर चलता है और कुछ बढ़कर उधर को मुंह करके खड़ा हो जाता है। उसी प्रकार अन्य दिशाओं में भी जाता है सप्तर्षि नाम के नक्षत्र, और ब्राह्मणों के भी अभिमुख जाकर खड़ा होता है और उनमें हरेक से धन मांगता है। और कहता है-'जिस शत्रु को पाऊं उसको मारूं, यह काष्ठ उस शत्रु को शस्त्र होकर लगे।" फिर उसके बाद 'भुवस्पति' से अन्न की याचना करता है और अग्नि से वर्चस्, प्रजा और आयु मांगता है अग्नि से ही यातुधानों को भेदने की प्रार्थना करता है। और अन्त में पूर्व कहे जो जल हैं उनको ही 'चतुर्भृष्टि' (चौकोना) वज्र बना कर शत्रु के सिर काटने के लिये फेंकता है और आशा करता है कि वह शत्रु के अंगों को भेदे और देवगण मेरे उस सब काम की आज्ञा दें।

जलों के वज्र बनाने के इस प्रयोग के अतिरिक्त पण्डित शङ्कर पाण्डुरंग ने साम्प्रदायिकों के भी उदवज्र विधान का उल्लेख किया है वह इस प्रकार है—

'इन्द्रस्यौजः०' इस सूक्त के १-६ मन्त्रों की पूर्व अर्ध ऋचाओं से कांसी के कलश को धोता है। 'जिष्णवे०' इत्यादि उत्तरार्ध भागों से उस कांसी के कलश को जल के समीप रखता है। 'इदम् अहं यो मा प्राच्या-दिशः०' इत्यादि कल्पोक्त मन्त्रों से जल के बीच कलश को रखता है। फिर 'इदम् अहम्०' इत्यादि कल्पोक्त सूक्त से कलश के मुख को जल में डुबाता है। पुनः 'इदमहम्०' इस कल्पोक्त सूक्त से जल भरे कलश को मण्डप में स्थापित करता है। यह अभिचार में 'जलाहरण' विधि कहाती है। इसके बाद वज्रप्रहरण विधि है। 'अग्नेर्भागः'० इन (७-१४) आठ मन्त्रों से जल के दो भाग करता है। आधा जल कलसे में रहने देता है और आधा दूसरे पात्र में कर देता है। उस पात्र को आग में तपाता है, कलश को दूसरे पुरुष के हाथ में देता है। इसके बाद दक्षिणाभिमुख बैठ कर पात्र को आगे रख कर 'वातस्य रंहितस्य' इत्यादि कल्प में कहे मन्त्र से जल लेकर 'शम् अग्नये' इस कल्पोक्त सूक्त से सब प्राणियों को अभय देता है। फिर 'यो वः आप अपाम्०' इस (१५) ऋचा से वज्र फेंकता है। इसी प्रकार फिर 'वातस्य रंहितस्य०' से जल लेकर 'यो वः आपो अपामूर्मिः०' इस (१६) मन्त्र से वज्र फेंकता है। इस प्रकार (१७ से २१ तक) ५ मन्त्रों से भी वज्र फेंकता है। 'एतान् अधराचः पराचः०' इस कल्पोक्त मन्त्र से पात्र का जल भूमि में डालता है। इसी प्रकार 'यं वयं०' इस (४२) और 'अपामस्मै०' इस (५०) मन्त्र से वज्र फेंकता है। (२५ से ३६ तक) इन १२ मन्त्रों से शत्रु की तरफ क्रमण करता है। 'यदर्वाचीनम्०' (२२) इस मन्त्र से वह आचमन करता है जो असत्य भाषण के पाप से छूटना चाहता है। 'समुद्रं वः प्रहिणोमि०' इस (२३) मन्त्र से जलपात्र पत्नी को दे देता है। सूर्यस्यावृतम्० इत्यादि (३७-४१) पांच मन्त्रों से प्रदक्षिणा करता है।

यह 'उदवज्र विधान' कहाता है। अर्थात् इससे जलको वज्र बनाकर शत्रु पर फेंकने का विधान बतलाया गया है। पंडित शंकर पाण्डुरंग के

लेखानुसार जल में विशेष बल डालकर उसको मन्त्रों से फेंकना उदवज्र है और कौशिक ने एक पूरा कर्मकाण्ड दिखा कर उदवज्र का उल्लेख किया है। दोनों के वज्रप्रक्षेप में तो भेद नहीं प्रत्युत मन्त्रों के विनियोग में भेद है। उदक-हरण, उदक सम्ग्रहण के मन्त्र विशेष हैं। इन सबको पढ़कर कौशिकोक्त प्रकार का रहस्य बहुत गूढ़ प्रतीत होता है। जलकी अञ्जलियां फेंकने रूप अभिचार या जादू चलाना मात्र कौशिक का अभिप्राय नहीं प्रतीत होता है। प० शंकर पाण्डुरंगने 'शत्रुनाशन समर्थमन्त्रम् उदके प्रक्षेप्य उदके वज्रत्व कल्पयित्वा' यह कल्पना अपनी ही की है। कौशिकप्रोक्त सूत्रों में यह भाव कहीं नहीं टपकता। प्रत्युत ब्राह्मण ग्रन्थों के कर्मकाण्ड जिस प्रकार विशेष विज्ञान की प्रतिनिधिवाद से व्याख्या करते हैं और उनकी सूत्रकार या कल्पकार केवल क्रियाविधि दर्शाते हैं उसी प्रकार कौशिक ने ब्राह्मणप्रोक्त व्याख्या रूप कर्मकाण्ड की सूत्रों में प्रक्रिया मात्र दर्शाई है। जिसका हम निम्नलिखित तात्पर्य समझते हैं—'कलश' राष्ट्र का प्रतिनिधि है। जल प्रजाओं का प्रतिनिधि है। कारण कलश में जल लेने का तात्पर्य उनको राज्यकी रक्षा में लेना है। उनके दो भाग करने का तात्पर्य शत्रु पर आक्रमण करने के लिये उत्तम प्रजा के पुरुषों का चुनना है, शेष नीचे के जल सहित कलशों का दूसरे पुरुष को सौंपने का तात्पर्य उनको युद्धोपयोगी न समझ कर छोड़ देना है। पात्र के जलको तपाना उनमें तप, विद्या, वीर्य तेज का प्रदान कर उनको उग्र बनाना है। प्राणियों को अभय देने का तात्पर्य समस्त प्रजाओं को अपने तीव्र सेना बल से निःशंक और भयरहित करना है। चारों दिशाओं में वज्र फेंकने का तात्पर्य दिग्विजय या शत्रु का सब दिशाओं में विजय है। शत्रु की तरफ जाना उसका अभियान है या प्रयाण है। इसीसे राजा के अधीन सेना पुरुषों का और अधिकारी पुरुषों का नीति आदि के वश होकर किये श्रम यमापण का प्रायश्चित्त है और शेष जलपात्र का पत्नी को देने का तात्पर्य शेष सेना को गन्धपालक शक्ति के हाथ में देना है सूर्यानुत प्रदक्षिणा का तात्पर्य सूर्य के समान राजा का प्रजापालनव्रत दर्शाना है।

विनियोग द्वारा दर्शाये मन्त्रों में उनके कर्त्तव्यों का वर्णन है। जिनका स्पष्टार्थ भाष्य में कर दिया गया है। जिस प्रकार बड़ा भारी, विजय कामना से युक्त बलवान् पुरुष चतुर्दिगन्तों को अपने सेना बल से विजय कर के सम्राट् पद को प्राप्त करता है, स्वयं 'इन्द्र' कहाता है उसी प्रकार योगी भी अपनी अध्यात्म साधनाओं से और आत्मा की प्राणादि शक्तियों से व्युत्थानों पर वश कर के आत्मा का साक्षात् करता और परम पद को प्राप्त करता है, वही उसका 'स्वाराज्य' 'साम्राज्य' प्राप्ति कहाता है। इन मन्त्रों की अध्यात्म योजना पर विचार करने से ब्रह्मपदप्राप्ति की साधना के रहस्य भी इस सूक्त से विदित होते हैं। उस पक्ष में 'आपः', प्राण हैं। 'कलश' देह है। उनके आधे नाभि से ऊपर के प्राणों को तपस्या से साधना करते हैं पुन चित्त वृत्ति के जितने भी द्वार हैं सभी में स्थित कामादि व्युत्थान वृत्तियों का शत्रु सेना के समान विजय किया जाता है। और फिर सूर्य के समान तेजस्वी होकर पूर्ण विजय लाभ किया जाता है।

## ( २ ) वरण मणि और खादिरफालमणि ।

द्वितीय खण्ड की भूमिका ( पृ० १—६ ) में अथर्ववेद के कल्पोक्त मणि और मन्त्रोक्त मणि शब्द की विवेचना हमने पर्याप्त रूप से की है। पाठक हमारे अभिप्राय को वहां ही अवगत करें।

दशम काण्ड के 'अरातीयो भ्रातृव्यस्य०' इत्यादि सू० ६ को सर्व-कामना सिद्धि के लिये 'खदिरफालमणि' बांधने में लगाया है। इस सूक्त के 'घृतमिध्मं०' (३४) मन्त्र से खादिर वृक्ष का काष्ठ ले कर 'तमिमं०' इस ( २६ ) मन्त्र से घृत में डुबाकर 'ब्रह्मणा०' इस ( ३० ) मन्त्र से बांधने को लिखा है। इसी को 'फालमणि' भी कहा है।

परन्तु मन्त्रों में फालमणि के जिन गुणों का वर्णन किया गया है उन से वह काष्ठखण्डमात्र प्रतीत नहीं होता। जैसे—

१. अरातीयोर्भ्रातृव्यस्य दुर्हार्दो द्विषतः शिरः। अपिवृश्चाम्योजसा ॥ १ ॥

द्वेषकारी अप्रिय शत्रु का शिर मैं पराक्रम से काट दूं।

२ श्रद्धा यज्ञं महो दधत् गृहे वसतु नोऽतिथिः ॥ ४ ॥

वह मणि श्रद्धा, यज्ञ और तेज को धारण करे। वह घर में अतिथि होकर रहे।

३. सः नः पितेव पुत्रेभ्यः श्रेय श्रेयः चिकित्सतु ॥ ५ ॥

पिता के समान पुत्रों का कल्याण ही कल्याण करे।

४ तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ ६ ॥

उसके बल से तू शत्रुओं का नाश कर।

५ ०सोऽस्मै बलम् इद् दुहे ॥ ७ ॥ ०सोऽस्मै वर्च इद् दुहे ॥ ८ ॥ ०सोऽस्मै भूतिम् इद् दुहे ॥ ९ ॥ ०श्रियम् इद् दुहे ॥१०॥ ०वाजिनं दुहे ॥११॥ ०महो दुहे ॥१२॥ ०सूनृता दुहे ॥१३॥ ०अमृतम् इद् दुहे ॥१४॥ सत्यम् इद् दुहे ॥१५॥ ०जितिम् इद् दुहे ॥१६॥

वह बल, तेज भूति, श्री, वीर्य, महत्ता, सत्यवाणी, और अमृत और सत्य और विजय को प्रदान करे। ये गुण काष्ठमणि में असम्भव हैं। इन इन कार्यों के लिये उत्तम शिरोमणि पुरुषों को राष्ट्र में वेतन और मान से बांध लेना ही वेद मन्त्र का सुसंगत अर्थ है।

इस मणि के बल पर शत्रुओं का गिराना (म० १९) डाकू लोगों के गढ़ तोड़ना, (२०), शत्रुओं को मारना (२१), शस्त्रबल को बढ़ाना (२६), आदि गुणों का वर्णन भी श्रेष्ठ शिरोमणि, नायक पुरुषों में ही घटता है।

उसको फालमणि क्यों कहा इसका उत्तर वेद स्वयं देता है।

यथा बीजमुर्वरायां कृष्टे फालेन रोहति।

एवा मयि प्रजा पशवोऽन्नमन्नं विरोहतु ॥ ३ ॥

जिस प्रकार हल की फाली से खेत जोत लेने पर उसमें पड़ा बीज खूब फलता है, उसी प्रकार इस शिरोमणि द्वारा राष्ट्र के उत्तम रीति से तैयार हो जाने पर राष्ट्र में मुझ राजा की प्रजा, पशु और सब प्रकार के अन्न खूब बढ़ें।

## (४) वरणमणि

उक्त फालमणि के समान ही वरणमणि क बांधने में 'अयं' मे वरणो मणि०: इत्यादि का० १०। सू० ३॥ का विनियोग लिखा गया है। इस सम्बंध में भी हमें कुछ विशेष कहना उचित नहीं जान पड़ता। इतने से ही पाठक जान कि लें इस सूक्त में वरणमणि के दिये विशेषण वरणा वृक्ष के काष्ठ-खण्ड में न घट कर वीर नेता पुरुष में ही घटते हैं। जैसे—

१—अयं मे वरणो मणिः सपत्नक्षयणो वृषा ।
तेनारभस्व त्वं शत्रून् प्रमृणीहि दुरस्यतः ॥ १ ॥

वरणमणि शत्रुओं का नाशक, बलवान् पुरुष अर्थात् 'वृषा' है। उसके बल पर हे राजन्! तू शत्रुओं का नाश कर, दुष्टों को कुचल डाल।

२—अवारयन्त वरणेन देवाः अभ्याचारम् असुराणां श्वः श्वः ॥ २ ॥

'वरण' के बल से विद्वान् लोग दुष्ट असुरों के अत्याचार को बरा-बर दूर करते हैं।

स ते शत्रून् अधरान् पादयाति पूर्वः तान्। दम्नुहि ये त्वा द्विषन्ति ॥ ३ ॥

वह तेरे शत्रुओं को नीचे गिरावे और सब से प्रथम वह उनको मारे जो राजा को प्रेम न करके द्वेष करते हैं।

वरण के स्पष्टीकरण के लिये स्वयं वेद लिखता है—

अयं मे वरण उरसि राजा देवो वनस्पतिः ॥ ११ ॥

यह मेरा 'वरण' छाती पर बाहू के समान क्षत्रिय, राजा, साक्षात् दिव्यगुणी है और बड़े वृक्ष के समान सबका आश्रयप्रद वनस्पति है।

म म राष्ट्र च क्षत्र च पवान् ओजश्च मे दधत ॥ ११ ॥

यह मेरे राष्ट्र, क्षात्रबल पशु और पराक्रम को धारण करता है। उस 'वरण' नामक सेनानायक या बलवान् राजा मे दोनों ही गुण हैं अग्नि का और वायु का। वायु जिस प्रकार वृक्षों को तोड़ता फोड़ता जाता है उसी प्रकार आक्रमण करके शत्रु राष्ट्रों को तोड़ता फोड़ता है।

यथा वातो वनस्पतीन वृक्षान् भनक्त्योजसा।
एवा सपत्नान् मे भङ्ग्धि ॥ १३ ॥

इसी प्रकार अग्नि और वायु मिलकर प्रचण्ड होकर जिस प्रकार वृक्षों को जला डालते हैं वैसा प्रकार वह शत्रुओं को भून डाले, जला डाले, खा डाले।

यथा वातश्चाग्निश्च वृक्षान प्सातो वनस्पतीन्।
एवा सपत्नान मे प्साहि ॥ १४ ॥

प्रबल वायु से जिस प्रकार टूट २ कर वृक्ष गिर पड़ते हैं उसी प्रकार वह शत्रुओं को उखाड़ कर नीचे गिरा दे।

यथा वातेन प्रक्षीणा वृक्षाः शेरे न्यर्पिताः।
एवा सपत्नांस्त्वं प्रक्षिणीहि न्यर्पय ॥

इसी प्रकार वह सूर्य के समान तेजस्वी होकर राष्ट्र को तेजस्वी और यशस्वी करे।

यथा सूर्यो अतिभाति यथास्मिन् तेज आहितम्।
तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा ॥

इस वरण नामक सेनानायक के कारण राजा को चन्द्र, सूर्य, पृथिवी कन्या प्रजा रथ, सोमपायी विद्वान्, मधुपर्क, अग्निहोत्र, यजमान यज्ञ, प्रजापति, परमेष्ठी, और देवगणों में स्थित यश, वीर्य, पवित्रता, आदर प्रतिष्ठा, और उच्च पद आदि प्राप्त होते हैं ( १७-२५ )।

वरुणमणि ही राष्ट्र के नाशक और पशुओं के घातक लोगों को प्राण दण्ड देता है।

> तांस्त्वं प्रच्छिन्धि पुरा दिष्टात् पुरायुषः ।
> य एनं पशुषु दिप्सन्ति ये चास्य राष्ट्रदिप्सवः ॥

इस प्रकार समस्त राष्ट्र के कष्टों का वारण करने वाला ही 'वरण' मणि कहाता है। और वह राष्ट्र के भिन्न २ प्रकार के कष्टों को भिन्न २ प्रकार से वारण करता है। वेद ने तो लक्षणमात्र दिखा दिया है। राजा भिन्न कार्यों के लिये ऐसे अधिकारी व संस्थायें भी नियुक्त कर सकता है। 'वरण' का शब्दार्थ स्वयं वेद खोलता है।

> 'वरणो वारयाता ॥ ५ ॥

वारण करने वाला ही होने से 'वरण' वह है।

> अयं ते कृत्यां विततां पौरुषेयादयं भयात् ।
> अयं त्वां सर्वस्मात् पापात् वरणो वारयिष्यते ॥ ४ ॥
> स्वप्नं सुप्त्वा यदि पश्यासि पापं मृगः सृतिं यदि धावादजुष्टां ।
> परिक्षवात् शकुनेः पापवादादयं वरणो वारयिष्यते ॥
> यन्मे माता यन्मे पिता भ्रातरो यच्च मे स्वा यदेनश्चकृमा वयम् ।
> ततो नो वारयिष्यते ॥

कृत्या या घातक प्रयोगों को, पुरुषों द्वारा किये जाने वाले भयजनक वध से, सब प्रकार के अत्याचार से 'वरण' वारण करता है। सोते पर विपत्ति आवे, यदि जंगली पशु आ पड़े। अभिशाली पुरुष डाकू आदि आक्रमण करें, निन्दा फैलावे। मां, बाप, भाई, बन्धु अत्याचार करें तो सब विपत्तियों को दूर करना 'वरण' का काम है। इसको हम 'मैजिस्ट्रेट' या 'कमिश्नर' के पद से तुलना कर सकते हैं जिसके अधीन राष्ट्र के बहुत से महकमें हों। ऐसी दशा में एक ही व्यक्ति बहुत से कर्तव्यों का उत्तरदाता हो जाता है।

वरण शब्द के समान ही 'वरुण' शब्द को भी समझना चाहिये। धात्वर्थ दोनों में समान है। वरुण के कर्त्तव्यों में बड़े राजा के सब कर्त्तव्य सम्मिलित हो जाते हैं। पाठक स्वयं मूल मन्त्रों के भाष्य में स्थान स्थान पर देखेंगे।

## ( ५ ) पुरुषमेध।

'केन पार्ष्णी आभृते' इत्यादि का० १०। सूक्त २। को पं० शंकर पाण्डु रंग के लेखानुसार यज्ञलम्पट साम्प्रदायिकों ने पुरुष मेध में विनियुक्त किया है। जैसे—पुरुषमेध में पुरुष को निहला धुलाकर बलि दिये जाने योग्य· पुरुषरूप पशु को 'केन पार्ष्णी०' इस सूक्त से अनुमन्त्रण किया जाता है। वैतान सूत्र में इस सूक्त के साथ २ पुरुषसूक्त ( अथर्व० १९। ६ ) का भी वाचना लिखा है। शान्तिकल्प में शनैश्चर ग्रह के निमित्त होम के लिये उक्त दोनों सूक्तों का विनियोग किया है। परन्तु इन मत के विपरीत स्वयं पाण्डुरंग महाशय इस सूक्त में पुरुष अर्थात् मनुष्य ( शरीर ) का माहात्म्य बतलाते हैं।

पं० शंकर पाण्डु रंग के मत से ही पूर्वोक्त पुरुषमेधवादी और शनैश्चर ग्रह होमवादी पाखण्ड पक्षों का खण्डन हो जाता है। वास्तव में यह अथर्ववेदान्तर्गत 'केन' उपनिषत् कहें तो बड़ा ही सुसंगत है।

इस सूक्त में प्रथम २० मन्त्रों में पुरुष ( आत्मा ) के शरीरों की अद्भुत रचना देखकर उसके कर्त्ता के विषय में अद्भुत प्रश्न किये हैं। इसका रचयिता केवल 'ब्रह्म' को बतलाया है ( २० )। ( २२, २४ ) में संसार की विशाल शक्तियों के कर्त्ता के विषय में प्रश्न किये हैं। ( २४, २५ ) में उनका कर्त्ता भी ब्रह्म को ही बतलाया है। फिर मनुष्य के शिर की अद्भुत रचना पर ( २६ ) में प्रश्न किया है। ( २७ ) में समस्त दिव्य शक्तियों का उसको खज़ाना बतलाकर उसी में प्राण, मन और अन्न का स्थान बतलाया है।

आत्मारूप पुरुष की नाना सृष्टियां दर्शाकर 'पुरुष' की व्युत्पत्ति बतलाई है। शिर को ही 'ब्रह्मपुरी' कहा है ( २६ )। उसी को 'अष्टचक्रा नवद्वारा अयोध्यापुरी' कहा गया है ( ३१ )। उसमें तीन अरों वाले ज्योतिर्मय हिरण्मय कोष और उसमें आत्मा की स्थिति का वर्णन है (३२)। उसी को हरिणी, यशस्विनी, हिरण्मयी, अपराजिता पुरी कहा गया है (३३)।

ऐसी ब्रह्मोपनिषद् विद्या के दिखलाने वाले सूक्त को पुरुषबलि पर लगाना बड़ी मूढ़ता है। यह ऐसा ही समझना चाहिये जैसे दयालु ईश्वर का नाम लेकर कोई पशुहिंसा करे। मांसलोलुप कसाई लोग ऐसा ही करते हैं। फलतः, इस सूक्त में पुरुष हिंसा का कहीं भी गन्ध नहीं। ब्राह्मण-कारों ने कर्मकाण्ड में जहां कहीं पुरुषमेध का उल्लेख किया भी है वह केवल प्रतिनिधिवाद से व्याख्या करने योग्य पदार्थ की व्याख्या करने के लिये ही, नकि देवता के प्रीत्यर्थ। यजुर्वेद गत पुरुषमेध का प्रकरण हम यजुर्वेद की भूमिका में ही दर्शावेंगे। अब हम वशाशमन के प्रकरण पर विचार करते हैं।

## ( ६ ) शतौदना और वशा।

वशाशमन के विषय में कुछ संक्षेप से हमने द्वितीय खण्ड की भूमिका ( पृ० २३, २४ ) में लिखा है। उस खण्ड में कुछ विशेष सूक्तों का समावेश न होने से हमने वहां उल्लेख नहीं किया इस खण्ड में काण्ड १० का सू० ६ वां, १० वां एवं का० १२। सू० ४। ये तीन सूक्त वशा के विषय के हैं। इनका क्रमशः आलोचन करना उचित है।

'अघायतामपिनह्या मुखानि०' इत्यादि ( अथर्व० का० १०। सू० ६ ) की उत्थानिका में श्री पं० शंकर पाण्डुरंग ने लिखा है कि—

" अघायतामिति सूक्तं आहुत्यर्थं गोवधे विनियुज्यते। सा च वन्ध्या गौः शतौदना इत्युच्यते। तस्याः वधेन तस्याः मांसाहुत्या च यद् यजनं। तद् अग्निष्टोमादपि अतिरात्रादपि च श्रेष्ठम्। इत्यादिरूपा प्रशंसा। येन हन्यते तां प्रति हन्तृभ्यो मा भैषीस्त्वं देवी

मविष्यमि त्वा स्वर्गे देवा गोऽभ्यन्तीत्येवादि प्रो साहनम् । यश्चाऽहन्ति यो वा पचति यो वा तु(ला)नि स उत्तमं स्वर्गं गच्छति इत्यादिः। गोमिवचनन प्रशंसा च क्रियते गोमेवस्य "॥

अर्थ—'अघायताम्०' इत्यादि सूत्र का आहुति के लिये किये गये गोवध में विनियोग किया जाता है। वह बाँझ गौ 'शतौदना' कहाती है। उसके वध करने से और उसके मांस की आहुति देने से जो यज्ञ किया जाता है वह अग्निष्टोम और अतिरात्र यज्ञों से भी श्रेष्ठ है। इत्यादि प्रशंसा इस सूत्र में की गयी है। इसी प्रकार जो बाँझ गाय मारी जाती है उस को मारने वालों को यह प्रोत्साहन दिया गया है कि—'हे गाय तू मरने से मत डर तेरी स्वर्ग में देवगण रखवाली करते हैं, इत्यादि। जो तुझे मारता है जो पकाता या जो छीलता है वह उत्तम स्वर्ग को जाता है इत्यादि, गौ के वर्णन से ही गोमेध की प्रशंसा है।

इसी के साथ उक्त पण्डित ने साम्प्रदायिकों के विधान का उल्लेख नीचे लिखे प्रकार से किया है।

' अघायताम्० ' इस अर्थ सूत्र से ' शतौदन सव ' में तय्यार की हवि का स्पर्श सपान और दानवाचन और दान करे। अर्थात् ' अघायताम्० ' ( १ ) इस मन्त्र से गौ का मुख बांधे। मन्त्र ( २ ) को गिरते पशु पर पढ़े। इसी से इसके चर्म को फैला दे। उसके शरीर से सौ अंश काटकर भात की ढेरियों पर रखे। प्रथम पर आमिक्षा और दूसरे पर सात सात पूरियां रखे। १९ वें पर दो पुरोडाश, आगे सुवर्ण रखे। 'आपो देवी०' (२७) इस मन्त्र से जल के पात्र रखे। 'वाल्लास्ते०' (३) इस मन्त्र से अग्नि की प्रदक्षिणा करके बैठे। अग्नमार्जन और आचमन करे। हाथ में जल लेकर अमुक भात के अवदानों में से पूर्व के आधे में दो खण्ड लेकर ऊपर जल टपका कर आहुति दे। 'सोमेन पूतो जठरे सीद ब्रह्मणामार्षेयेषु निदध ओदन त्वा' इससे रांधे। ' अग्नेष्ट्वा आस्येन प्राश्नामि० ' इत्यादि सूत्रोक्त मन्त्र से पढ़े। 'योऽग्निर्मेध्या नाम०' इस सूत्रोक्त मन्त्र से दाता की स्तुति करे।

अब आलोचना कीजिये कि साम्प्रदायिकों के अनुसार तो उनकी विधि में समस्त सूक्त के केवल ४ मन्त्र प्रयुक्त हुए हैं। शेष नहीं, और कल्पकार ने अपने ही मन्त्र अपनी कार्यसिद्धि के लिये गढ़ लिये हैं। विनियोग ऐसा असंगत है कि देखकर हंसी आती है। मन्त्र कहता है कि—

'अघायताम् नापिनद्या मुखानि'। म० १॥

पापाचारियों के मुखों को बांध। परन्तु यहां गाय पशु का मुख बांध लिया जाता है। मन्त्र कहता है—

'सपत्नेषु वज्रमर्पय एतम्'॥ १॥

शत्रुओं पर वज्र प्रहार कर। पर यहां निरपराध गाय पर वज्र चलाया जाता है। मन्त्र कहता है कि—

'इन्द्रेण दत्ता प्रथमा शतौदना भ्रातृव्यघ्नी'॥ १॥

इन्द्र ने यजमान को सर्वश्रेष्ठ शत्रु के नाश करने वाली 'शतौदना' दी। परन्तु यहां वशा गौ पर ही सब आफत आ टूटती है। कहने का तात्पर्य यह है कि मन्त्र के अभिप्राय को शतांश भी न समझ कर यह विनियोग मांस-लोलुप, पापी पुरुषों ने स्वार्थसिद्धि के लिये बनाया है और भात—मांस के चटोरे लोगों ने अपने २ मन्त्र गढ़कर उनको कल्प ग्रन्थों में मिला दिया है और दातृवाचन अर्थात् उनको गोमांससहित भात खिलाने वाले यजमान की प्रशंसा के पुल भी लिख दिये गये हैं।

## गोवध-मीमांसा

अब शंकर पाण्डुरंग के निजी लेख की परीक्षा करते हैं। आपके लेख से ( १ ) 'अघायताम्०' इस सूक्त का विनियोग आहुत्यर्थ गोवध में है। इसका कोई प्रमाण उक्त पण्डित ने नहीं दिखाया। इसी प्रकार वन्ध्या गौ 'शतौदना' कहाती है यह लेख भी प्रमाण युक्त नहीं है। फिर गौ के मरने पर उसके रक्षक देव लोक में हैं, उसका मारण, पाचन, आहुति स्वयं देना इत्यादि ये सब भी निराधार ढकोसला हो जाता है। सायणकृत इस सूक्त

का भाष्य उपलब्ध नहीं है। इसका निर्णय हमें वेद के मूल मन्त्र और उसके प्रकरणोचित अर्थों पर ही करना होगा। प्रथम मन्त्र के विनियोग की आलोचना हम कर चुके हैं। रहा 'शतौदना' शब्द। वन्ध्या गौ ही शतौदना क्यों कहाती है। इसमें वेदमन्त्रोक्त प्रमाण उपलब्ध नहीं होता है। इस समस्त सूक्त में 'गौ' का नाम ही नहीं है। इसी प्रकार एक भी मन्त्र में शतौदना के मारने का विधान नहीं है। 'शमितारः', 'पक्तारः' ये दो प्रयोग ७ वें मन्त्र में हैं। ९ वें मन्त्र में दान देने की प्रशंसा की है। १३ से २५ मन्त्रों तक शतौदना के भिन्न २ अंगों की सम्पदा का वर्णन किया है कि वे दाता को आमिक्षा, क्षीर, सर्पि और मधु प्रदान करें।

## शतौदना का रहस्य

यह सब रहस्यमय सूक्त है। इसका रहस्य ओदनशब्द में छिपा है। 'शतौदना'—का अर्थ है शतवीर्या, या शत प्रजापति युक्त पृथिवी। क्योंकि—'प्रजापतिर्वा ओदनः'। श० १३। ३। ६। ७॥ जिस पृथिवी में सैकड़ों प्रजा पालक राजा हैं वह भूमि ही 'शतौदना' है। रेतो वा ओदनः। श० १३। १। १। ४॥ वीर्य को ओदन कहा है। पृथिवी में सैंकड़ों सामर्थ्य होने से वह 'शतौदना' है। इसी प्रकार ब्रह्मशक्ति और अध्यात्म में विभूतिमती आत्मशक्ति 'शतौदना' है। पृथिवी पर शान्ति का विस्तार करने वाले और उस पर श्रम करके फल प्राप्त करने वाले विद्वान् शक्तिशाली पुरुष उसके 'शमिता' और 'पक्ता' हैं। वे ही उस शतौदना की रक्षा करते हैं। जैसा वेद स्वयं कहता है—

ये ते देवि शमितारः पक्तारो ये च ते जनाः।
ते त्वा सर्वे गोप्स्यन्ति मैभ्यो भैषीः शतौदने ॥ ७ ॥

हे देवि शतौदने! तेरे जो पक्ता और शमिता लोग हैं वे सब तेरी रक्षा करेंगे। इसके अनुसार पं० शंकर पाण्डुरंग का यह कथन कि गौ के मारे जाने पर देवलोग स्वर्ग में रक्षा करेंगे, निराधार कथन है। मंत्र २५ में—

क्रोडौ ते स्तां पुरोडाशावाज्येनाभिवारितौ ।
तौ पक्षौ देवि कृत्वा सा पक्तारं दिवं वह ॥ २५ ॥

हे देवि ! तेरे पुरोडाश और आज्य से सिंची दोनों बगलें हों । उन दोनों पक्षों से तू 'पक्ता' को द्यौ ( प्रकाशमय ) लोक को ले जा ।

इस शब्दार्थ को लेकर भी हम पाण्डुरंग कल्पित गौ की हिंसा को नहीं पा सकते । क्योंकि जिस को हम चाहते हैं कि वह हमें आकाश में ले उड़े, वह मरने पर तो पृथिवी पर एक कदम भी नहीं लेजा सकती ! फिर यह सब अन्धविश्वास पूर्वक ढकोंसला नहीं तो क्या है ?

## 'पुरोडाश' का अर्थ

इस मन्त्र में पड़े 'पुरोडाश' शब्द को ही नहीं समझा गया । फिर शतौदना के पक्षों को समझने में भूल की गयी है । द्यौ और पृथिवी दोनों 'पुरोडाश' हैं । द्यौ और पृथिवी दोनों मिलकर जो महान् कूर्म बनता है वही 'पुरोडाश' है । उसके द्यौ और पृथिवी दोनों क्रोड़ अर्थात् बगलें हैं। दो पक्ष हैं । वे दोनों उस महती पृथिवी के परिपाक करने वाले और श्रम से फल प्राप्त करने वालों को वह द्यौलोक या सुखप्रद लोक को या विजय को प्राप्त कराते हैं । राष्ट्र पक्ष में—विड् उत्तरः पुरोडाशः । श० ४ । २ । ५ । २२ । क्षत्रिय और वैश्य ये दोनों 'पुरुडाश' हैं । ये दोनों ही पृथिवी के क्रोड़ हैं । जो राजा पृथिवी का परिपाक करता है, उसे अपने तेज से पकाता है उसको वह राष्ट्रभूमि विजय और सुख प्रदान करती है । उसी प्रकार आत्मशक्ति और ब्रह्मशक्ति की साधना करने वाला अपने तप से उसको परिपाक करता है । वह उसको 'दिव्' अर्थात् प्रकाशमय, मोक्षलोक या ब्रह्म को प्राप्त कराती है ।

इसके अङ्गों से आमिक्षा, क्षीर, सर्पि और मधु के प्राप्त होने की प्रार्थना की है । उसके परम गूढ़ आशय समझने के लिये हम पाठकों से ( अथर्व० १० । ११ ) अगले सूक्त के स्वाध्याय करने का आग्रह करेंगे और साथ

ही आठवें काण्ड के सू० ६ और १० में कही विराट् गौ के वर्णन को फिर सूक्ष्म विचार पूर्वक पढ़ने का आग्रह करेंगे ।

वहां का ही निम्नलिखित मन्त्र इस आशय को स्पष्ट कर देता है ।

केवली इन्द्राय दुदुहे गृष्टिर्वशं पीयूषं प्रथमं दुहाना ।

अथातर्पयच्चतुरश्चतुर्धा देवान् मनुष्याँ ३ असुरान् उत ऋषीन् ॥ ८ । ९ । २४ ॥

देव, मनुष्य, असुर और ऋषि इन चारों को ४ रसों से तृप्त करने वाली 'गृष्टि' सर्व श्रेष्ठ रस पीयूष का प्रदान वह केवल 'इन्द्र,' राजा या योगी आत्मा को प्रदान करती है ।

इस ( काण्ड १० । सू० । १० ) के १८ मन्त्र में लिखा है ।

इन्द्रेण दत्ता प्रथमा शतौदना । इसी की व्याख्या है—

इयमेव सा प्रथमा व्यौच्छद् आस्वितरासु चरति प्रविष्टा महान्तो अस्या महिमानः ।

अथर्व० ८ । ९ । ११ ॥

हमने जो तीन स्वरूप शतौदना को देखे हैं वह भी स्पष्ट हैं ।

एतामेका जिन्वति ऊर्जमेका राष्ट्रमेका रक्षति देवयूनाम् अथर्व० ८ । ९ । १३ ॥

## गोमेध का स्वरूप

गोमेध यज्ञ को गोसव भी कहा है । ताण्ड्य ब्राह्मण ने स्पष्ट ही कह दिया है—

अथैष गोसवः स्वाराज्यो यज्ञः । ता० १९ । १३ ॥ गोसव तो स्वाराज्य यज्ञ है । स्वराज्य साधना ही 'गोसव' या 'गोमेध' है । यहां यह कहना भी असंगत न होगा कि ब्रह्मवेदियों के लिये आत्मसाधना और परमपदलाभ को ही 'स्वराज्य' शब्द से कहा गया है । इसलिये अध्यात्म में आत्मशक्ति और परम ब्रह्मशक्ति को ही 'शतौदना' कहना उचित है । ब्रह्मवेद या अथर्ववेद का भी मुख्य विषय तो ब्रह्मनिरूपण है और शेष तो प्रतिदृष्टान्त मात्र से कहा जाता है । इस प्रकार हम गोवध का इस सूक्त में लेश भी नहीं पाते हैं ।

सूक्त में और भी बहुत से रहस्य स्थल हैं जिनको हमने यथास्थान भाष्य में ही सप्रमाण खोल दिया है पाठक उसी स्थान पर देखें। यहां तो स्थाली-पुलाक न्याय से दर्शा दिया गया है।

## ( ७ ) वशागमन

अथर्ववेद के कुछ सूक्त 'वशा' विषयक हैं। जिनको साम्प्रदायिक एवं पं० शंकर पाण्डुरंग और अन्य योरोपीयन विद्वान् भी वशा नाम वन्ध्या गौ के बलि करने में प्रयुक्त मानते हैं। इस स्थल पर हम इन समस्त सूक्तों की विवेचना कर देना चाहते हैं और इस भ्रम को मिटा देना चाहते हैं कि वेदों में 'वशा' नाम वन्ध्या गौ के बलि जैसे भ्रष्ट कार्य का विधान है।

अथर्ववेद का 'समिद्धो अग्न०' इत्यादि काण्ड० ५। सूक्त १२॥ वशा विषयक है। उसकी प्रस्तावना में श्री शंकर पाण्डु रंग ने लिखा है कि—

वशाशमन कर्म मे 'वपा' [ चर्बी ] के चार खण्ड करके 'समिद्धो अग्न०' इस सूक्त मे एक खण्ड का होम करता है। 'ऊर्ध्वा अस्य०' इत्यादि (अथर्व० ५। २७) सूक्त मे उस चर्बी के दूसरे खण्ड की आहुति देता है। उक्त दोनों सूक्तों को मिला कर तीसरे खण्ड की और 'अनुमतये स्वाहा' इस मन्त्र से चौथे खण्ड की आहुति देता है।

इस के बाद 'नमस्ते जायमानायै० इत्यादि काण्ड १०। सूक्त १०। की प्रस्ताविका में उक्त पण्डित लिखते हैं कि इस सूक्त मे पूर्व सूक्त में कही वशा केवल मेध्य ( होमयोग्य ) मांस वाली ही नहीं होती, बल्कि वह काट दी जाने पर कोई बड़ी भारी देवी होने पर देवों के बीच में सर्वदेवमय हो जाती है। इत्यादि प्रशंसा और माहात्म्य कहा है।

परन्तु साम्प्रदायिकों के मत से 'नमस्ते जायमानायै'० इत्यादि और 'ददामि इत्येव'० इत्यादि (१२।४।) इन दोनों सूक्तों से 'वशा' नाम गौ का दान किया जाता है। और 'भूमिस्त्वा'० इत्यादि मन्त्र से ग्रहण करता है।

## 'वशा' शब्द पर विचार

इन सूक्तों के ऊपर विचार करने के पूर्व हम 'वशा' शब्द पर विचार करते हैं। का० १२। सू०। ४ की प्रस्तावना में स्वयं शंकर पाण्डुरंग लिखते हैं—

वशा गौः या गर्भं न गृह्णाति इति दारिलः (कौ० ५१८) वशा वन्ध्या गौरिति भाष्य। ( ऋ० २। ७। ५ ) वशा स्वभाववन्ध्या गौरिति सायण। ( ऋ० १०। ११। १४ )

'कौशिक सूत्र के भाष्यकार दारिल और वेदों के भाष्यकार सायण दोनों के मत से वशा का 'शब्दार्थ वन्ध्या गौ' है। परन्तु इन भाष्यकारों और कल्पकारों के कहने मात्र से किसी वेद के शब्द का तब तक कोई अर्थ निश्चय नहीं किया जा सकता, जबतक वेद के बतलाये उस वस्तु के लक्षण उसमें न घटते हों।

स्वयं वेद कहता है ( अथर्व० का० १०। सू० १० ॥

यया द्यौर्यया पृथिवी ययापो गुपिता इमाः।
वशां सहस्रधारां ब्रह्मणाच्छावदामसि ॥ ४ ॥

जिससे आकाश, पृथिवी और समस्त जल, समुद्र मेघ आदि सुरक्षित हैं वह सहस्रधारा ( धारण पोषण करने में समर्थ ) शक्ति है इसका हम ( ब्रह्मणा ) वेद द्वारा साक्षात् वर्णन करते हैं।

पं० शंकर पाण्डुरंग, दारिल और सायण तो वशा से वन्ध्या गौ लेते हैं। परन्तु वेद में आकाश और पृथ्वी की वशकारिणी शक्ति 'वशा' है। इसके अतिरिक्त वन्ध्या गौ के दूध नहीं होता फिर दोहना उसका असम्भव है। परन्तु यहां वेद कहता है।

शतं कंसाः शतं दोग्धारः शतं गोप्तारो अधि पृष्ठे अस्याः।
ये देवास्तस्यां प्राणन्ति ते वशां विदुरेकधा ॥ ५ ॥

उसके दोहने के लिये सैकड़ों कांसेके पात्र चाहिये। सैकड़ों उसकी पीठ पर उसके रक्षक विराजमान हैं। जो देव उसके आश्रय पर जीरहे हैं वे उसको एक ही प्रकार का जानते हैं।

अब उसका स्वरूप भी देखिये। वेद कहता है।

यज्ञपदीराक्षीरा स्वधाप्राणा महीलुका।
वशा पर्जन्यपत्नी देवान् अप्येति ब्रह्मणा॥ ६॥

यज्ञ उसके चरण हैं इरा=अन्न उसका दूध है। स्वधा जल उसके प्राण हैं। उसपर बड़े २ लोक हैं। वह 'वशा' पर्जन्य की पत्नी है: वह ब्रह्म= अन्न के रूपसे देवों को प्राप्त होती है।

उसके तीन रूप हैं—

अपः त्वंधुक्षे प्रथमा उर्वरा अपरा वशे।
तृतीयं राष्ट्रं धुक्षेऽन्नं क्षीरं वशे त्वम्॥ ८॥

तू जल दोहती है उर्वरा भूमि होकर राष्ट्र को दोहती है, अन्न को दोहती है। और गौ के रूपमें दूध दोहती है।

वन्ध्या वशा के पुत्रों को भी देखिये।

वशा माता राजन्यस्य वशा माता स्वधे तव।

वशा राजा की माता है। हे अन्न! वशा तेरी माता है।

अब और अधिक मन्त्रों का उल्लेख न करके हमने पाठकों के लिये यह समझ लेना अत्यन्त सुगम कर दिया है कि वह 'वशा' पृथिवी है जहां अन्न उत्पन्न होता है, जो राजा की माता है। वह राजा को उत्पन्न करती है और अन्नको भी पैदा करती है। पृथ्वी सभी स्थानों से हिरण्य, मणि-मुक्ता, वायु, जल, तथा अन्यान्य कोटि कोटि जीवों को पालने के लिये सब कुछ पैदा कर रही है। परन्तु उजड़ी पृथ्वी किसी को कुछ नहीं देती। विद्वान लोग उसपर अपने ज्ञान से और अन्न से सब कुछ उत्पन्न करते

हैं। इसी से वह वन्ध्या होकर भी बहुत पैदा करती है। वन्ध्या गौ भी 'वशा' कहाती है यह कल्पना भी कदाचित् मन्त्र २३। में आये 'असूत्र' पद से निकाला गया है। परन्तु उसी मन्त्र में 'वशा समूत्र' यह देख लेते तो उनको वन्ध्या होने का भ्रम न होता।

इस वशा का दूसरा रूप परमेश्वर की महती शक्ति है। वही परमेश्वर का ज्ञान उत्पन्न कराती है। मानो अपने में से उसी महान् राजा परमेश्वर को प्रकट करती है। इस प्रकार हम पाठकों को केवल वशा की समस्या सरल करने की दिशा मात्र दर्शाते हैं। शेष इन सूक्तों के मन्त्रों में जितने भी विवादास्पद विषय हैं वे हमने अपने भाष्य में प्रमाण सहित स्पष्ट कर दिये हैं।

कौशिक सूत्रों में भी वेद का एक मन्त्र भी इस वशा के मारने के लिये नहीं लिखा गया है। जो सूत्र वपाहोम में लगाये गये हैं उनमें भी वपा-होमका कहीं वर्णन तक नहीं है। तब पाठक समझ सकते हैं कि विनियोगकारों ने और गृह्यसूत्रों में से भी कइयों ने गौ आदि को मार कर होम आदि करने में वेदमन्त्रों के साथ कितनी धान्दलेबाज़ी कर रक्खी है।

पांचवें काण्ड के १९ वें सूक्त में विद्वानों द्वारा आत्मा और ईश्वर के गुणों का वर्णन है। सूक्त २७ में ब्रह्मोपासना का उपदेश और परमेश्वरी शक्ति का वर्णन है। का० १०। सू० ८ में शतौदना नाम प्रजापति की शक्ति का वर्णन है। का० १०। सू० १० में 'वशा' नामराष्ट्रप्रजावश कारिणी राजशक्ति और *ब्रह्माण्ड को वश करने वाली भुवनेश्वरी परमेश्वरी शक्ति का वर्णन है।* और उसी शक्ति का वर्णन और दान, ज्ञान कराने की आज्ञा और उसके सदुपयोग और दुरुपयोग के लाभ, हानियों का वर्णन का० १२। ४ सूक्त में किया गया है। विस्तार से पाठकगण प्रस्तुत भाष्य में देखें।

## गोमेध और शूलगव पर विचार

जिन भ्रान्तिमान् विद्वानों का यह विश्वास है। कि प्राचीनकाल में गोमेध यज्ञ होता ही था और उसमें गौ आदि का मारा जाना अवश्य होता था, उनको

अपनी भ्रान्ति का निवारण गोभिल गृह्यसूत्र में लिखे गोयज्ञ से अवश्य कर लेना चाहिये। यदि उनके चित्त में दुराग्रह नहीं है तो उनको गोभिलगृह्य सूत्र प्रोक्त गोयज्ञ पढ़जाना चाहिये। उसमें सिवाय 'गो-पालन' के दूसरा कोई भ्रष्ट विधान नहीं है। पारस्करने तो शूलगव का सब हिंसामय प्रकरण लिखकर भी लिख दिया है।

एतेनैव गोयज्ञो व्याख्यातः ॥ १५ ॥ पायसेनानर्थलुप्तः ॥ १६ ॥

अर्थात् शूलगव से ही गोयज्ञ भी कह दिया। परन्तु अनर्थ को छोड़कर शेष सब आहुतियां भी 'पायस' [=खीर, दूध ] से हों। स्वयं सूत्रकार पारस्कर पूर्वोक्त, शूलगव को 'अनर्थ' शब्द से कहते हैं और गोयज्ञ में उसका विधान नहीं चाहते। यदि शूलगव को देख लें तो ही पाठकों को तोष हो सकता है। कि वृषभ का वधरूप यह अनर्थ भी रातको नगर से बहुत बाहर होता था। कोई इस काम को नगर के भीतर नहीं कर सकता था। मांस भी घर पर छुपा कर बाहर ही से काटकर और पकाकर लाया जाता था। घर के भीतर वह घृणित काम मांस का काटना, पकाना आदि नहीं हो सकता था। इससे प्रतीत होता है कि मांसलोलुप यजमानों ने या अर्थलोलुप पुरोहितों ने गोवध के सर्वथा प्रतिकूल राज्यशासन में भी अपने यजमानों से टका सीधा करने की गर्ज़ से उनका मनचाहा कर्म गृह्यसूत्रों में 'शूलगव' आदि लिख दिया है। उसकी विधि ऐसी बना दी है कि मांसलोलुप यजमान चोरी से छिप २ कर ये काम कर लें और राष्ट्र के गोवध आदि सम्बन्धी ग्राम और नगर के क़ानून भी उन पर न लग सकें।

मानव गृह्यसूत्र में लिख दिया है—'नामृतं ग्राममाहरेत्। २५। ४॥' अर्थात् बिना पका मांस ग्राम में न लावे।

## ( ८ ) स्कम्भ

जो योरोपीयन् विद्वान् वेदों को जंगली, असभ्य, अशिक्षित, वनचर लोगों के निरर्थक गीत समझते हैं उनको अपने बड़े २ दिमाग़ स्कम्भ सूक्त

पर लगाने चाहिये। उनको अपने मस्तिष्कों का अन्दाजा मालूम हो जायगा। उनको स्वयं अनुभव होगा कि वे भूल में थे। उत्तम दर्शन यदि कहीं विद्यमान है तो वह वेद में है और समस्त उपनिषद् और आरण्यक, ब्रह्मविद्या का सर्वश्रेष्ठ, और सब से उच्च विकास वेद में है। जिसमें से व्यास का वेदान्तदर्शन और उपनिषद्, ब्राह्मणों की यज्ञ, उपासना निकली हैं।

यह कहना कि वेद में नाना देवताओं की कल्पना है वे एक परम सर्वव्यापक महान् शक्ति से अनभिज्ञ हैं उनको अपना शङ्कासमाधान स्कम्भ सूक्त से करना चाहिये। का० १०। सू० ७ वां और ८ वां ये दोनों सूक्त 'स्कम्भ-सूक्त' कहाते हैं। वेदने स्पष्ट शब्दों में स्कम्भ का स्वरूप बतलाया है

महद् यक्ष भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्त सलिलस्य पृष्ठे।
तस्मिन् श्रयन्ते य उ के च देवाः०। अथर्व० ४। ७। ३८॥

संसार के बीच में सब से बड़ा पूजनीय तप और तेज में अन्तरिक्ष के भी ऊपर शासक है। उसमें समस्त 'देव' जो कोई भी दिव्य शक्तियां है सब आश्रय ले रही हैं। कैसे?

० वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः ४। ७। ३८॥

जैसे वृक्ष का तना बीच में हो और उसके चारों ओर शाखाएं उसका आश्रय ले रही हों। वेदकी उपमा ने ही समस्त देवों के उस परमदेव से जुड़े सम्बन्ध को दिखा दिया। जैसे वृक्ष के तने से शाखाएं उत्पन्न होती हैं ऐसे ही समस्त संसार की शक्तियें उसी देव से उत्पन्न होती हैं और जैसे काण्ड पर लगे २ ही शाखाएं वृक्ष के पत्रों, टहनियों और उपशाखाओं को सम्भालती हैं उसी प्रकार बड़ी २ शक्तियां अपने से उत्पन्न कार्य शक्तियों को को सम्भालती हैं और संसार के पदार्थों को धारण कर रही हैं और वे भी महान् परमदेव पर आश्रित हैं। शाखाएं जैसे बिना तने के गिर पड़ें और सूख जाय उसी प्रकार उस परमदेव के आश्रय के बिना ये समस्त भौतिक शक्तियां भी नष्ट हो जाय।

यह है वेदोक्त परम ब्रह्म या परम देव का दर्शन जिसको देखकर मुग्ध हुए विना नहीं रहा जा सकता। एक उपमा में उस परमब्रह्म का स्वरूप वर्णन कर दिया है। उपनिषद् उसको पर ब्रह्म कहती है परन्तु वेदने उसको सर्वाधार, सबको उठाने वाला कन्धा ( स्कन्ध ) होने से एवं समस्त ब्रह्माण्डरूप विशाल 'भुवन'=भवन का महान् स्तम्भ [ थम्भा ] या 'स्कम्भ' [ खम्भा ] नाम से पुकारा है।

## स्कम्भ और नृसिंह

स्कभि प्रतिबन्धे ( भ्वादिः ) धातु या 'स्कम्भु' धातु से 'स्कम्भ' शब्द बना है। उसी अर्थ के 'स्तभि' या 'स्तम्भु' धातु से स्तम्भ शब्द बना है। इस 'स्कम्भ' शब्द के द्वारा वेद में सर्वाधार परमेश्वर का निरूपण होने से पुराणकारों की खम्भे में से 'नृसिंह' के निकलने की कल्पना हुई है। पुराणकार ने स्तम्भ में से प्रकट होते हुए 'नृसिंह' में विराट् परमेश्वर का सर्व देवमय जगत् व्यापक स्वरूप ही प्रल्हाद को दिखलाया है। जैसे मत्स्यपुराण ( अ० १६२। ६-११ ) में लिखा है—

> अस्य देवाः शरीरस्थाः सागराः सरितश्च याः ॥ ६ ॥
> सर्वं त्रिभुवनं राजन् लोकधर्माश्च शाश्वताः।
> दृश्यन्ते नारसिंहेऽस्मिन् तथेदमखिलं जगत् ॥ ११ ॥

इसी की प्रति छाया लेकर वेदान्तविषयक प्रसिद्ध ग्रन्थ चित्सुखी के प्रणेता श्री चित्सुखाचार्य ने लिखा है—

> स्तम्भाभ्यन्तरगर्भभावनिगदव्याख्याततद्वैभवो।
> यः पाञ्चाननपाञ्चजन्यवपुषा व्याविष्टविधान्ततः ॥
> प्राह्लादाभिहितार्थतत्क्षणमिलद्दृष्टप्रमाणं हरिः।
> सोऽव्याद् वः०......इत्यादि० ॥

स्तम्भ [=स्कम्भ ] के बीच में व्यापक सत्ता के रूप में निगद ( वेद ) द्वारा जिस परमेश्वर का वैभव वर्णन किया है। सिंह, नारायण रूप से

जिसको विश्वात्मा रूप से बतलाया है और जो प्रह्लाद ने इसी तरह साक्षात् किया है वह भी परमेश्वर तुम्हारी रक्षा करे।

हमारे इस सबको दर्शाने का यही प्रयोजन है कि पुराणकारों की विस्तृत कल्पना और दार्शनिक आचार्यों की अर्वाचीन कालिक और पूर्व-कल्पना भी वेद के स्कम्भ सूक्त की छाया मात्र है। इसके अतिरिक्त यज्ञों में यूप कल्पना, और अर्भीनक स्तम्भ रूप इष्ट देव का गाड़ना और शिव लिंग की स्तम्भ रूप से कल्पना आदि भी इसी स्कम्भ का रूपान्तर है। इससे वेद प्रतिपादित स्कम्भ का सर्व व्यापक महत्व बढ़ता है। समस्त उपासनाओं का मूल होने से वेद उसको प्रथम ही 'महद यक्ष' कहता है। वह 'यक्ष' है, उपास्य है, सगति करने योग्य और सबको शक्ति का देनेवाला है। वह सर्वाधार, सर्वाश्रय है। वेद कहता है—

स्कम्भो दाधार द्यावापृथिवी उभे इमे स्कम्भो दाधारोर्वन्तरिक्षम्।

स्कम्भो दाधार प्रदिशः षडुर्वीः स्कम्भ इदं विश्वं भुवनमाविवेश ॥ ३५ ॥

वह, आकाश, पृथिवी, अन्तरिक्ष छहों दिशाओं को धारण करता है, समस्त भुवन में व्यापक है।

## स्कम्भ और वैश्वानर

छान्दोग्य में केकय देश के राजा अश्वपति ने वैश्वानर के विराट रूप का उपदेश किया है—

तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा संदेहो बहुलो 'वस्तिरेव रयिः' पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीयः ॥

इस स्वरूपका मूल स्कम्भ के वर्णन में वेदने किया है—

यस्य भूमिः प्रमाऽन्तरिक्षमुतोदरम्।

दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३२ ॥

यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः ।
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३३ ॥
यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन् ।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३४ ॥

जो पण्डितंमन्य योरोपीयन विद्वान्, अपनी सभ्यता के गर्व में अन्ध होकर मूर्खता से उपनिषदों और दर्शनों के सिद्धान्तों को वेदों से अधिक विकसित और नवीन तम उन्नति ( Latest development ) मानते हैं उनको आंखें खोलकर अपना हृदय शीतल कर लेना चाहिये और वेद के आगे शिर झुकाना चाहिये ।

## स्कम्भ, अज, स्वराज्य

परम ब्रह्म को 'स्वाराज्य' पद से स्मरण करना भी वेद ही बतलाता है। जिसका प्रयोग उत्तरोत्तर ब्रह्मज्ञानियों ने किया है।

यद् अजः प्रथमः संबभूव स ह तद् स्वराज्यमियाय ॥ १० । ३१ ॥

## स्कम्भ और इन्द्र

इन्द्र, परमेश्वर 'स्कम्भ' से भिन्न नहीं प्रत्युत एक ही है। वेद कहता है—

स्कम्भे लोकाः स्कम्भे तपः स्कम्भेऽध्यृतमाहितम् ।
स्कम्भं त्वा वेद प्रत्यक्षं इन्द्रे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ २९ ॥
इन्द्रे लोकाः इन्द्रे तपः इन्द्रेऽध्यृतमाहितम् ।
इन्द्रं त्वा वेद प्रत्यक्षं स्कम्भे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ ३० ॥

अज =अजन्मा) परमेश्वर का नाम है। वह सबका आदि मूल है। वेद कहता है—

यः अजः प्रथमः संबभूव । मं० ३१ ॥

## देवमय स्कम्भ

३३ देवता उस स्कम्भ परमेश्वर के अंग हैं—

यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अंगे गात्रा विभेजिरे ।

प्रकृति के भीतर विद्यमान समस्त शक्ति जिसमें समस्त प्राकृतिक विकार उत्पन्न होते हैं यह उसका एक अंग है जिसके लिये पुरुष सूक्त में कहा है—पादोऽस्येहा भवत् पुनः । इस परमपुरुष का एक पाद इस विश्व में है ।

## स्कम्भ, सत् और असत्

स्कम्भ प्रकरण में वेद कहता है ।

बृहन्तो नाम ते देवा, ये ऽसतः परिजज्ञिरे एक तद् अंग स्कम्भस्य ॥ २४ ॥

उस त्रिगुण प्रकृति में युक्त परमात्मा की शक्ति को विद्वान् 'असत्' कहते हैं ।

असदाहु परोजना. ॥ २५ ॥

यह 'असत्' शब्द ही शंकर के वेदान्त का परम मूल है । इसीको सांख्यवादी सत् मानते हैं । वे कहता है—

उतो सन्मन्यन्तेऽवरे ॥ २१ ॥

वे उसको 'शाखा' नाम से पुकारते थे ।

असत् शाखा प्रतिष्ठन्तीं परम् इव जना विदुः ।
उतो सन् मन्यन्ते वरे ये ते शाखामुपासते ॥

## गूढ प्रश्न और प्रहेलिकाएं

स्कम्भ का स्वरूप निरूपण करते हुए वेदने कुछ प्रश्न ऐसे उठाये हैं जिनका उत्तर वैज्ञानिक लोग अभी तक नहीं दे पाये हैं । जैसे—

१—कस्मिन् अंगे तपो अस्य अधितिष्ठति । ७ । १ ॥

सर्वव्यापक अनन्त परमेश्वर के किस अंग में "तप" बैठा है ? अर्थात् वह शक्ति जो समस्त सूर्यादि लोकों को तपा रही है वह 'तप.' है वह शक्ति परमेश्वरी महान् शक्ति का कौनसा अंग या कौनसा अंश है ? इसी प्रकार,

२—' कस्मिन् अंगे ऋतम् अस्य अधि आहितम् ' ॥ १ ॥

इसके किस अंग में 'ऋत' जगत् का प्रवर्तक बल या ज्ञान कौशल रहता है । अर्थात् वह अलौकिक रचनाकौशल जो कि कोटि २ ब्रह्माण्ड

को चला रहा है, जिस रचनाज्ञानकौशल से इस जगत् को बनाया है, वह इस परमेश्वरी शक्ति का कौनसा अंश है ? इसी प्रकार—

२—कस्माद् अंगाद् दीप्यते अग्निः कस्माद् अङ्गात् पवते मातरिश्वा।
कस्माद् अङ्गाद् विमिमीतेऽधि चन्द्रमा महःस्कम्भस्य मिमानो अङ्गम् ॥ २ ॥

अग्नि (=तेजस्तत्व ) इसके किस अंग (=अंश ) से प्रदीप्त है ? वायु को इस परमेश्वरी शक्ति के किस अंग से गति मिल रही है ? चन्द्र आदि आल्हादक पदार्थ उसके किस अंश से हैं ? इसी प्रकार ( मन्त्र ४ ) भूमि, अन्तरिक्ष, द्यौ, और ऊपर का वह आकाश जिसमें नक्षत्र विद्यमान हैं परमेश्वर के किस अंश में स्थिर है ?

इन सबका उत्तर यह है कि ये सब उस अनन्त शक्तिमान् के आश्रय पर चल रहे हैं पर उसकी शक्ति को मापा नहीं जा सकता, उसका आपेक्षिक मान नहीं कहा जा सकता।

४—सूर्य चल रहा है, वायु बहती है ( म० ४ ) मास, पक्ष वर्षऋतु आदि बराबर आते हैं, भुगतते हैं, गुजर जाते हैं, ( म० ५ ) दिन रात आते जाते हैं, नदी, वह रही है। परन्तु ये क्यों चल रहे हैं कहां जाना चाहते हैं। अर्थात् यदि ये जड़ हैं तो इन सबका जाना विना उद्देश्य के है। परन्तु नहीं। ये जरूर कहीं किसी की इच्छा से चल रहे हैं तो, वे कहां जाना चाहते हैं ? इन सब का अन्तिम लक्ष्य जहां ये पहुंचना चाहते हैं जिसकी इच्छा से ये चल रहे हैं वह 'स्कम्भ' है। वेद कहता है।

यस्मिन् स्तब्ध्वा प्रजापतिर्लोकान् सर्वान् अधारयत् ॥ ७ ॥

प्रजा के पालक परमेश्वर ने इन सबको अपने वश करके समस्त लोकों को धारण किया है। उसी स्कम्भ का उपदेश करो।

५—परमात्मा ने समस्त संसार को बनाया। जैसा म० प्रोक्टर (Proctor) विद्वान् ने अपने यूनिवर्स नामक पुस्तक में कोटि २ ब्रह्माण्डों का विज्ञानसिद्ध परिचय दिया है। उस आकाश का वे स्वयं गणनातीत विस्तार स्वीकार

करते हैं। यह ब्रह्माण्ड दूसरे ब्रह्माण्ड से इतना दूर है कि उस ब्रह्माण्ड के सूर्यों का प्रकाश ही यहां गणनातीत वर्षों में आवे। तब फिर इस अनन्त आकाश में विस्तृत अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड के बनाने में वह सर्वाधार महान् परमेश्वरी शक्ति पुञ्ज कितना उसके भीतर है और कितना विश्व के अतिरिक्त बचा है, बतलाओ ?

६—भूत भविष्य आदि कालों में उसका कितना अंश है। उसका एक अंश यदि सहस्रों विश्व होकर प्रकट हुआ है तो वहां भी वह कितना है, बताओ ? ( ७। ६ )

७—जिस स्कम्भ के आश्रय अनेक लोक और भुवनकोश हैं उसमें कितना अंश जगत् रूप में प्रकट 'सत्' और कितना अप्रकट 'असत्' है, बतलाओ ? ( ७। १० )

इतने प्रश्न वेद ने सुझाए परन्तु इनका एक का भी उत्तर वैज्ञानिकों के पास पूरी तौर से नहीं है। वैज्ञानिकों के समस्त माप आनुमानिक, लगभग और सैकड़ों बार अशुद्ध प्रमाणित होने वाले हैं।

स्कम्भ के वर्णन में वेद ने स्थूल शब्दों में बहुतसी पहेलियां या कूट समस्याएं भी कही हैं जिनको अध्यात्मवेदी ज्ञानी विचार पूर्वक ही जान सकते हैं। जैसे—

१-यो वेतसं हिरण्ययं तिष्ठन्तं सलिले वेद। स वै गुह्यः प्रजापतिः ॥ ७। ४१ ॥

सोने का बना बेंत पानी में खड़ा है। उसे जो जाने वह गुह्य प्रजापति है।

२—दो स्त्रियां छः खूंटी लगा कर दौड़ २ कर जाल बुनती हैं। एक ताना लगाती है, एक बाना, पर वे पूरा बुन नहीं पातीं, वे अन्त तक नहीं पहुंचती हैं। ७ ४२।

३—वे दोनों तो नाचती सी हैं। उनमें कौन बड़ी, कौन छोटी, नहीं मालूम ? परंतु जालको तो एक पुरुष ही बुनता और वही उकेलता है। म० ४३।

४—एक चक्र में १२ पुट्ठियां हैं, तीन नाभि हैं, ३६० कीलें चल, अचल रूप से लगी हैं बतलाओ ? ( ८ । ४ । )

५—छः जोड़े हैं और एक स्वयं उत्पन्न है उस एक में ही सब समा जाते हैं ( ८ । ५ ) वे कौन से छः जोड़े और कौनसा एक है बताओ ?

६—हजारों अरों का एक चक्र है। उसके आधे में विश्व है। बाकी आधा कहां है ( ८ । ७ ) बताओ ?

७—एक तिरछे मुंह का लौटा है; उसके ऊपर पैंदा है। उसमें विश्व रखा है। उसके किनारे ७ सात ऋषि हैं, वे उसके रखवारे हैं ? ( ८ । ९ )

८—एक ऋचा है, वह आगे पीछे और सब ओर से जुड़ती है। वह यज्ञ को प्रारम्भ करती है। कौनसी है ? ( ८ । १० ॥ )

९—एक देव है, वही बाप और वही बेटा ? वही सब से बड़ा, वही सब से छोटा है, बताओ कौन ? ( ८ । २८ )

१०-एक ( अवि ) भेड़ है, जिसके कारण सब हरे हरे हैं। कौन ? ( ८ । २८ )

११-एक सूत जिसमें सब जीव पिराये हुए हैं। कौन ? ( ८ । ३८ )

१२-नौ द्वार और तीन सूतों से लिपटे कमल में जानदार भूत है। कौन ? ( ८ । ४३ । ) इत्यादि।

अनेक इसी प्रकार की नाना पहेलियां हैं जिनको रूढ़ि शब्दों से कूट रूप में रखा गया है। विचार से ही विद्वान उन सबको प्राप्त करता है। उपनिषद् में इनमें से बहुतसी समस्याओं को सरल करने का यत्न किया है जिनका स्पष्टीकरण प्रस्तुत भाष्य में स्पष्ट रूप से पाइयेगा।

## ( ६ ) ब्रह्मौदन

अथर्ववेद के ११ काण्ड के १-८ सूक्तों में ब्रह्मौदन का प्रकरण है। जिनमें से प्रथम ३७ ऋचाएं हैं। साम्प्रदायिकों के अनुसार 'अग्ने जायस्व०'

इस ( १ ) मन्त्र से अग्नि मथा जाता है । धूम निकल आने पर 'कृष्णन-धूमं०' ( २ ) पढ़े । अग्नि निकल आने पर ४ थं मन्त्र पढ़े । ( ५ ) मन्त्र से ब्रह्मौदनपाक के निमित्त प्राप्त धान राशि के तीन भाग कर उनमें एक देवताओं के निमित्त, एक पितरों के और एक ब्राह्मणों के लिये रखे । मन्त्र ( ६ ) से देवों के भाग को एक घड़े में भर दे । मन्त्र ( ७ ) से धान ऊखल में डाले । ( ७, १० ) से ऊखल मूसल को गोचर्म पर रखे और धान पानी को मूसल देकर कुटवावे : ११ तथा 'वर्षवृद्धं०' ( १२ । ३ । १९ ) से सूप ले । 'ऊर्ध्व प्रजा' ( ६ ) तथा 'विश्वव्यचा'० ( १२ । ३ । १७ ) से सूप पर कुटे धान डाले और 'परापुनीहि०' (११ १२) इससे फटके । 'परेहि नारि० ( १३ ) से किसी स्त्री को पानी लेने के लिये भेजे । ( १४ ) से पत्नी को बुलावे वह पनिहारी से जल लेवे । (१५) से जल का घड़ा भूमि पर धरे । फिर चर्म पर धरे । ( २१ ) से बने भात की हांडी को खोल लें । और फिर ( १२ । ३ । ३५ ) से हांडी को चलाय ले । (२४) तथा (१२ । ३ । ३६) से स्रुवा को वेदि में रखे । ( २५ ) से चार अथर्ववेदी ब्राह्मणों को बैठावे । ( २६ ) से उनको बुलावे । ( २७ ) में उनके हाथ धोने का जल ले आवे । ( २८ ) से भात पर सुवर्ण रखे । और भात को कुछ उथल पुथल ले । ( २९ ) से आग में तुष जलावे । ( ३० ) से भात को ढेर में गढ़ा करे । ( ३१ ) से तथा ( १२ । ३ । ४५ ) से उसमें घी डाले । ३६ से तथा ( ४ । १४ । ५ ) से घृताहुति दे ।

'भवाशर्वौ०' (का० ११ । २) सूक्त ३१ ऋचाओं का है । आज्य, समित्, पुरोडाश, शष्कुली आदि १३ पदार्थों में से किसी एक को भी इन ३१ मन्त्रों से आहुति दे । इसी के साथ (६ । १०० ) ( ६ । १२८ ) इन दो सूक्तों से भी आहुति दे ।

तस्यौदनस्य, ( ११ । ३) सूक्त में 'बृहस्पति सव' में हवि का स्पर्श, उपात, दानृदाघन आदि कर्म करने लिये हैं ।

(११ । ४,) सूक्त में भोक्तव्यता का विवेचन किया गया है । (११।५) में ओदन का स्वरूप बतलाया है । (११।६) में प्राण सूक्त है । (११।७) ब्रह्मचारी सूक्त है । (११ । ८) अंहोमोचन सूक्त है । (११।९) उच्छिष्ट सूक्त है । साम्प्रदायिकों के कथनानुसार प्रथम तीन सूक्तों में कहे ब्रह्मौदन के हुत शेष का ही माहात्म्य कहा गया है ।

साम्प्रदायिकों ने (११।३) सूक्त को ब्रह्मौदन सव में न लगाकर 'बृहस्पति सव' में प्रयुक्त किया है । परन्तु वेद 'तस्यौदनस्य०' इस सूक्त द्वारा पूर्वोक्त 'ओदन' का ही वर्णन करता है । (११।४), (११।५) इनका सम्बन्ध भी ओदन से ही है ।६, ७ और ८ ये सूक्त प्राण और ब्रह्मचारी और अंहो-मोचन विषयक होकर ९ वां 'ओदन-शेष' का उच्छिष्ट सूक्त है । इस परम्परा से विचार करने पर ज्ञात होता है कि प्राण सूक्त भी ओदन का स्वरूप बत लाता है । ब्रह्मचारी सूक्त उस ब्रह्मरूप 'ओदन' के भोक्ता का स्वरूप बतलाता है । अंहोमोचन सूक्त ब्रह्मभोग का फल बतलाता है । और उच्छिष्ट पुनः उसी ब्रह्मौदन के माहात्म्य को दर्शाता है । रही समस्या 'ब्रह्मौदन' की । वह क्या पदार्थ है और उसका भोक्ता कौन है ? कैसे उसका भोग किया जाय ? उसके अवशेष 'उच्छिष्ट' का क्या स्वरूप है ? उस ओदन को किस प्रकार परिपाक किया जाय इत्यादि सभी रहस्य की बातें हैं । गृहस्थ ब्रह्मौदन का पाक किस प्रकार करे ? राष्ट्र में ब्रह्मौदन किस प्रकार पकाया जावे ? महान् ब्रह्माण्ड में 'ओदन' अर्थात् प्रजापति के परम उत्कृष्ट तेज का परिपाक किस प्रकार होता है ? इन सब प्रश्नों का स्पष्टीकरण प्रस्तुत भाष्य में किया गया है । यहां इतना ही कहना पर्याप्त है कि 'ब्रह्मौदन' प्रजापति का स्वरूप है । राष्ट्र में पृथिवी, गृह में गृहिणी और ब्रह्माण्ड में अखण्ड परमेश्वरी शक्ति, शरीर में चिति इन सबका एक नाम वेद में 'अदिति' है । गृहस्थ में पति, देह में आत्मा, राष्ट्र में राजा, ब्रह्माण्ड में परमेश्वर 'अग्नि' है । २ से ६ तक के मन्त्र प्रत्यक्ष रूप से राजा का वर्णन कर रहे हैं । यही वस्तुतः ब्रह्मभोग्य ब्रह्मरूप 'ओदन' का वर्णन है ।

अगले मन्त्रों में भी ग्रावा, चर्म, नारी वेदि आदि शब्द श्लेषकमूल उपमा को दर्शाते हैं। जिनको हम पुन २ यहा लिखकर लेख नहीं बढ़ाना चाहत। पाठकों से आग्रह करेंगे कि ब्रह्मौदन प्रजापति का स्वरूप प्रस्तुत भाष्य में हा साक्षात् करेंगे।

इस महान् ओदन के परिपाक का आलकारिक वर्णन तो स्वय वेद ने तृतीय सूक्त में कर दिया है।

इयमेव पृथिवी कुम्भी भवति राध्यमानस्यौदनस्य द्यौरपिधानम् ॥ ३ । ११ ॥

इस महान् ब्रह्मौदन के राधने की हाडी यह पृथिवी है और द्यौ हडिया पर ढकन का वर्नन है।

उस ओदन का विशाल रूप देखिये—

यस्मिन् समुद्रो द्यौर्भूमिस्त्रयो वरपर श्रिता ।
यस्य देवा अकल्पन्त उच्छिष्टे षडशीतय ।
त त्वा ओदन पृच्छामि यो अस्य महिमा महान् ॥ २२ ॥

मैं तो उस ओदन ( भात ) को पूछता हू जिसकी महिमा बड़ी है जिसमें समुद्र द्यौ, और भूमि तो उरे परे स्थित हैं जिसके उच्छिष्ट रूप में ४८० दिव्य शक्तिया विद्यमान हैं।

इसी ओदन के विषय में ब्रह्मवादियों का कथनोपकथन वर्णित है। जिसका विस्तार ११ । ३ । २६ से लेकर ११ । ३ ( २ ) की समाप्ति तक दर्शाया है। इसी प्रकार के वर्णन की प्रतिच्छाया छान्दोग्य उपनिषद् के अश्वपति प्रोक्त वैश्वानर प्रकरण में प्राप्त होगी। विद्वान् जन उसकी तुलना करके स्वय वेदान्त के इस गूढ़ प्रकरण के महत्व को अनुभव करेंगे। ग्रन्थ विस्तार के भय से हम यहां नहीं लिखते।

११ । ३ ( ३ ) में उसी महान् ओदन से समस्त ससार की उत्पत्ति का वर्णन किया है। ११ । ४ । सू० में समस्त वैकारिक सर्ग और जीवसर्ग

के परमाश्रय, परमचेतन्य, समष्टि प्राण रूप परमेश्वरी शक्ति का वर्णन बड़ा ही विस्मयजनक है। इसका स्पष्टीकरण अथर्ववेदीय प्रश्नोपनिषद् (प्र० १,२) में संक्षेप से दर्शाया है।

इस शरीर में ब्रह्मोदन का पाक करके भोग करने वाला वीर्य पालक अखण्ड ब्रह्मचारी ही है। इसका वर्णन विराट् ब्रह्मचारी का वर्णन करते हुए ११ । ५ ( ७ ) सूक्त में दर्शाया है। इसमें परमेश्वर का भी ब्रह्मचारी स्वरूप दर्शाया है। इस प्रकार परब्रह्म का विशाल रूप जान कर उसके बनाये पवित्र जगत् में मलिन चित्त वालों को अपना पाप का मैल कैसे धो डालना चाहिये इसका वर्णन ( ११ । ६ ) में किया है।

आत्मा के शुद्ध हो जाने पर सर्वोच्च अनुशासन योग्य उच्छिष्ट (=उत् शिष्ट ) परम वेद्य, परमेश्वर का उपदेश किया गया है। संगति का दिग्दर्शन हमने यथाशक्ति किया है। जिसका सम्पूर्ण रीति से दर्शन प्रस्तुत भाष्य में देखिये।

## ( १० ) मन्यु

अद्भुतसृष्टि के रचना के मूल कारण की खोज में वैज्ञानिक कोई मूल कारण नहीं बतला सके कि क्यों नाना जीव सृष्टि हुई। जीव के शरीर में नाना प्रकार की धातुएं, मानसविकार, तथा नाना तृष्णाएं कहां से पैदा हुईं? ये सभी अध्यात्म, आधिदैविक, समस्याओं के उत्तर वेदने मन्यु सूक्त में सरलता से दिये हैं।

डार्विन ने विकासवाद को मुख्य रखने की चेष्टा की है परन्तु जब पूछा जाता है कि विकास क्यों हुआ? तो उत्तर कुछ नहीं। दबी जबान से जब दृष्टान्त देते हैं तो प्राणियों की नाना इच्छाओं को ही विकास के कारण रूप से कह देते हैं। दृष्टान्त के तौर पर जैसे ह्वेल मछली पहले कोई वन-चर जन्तु रहा होगा। वह जलप्लव काल में निराश होकर जल में ही अपना बसर करने की चेष्टा करने को बाधित हुआ। शनैः २ उसके पशु के अंग

लुप्त हो गये और जलोपयोगी अंग उत्पन्न हो गये। फलतः पीढ़ी दर पीढ़ी उसको लाखों वर्ष के जलोचित सुख पूर्वक निवास की इच्छा ने उसके अंगों को विकृत किया। वेद इस इच्छा को 'संकल्प के गृह से प्राप्त जाया' के नाम से कहता है जो 'मन्यु' मननशील आत्मा से संगत होकर नाना वैचित्र्य उत्पन्न करती है। उस मन्यु और संकल्प की पुत्री 'जाया' के संगति के कारण तप और कर्म थे। ब्रह्माण्ड की विशाल विचित्र रचनाओं का प्रधान कारण महान् 'मन्यु' था, जिसको 'ब्रह्म' कहते हैं। फिर इसी संकल्प से भूमि के पृष्ठ पर उत्पन्न स्थावर जंगम और मैथुनी सृष्टि का रहस्य खोला गया है। (१०-२४) पाठक प्रस्तुत भाष्य में विस्तार से देखें।

राष्ट्र प्रजापति के प्रजा के पालन में महान् मन्यु रूप राजा के विकट रूप का वर्णन अर्थात् युद्ध आदि का वर्णन शेष ९, १० दो सूक्तों में किया है।

## ( ११ ) पृथिवी सूक्त

मातृ भूमि के प्रति प्रेम की आदर्श शिक्षा वेद ने काण्ड १२। सू० १ में पृथिवी सूक्त द्वारा प्रदान की है। पहले ही मन्त्र में राजाओं का गर्व तोड़ दिया है कि पृथ्वी के पालक वे नहीं हैं परन्तु सत्य ऋत, उग्र तप, दीक्षा, ब्रह्म और यज्ञ ( परस्पर संघ ) ये पृथ्वी को धारण करते हैं। यदि ये न हों तो पृथ्वी नष्ट हो जाय।

वेद कहता है—

सत्यं बृहद् ऋतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ॥ १ ॥

इस मन्त्र में बृहद् ऋत ईश्वरप्रदत्त ज्ञान है। वेद सिखाता है कि पृथिवी माता है और हम उसके पुत्र हैं। उसका अन्न आदि पुष्टिप्रद पदार्थ हमारे लिये दूध है। उसके लिये ऐश्वर्यवान् होकर राजा पृथिवी को शत्रु रहित करे और उसका भोग करे।

सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः ॥ १० ॥

इन्द्रो यांचक्रे आत्मने अनमित्रां शचीपतिः ॥ १० ॥

समस्त पृथ्वी सर्व भौमशासन को राजा पृथिवी का पुत्र होकर करे न कि पशु होकर। इसके लिये वेद कहता है सब प्रजा को मिलाकर—

यत् ते मध्य पृथिवि यच्च नभ्यं याः स्त ऊर्जस्तन्वः सम्बभूवुः ।

तासु नो धेहि अभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः ॥ १२ ॥

ऐसी माता पृथिवी पर हम पुत्र किस पिता के आधार पर जीएं, वेद कहता है—पर्जन्य=मेघ हमारा पिता है ।

पर्जन्यः पिताः स नः पिपर्तु ॥ १२ ॥

एक भूमि माता के पुत्र सब मिलकर कर प्रेम से वार्त्तालाप करें ।

ता नः प्रजाः संदुह्रतां समग्राः । वाचो मधु पृथिवि धेहि मह्यम् । १६ ॥

पृथिवी को कामदुघा धेनु कहने की शिक्षा वेद देता है—

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम् ।

सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहाम् ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती ॥ ४५ ॥

विविध वाणियों और विविध भाषाओं को बोलने वाले जनों को अपने में ऐसे रखती है जैसे वह उनका घर है। वह हमें स्थिर धेनु=गाय के समान विना छटपटाहटके ऐश्वर्य की सहस्रों धाराएं प्रदान करे ।

हीरा रत्न, मुक्ता आदि समस्त ऐश्वर्य पृथ्वी से प्राप्त होते हैं ।

निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे ॥ ४४ ॥

पृथ्वी पर आने जाने और गाडियों, भारी गाड़ी के जाने के मार्ग बना कर, मार्गों पर हम अपना वश रखें, और मार्गों को चोर डाकुओं से रहित कर दें ।

ये ते पन्थानो बहवो जनायनाः रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे ।

यैः संचरन्त्युभये भद्रपापास्तं पन्थानं जयेमानमित्रमतस्करं ।

यच्छिवं तेन नो मृड ॥ ४७ ॥

हे पृथिवि ! मातः ! तू मुझे सुख, कल्याणकारिणी लक्ष्मी से सुप्रतिष्ठित कर।

भूमे मातर्नि धेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम् ।

इत्यादि नाना सद्भावों को विचारने की दिशा वेद सिखाता है। फिर और देशभक्ति कैसी चाहिये। वेद स्वयं देश भक्त होने का उपदेश करता है भूमि के अन्यान्य गौरवों को भी प्रस्तुत भाष्य में देखिये।

## ( १२ ) क्रव्यात् अग्नि

'नडमारोह०' इत्यादि ( का० १२। सू० २ ) सूक्त क्रव्याद् अग्नि सम्बन्धी है। इस सूक्त में ५५ मन्त्र हैं। इस सूक्त के सम्बन्ध में हमारा सभी अनुवाद कर्त्ताओं से प्रायः अर्थ भेद है। इस पर सायण का भाष्य उपलब्ध नहीं है। इस के मन्त्र भी बहुत से बड़े ही अस्पष्ट हैं उदाहरण के रूप में प्रथम मन्त्र ही लेना पर्याप्त है।

नडमा रोह न ते अत्र लोक इदं सीसं भागधेयं त एहि ।
यो गोषु यक्ष्मः पुरुषेषु यक्ष्मस्तेन त्वं साकमधराङ् परेहि ॥

अर्थ—हे क्रव्यात् ! तू 'नड' पर चढ़, तेरा यहां लोक नहीं। यह 'सीस' तेरा भाग है। तू आ। जो 'यक्ष्म' गौओं और जो यक्ष्म पुरुषों में है उस के साथ तू दूर चला जा।

## सूक्त का विनियोग

यहां 'क्रव्यात्' क्या पदार्थ यही विवादास्पद है। श्री पं० शंकर पाण्डुरंग ने इस सूक्त की उत्थानिका में लिखा है कि—

"यह सूक्त 'क्रव्यात्' नामक अग्नि के विषय का है। तीन अग्नि होते हैं आमाद्, क्रव्याद्, और हव्याद्। जो 'आम' अर्थात् अपक्व को खाता है वह लौकिक अग्नि 'आमाद्' है जिससे मनुष्य भोजन पकाकर खाते हैं। (शतपथ १।२।१।४) क्रव्य अर्थात् शवदाह के अवसर पर जो

मांस को खाता है वह 'क्रव्यात्' घोर स्वरूप चिता की अग्नि है, वह त्याज्य है। शतपथ में ही लिखा है कि—'येन पुरुषं दहन्ति स क्रव्यात्।' जिससे पुरुष को जलाते हैं वह 'क्रव्यात्' है। 'हव्य' अर्थात् पक्क देव यज्ञ में आहुति किये अन्न को जो खाता है अथवा जो उस अन्नको देवों को पहुंचाता है, वह प्रज्वलित अग्नि 'हव्यवाट्' है जो यज्ञ के योग्य है। 'आमात्' और 'क्रव्यात्' दोनों यज्ञ के योग्य नहीं होते। यहां घोर स्वरूप अग्नि को लक्ष्य करके सूक्त प्रारम्भ होता है। केवल 'क्रव्यात्' शवदाह में मांस ही नहीं खाता, बल्कि घोर होने से यक्ष्मा आदि बहुत से रोगों को और नाना प्रकार की मृत्यु को भी ले आता है। उसी प्रकार वह बहुतसी आपत्तियों को भी पैदा करता है। उन २ आपत्तियों, उन २ रोगों और उस २ मृत्यु को सूक्तकार प्रार्थना से ही दूर करता है। और 'क्रव्यात्' का जो घोर घोर रूप है उससे वह 'क्रव्यात्' शत्रु को मारे, ऐसी प्रार्थना करता है। सब पापों को 'क्रव्यात्' दूर करे, यह इच्छा करता है। क्रव्याद् को शान्त करने की इच्छा करता हुआ कौशिक सूत्र में कहे विधान से कर्म करता है, तो वे सब नाश को प्राप्त हों ऐसा कहता है।"

साम्प्रदायिकों ने इस सूक्त का विनियोग 'क्रव्यात्' के शमन में किया है।

कौशिक के अनुसार इस सूक्त के 'नडमारोह' (१) 'समिन्धते०' (११) 'इषीकां०' (५४) 'प्रत्यञ्चमर्कं०' (५५) इन चार मन्त्रों से क्रव्यात् अग्नि पर लकड़ी रखता है। इसी प्रकार क्रव्यात् अग्नि को इस सूक्त के १-४, ४२, ४३, ४५, ४६ इन आठ मन्त्रों से पानी से बुझाते हैं। 'यत्त्वा०' (५) इस मन्त्र से क्रव्यात् अग्नि को घर से पृथक् करते हैं। मन्त्र ४, ७, ८, से माष की पीठी के अंश दिये जाते हैं। (७, ८, ६, १०) से अग्नि को दूर ले जाते हैं (१३, १७, ४०) से उसको जल से धोता है। (२२, २७) इन दो से क्रव्यात् अग्नि के चरणों के चिन्हों को मिटाता है। अर्थात् मृत्यु के 'पदयोपन' करता है। (२३) से गृह के द्वारपर शिला रखकर उसपर पैर रखता है। (२४, २१, २२, ४४, ४६)

इनको भी क्रव्याद से छूटने के लिये प्रयोग करता है। (२५, २६) से नदी आदि पार करता है। (२८) में एक बछड़ी को मुर्दे के पास लाते हैं। (३१) में हरे घास स्त्रियों के हाथ में देते हैं। (३३) से हृदयस्पर्श करते हैं। (४२) में भाड़ से आग लाते हैं। (४७) में बलि के लिये बैल को पकड़ते हैं।

'क्रव्याद्' की विवेचना

फलत: यह समस्त सूक्त साम्प्रदायिकों के अनुसार शव को जलाने वाले अग्नि पर ही लगा दिया गया है। अनुवादकों ने भी इस विनियोग को लक्ष्य में रखकर अर्थ करने का यत्न किया है। अब प्रथम मन्त्र पर विचार कीजिये कि उनका ऐसा करना कहांतक सुसंगत है।

मन्त्र को अग्नि पर काठ रखने या पानी से अग्नि को बुझाने पर लगाया है। परन्तु उसको नड़पर चढ़ाना, 'सीसा' को उसका भाग कहना, गौ और आदमियों में से यक्ष्मा को दूर करना, आदि का क्रव्याद् से क्या सम्बन्ध है। कुछ ज्ञात नहीं होता। हमारी मति में कच्चा मांस खाने वाले अग्नि के अतिरिक्त व्याघ्र आदि हिंसक और दुष्ट जंगली पशु भी लेने उचित हैं। उनको नड़ (=शरपर) चढ़ाना, सूली देना या बाण से मारना, सीसे या गोली का शिकार करना, पुरुषों और पशुओं पर रोग के समान आक्रमण करने वालों के साथ उनको मार भगाना, कैसा सुसंगत अर्थ वेद मन्त्र का प्रकट होता है। पाठक प्रस्तुभाष्य में देखें। वेद ने इस सूक्त में जीवों के कच्चे मांस पर आहार करने वाले सभी को 'क्रव्याद्' शब्द से कहा है। इसमें तनिक भी संदेह नहीं रहता जब हम निम्नलिखित स्थलों पर विचार करते हैं। जैसे—

निर् अमुं नुद ओको निर् सपत्नो निर् अरातिम् अर्पयामि।
यो नो द्वेष्टि तम् अद्धि अग्ने! अक्रव्याद् यम् उ द्विष्मः तम् उ ते प्र सुवामसि ॥३॥

मृत्यु, पीड़ा और शत्रु और जो क्रव्याद् न होकर भी द्वेष करता है और जिसको हम द्वेष करते हैं उन सबको हम दूर करें। इसी प्रकार—

यदि अग्निः क्रव्यात् यदि वा व्याघ्रः इमं गोष्ठं प्रविवेशान्योकाः ।
तं माषाज्यं कृत्वा प्रहिणोमि दूरं० ॥

इस मन्त्र से उड़द की पीठी के गुलगुले शवाग्नि को दिये जाते हैं। क्या खूब! 'माषाज्य' का यही तात्पर्य लगाया है। अज्ञान से 'क्रव्यात्' अग्नि या शवाग्नि को भी देवता या भूत प्रेत सा जान कर व्यवहार किया है। वेद मन्त्र तो 'माषाज्य' करके क्रव्यात् अग्नि, व्याघ्र, तक को दूर भगा देने की आज्ञा देता है। तो क्या व्याघ्र भी उड़द के पकौड़े खायेगा? स्पष्टार्थ यह है कि व्याघ्र को 'माषाज्य' करने का तात्पर्य है उसके लिये मारने योग्य शस्त्र का प्रयोग करके उसे दूर भगा देना।

आज्यम्—आज्येन वै देवा सर्वान् कामान् अजयन् श० १४। १॥ वज्रो वा आज्यम्॥ श० १। ३। २। १७॥ मष हिंसार्थः। भ्वादिः। माषः हिंसा।

इस स्थलपर 'अग्नि' का अर्थ भी अग्नि के समान तापकारी, दुःखदायी पुरुष या पशु ही लिया जाना उचित है। वह यदि 'अन्योकाः' दूसरी जगह से कहीं अपनी बस्ती में आवुसे तो उसे मारकर निकाल दे। यही वेद का सरल अर्थ है। यदि उसे मनुष्य जान दया करके मारना न चाहें तो पकड़ लें और उसके लिये वेद कहता है—'न ग-त्वन्पुरोऽध्यक्षीन्।' वह प्रजाओं पर अधिकारी रूप से विराजमान विद्वान् नेता पदाधिकारियों के आगे लाया जाय। वहां जो निर्णय हो किया जाय।

इसी प्रकार समस्त सूक्त में प्रति मन्त्र इसी प्रकार की समस्याएं आ उपस्थित होती हैं, जिनको केवल रूढि शब्दार्थ लेने पर मन्त्र का कोई तात्पर्य नहीं खुलता। और केवल शवाग्नि पर लगाने से सब कर्मकाण्ड व्यर्थ अबुद्धिपूर्वक, और असंगत प्रतीत होता है। परन्तु 'क्रव्यात्' से मांस-खोर जन्तु अर्थ लेने पर वह सब सरल होजाता है। पाठकों से हम आग्रह करेंगे कि वे इस सूक्त के प्रत्येक मन्त्र को स्वयं समझ कर पाठ करें और फिर प्रस्तुत भाष्य में दर्शाये अर्थों पर विचार करें तो उनको सब सूक्त

का अर्थ स्पष्ट हो जावेगा। यहां केवल दिशा मात्र दिखाकर अन्य विषयों पर प्रकाश डालते हैं।

## (१३) स्वर्गौदन

साम्प्रदायिक लोग 'स्वर्गौदन' को भी पूर्वोक्त ब्रह्मौदन के समान ही केवल शीत्यर्थ 'भात' ही जानते हैं। मन्त्र को तो आहुति आदि के निमित्त मात्र जानते हैं। का० ११ सू० ३ को स्वर्गौदन विषयक बतलाते हैं। पर विस्मय यह है कि समस्त सूक्त में 'स्वर्गौदन' शब्द कहीं एकत्र नहीं आया 'ओदन' और 'स्वर्ग' दोनों शब्द पृथक २ अवश्य आये हैं। परन्तु स्वर्गौदन शब्द अवश्य साम्प्रदायिक कर्मकाण्डियों का गढ़ा हुआ है। भले ही श्रद्धालु यजमान विशेष रीति से पकाये भात की आहुति देकर एक कल्पित लोक को स्वर्ग जान कर कर्मकाण्ड में लिप्त रहें, परन्तु वेद के मन्त्रों में स्वर्ग और ओदन दोनों ही पृथक २ हैं। और उनका अद्भुत स्वरूप बतलाया गया है जिसका हम इस प्रसङ्ग में विवेचन करना आवश्यक समझते हैं।

### ओदन शब्द पर विचार

'वेद' ओदन के विषय में कहता है—

> यं वा पिता पचति यं च माता। रिप्रान्निर्मुक्त्यै शमलाच्च वाचः।
> स ओदनः शतधारः स्वर्गः० ॥ ५ ॥

यह ओदन है कि जिसको पिता पकाता है और माता भी पकाती है। क्योंकि जिससे वे दोनों पाप और परस्पर में की गयी प्रतिज्ञा के भङ्गदोष से बचे रहें। वह 'शतधार ओदन' है। यही गुप्तपद है। माता और पिता जब कुमार कुमारी होते हैं तब ब्रह्मचर्य पूर्वक वीर्य को परिपक्व करते हैं। क्योंकि यदि कुमार अपना व्रत खण्डित करता है तो वह दुराचारी कहाता है, और यदि कुमारी अपना कन्यात्व नष्ट करती है तो वह भी निन्दा का पात्र होती है। इस पाप कलंक से बचने के लिये वे वीर्य का परिपाक ही करते हैं।

जब वे दोनों परिपक्व वीर्य हो जाते हैं तब पति-पत्नी होकर एक दूसरे के साथ वाग्-बद्ध हो जाते हैं तब भी गृहस्थ में रहकर पुरुष परस्त्री से और स्त्री परपुरुष से व्यभिचार न करके दोनों अपने वीर्य रक्षा के व्रत का पालन करते हैं। मैथुन करके भी परस्पर के उत्पन्न पुत्र को भी अपना वीर्य जानकर ही उसका पालन करते हैं। वे पतिव्रत और पत्नीव्रत दोनों वाणी के 'शमल' से बचने के लिये सच्चाई से निभाते हैं। सद् गृहस्थ का पालन, एवं उसमें वीर्य की रक्षा ही शतधार ओदन है। उसके आधार पर सैंकड़ों जीवों की पालना होती है गृहस्थ के पालक पति-पत्नी का भी १०० वर्ष तक जीवन रहता है। वही गृहस्थ स्वर्ग है।

## स्वर्ग का स्वरूप और साधन।

इसी स्वर्ग के विषय में वेद पुनः कहता है

ये यज्वनामभिजिता स्वर्गाः। तेषाम् ज्योतिष्मान मधुमान् यो अ॰ ।

तस्मिन् पुत्रैर्जरसि संश्रयेथाम् ।

हे स्त्री पुरुषो ! यज्ञ शील पुरुष जिन सुखमय लोकों का विजय करते हैं, उनमें से सब से अधिक उज्वल और आनन्दमय जो स्वर्ग है, उसमें रहकर ही तुम पुत्रों सहित अपने बुढ़ापे में भी आनन्द से विश्राम पाओ। अर्थात् पूर्णायु होकर देह त्यागो।

इस प्रकार वीर्य रक्षापूर्वक गृहस्थ का स्वर्ग या सुखधाम बतला कर वेदने इस सूक्त में स्त्री पुरुषों के परस्पर गृहस्थ को सुखमय, साक्षात् स्वर्ग बनाने के साधनों का उपदेश किया है। जिनमें से कुछ एक ..न संक्षेप से नीचे देते हैं—

१—तावद् वां चक्षुस्तति वीर्याणि तावत् तेजस्तातिधा वाजिनानि ।

अग्निः शरीरं सचते यदैधो अधा पक्वान् मिथुना संभवाथः ॥ २ ॥

हे स्त्री पुरुषो ! चाहे तुम दोनों कितने ही वीर्य और तेज और बल वाले हो, तो भी जब काठ को आग के समान कामाग्नि सतावे तब परिपक्व वीर्य से परस्पर मिलो।

२–पूर्णौ पतित्रिण मर् भ्रयेथाम् यद् यद् रेतो अधि वां सम्भृत ॥ २ ॥

जब २ तुम दोनों का वीर्य पुत्र रूप से गर्भ में स्थित होजाय तब २ पवित्र आचरणों और सस्कारों से उसका पालन पोषण करो ।

३–यद् वां पक्व परिविष्टम् अग्नौ तस्य गुप्तये दम्पती श्रयेथाम् ।

जब तुम दोनों का परिपक्व वीर्य योषा रूप अग्नि के गर्भ में स्थिर रूप से प्रवेश कर जाय तब उसकी रक्षा के लिये दोनों पति पत्नी एक दूसरे का आश्रय लें । यह गृहस्थ की प्राची अर्थात् उत्कृष्ट दिशा है ।

४–सत्याय तपसे देवताभ्यो निधिं शेवधिं परिदद्म एतम् ।

सत्य, तप, और विद्वानों के हाथ इस खजाने को सौंपे ।

' मा नो द्यूते अवगात् ' । यह धन जूआ चोरी में न लगे ।

' मा समित्याम् ' । यह गोठों, मेलों में न लगे ।

' मास्मै अन्यस्मा उत्सृजत पुरा मत् ' ॥ ४६ ॥ और मुझ गृहपति के होते हुए किसी दूसरे शत्रु को मत दे डाल ।

५–समानं तन्तुमभिसंवसानौ तस्मिन् सर्वं शमलं सादयाथ ॥ ५२ ॥

प्रजारूप समान तन्तु को प्राप्त करके उसके निमित्त पति पत्नी अपने सब प्रकार के पापों को त्याग दें ।

ये तो स्थालीपुलाक न्याय से वीर्यरूप ओदन के परिपाक और गृहस्थ रूप स्वर्ग के कुछ वैदिक आदर्शों का वर्णन किया है वेदने सूक्त भर में नाना उपदेश मणियों का वर्णन किया है । पाठक प्रस्तुत भाष्य में ही देखें यहां समस्त विषय सप्रमाण दर्शाया गया है ।

## ( १४ ) रोहित

समस्त त्रयोदश काण्ड 'रोहित' विषयक है । इसमें मुख्य रूप से परमेश्वर का वर्णन है । गौण रूपसे राजा का और और अध्यात्म में योगी

विभूतिमान् आत्मा का भी वर्णन है। कुछ स्थलों पर राजा और परमेश्वर दोनों का पृथक् २ भी वर्णन है। अध्यात्म में वहां परमेश्वर और जीव दोनों का ग्रहण है। सूक्त का प्रतिपाद्य विषय स्वयं प्रस्तुत भाष्य में उचित रूप से वर्णन कर दिया गया है। यहां पाठकों का ध्यान 'रोहित' परमेश्वर और आत्मा के वर्णन वैचित्र्य पर आकर्षण करना चाहता हूं।

परमात्मा के विषय में, जैसे—

१—' रोहितो विश्वमिदं जजान ' रोहित ने समस्त विश्व को उत्पन्न किया।

२—वह समस्त देवों के नामों को धारण करता है—

स धाता स विधर्त्ता स वायुर्नभ उच्छ्रितम्।
सो अग्निः स उ सूर्यः स उ एव महायमः।

धाता, विधर्त्ता, वायु, नभ, अग्नि, सूर्य, महायम सब वही है।

३—दशों दिशाओं के निवासी लोक उसी पर ऐसे आश्रित हैं, मानो एक शिर में दश प्राणी जुड़े हों।

तं वत्सा उप तिष्ठन्ति एकशीर्षाणो युता दश। १३। ४ ( १ ) ६॥

४—समस्त दिव्य शक्तियां उसके साथ ऐसी टंगी है जैसे मानो छत में छींका टंगा हो।

तस्यैष मारुतो गणः स एति शिक्याकृतः।

५—वह इस संसार में व्याप्त है वह स्वयं समर्थ शक्ति रूप है और एक ही है।

तमिदं निगतं सहः। स एष एकवृत्। एक एव॥ १२॥

६—समस्त दिव्यशक्तियां उसमें एक होकर रहती हैं।

एते अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति।

अद्वितीयता बतलाते हुए वेद कहता है—

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते । न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते ।
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते । तमिदं निगतं सहः । स एष एकवृद् । एक एव ।

दूसरा नहीं, तीसरा नहीं, चौथा नहीं, पांचवां नहीं, छठा नहीं, सातवां नहीं, आठवां नहीं, नवां नहीं, न दसवां कहा जाता है। वह तो शक्तिमान् स्वयं पूर्ण, समर्थ, एक ही है।

कारण से कार्य उत्पन्न होता है। परन्तु कार्य से कारण की मूलसत्ता प्रकट होती है। इसी प्रकार वेद ने विश्व के बड़े २ पदार्थों को परमेश्वर से उत्पन्न और उनसे परमेश्वर की सत्ता को प्रकट होते वर्णन किया है।

स वा अन्तरिक्षाद् अजायत । तस्माद् अन्तरिक्षम् अजायत । १३ । ४ । ५ । ३१ ॥
स वै वायोरजायत तस्माद् वायुरजायत ॥ ३२ ॥ इत्यादि ।

उस परमेश्वर से दिन, रात अन्तरिक्ष, वायु, दिशाएं, भूमि, अग्नि, जल, ऋचाएं, यज्ञ आदि उत्पन्न होते हैं और वे सब भी अपने पैदा करने वाले को प्रकट करते हैं।

( ५, ६ ) दोनों पर्यायों में वेद ने परमेश्वर के और भी बहुत से नामों का परिचय दिया है, जैसे—

विभू, प्रभू, शम्भ, महः, श्रम, सहः, अरुणं, रजतं, रजः, उरु, पृथु, सुभू, भव, प्रथस्, वर, व्यचस्, भवद्वसु, संयद्वसु, आयद्वसु, आदि। इन नामों का उपनिषदों में स्थान २ पर वर्णन आता है।

राजा आर विभूतिमान् आत्मा रूप से रोहित का वर्णन यजुर्वेद में आया है जिसका स्पष्टीकरण यजुर्भाष्य में करेंगे।

## ( १५ ) व्रात्य

१५ वां काण्ड व्रात्य विषयक है। पं० शंकरपाण्डुरंग के कथनानुसार

“व्रात्यो नाम उपनयनादिसंस्कारहीनः पुरुषः । सोऽर्थात् यज्ञादिवेदविहित- क्रियाः कर्तुं नाधिकारी । न स व्यवहारयोग्यश्चेत्यादि कल्प्य मनसिकृत्य भाष्योऽपि-

कारी व्रात्यो महानुभावो व्रात्यो देवप्रियो व्रात्यो ब्राह्मणक्षत्रिययोर्वर्चसो मूलं किं बहुना व्रात्यो देवाधिदेव एवेति प्रतिपाद्यते । यत्र व्रात्यो गच्छति विश्वं जगत् विश्वे च देवास्तत्र तमुपगच्छन्ति तस्मिन्स्थिते तिष्ठन्ति तस्मिँश्चलति चलन्ति यदा स गच्छति राजवत् स गच्छति इत्यादि । न पुनरेतत् सर्वव्रात्यपरं प्रतिपादनम् । अपि तु कञ्चिद्विद्वत्तमं महाधिकारं पुण्यशीलं विश्वसामान्यं कर्मपरै ब्राह्मणैर्विद्विष्टं व्रात्यमनुलक्ष्य वचनम् इति मन्तव्यम् ॥

अर्थ—व्रात्य नामक उपनयन आदि संस्कार हीन पुरुष होता है। अर्थात् वह वेदविहित यज्ञ आदि क्रिया करने का अधिकारी नहीं होता और वह व्यवहारयोग्य भी नहीं होता। इत्यादि जनों के मत को चित्त में रख कर व्रात्य अधिकारी है, व्रात्य महानुभाव है, व्रात्य देवताओं का प्यारा है, व्रात्य ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों के तेज का मूल है। क्या बहुत कहें। व्रात्य देवों का भी देव है ऐसा प्रतिपादन किया जाता है। जहां व्रात्य जाता है समस्त जगत् और समस्त देव वहां उसके समीप आते हैं। उसके खड़े रहने पर खड़े होते हैं उसके चलने पर चलते हैं। जब वह जाता है तो राजा के समान जाता है। इत्यादि। यह सब व्रात्यों के विषय में नहीं लिखा गया है। परन्तु किसी बहुत अधिक विद्वान्, बड़े भारी अधिकारी, पुण्यशील, सब के लिये सम्मान योग्य, उस व्रात्य को लक्ष्य में रखकर लिखा गया है, जिसके प्रति कर्मकाण्डी ब्राह्मणों ने द्वेष ठान रखा हो।

पं० पाण्डुरंग का इस प्रकार लिखना हमें बड़ा भ्रमजनक प्रतीत होता है। उपनयन आदि संस्कारों से हीन, यज्ञादिहीन, अनधिकारी पतित पुरुष को वेद प्रशंसाओं से बढ़ावे, यह कब सम्भव है? फिर उक्त पण्डित का यह कथन है कि किसी बहुत बड़े विद्वान्, महाधिकारी, पुण्यशील जिसके प्रति कर्मकाण्डियों को द्वेष रहा हो, ऐसे व्रात्य को लक्ष्य में रखकर यह वेद का १५ वां काण्ड कहा गया है। इसमें सब व्रात्यों का वर्णन नहीं, यह और भी असंगत है। क्योंकि जब वह पुण्यशील है तो हीन, पतित, व्रात्य वह कहां रहा? फलतः उक्त पण्डित का ऐसा कथन वैदिक 'व्रात्य' शब्द के न सम-

करने के कारण ही हुआ है। कदाचित् उक्त पण्डित के चित्त में यह व्रात्य भी कोई जन्म से व्रात्य होकर अयाचित बड़ा विद्वान् बन गया होगा और वेद ने उसी की स्तुति कर दी होगी। ऐसी कपोलकल्पना कभी मानी नहीं जा सकती।

इसी व्रात्य के विषय में योरोपीयन विद्वानों ने भी अपने विचार दौड़ाए हैं। उनके विचारों की आलोचना करना भी विषय की स्पष्टता के लिये बड़ा चित्तरंजक है।

पण्डित ग्रीफिथ अपने अथर्ववेद के अंग्रेजी अनुवाद ( १५ का० ) के प्रारम्भ में ही चरणटिप्पणी में लिखते हैं कि—

"इस अपूर्व रहस्यमय काण्ड का प्रयोजन व्रात्य को आदर्श बनाना और अद्भुत बड़ी चढ़ी प्रशंसा करना मात्र है, और उपाध्याय औफ्रेक्ट का यह मत है कि 'जो व्रात्य विशेष प्रायश्चित्त करने के बाद उपनीत हो जाता था और ब्राह्मण आर्यों में प्रवेश पाजाता था उसके विषय में यह प्रशंसा लिखी गयी है। आगे पं० ग्रीफिथ 'व्रात्य' शब्द पर टिप्पणी लिखते हैं कि 'व्रात्य' शब्द 'व्रात' से बना है। 'व्रात्य' का अर्थ है आर्यों से बहिष्कृत जत्थे का सर्दार। वह बिलकुल ब्राह्मणों के शासन से मुक्त, आर्यों से ब्राह्मणों के मार्ग पर न चलने वाला है", इत्यादि। ऐसा ही मन्तव्य पं० वेबर का भी है।

वैदिक व्रात्य के विषय में ऐसी असंगत वेद विरुद्ध मति उठने का एक मात्र कारण हमें मनुस्मृति ( अ० १० । २० ) प्रतीत होता है।

> द्विजातयः सवर्णासु जनयन्त्यव्रतांस्तु यान् ।
> तान् सावित्रीपरिभ्रष्टान् व्रात्यानिति विनिर्दिशेत् ॥ २० ॥

अर्थ—द्विजाति लोग अपने ही वर्ण की स्त्रियों में जिन पुत्रों को उत्पन्न करें, यदि उनके उपनयनादि व्रत न हों तो उन गुरुमन्त्र से भ्रष्ट पुरुषों को 'व्रात्य' नाम से पुकारे।

इसी प्रकार ताण्ड्यमहा ब्राह्मण में 'व्रात्यस्तोम' का वर्णन है। जिनके पाठ से व्रात्य भी शुद्ध, संस्कृत करके पुनः यज्ञादि के अधिकारी होते थे। वहां व्रात्यों के विषय में लिखा है—

' हीना वा एते '। हीयन्ते ये व्रात्यां प्रवसन्ति। नहि ब्रह्मचर्यं चरन्ति, न कृषिं, न वाणिज्यां। षोडशो वा एतत् स्तोमः समाप्तुमर्हति।

जो लोग 'व्रात्या' को लेकर प्रवास करते हैं वे न ब्रह्मचर्य का पालन करते, न खेती बाड़ी और न व्यापार करते हैं। शोडषस्तोम उनको पवित्र कर सकता है।

इस ब्राह्मण भाग पर सायणाचार्य का भाष्य है।

व्रात्यां व्रात्यतां आचारहीनतां प्राप्य प्रवसन्तः प्रवासं कुर्वन्तः।

व्रात्या को लेकर प्रवास करने का तात्पर्य, सायण के मत से, व्रात्यता अर्थात् आचार हीनता को लेकर प्रवास करना है। अन्यत्र भी—

व्रात्यां व्रात्यां विहिताकरणप्रतिषिद्धनिषेवणरूपान् प्राप्य प्रवसन्ति।

व्रात्यता अर्थात् विहित कर्म का न करना और निषिद्ध कर्म का आचरण करने रूप गिरावट को पाकर प्रवास करते हैं।

हमें इन ही सब लेखों के आधारों पर श्री पं० शंकरपाण्डुरंग तथा ग्रीफ़िथ आदि का लेख प्रतीत होता है। परन्तु हमें यह कहते ज़रा भी संकोच नहीं कि वैदिक 'व्रात्य' का यह अभिप्राय नहीं है।

जिस प्रकार ' देवानां-प्रियः ', ' प्रियदर्शी ' आदि शब्द बौद्ध काल में बड़े आदर के थे, परन्तु पौराणिक काल में इन शब्दों को द्वेष से प्रेरित हो कर ' मूर्ख ' वाचक बना दिया गया है। ' बुद्ध ' शब्द पहले ज्ञानवान् पुरुष के लिये प्रयोग होता था, परन्तु उसी का अपभ्रंश ' बुत् ' अब केवल ' पत्थर की मूर्ति ' का वाचक हो गया है। इसी प्रकार इस अन्य बहुत

से प्राचीन शब्दों को अर्वाचीन काल में विपरीत अर्थों में प्रयुक्त होता पाते हैं। ठीक इसी प्रकार वेद के बहुत से पवित्र शब्दों को अगले ब्राह्मण काल और पौराणिक स्मृति काल में विकृतार्थ हुआ पाते हैं।

पौराणिक उच्छृंखल कल्पनाकारों ने वैदिक काल के इन्द्र आदि देवों की हा क्या २ दुर्दशा की है सो शोचनीय है। फिर अपने साम्प्रदायिक देवों के भी आचार चरित्र की कैसी दुर्दशा की है। इसके पश्चात् पीढ़ी परम्परा से चलते आये किसी विशेष नाम को धारण करने वाले सम्प्रदाय या जन समूह का यदि आचार चरित्र भ्रष्ट हो गया तो उनके साथ उनके पूर्वजों का नाम निन्दित हो गया, ऐसा प्रतीत होता है। 'व्रात्य' शब्द की भी ऐसी दुर्दशा हुई प्रतीत होती है। परन्तु वेद में एक स्थान पर भी 'व्रात्य' शब्द को घृणित अर्थों में प्रयुक्त हुआ हम नहीं पाते। अब हम व्रात्य शब्द की उत्पत्ति पर विचार करते हैं।

ताण्ड्य महाब्राह्मण ( अ० १७ ) में लिखा है—

देवा वै स्वर्गं लोकमायन्। तेषां दैवा अहीयन्त व्रात्यां प्रवसन्तः। ते आगच्छन् यतो देवा स्वर्गं लोकमायन्। ते न तं स्तोमं न छन्दोऽविन्दन् येन तानाप्स्यन्। ते देवा मरुतोऽब्रुवन् एतेभ्यः तं स्तोमं तच्छन्दः प्रायच्छन् येन अस्मान् आप्नुवान् इति। तेभ्य एतं षोडशं स्तोमं प्रायच्छन् परोक्षमनुष्टुभं ततो वै ते तानाप्नुवन् ॥१॥

अर्थ—देवगण स्वर्ग लोक को पहुँचे। उनके जो सन्तति आदि थे वे 'व्रात्या का प्रवास करते हुए' गिर गये। वहां आये जहां देवगण स्वर्ग को प्राप्त हुए थे। वे न उस स्तोम को पाये और न उस छन्द को पाये जिससे वे उन देवों को पा लेते। उस देव मरुद्गण ने उन लोगों को उस छन्द और उस स्तोम का उपदेश किया। जिससे वे उनको प्राप्त हुए। उनको देवोंने षोडश स्तोम प्रदान किया। वे उस द्वारा देवों को प्राप्त हुए।

हीना वा एते हीयन्ते ये व्रात्यां प्रवसन्ति। नहि ब्रह्मचर्यं चरन्ति, न कृषिं, न वाणिज्याम् ॥ २ ॥

वे 'हीन' कहाते हैं जो गिर जाते हैं और व्रात्या का प्रवास करते हैं। वे न ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, न खेती, और न व्यापार करते हैं।

ताण्ड्य महाब्राह्मण के ये दोनों उद्धरण 'व्रात्य' शब्द की उत्पत्ति को बतलाते हैं। व्रात्य वह हैं जो ( व्रात्यां प्रवसन्ति ) व्रात्या का प्रवास करते हैं। 'व्रात्या का प्रवास' करना अर्थात् व्रत पालन के लिये अपने गृह को छोड़ परदेश में चले जाना 'व्रात्या का प्रवास' करना कहा जाता प्रतीत होता है। उपनिषत् में 'व्रात्या प्रवास' व्रत्या, व्राज्या, प्रव्रिज्या शब्दों में परिवर्तित हो गया प्रतीत होता है।

यदहरेव विरजेत् व्रजेत् गृहाद्वा वनाद्वा। उप०।

अथवा 'व्रात्य' का अर्थ समूह है। टोली बनाकर लोग विदेश यात्रा के लिये निकलते होंगे। उनके साथ छोटे बड़े सभी चलते होंगे, यह यात्रा उसी प्रकार की प्रतीत होती है जैसी महाभारत में स्वर्गारोहण पर्व में पाण्डव कौरवों की वर्णन की गई है। उस अवसर पर बड़े लोग तो व्रतचर्या द्वारा देह छोड़ कर सुख धाम में पहुंच जाते थे और शेष अनुभव और तप-साधना से भ्रष्ट होकर अपने पूर्व के विद्वान् तपस्वी पुरुषों के सम्मान पद, प्रतिष्ठा को प्राप्त न कर सके, इसलिये वे पथभ्रष्ट होगये और पतित कहे जाने लगे। योग्य शिक्षा न पाने से 'व्रात्या' में प्रवासार्थ निकल कर भी उनका नाम 'व्रात्य' रूढ़ि रूप से पड़ गया। परन्तु पूर्व का वैदिक शब्द 'व्रात्य' अवश्य उस विद्वान व्रातपति के लिये प्रयुक्त होता था जो अपने अनुभव, आयु और योगाभ्यास द्वारा आत्मसाधना करता हुआ 'संघ' को साथ लिये हुए प्रवासार्थ लोक भ्रमण किया करता होगा। हमारी सम्मति में उसको 'व्रातपति' कहा जाता था। अथर्ववेद ( ७ । ७२ । २ ) में उसी को 'व्राजपति' शब्द से भी कहा गया प्रतीत होता है।

परि त्वासते निधिभिः सखायः कुलपाः न व्राजपतिं चरन्तम्।

हे इन्द्र ! तेरे चारों ओर अपने आत्मिक विभूतियों सहित तेरे मित्र उपासक एवं विराजते हैं ( कुलपा चरन्त व्रातपतिं न ) जैसे विचरण करते हुए व्रातपति के चारों ओर पुत्र और शिष्य विराजते हैं ।

व्राजपति, व्रातपति, भृत्या प्रवासा, व्रात्य इन शब्दों के अर्थों पर विचार करने से ही एक भीतरी सम्बन्ध ज्ञात होता है । व्राजपति का विचरण और 'माया का प्रवास' ये दोनों वाक्य रचनाएं भी कोई बहुत विभिन्न प्रतीत नहीं होतीं । शिष्यों के लिये ' कुलपा ' शब्द का प्रयोग है । यह शब्द पुत्र, पुत्री के लिये भी प्रयुक्त होता रहा है । क्योंकि वे कुल के पालक होते हैं । और गुरुओं के कुलों के पालक शिष्य होने से वे भी ' कुलपा ' कहलाने योग्य हैं । उन्हीं के अनुकरणों में हम अब भी साधु सन्यासी गणों के अखाड़ों को या जमातों को घूमता हुआ पाते हैं । उनके बड़े २ महन्त 'व्राज पति' कहाने योग्य हैं । उनके या उनके साथियों के आचार भ्रष्ट होने से उन के नाम साधु, महन्त, आदि भी अब बदनाम हो रहे हैं । परन्तु उन ही के आचारवान् होने पर उनकी मान, प्रतिष्ठा होनी स्वाभाविक है । वैदिक काल के व्रातपति, व्रात्य आदि शब्दों का भी कुत्सित अर्थ इसी प्रकार बिगड़ा प्रतीत होता है ।

व्रातपति या व्रात्य के लिये एक शब्द ' गृहपति ' भी ताण्ड्य महा ब्राह्मण में प्रयुक्त हुआ है । जैसे—

द्युतानो मारुतस्तेषां गृहपतिरासीत् । त एतेन स्तोमेनायजन्त ते सर्व आर्ध्नुवन् । य एतेन् स्तोम भवति ऋध्या एव । ताण्ड्य० । १७ । १ । ९ ॥

मरुतों, देवगणों के बीच में ' द्युतान ' नामक उनका गृहपति था वह इस षोडश स्तोम से उपासना करता था । इससे वे सभी समृद्ध होगये । यह षोडश स्तोम ऋद्धि प्राप्त करने के लिये है । अभा हीन्द्र गिर्वण०, वाणं त्वा ० सुन्वन्ति हरी० इत्यादि तीन ऋचाओं से द्यौतान साम की उत्पत्ति है जिसका ऋषि द्रष्टा 'द्युतान' है । सामवेद उत्तरा० प्र० ६ । १४ । १ । २३ ॥

इस उद्धरण में उक्त व्रात्या-प्रवासी देवों का गृहपति अर्थात् कुलपति आचार्य या मुख्यपद का नेता चुनाव था यही प्रतीत होता है। और वह वेद मन्त्रों से प्राप्त सामगान करके समस्त कुल भर को सम्पन्न करता था इसमें व्रात्य देवों के प्रति कोई भी घृणाजनक भाव का प्रयोग कहीं भी दृष्टि गोचर नहीं होता है।

इसके अतिरिक्त ताण्ड्य महाब्राह्मण के बीच में हमें कई प्रकार के अन्य भी व्रात्यों का परिचय प्राप्त होता है। जैसे—

त्रयस्त्रिंशता त्रयस्त्रिंशता गृहपतिमभि समायन्ति।
त्रयस्त्रिंशद्धि देवा आर्ध्नुवन् ऋध्या एव॥

तेंतीस, तेंतीस करके वे देव गृहपति के पास आते हैं। वे तेंतीसों देवगण षोडश स्तोम से समृद्धि को प्राप्त हुए।

ताण्ड्य ब्राह्मण ( १७। २। ३ ) में ऐसे लोगों के लिये भी प्रायश्चित्त लिखा है जो नृशंस, निन्दित रह कर 'व्रात्या का प्रवास' करते हैं। जैसे—

अथैष षट्षोडशी। ये नृशंसा निन्दिताः सन्तो व्रात्यां प्रवसेयुः त एतेन यजेरन्।

लुच्चे, लबाड़ होकर भी जो लोग संन्यास ले लें या किसी उत्तम कुल में साधना करने के लिये आजावें तो वे भी उस कुल के लिये हानिकारक हैं। यदि वे पुरुष अच्छा होना चाहें तो ताण्ड्य ब्राह्मण के लेखानुसार वे लुच्चे लोग भी प्रायश्चित्त करके उत्तम हो जा सकते हैं।

इसी प्रकार द्विषोडशस्तोम उनके लिये है जो "कनिष्ठाः सन्तो व्रात्यां प्रवसन्ति ( ता० ब्रा० १७। ३। १ ) उमर में छोटे होकर व्रात्या का प्रवास करें। अर्थात् कच्ची उमर में ही सन्यास ले लें।

वे भी प्रायः गिरजाते हैं जो कच्ची उमर में 'व्रात्या का प्रवास' अर्थात् सन्यास आश्रम में प्रवेश करते हैं।

एक प्रायश्चित्त उनके लिये है जो 'शमनीचामेढ्र' हैं। अर्थात् जो बुढ़ापे पर इन्द्रियों के सर्वथा शिथिल होजाने पर 'व्रात्या का प्रवास' करते हैं। वे सर्वथा अंग शिथिल हो जाने पर बूढ़े तोते जैसे कुछ पढ़ नहीं सकते, प्रत्युत

अपनी बुरी आदत भी नहीं छोड़ते । इस प्रकार जो वृद्धावस्था में कुलपति के यहां दाखिल हों वे भी पतितसावित्री कहलाते हैं । वे भी कुल में दोषकारी ही सिद्ध होते हैं, इसलिये वे निन्दित हैं । उनको भी प्रायश्चित्त करना उचित है । ऐसों में से भी एक बड़ा विद्वान् कुलपति समश्रवा का पुत्र 'कुषीतक' गृहपति था । वेदाध्यायी जानते हैं, कि कौषीतकी ब्राह्मण और कौषीतकी आरण्यक और कौषीतकी उपनिषद् इसी सम्प्रदाय के ग्रन्थ हैं । इस कुलपति की कौषीतकी शाखा प्रसिद्ध है । इन सब उद्धरणों को देखकर व्रात्य, व्रात पति ग्रामपति, कुलपति, गृहपति, आदि के समानार्थ होने का निश्चय होता है और वेद प्रतिपाद्य 'व्रात्य प्रजापति' के हम बहुत समीप पहुंच जाते हैं । परन्तु वेद की भीतरी साक्षी देने के पूर्व हम चाहते हैं कि अपने कथन में प्राचीन विद्वानों को ही रक्खा करें ।

अथर्ववेदीय चूलिकोपनिषद् में व्रात्य सूक्त को औपनिषदिक ब्रह्म विद्या के निरूपण का सूक्त माना गया है ।

ब्रह्मचारी च व्रात्यश्च स्कम्भोऽथ पलितस्तथा ।
अनड्वान् रोहितोच्छिष्टः पठ्यते बहुविस्तरः ॥
शिवो भवश्च रुद्रश्च ईश्वरः पुरुषस्तथा ।
कालः प्राणश्च भगवान् आत्मा पुरुष एव च ॥
प्रजापतिर्विराट् चैव पाणिः सलिलमेव च ।
स्तूयते मन्त्रमुक्तैस्तैर्विद्वद्भिर्विभुः ॥

अर्थ—ब्रह्मचारी सूक्त ( का० ११ । ५ ), व्रात्य सूक्त ( का० १५ ), स्कम्भ सूक्त ( का० १० । ७ । ८ ), पलित सूक्त ( का० ९ । ९, १० ), अन ड्वान सूक्त का० ४ । ११), ऋषभ सूक्त ( का० ९ । २, ४ ), रोहितसूक्त ( का० १३ ) उच्छिष्ट सूक्त ( का० ११ ७ ), शिव, भव, रुद्र सूक्त ( ११ । २ ), ईश्वर पुरुष ( का० ११ ।६), काल [ म ], प्राण ( १० । ८ ), आत्मा ( ११ । ४ ), भगवान् ( ३ । १६ ), प्रजापति विराट् (८।९, १० ), पाणि

सूक्त ( १० । २ ), सलिल सूक्त ( ८ । ६ ) अथर्ववेद के ये समस्त सूक्त परमेश्वर का ही वर्णन करते हैं।

इसी प्रकार यजुर्वेदीय मन्त्रिकोपनिषद् जो चूलिकोपनिषत् का प्रति रूप है उक्त श्लोकों को ही पाठभेद से स्मरण करता है।

फलतः व्रात्य सूक्त वेदान्तविषयक ब्रह्म प्रजापति का ही वर्णन करता है। इसी को लक्ष्य में रखकर योरोपीयन पण्डित ब्लूमफील्ड ने ठीक लिखा है कि—" There can be no doubt that the theme is in reality brahma:" वास्तव में इसमें कोई सन्देह नहीं कि व्रात्य सूक्तों का प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म है। इसके अतिरिक्त आपस्तम्ब धर्म सूत्र ने अतिथि की शुश्रुषा करने के लिये व्रात्यसूक्त का ही उल्लेख किया है। पूज्य गुरु, आचार्य, स्नातक तपस्वी राजा आदि सभी को सामान्य 'व्रात्य' शब्द से ही संबोधन करने का आदेश है। यदि व्रात्य शब्द पूर्व काल में ही 'पतित' का पर्याय होता तो आपस्तम्ब धर्म सूत्रों में ऐसा विधान सर्वथा न आता।

इस सूक्त में नीललोहित, महादेव, ईशान आदि शब्द देखकर पं० ब्लूमफील्ड ने अनुमान किया कि इस सूक्त पर शैव सम्प्रदाय का अधिक प्रभाव है। परन्तु हमें खेद है कि प्रजापति, ब्रह्म, तप, सत्य आदि विशेषण देखकर किसी अन्य सम्प्रदाय की छाप क्यों न अनुभव की?

## व्रात्य का स्वरूप

व्रात्य सूक्त में प्रथम उपास्य देव व्रात्य के पवित्र नाम कीर्तन किये गये हैं ( १५ । १ (१) ), ( १ (२) ) में व्रात्य का अलंकार से विराट् ज्ञानमय, देवमय, कालमय, दिङ्मय, रूप प्रकट किया है। जिसका अनुकरण प्रायः शैव सम्प्रदाय ने सेनानायक का सा रूप कल्पित करके जगन्नाथ के रथ की कल्पना की और त्रिपुरविजय का वर्णन किया है।

१५ । १ ( ३ ) में व्रात्य के वेदमय सिंहासन का वर्णन है। १५ । १ ( ४ ) में व्रात्य के सर्वदिशाव्यापी संवत्सरमय राज्य का वर्णन है। और

(१५। १ (५) में भी उपदिशाओं में आधिदैविक शासन का वर्णन किया है। (६) में दिग्विजय का स्वरूप दिखाया गया है। (७) में महती विभूति दर्शाई है। (८) में राजन्यरूप और। (९) में उसका सभापति, सेनापति और गृहपति का स्वरूप दर्शाया है। (१०) में उसके ब्राह्मत्व और क्षात्र धर्म का विस्तार दर्शाया है। (११ १३) में उसका आतिथ्य और (१४) में उसका प्रसाद से विशाल भोज रूप दर्शाया है। (१५, १६, १७) में उसके प्राण, अपान और व्यान का विशद् वर्णन है (१८) में व्रात्य के आंख, कान, नाक, शिर, का वर्णन है। यह व्रात्य का कल्पित स्वरूप प्रजापति के सभी अन्य विराट रूपों के समान ही है। संक्षेप से इसमें दिग्दर्शन करा दिया है। वाचक वर्ग प्रस्तुत भाष्य में ध्यानपूर्वक स्वाध्याय करके हृदय को तुष्ट करें।

## (१६) विवाह सूक्त

चौदहवां समस्त काण्ड विवाहपरक है। पं० शंकर पाण्डुरंग के कथनानुसार—

'सूक्त प्रारम्भ सूर्या नाम या सूर्यस्या सवितुपुत्री देवी कन्या विवाहस्य कथा वर्णिता।'

सूक्त के प्रारम्भ में सूर्या नाम कोई सूर्य के रूप वाली सविता की कन्या देती है। वेद में उसकी कथा नहीं गयी है। अर्थात् उक्त पण्डित के कथनानुसार यह एक कहानी हो रही। सविता कोई देव है, उसकी कोई कन्या है। उसके बाद उक्त पण्डित ने विवाह के कृत्य में मन्त्रों का विनियोग नीचे लिखे प्रकार से दर्शाया है।

'कुमारी का विवाह पिता के घर में होता है। १-१६ और २३, २४ इन १८ मन्त्रों से आज्य होम किया जाता है। फिर कुमारी को खिचड़ी खिलाई जाती है (१।३१) से किसी पुरुष के हाथ सकोरा देकर वर के पास भेजता है। (१।३१) से ब्राह्मण को भेजता है। (१।३४) से कुमारी की रक्षा के लिये एक पालक पुरुष को भेजता है। पानी लेने के लिए

जाता है। ( १ । ३७ ) से जलमें एक ढेला फेंकता है। ( १ । ३८ ) से स्नान होता है। ( १ । ३८ ) से जलका कलसा भरता है। कलश पनिहारे को देता है। फिर एक वृक्ष की शाखा पर घड़ा रक्खा जाता है। उस जल से विवाह में जहां २ जल का काम पड़े लिया जाता है। इसके बाद (१।१७) से घृत होम होता है। (१।४२) से कन्या के केश खोले जाते हैं। (१।४२) से घर के ईशान कोण में कन्या को बैठाकर गरम जलसे स्नान कराया जाता है। ( १ । ३४ ) और (१ । ४३) से शीतल जल से निहलाया जाता है। फिर एक कपड़े से अंग पोंछा जाता है। ( २ । ६६ । ६७ ) कन्या भृत्य को तौलिया देती है। उस कपड़े को तुम्बर के दण्ड से लेकर गोठ में रख देता है। वह नवीन वस्त्र कन्या को पहनाता है। कन्या को 'बाभ्रव' वस्त्र यज्ञोपवीत के समान पहना देता है। ( २ । ६२ ) से केशों में कंघा करता है। ( १ । ४२ ), ( २ । ७० ) से एक योक्त्र नामक रस्सी को कटि में पहनाता है। जेठ की मधुमणि ( मुलहटी की लकड़ी ) को लाल डोरे से अनामिका अंगुली में बांधता है। कन्यादान के बाद उपाध्याय कन्या को हाथ से पकड़ कर कौतुकगृह से निकलता है। ( १ । २० ) से शाखा में 'युग' (जूआ) लगाता है। दायें से उसे एक आदमी पकड़ता है। (१।४०,४१) से कन्या के ललाट पर सुवर्ण बांधते हैं। उसपर जूए के छेद में से जल चुआते हैं। ( १ । ४७ ) से कुमारी को शिला पर चढ़ाते हैं। ( २ । ६३ ) से लाजा होम होता है। (१।४८,४२) से वर कन्या का पाणिग्रहण करता है। (१ । ३६) से वर कन्या को लेकर अग्नि की तीन प्रदक्षिणा करता है। सात रेखाएं खेंचता है। इनमें वधू को चलाता है। इसके बाद (१ । ३१) और (१ । ६०) से कन्या को सेजपर बैठाता है। सेजपर बैठ जाने पर वरका कोई मित्र कन्या के पैर धोता है। (१ । १७ । ४८) वर कुमारी के कमर में बंधी रस्सी को खोलता है उस रस्सी के दोनों छोरों से पकड़कर नौकर लोग जोर लगाते हैं जो खेंचलेते हैं वे बलवान् समझे जाते हैं। (२।४३-४८) पलाश पत्र से वधू, वर के सिर पर ओषधियां फेंकती है। ( १ । ५६,

६१, ६२ ), से वर कन्या को सेज से उठाता है। यहां विवाह विधि समाप्त हो जाती है।

अब उसके बाद 'उद्वाह' होता है। उद्वाह में वर के घर वधू को लेजाया जाता है। ( १ । ६१ ). ( २ । ३० ) से वधू वर दोनों को रथ पर चढ़ाते हैं ( २ । ८ ), (१ । ६४) से कर्त्ता आगे २ चलता है। (२ । ११) (१ । ३४) से दायें पैर से रास्ता चलना है। उसी दिन यदि और कोई स्त्री का भी विवाह हुआ हो तो वधू के वस्त्र में से एक सूत निकाल कर चौरस्ते पर रख कर उस पर दाया पैर रख कर कर्त्ता खड़ा हो जाता है। यह प्रायश्चित्त है। दोनों विवाहितों की शुभ चाहता हुआ ( २ । ४६ ) का जप करे। दोनों के बीच में ब्राह्मण गुज़र जाय। ( २ । ४७ ) से रथ निकलता है (२ । ६) से मार्ग में तीर्थ आजाने पर मट्टी का ढेला धर कर तब उसमे उतर जाता है। (२ । ६) को बड़े २ वृक्ष देख कर जपता है। (२ । २८) को वधू को देखने के लिये कुदृष्टि वाली स्त्रियें आवें तो उन के प्रति जपता है (२ । ७) को दो नदियों का संगम देख कर जपता है। ( २ । ७ ) को ही ओषधि, नदी, खेत, बन देखकर भी जपता है। (२ । ७३) को श्मशान देखकर जपता है।

मार्ग में वधू सो जाय तो ( २ । ७५) से उसको जगाता है। वर के पिता का घर समीप आजाने पर ( २ । १२ ) मन्त्र जपता है। घर आजाने पर जलों के छींटे देकर बैलों को ( २ । १६ ) से खोलता है। निर्ऋति को दूर करने के लिये ( २ । १७ ) से पत्नीशाला में जल छिड़कता है। घर के दक्षिण दिशा में ( १ । ८७ ) से गोबर की पिंडी पर पत्थर को रखता है उसके ऊपर पलास के तीन पात में से बीचका पत्ता लेकर रखता है और उसके ऊपर घी और घी पर चार दूब के कोंपल रखकर उसपर ( १ । ४७) से वधू को खड़ा करता है। उसपर पैर रखाकर ( २ । ६१) ( १ । २१ ) (१ । ६३) ( १ । ६४ ) इनसे वधू को वर के गृह में प्रवेश कराता है। इसके साथ पूर्णपात्र, कुम्भ, फल, अक्षत, सहित भी जाता है।

वहां पुनः अग्नि जलाकर वधू का हाथ पकड़कर वर ( २ । १७. १८ ) से परिणय अर्थात् प्रदक्षिणा कराता है (२ । २०) ( २ । ४६ ) से अग्नि, सरस्वती, पितृ, सूर्या, देव मित्र वरुण इनको नमस्कार करती हुई कन्या के साथ पढ़ता है। ( २ । २२ ) से कोई मृग चर्म लाता है। उसे बिछाकर उसपर पाल डालकर (२ । २३) से वधू को बिठलाता है। (२ । २४) वधू को बिठलाकर किसी ब्राह्मण के उत्तम बालक को उसकी गोद में बैठाता है। ( २ २५ ) से बच्चे को फल, लड्डू आदि देकर उठाता है। (२ । १-५), ( २ । ४५ ) इनसे वर वधू क्रम से आहुति देते हैं। और एक जलपात्र में आहुति शेष को चुआते जाते हैं। उस जलपात्र को ( २ । ४५ ) वर वधू के अञ्जलि में रखता है। (२ । १-५) से जलों को गिराकर स्थालीपाक के पास ले जाते हैं। वहां एक स्थान पर अपने आदमियों सहित पति मिष्टान्न खाता है। उसी सूक्त से पति घृत से मिले जवों की अञ्जलि भर २ कर आहुति करे। इति उद्वाहः।

इसके आगे चतुर्थिका कर्म है। 'सप्त मर्यादा०' इस मन्त्र से वर विवाहाग्नि में धान्य की आहुति देता है। 'अघोरचक्षु०' इस मन्त्र से वर वधू दोनों एक दूसरे की आंख में अंजन करते हैं। 'महीम् ऊ षु०' इस मन्त्र से वर वधू दोनों को आचार्य पलङ्ग पर भेजता है। (२ । ३१) से वर वधू को सेजपर चढ़ाता है और (२ । २३) से बैठाता है। और ( २ । ३२ ) से सुलाता है। उन दोनों को आचार्य एक चादर से ढक देता है। (२।३७) से दोनों को एक दूसरे के सम्मुख कर देता है। 'इह इमौ'० ( २ । ६४) इस मन्त्र से वर वधू दोनों को तीन बार प्रेरित करता है। ( २ । ७१, ७२ ) दोनों परस्पर संग करते हैं। 'ब्रह्म जज्ञानं' इस मन्त्र से वर 'प्रजनन' अंगका स्पर्श करता है (२।४३) से वधू को वर खाट से उठाता है। (१।२५ ५३,५५) से आचार्य दोनों को नवीन वस्त्र पहनाता है। पुनः (१।५५.५६) से वर वधू के मस्तकपर दूब रखता है। बिना मन्त्र के धन, जौ रखता है। कुशा से केशों को संवारता है। सन के सूत से केशों को बांधता है। इन समस्त काण्ड

में वर होम करता है। ( १ । ३१ ) से यह मेरा, और यह तेरा इस प्रकार धन का विभाग करता है। (१ । २९-३०) आचार्य वर से स्वयं वाधूय वस्त्र लेते हुए जपता है। ( २ । ४१, ३२ ) से स्वीकार कर लेता है। ( २ । ४८ ) से उसको वृक्षपर लटका देता है। ( २ । ४९) से उसको लेकर चल देता है। ( २ । ५० ) से उस वस्त्र से वृक्षको ढक देता है। ( २ । ४५ ) से सब स्नान करते हैं। ( २ । ५१ ) उस वाधूय वस्त्र को स्वयं पहन लेता है। (२ । ४७) को जपकर आचार्य अपने घर आजाता है। पति गृह को आती हुई स्त्री रोये तो 'जीवं रुदन्ति (१ । ४६) इससे और 'यद् इमे केशिन ०' इत्यादि ४ मन्त्रों से आहुति देते हैं। यह चतुर्थी कर्म है।

अथर्व वेद के विवाह सूत्र की साम्प्रदायिक पद्धति का हमने संक्षेप से उल्लेख कर दिया है। विशेष जानकारी के लिये अन्य २ शाखा गत गृह्य सूत्रों में लिखी पद्धतियों से इसकी तुलना की जा सकती है। वर्तमान प्रचलित पद्धतियों से भी इसका भेद सहज ही में सुविज्ञात होता है। थोड़ा सोच विचारने से उक्त पद्धति के अभिप्राय भी समझ में आते हैं। उस कर्मकाण्ड में विस्तार से जाना हमारा यहां प्रयोजन नहीं। हम पाठकों से अनुरोध करेंगे कि पद्धति को देखें और प्रस्तुत भाष्य में दिये मन्त्र के अर्थों पर विचार करें तो पद्धति के कर्म काण्डो का रहस्य आप से आप खुलता है। सूक्त की कुछ एक विशेष बातों का हम स्वयं यहां उद्घाटन करते हैं।

## वैदिक विवाह की कुछ विशेषताएं

१—गृहस्थ प्रकरण को प्रारम्भ करके वेद साक्षात् प्रजापति का रहस्य खोलते हैं। 'सत्येन उत्तभिता भूमिः।' सत्य ने भूमि को उठा रखा है अथवा सत्यवान्, वीर्यवान् तेजस्वी, बलवान्, वीर्यवान् पुरुष ही भूमि स्वरूप स्त्री का भार उठाता है, नपुंसक नहीं। परस्पर का सत्य व्यवहार ही गृहस्थ रूप भार को उठाता है। कैसे ? जैसे—

सूर्येणोत्तभिता द्यौः।

जैसे सूर्य आकाशस्थ पिण्डों को थामे है, वह उनको प्रकाशित करता है इसी प्रकार उत्पादक, प्रेरक तेजस्वी पुरुष ( द्यौः ) पुत्रादि के देने वाली, क्रीड़ा, या रमणप्रदा स्त्री के हृदय को भी प्रकाशित करता है। 'आदित्याः ऋतेन तिष्ठन्ति' आदित्य ब्रह्मचारी लोग अपने ऋत, सत्य ज्ञान के बल पर स्वयं अपने आश्रय खड़े हो सकते हैं। इसीलिये आश्रय की आकांक्षा वाली स्त्रियें उनका आश्रय खोजती हैं। 'दिवि सोमः अधिश्रितः' जिस प्रकार चन्द्र सूर्य के आश्रित है उसी प्रकार वीर्य भी तेजस्वी पुरुष में रहता है। ( १। २-५ ) मन्त्रों में सोम रूप वीर्य और वीर्यवान् पुरुष का वर्णन किया है।

शरीर में वीर्य की सत्ता को कितने अच्छे दृष्टान्त से दर्शाया है।

यत् त्वा सोम प्र पिबन्ति तत आप्यायसे पुनः।

हे वीर्य जब तेरा भोग कर लेते हैं तो तू फिर बढ़ जाता है। अर्थात् गृहस्थ कार्यों में वीर्य के व्यय हो जाने पर शरीर में अन्नादि ओषधियों के सेवन से पुरुष फिर वीर्यवान् हो जाता है। और वह फिर ऐसे पूर्ण हो जाता है जैसे चन्द्र एक बार घटकर भी फिर पूर्ण हो जाता है।

'वायुः सोमस्य रक्षिता' प्राण ही वीर्य का रक्षक है।

चन्द्र के द्वादश राशिभोग से जिस प्रकार मास उत्पन्न होकर १२ मासों के क्रम से वर्ष का भोग होता है उसी प्रकार द्वादश प्राणों में वीर्य का भोग होकर पुरुषरूप प्रजापति पूर्ण होता है।

२-मन्त्र ( १। ६ ) में स्वयं वरा कन्या का स्वरूप दिखाया है।

यद् अयात् सूर्या पतिम् चित्तिरा उपबर्हणम्।

चक्षुरा अभ्यञ्जनम् द्यौर्भूमिः कोश आसीत्॥

जब 'सूर्या' पति को प्राप्त होती है तब ( चित्तिः ) चित्त का संकल्प सिरहाना होता है। चक्षुः अर्थात् उसमें उत्पन्न प्रेमराग ही गात्रलेप है। ज़मीन और आसमान दो ख़ज़ाने हैं।

इस मन्त्र में 'सूर्या' उस स्वयंवरा कन्या के लिये वैदिक महत्वपूर्ण शब्द है, जो सन्तान उत्पन्न करने में समर्थ है और अपने प्रति प्रेमी के

हृदय को उज्ज्वल करे अपने पति के साथ रहकर सूर्य की प्रभा के समान उसके लिये शोभा जनक हो। इसी प्रकार वह वर स्वयं 'सूर्य' है।

इस कन्या के लिये—'रैभी आसीद् अनुदेयी'।

रैभी नाम ऋचा या उपदेशमयी वाणी उसका दहेज हो। 'नाराशंसी न्योचनी' उत्तम पुरुषों की चरित्रकथा उसकी आदर्श हो। सूर्याया भद्रम् इद् वास ' कल्याण चरित्र ही उसका आच्छादक वस्त्र है। सच्चरित्रता ही उसका पर्दा है। और लोग जब उसकी सच्चरित्रता का वर्णन करें, बस वह उसी गाथया पति परिष्कृता पुण्यचरित्र की गाथा से सुभूषित होकर पति के घर आती है।

३—इस सम्बन्ध में वेद कुछ और भी परिभाषाएं प्रकट करता है। जैसे (१ । १)

सोम वधूयुः अभवत्। वधू की कामना करने वाला पुरुष 'सोम' है। और 'अश्विना स्ताम् उभा वरा' स्त्री पुरुषों के जोड़े सब मिलकर आये हुए बराती 'अश्विनौ' होते हैं। और

यत् पत्ये मनसा शंसन्तीं सूर्यां ददात् सविता।

जो पति का मन ही मन गुणती हुई कन्या को दान देता है वह कन्या का पिता 'सविता' कहाता है। इसी प्रकार वेद बड़ी ही चतुरता से विवाह योग्य वरवधुओं के विषय में वास्तविकता का वर्णन करता है। परन्तु हमारे रूढि 'देववादियों' ने इस सब रहस्य को ओट करके कुछ अजब ही 'सूर्या सोम' के विवाह की कहानी सी बनाली है। यदि हम वेद के देवतावाचक शब्दों का रूढिमान कर यही अर्थ करने लगें तो बड़े ही हास्यजनक अर्थ निकलने लगते हैं। जैसे—

( मन्त्र ६ ) में सोम वधू की कामना करने लगा। और बराती हो गये अश्विनी कुमार। सविता ने सूर्या को दान किया।

( मन्त्र २० ) में—भग देवता वधू का हाथ पकड़ कर लिये जाय। और अश्विनी कुमार दोनों रथ पर चढ़ा ले जाय।

( मन्त्र २१ ) में—सविता वधू का हाथ पकड़ता है, भग भी हाथ पकड़ता है। यथा सोम की वधू के सब पाणिग्रहण करने वाले सविता

जिसने कन्या को दान दिया था, वह भी हाथ पकड़ने वाला हो गया। और भग देवता भी तीसरे हाथ पकड़ने वाले हुए।

फलतः हमारा कहने का यहां यही तात्पर्य है कि देवता वाचक रूढ़िनामों से इस प्रकरण के वेदमन्त्रों का अर्थ लगाना बड़ी भारी भूल होगी। हमें उनका आख्यातज अर्थ ही लेकर इस विवाह प्रकरण को सर्वथा क्रियात्मक रूप से सुसंगत करना होगा।

## नव पतिपत्नी को वेद के उपदेश

इस प्रकरण में वेद नये गृहस्थ को बनाने वाले पति पत्नी या वर वधू को बहुत से बहुमूल्य उपदेश देता है, जिनको देखकर वेद के आदर्शों का पता लगता है। जो लघुदर्शी अपनी तुच्छ चक्षुओं से महाभारत में आई, ऋषियों के चरित्रों पर कलंक लगाने वाली, श्वेतकेतु आदि की कथा को पढ़कर वैदिक काल में विवाहबन्धन की सत्ता तक को स्वीकार नहीं करना चाहते, उनको इस सूक्त का मनन करना चाहिये। जरा उन उपदेशों और आदर्श कार्यों पर भी दृष्टिपात कीजिये।

१—वेद कहता है 'मनो अस्याः अनः आसीत्।' वधू का चित्त ही पति तक पहुंचने का रथ है। 'द्यौः आसीद् उत च्छदिः।' मनके भाव प्रकाश करने वाली वाणी ही मनो-रथ का 'छदि', छत अर्थात् आचरण है। अर्थात् स्त्री अपने मानसिक भावों को अपने प्रियतम के प्रति वाणी द्वारा प्रकट करे। तब क्या हो? 'शुक्रौ अनड्वाहौ आस्ताम्।' दोनों के परिपुष्ट वीर्य ही उस 'मनो-रथ' में जुड़े बैलों के समान उद्देश्य तक पहुंचाने वाले हों। अर्थात् दोनों परिपुष्ट वीर्य होकर गृहस्थ कार्य में सफल हों।

२—पश्यात् शुभगन्ती वेरय सूर्यान् उप।

कन्या के वरण के अवसर पर वे दोनों शुभ सकंल्पों को चित्त में रखकर समीप आते हैं। प्रत्येक चाहता है कि (वेरयम्,) मैं स्वयं वरण करूं तब—हे वर वधू!

'विश्वे देवा अनु तद् वाम् जानन्।'

समस्त देव, विद्वान्गण तुमको अनुमति दें कि तुम दोनों विवाह करो। तब क्या होगा ?

पुत्रा पुत्र पितरम् नहीन

तब हष्ट पुष्ट पुत्र सन्तान पिता को प्राप्त होगा।

३—जब कन्या को दान किया जाता है तो बहुतों का विचार है कि यह गाय, भैंस, बकरी आदि पशु या रुपया, पैसा, भूमि, मकान आदि के समान ही कन्याओं का दान किया जाता है। वर्तमान में कुछ विद्वान् स्त्रियों की स्वतन्त्रता को विचार में रखकर इस 'कन्यादान' के भाव को बहुत गर्हणीय समझते हैं। ठीक है! पशु, धन आदि के समान कन्याओं को दान करना बहुत ही नीच, घृणित और अत्याचार पूर्णकार्य है। मैत्रायणी संहिता ( ४। ६। ४ ) का उद्धरण देकर यास्कने भी लिख दिया है कि—

तस्मात् पुमान् दायादो अदायादा स्त्रीति विज्ञायते। तस्मात् स्त्रियं जातां परास्यन्ति न पुमांसम् इति च। स्त्रीणां दानविक्रयातिसर्गा, विद्यन्ते न पुंसः। पुंसोऽपि इत्येके शौनःशेपे दर्शनात् ॥

**अर्थ**—पुमान् ही दायभागी होता है स्त्री को दायभाग नहीं मिलता। इसलिये कन्या उत्पन्न हो तो उसको फेंक देते हैं, पुत्र को नहीं फेंकते। स्त्रियों के दान, विक्रय और त्याग सुना जाता है। पुरुषों का नहीं। और पुरुषों का भी सुना जाता है, जैसे शुनःशेपोपाख्यान में, इत्यादि।

परन्तु यास्क के इस उद्धरण से खूब समझ लेना चाहिये कि यास्क बहुत ही पतितकाल की उन बातों को लिख रहा है जो घटित होती थीं, न कि ये वेद के वचन हैं। यह तो पतित लोगों के ही कामों को साधारणतः बतलाता है। मैत्रायणी आदि संहिता शाखारूप में महाभारत से भी अर्वाचीन काल की हैं। उनमें यदि ऐसा उल्लेख हो तो कोई यह वेदों पर लाञ्छन नहीं प्रत्युत यह भी पतितकाल का द्योतक है। वेद प्रतिपादित 'कन्यादान' रुपये पैसे के दान के समान नहीं है। वेद स्वयं कहता है—

एषा ते कुल्पा राजन् ताम् उ ते परिदद्मसि ॥ अथर्व० १ । १४ । ४ ॥

हे वर ! यह कन्या है, मैं उसको तुझे देता हूं । पर क्यों देता हूं ? इस लिये कि 'ज्योक् पितृषु आसाता' वह तेरे माता पिताओं के बीच में चिर-काल तक रहे । पर इस दान का क्या स्वरूप है ?

प्रेतो मुञ्चामि नामुतः सुबद्धाम् अमुतः करम् ।

यथेयमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रा सुभगा सति ॥

मैं कन्या का पिता ( इतः ) इस पितृ कुल से सर्वथा मुक्त करता हूं । ( न अमुतः ) उस पति कुल से नहीं । साथ ही ( अमुतः सुबद्धाम् करम् ) उसको उस पति से खूब दृढ़ता से बद्ध कर देता हूं ! क्यों ? जिससे हे ( मीढ्वः इन्द्र ! ) वीर्यसेचन में समर्थ स्वामिन् ! पते ! यह कन्या उत्तम पुत्र और सौभाग्य से युक्त हो । फलतः, यहां तो केवल सन्तानलाभ के लिये कन्या के साथ अपना सम्बन्ध मात्र परित्याग करने ही को 'दान' शब्द से कहा है । ऐसा दान या सम्बन्धत्याग तो स्वयंवरा, पतिंवरा कन्या के ही अभिप्राय को पूर्ण करता है और उसको आज्ञा देता है कि वह अन्य समस्त प्रेम सम्बन्धों को शिथिल कर अपना समस्त प्रेम अपने पति के निमित्त समर्पण करदे ।

४—स्त्री अपना आत्मसमर्पण करके भी गृहस्थ में स्वामिनी और अधिकार वाली होकर रहे । वह सदा विदुषी होकर ज्ञानोपदेश का कार्य भी करे, वेद उसे अधिकार देता है—

गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासः वशिनी त्वं विदथम् आवदासि ॥ २० ॥

पति के गृह को प्राप्त होकर गृह की स्वामिनी हो । तू स्वयं जितेन्द्रिय होकर ज्ञान का उपदेश कर ।

५—विवाह सम्बन्ध आजीवन है, और उसको इच्छानुसार जब कभी भी तोड़ा नहीं जा सकता । वेद कहता है—

इहैव स्तं मा वियौष्ट विश्वम् आयुर्व्यश्नुतम् ।

तुम दोनों स्त्री पुरुष यहां ही रहो, कभी वियुक्त न होवो, समस्त आयु का भोग करो । और

क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वस्तकौ ।

पुत्र, पौत्र, नाती आदि सहित प्रसन्न रह कर, अच्छा सा घर बनाकर रहो।

६—सूर्य चन्द्र के समान स्त्री पुरुषों के कर्तव्यों पर वेद ने क्या ही अच्छा लिखा है।

विश्वा अन्यो भुवना विचष्टे ऋतूँरन्यो विदधज्जायसे नव ॥

एक पुरुष तो सूर्य के समान समस्त घर के कार्यों को देखता है, दूसरा चन्द्र के समान ऋतु कालों को भुगतता हुआ प्रति बार नवीन हो जाता है।

७—स्त्री का रजो धर्म के अवसर पर भोग नहीं करना चाहिये। यह अवसर भोग के लिये बहुत ही हानिकर है।

आशसनं विशसनमथो अधिविकर्तनम् ।

सूर्याः पश्य रूपाणि तानि ब्रह्मोत शुम्भति ॥ २८ ॥

पुत्र प्रसव करने में समर्थ 'सूर्या' अर्थात् नवयुवति के नाना रूपों, लक्षणों को देखो। गर्भाशय का कटना, फटना और चिरना होता है। ऐसे समय 'ब्रह्मा' विद्वान् ज्ञानी ही उसको संस्कार से शुद्ध करता है।

तृष्टमेतत् कटुकमपाष्ठवद् विषवन्नैतदत्तवे ॥ २९ ॥

उस दशा में स्त्री का शरीर तृष्णारोग का जनक, उष्णता के रोग का जनक, देह पर चिरमराहट या फुन्सी पैदा करने वाला, घृणित वस्तु, विषयुक्त होता है। उस समय स्त्री शरीर भोग के योग्य नहीं होता।

८—आशासाना सौमनसं प्रजां सौभाग्यं रयिम् ।

पत्युरनुव्रता भूत्वा सन्नह्यस्वामृताय कम् ॥

उत्तम चित्त, प्रजा और सौभाग्य और ऐश्वर्य की आकांक्षा करती हुई तू पति के अनुकूल रह कर अमृत=प्रजा प्राप्त करने के लिये तैयार रह।

९—स्व सम्राज्ञी एधि श्वशुरस्य प्रेत्य ॥ ४३ ॥

सम्राज्ञी एधि श्वशुरेषु सम्राज्ञी उत देवृषु ॥

ननान्दुः सम्राज्ञी एधि सम्राज्ञी उत श्वश्र्वाः ॥ ४४ ॥

हे नववधु ! तू पति के घर में जाकर उत्तम गुणों से प्रकाशमान 'सम्राज्ञी' अर्थात् महारानी होकर रह ।

१०—विदाई के समय प्रायः नव वधुएं बहुत रोती हैं । उनके आश्वासन के लिये वेद आज्ञा देता है कि—

जीवं रुदन्ति विनयन्ति अध्वरम् ।

जब लोग अपने प्रेमी जीव के लिये रोते हैं तो वे यज्ञ को व्यर्थ कर देते हैं ।

दीर्घामनु प्रसितिं दीध्युर्नरः ।

नेता लोग तो भविष्य के लम्बे दाम्पत्य के सम्बन्ध को विचारते हैं और माता पिताओं के लिये इस सुखप्रद विवाह कार्य को रचते हैं जिससे पति को भी अपनी स्त्री के आलिङ्गन का सुख प्राप्त होता है ।

११—शिलारोहण का उद्देश्य विवाह में बड़ा पवित्र है । वेद भी आज्ञा देता है—

स्योनं ध्रुवं प्रजायै धारयामि तेऽश्मानं देव्याः पृथिव्याः उपस्थे ।
तमातिष्ठानुमाद्या सुवर्चाः ॥ ४७ ॥

प्रजा के हित के लिये सुखकारी शिला को पृथिवी के ऊपर रखता हूं । तू उस पर खड़ी हो और तेजस्विनी बलवती होकर [ पर्वत पर सूर्यप्रभा समान ] प्रदीप्त हो

१२—वेद की दृष्टि में पति पत्नी दोनों मालिक मालिकिन हैं ।

' पत्नी त्वमसि धर्मणा अहं गृहपतिस्तव ' ॥ १ । ५१ ॥

तू धर्म [कर्त्तव्य] से घर की 'पत्नी' स्वामिनी है और मैं तेरा गृहपति हूं ।

१३—स्त्री को पति सदा पालन पोषण करे ।

'ममेयमस्तु पोष्या ।' यह स्त्री मेरे पोषण योग्य है ।

१४—स्त्री पुरुष वधु के केशों को उसके पति के चित्त हरने के लिये सजाया करें ।

तेनेमामश्विना नारीं पत्ये संशोभयामसि ।

१५—हम दोनों पति पत्नी एक दूसरे से चोरी २ न खावें।

' न स्तेयम् अद्मि मनसोदमुच्ये '।

१६—स्त्री के लिये पति इस लोक यात्रा को सुखप्रद, सुगम करे।

उरु लोकं सुगमत्र पन्थां कृणोमि तुभ्यं सहपत्न्यै वधु ॥ १। ५८ ॥

१७—कन्याओं का घात मत करो।

मा हिंसिष्ट कुमार्यं स्थूणे देवकृते पथि।

ईश्वर या राजा के बनाये धर्म मार्ग पर चलते हुए कुमारी कन्या को हे स्त्री पुरुषो ! मत मारो।

१८—स्त्री पृथिवी के समान है। उसमें बीज का वपन करो।

आत्मन्वती उर्वरा नारी इयम् आ अगन्। तस्यां नरो वपत बीजम् अस्याम् २। १४ ॥

मनुने भी लिखा है—

क्षेत्रभूता स्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान्।

क्षेत्रबीजसमायोगात सम्भवः सर्वदेहिनाम्। मनु॰ ९। ३३ ॥

२०—स्त्री श्रेष्ठ वीर्यवान् पुरुष के वीर्य को धारण करके प्रजा को पैदा करे।

सा वः प्रजां जनयद् वक्षणाभ्यो बिभ्रती दुग्धम् ऋषभस्य रेतः। २। १४ ॥

२१—जब स्त्री अग्निहोत्र करे तो बाद में वेद का पाठ करे और बड़ों को नमस्कार करे।

यदा गार्हपत्यमसपर्यैत् पूर्वमग्निं वधूरियम्।

अधा सरस्वत्यै नारि पितृभ्यश्च नमस्कुरु ॥ २।२० ॥

२२—उत्तम विदुषी स्त्री सूर्य के पहले प्रभा के समान, अपने पति के पहले जागे।

इन्द्राणीव सुबुधा बुध्यमाना ज्योतिरग्रा उषसः प्रतिजागरासि। २। ३१ ॥

२३—ऋतुकाल में ही स्त्री पुरुष संग करें।

' स पितरौ ऋत्विये सृजेथाम्। ' २। ३७ ॥

२४—माता पिता के वीर्य से उत्पन्न पुत्र रूप में ही माता पिता स्वयं पैदा होते हैं ।

माता पिता च रेतसाभवाथः । २ । ३७ ॥

२५—पति पत्नी सम्बन्ध से बंधे स्त्री पुरुष परस्पर संग किस प्रकार करें और परस्पर किस प्रकार प्रेम व्यवहार करें इसके लिये प्रभुवाक्य वेद आदेश करता है ।

'आरोह ऊरुम् ।' हे पुरुष स्त्री को अपनी जंघा पर बैठा ।

'उप धत्स्व हस्त ।' अपने बाहू को उसका सिरहाना बना ।

'परिष्वजस्व जायां सुमनस्यमानः ।' अपनी स्त्री को शुभ चित्त से प्रेमपूर्वक आलिङ्गन कर ।

'प्रजां कृण्वाथाम् इह मोदमानौ' । यहीं एक दूसरे को हर्षित करते हुए प्रजा को उत्पन्न करो । ( २ । ३९ )

यहां प्रश्न हो सकता है कि वेद स्त्री पुरुषों के इस रहस्य-व्यवहार की स्पष्ट आज्ञा क्यों देता है ? उत्तर स्पष्ट है । दम्पती को यह विशेष अधिकार है । इससे परस्त्री और परपुरुषों को यह अधिकार प्राप्त नहीं होता । वे अवश्य दण्डनीय हैं यदि वे मर्यादा तोड़ें । दूसरे, एक छोटे से पौदे के उपयोग तक के लिये आयुर्वेद की आवश्यकता है, जब अन्न के पैदा के लिये कृषि विद्या है तो कोई कारण नहीं कि दम्पति के लिये उस मानव कृषि की विद्या का उपदेश न हो जिससे मानव देह रूप वृक्ष पैदा होते हैं । जैसे वेद में कृषि विद्या है वैसे ही यह मानव सृष्टि विद्या का उपदेश है । इसका विस्तार कामशास्त्र और गर्भशास्त्र एवं अन्यान्य अंगविद्या और स्मृतियों से प्राप्त करना चाहिये ।

२६—स्त्रियां अपने केशों को कंघे से ठीक करें ।

शुम्भिनः कण्टकः शतदन् य एषः ।
अप अस्याः केश्यं मलमप शीर्षण्यं लिखात् । २ । ६८ ॥

कृत्रिम बना सौ दांतोंवाला कण्टक ( कंघा ) स्त्री के केशों और सिर के मल को दूर करे।

२७—ऋग्वेद और सामवेद के समान दोनों मिलकर परस्पर मिलें और प्रजा पैदा करें ( २।७१ )।

इत्यादि और भी बहुत से उपदेश गृहस्थ पुरुषों को विवाह प्रकरण के १४ वें काण्ड में किये हैं जिनको पाठक गण प्रस्तुत भाष्य में देखें। यहां तो केवल दिग्दर्शन कराया गया है।

( १७ ) महानग्नी

'महानग्नी' पद का प्रयोग अथर्व वेद में १४ वें काण्ड के प्रथम सूक्त के ३६ वें श्लोक में हुआ है। भाष्य करते समय हम स्वयं इस शब्द के प्रयोग और अर्थों में संदेह अनुभव करते थे। बाद में अधिक विचार और स्वाध्याय से हमारा विचार कुछ परिवर्तित हुआ है। अतः भूमिका में हम इस सम्बन्ध में अपना वक्तव्य प्रकट करते हैं।

येन महानग्न्या जघनमश्विना येन वा सुरा।

येनाऽक्षा अभ्यषिच्यन्त तेनेमां वर्चसावतम् ॥ ३६ ॥

हे स्त्री पुरुषो! ( येन ) जिस तेज से ( महानग्न्याः जघनम् ) महानग्नी का जघन युक्त है, ( येन वा सुरा ) जिस तेज से सुरा और जिससे ( अक्षाः अभ्यषिच्यन्त ) अक्ष अभिषिक्त हैं, उस तेज से इस कन्या को सुशोभित करो।

प्रस्तुत भाष्य में 'महानग्नी' का अर्थ हमने महावेश्या किया है। जिस अभिप्राय से हम ने यह अर्थ किया है हम ने वहां ही स्पष्ट कर दिया है। अन्य अनुवादकों ने भी यही अर्थ किया है, परन्तु लोक में नग्निका शब्द पर व कई मत भेद हैं। जैसे कइयों के मत में जो कन्या बहुत बालिका हो और नंगे शरीर घूमते न लजावे वह 'नग्निका' है। कोई पूर्व वर्ण का लोप हुआ मानकर 'अनग्निका' मानते हैं अर्थात् जिसको अग्नि अर्थात् रजोधर्म न हुआ है। मानव गृह्यसूत्र में १।७।८॥ विवाहोचित कन्या का स्वरूप दर्शाया है कि—

' समानवर्णामसमानप्रवरां यवयसीं नग्निकां श्रेष्ठां ( उपयच्छेत ) ।

समान वर्ण की, असमान प्रवर वाली 'नग्निका', श्रेष्ठ कन्या को विवाहे। इस ' नग्निका ' शब्द के ऊपर श्री अष्टावक्रकृत टीका में लिखा है।

'नग्नैव नग्निका । नग्निकामप्राप्तस्त्रीभावाम् । अप्राप्तयौवनस्तामुपयच्छेत । तथा श्रेष्ठां लावण्ययुक्तां स्त्रीलक्षणोपेताम् इत्यर्थः । नान्यत् लावण्यात् श्रेष्ठत्वं कन्यायां विद्यते । अथवा नग्निकां श्रेष्ठाम् । विवस्त्रा सती श्रेष्ठा या भवेत् तामुपयच्छेत । यस्मात् कुरूपापि वस्त्राद्यलंकारकृता मनोहारिणी भवति । तस्याद्विवस्त्रा सती न सर्वा शोभते । किं तर्हि काचिदेव लक्षणवती······।''

अर्थ—नंगी कन्या 'नग्निका' है। अर्थात् जिसको स्त्रीभाव प्राप्त न हुआ हो। श्रेष्ठा अर्थात् लावण्ययुक्त स्त्री लक्षणों से युक्त। लावण्य से दूसरी श्रेष्ठता कोई वस्तु नहीं। अथवा 'नग्निका श्रेष्ठा' अर्थात् बिना वस्त्रों के जो श्रेष्ठ हो। क्योंकि कुरूप भी वस्त्रादि पहन कर अच्छी जंचने लगती है, वस्त्र रहित होकर फिर कोई ही शोभा देती है।

इस व्याख्यान से ' नग्निका ' और श्रेष्ठा इन दो के विरुद्ध अर्थों का समाधान होता है।

इसी अर्थ को हम स्वीकार कर प्रस्तुत मन्त्र पर आते हैं।

(येन महानग्न्याः जघनम्) जिस तेज या सौन्दर्य से ऐसी सुन्दरी स्त्री, जो बिना वस्त्र के देखने से ही सब उत्तम स्त्री लक्षणों से युक्त है, उसके तेज= सौन्दर्य से इस कन्या को सुशोभित करो। इस अर्थ से 'नग्नी' शब्द वेश्या परक न रहा। दूसरे, कन्या में कुछ निर्लज्जता का स्वरूप न आकर उत्तम श्रेष्ठ लक्षणों का समावेश होता है। और गृह्यसूत्र में भी बालविवाह का पक्ष सिद्ध नहीं होता।

## उपसंहार

इस प्रकार हमने इस खण्ड में आये १० से १७ तक आठ काण्डों के मुख्य २ विशेष विवादास्पद विषयों की आलोचना करके वेदोपदिष्ट

पदार्थों का स्थालीपुलाक न्याय से दिग्दर्शन करा दिया। और जिन विषय को इस खण्ड में नहीं ले सके उनके विषय में प्रस्तुत खण्ड में ही बहुत कुछ भाष्य में ही दे दिया है। वाचक प्रस्तुत भाष्य का उचित उपयोग लेंगे।

प्रतिपत्तियों की विस्तृत आलोचना और वेद के परम रहस्यों का विस्तार से प्रतिपादन करने के लिये तो बड़े भारी ग्रन्थ की आवश्यकता है। इस स्वल्प स्थान में उस विस्तार को करना असम्भव है। समाप्ति पर मैं विद्वान् महानुभावों से सप्रेम अनुनय करता हूं कि मेरे श्रम में लाखों त्रुटियां सम्भव हैं, सैकड़ों अवसरों पर विचार अपरिपक्व होने सम्भव हैं। ईश्वर का अनन्त ज्ञान 'वेद' कहां और अल्पबुद्धि हम कहां? तब भी मैं विद्वानों से प्रार्थना करता हूं कि वे जिन त्रुटियों को भी दर्शावेंगे, मैं उनके इस उपकार के लिये कृतज्ञ रहूंगा। यदि मेरे जीवन काल में इस ग्रन्थ का पुनः संस्करण हुआ तो उनको यथाप्रमाण सुधार कर आपके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट कर सकूंगा। और इस वेदाध्ययनरूप तप और वेद चिन्तनरूप ज्ञानयज्ञ में सफल हो सकूंगा। अन्त में भट्ट कुमारिल के शब्दों में सविनय निवेदन है।

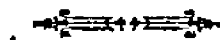
आगमप्रवणश्चाहं नापवाद्यः स्खलन्नपि।
नहि सद्वर्त्मना गच्छन् स्खलितेष्वप्यपोद्यते॥

अजमेर, केसरगंज,
श्रावण, शुक्ल प्रतिपत्,
१९८६ वैक्रमाब्द।

विद्वानों का अनुचर
**जयदेव शर्मा,**
विद्यालंकार, मीमांसातीर्थ।



# भूमिका विषय सूची



# विषय सूची

सूक्त संख्या — पृष्ठ

## दशमं काण्डम्



## एकादशं काण्डम्

## द्वादशं काण्डम्



## त्रयोदशं काण्डम्

सूक्तसंख्या पृष्ठ

## चतुर्दशं काण्डम्



## पञ्चदशं काण्डम्



## षोडशं काण्डम्

## सप्तदशं काण्डम्





॥ ओ३म् ॥

# अथर्ववेदसंहिता

## अथ दशमं काण्डम्

### [ १ ] घातक प्रयोगों का दमन ।

प्रत्यङ्गिरसो ऋषिः । कृत्यादूषणं देवता । १ महाबृहती, २ विराड्नामगायत्री, ९ पथ्यापंक्तिः, १२ पंक्तिः, १३ उरोबृहती, १५ विराड् जगती, १७ प्रस्तारपंक्तिः, २० विराड्, १६, १८ त्रिष्टुभौ, १९ चतुष्पदा जगती, २२ एकावसाना द्विपदा-आर्ची उष्णिक्, २३ त्रिपदा भुरिग् विषमगायत्री, २४ प्रस्तारपंक्तिः, २८ त्रिपदा गायत्री, २९ ज्योतिष्मती जगती, ३२ द्व्यनुष्टुब्गर्भा पञ्चपदा जगती, ३–११, १४, २२, २१, २५–२७, ३०, ३१ अनुष्टुभः । द्वात्रिंशदृचं सूक्तम् ॥

**यां कल्पयन्ति वहतौ वधूमिव विश्वरूपां हस्तकृतां चिकित्सवः ।
सारादेत्वप नुदाम एनाम् ॥ १ ॥**

भा०—( चिकित्सवः ) उत्तम शिल्पी लोग दूसरों की हिंसा करने और पीड़ा देने के लिये ( याम् ) जिस 'कृत्या' हिंसाकारिणी कूट मूर्त्ति को ( हस्त-कृतां ) हस्त=साधनों से बनी ( विश्व-रूपां ) सब प्रकार से सुन्दर ( वहतौ ) विवाह काल में ( वधूम् इव ) सजी सजाई नववधू के समान अति मनोहर ( कल्पयन्ति ) बना देते हैं ( सा ) वह ( आरात् एतु ) दूर हो । हम ( एनाम् ) उसको ( अप नुदामः ) दूर करते हैं । कोई ऐसी माया या छल नीति जो ऊपर से तो सुन्दर चित्ताकर्षक हो और भीतर से हानिकारक हो, हम उसको दूर करें ।

---

[ १ ] १–१. हस्तो हन्तेः ( निरु० )

शीर्षण्वतीं नस्वतीं कर्णिनीं कृत्याकृता संभृता विश्वरूपा ।
सारादेत्वप नुदाम एनाम् ॥ २ ॥

भा०—( कृत्याकृता ) विनाशकारिणी मूर्ति बनाने हारे पुरुष से ( संभृता ) बनाई गई ( विश्व-रूपा ) नाना प्रकार की ( शीर्षण्वती ) सिरवाली, ( नस्वती ) नाकवाली, ( कर्णिनी ) कान वाली मूर्ति के समान सुन्दर भी हो ( सा ) वह ( आरात् एतु ) दूर हो । ( एनाम् ) उसको हम (अप नुदामः) दूर करें ।

शूद्रकृता राजकृता स्त्रीकृता ब्रह्मभिः कृता ।
जाया पत्या नुत्तेव कर्तारं बन्ध्वृच्छतु ॥ ३ ॥

भा०—( पत्या ) पति से ( नुत्ता ) दुत्कारी हुई ( जाया इव ) स्त्री जिस प्रकार अपने उत्पन्न करने वाले मा बाप के पास आ जाती है उसी प्रकार ( शूद्र-कृता ) शूद्रों से की, ( स्त्रीकृता ) स्त्रियों से की गई, ( राज-कृता ) राजा से की गई या ( ब्रह्मभिः कृता ) ब्राह्मणों से की गई 'कृत्या' हिंसाजनक दुष्ट क्रिया ( बन्धु ) बन्धन के रूप में या अपने बन्धु रूप ( कर्तारं ) कर्ता को ( ऋच्छतु ) प्राप्त हो । अर्थात् चाहे ब्राह्मण, क्षत्रिय शूद्र या स्त्री कोई भी प्रजापीड़न का कोई काम करे उसको ही उसके फल-बन्धन आदि दण्ड हों ।

अनयाहमोषध्या सर्वाः कृत्या अदूदुषम् ।
यां क्षेत्रे चक्रुर्यां गोषु यां वा ते पुरुषेषु ॥ ४ ॥
अथर्व० ४ । १८ । ५ ॥

भा०—( यां ) जिसको ( क्षेत्रे चक्रुः ) लोग खेतों पर प्रयोग करते हैं, ( यां ) जिसको ( गोषु ) गौ आदि प्राणियों पर ( यां वा ते पुरुषेषु ) और

२–( द्वि० ) 'प्रचक्रः प्रहिण्मसि यथाजार नमृच्छतु' इति पैप्प० सं० ।
३–( च० ) 'बन्धुम् ऋच्छतु' इति पैप्प० सं० ।

जिसको वे पुरुषों पर प्रयोग करते हैं ऐसी ( सर्वाः कृत्याः ) सब पीड़ाजनक घातक क्रियाओं को ( अहम् ) मैं ( अनया ) इस ( ओषध्या ) संतापकारी दण्डरूप ओषधि=उपाय से ( अदूदुपम् ) नष्ट करता हूं । [ व्याख्या देखो अथर्व० ४ । १८ । ५ ]

अघमस्त्वघकृते शपथः शपथीयते ।
प्रत्यक् प्रतिप्रहिण्मो यथा कृत्याकृतं हनत् ॥ ५ ॥

भा०—( अघकृते ) पापाचरण, अत्याचार करने वाले को ( अघम् अस्तु ) उसी प्रकार का कष्ट हो । ( शपथीयते शपथः ) गाली देने वाले को उसी प्रकार के कटु वचनों से पीड़ा प्राप्त हो । हम ( प्रत्यक् ) लौटा कर ( प्रति प्रहिण्मः ) उसी के किये को उसी पर फेंकते हैं ( यथा ) जिससे ( कृत्याकृतं हनत् ) उसका किया हिंसा का काम उसके करने वाले को ही पीड़ित करे ।

प्रतीचीन आङ्गिरसोध्यक्षो नः पुरोहितः ।
प्रतीचीः कृत्या आकृत्यामून् कृत्याकृतो जहि ॥ ६ ॥

भा०—( आङ्गिरसः ) आङ्गिरस वेद का जानने वाला विद्वान् ( प्रतीचीनः ) हिंसाकारी के विपरीत कार्य करने और उसके किये दुष्ट घातक प्रयोगों के प्रतीकार करने में समर्थ होता है । वही ( नः ) हमारा ( अध्यक्षः ) अध्यक्ष और ( पुरोहितः ) सब कार्यों का साक्षी, यज्ञ के पुरोहित के समान कार्य कराने हारा हो । वह ( कृत्याः ) सब दुष्ट प्रयोगों को ( प्रतीचीः ) विपरीत रूप में ( आकृत्य ) पीड़ा फेरकर ( अमून् ) उन २ ( कृत्या कृतः ) घातक प्रयोगों के करने वालों को ( जहि ) विनाश करे ।

---

५-( प्र० ) 'कृत्याः सन्तु कृत्याकृते' ( तृ० ) 'प्रत्यक् प्रति प्रवर्तय वक्षसाय हन्त्वन्तु' इति पैप्प० सं० ।

यस्त्वोवाच परेहीति प्रतिकूलमुदाय्यम् ।
तं कृत्येऽभिनिवर्त्तस्व मास्मानिच्छो अनागसः ॥ ७ ॥

भा०—हे ( कृत्ये ) घातक प्रयोग ! ( यः ) जिस पुरुष ने ( त्वा ) तुझको ( उवाच ) कहा है कि ( परा इहि ) ' परे जा अमुक को मार ' तू ( तं ) उस ( प्रतिकूलम् ) हमारे प्रतिकूल, हमारे विरोध में ( उदाय्य ) उठने वाले उस शत्रु के पास ही (अभि निवर्त्तस्व) लौट जा । (अस्मान् अनागसः) हम निरपराधों को ( मा इच्छः ) मत चाह ।

यस्ते परूंषि संदधौ रथस्येवर्भुर्धिया ।
तं गच्छ तत्र तेऽयनमज्ञातस्तेऽयं जनः ॥ ८ ॥

भा०—( ऋभुः ) विद्वान् शिल्पी ( रथस्य इव ) जिस प्रकार रथ के जोड़ २ मिला कर धिया) अपनी बुद्धि और शिल्प कारीगरी से जोड़ देता है उसी प्रकार ( यः ) जो ( ते परूंषि ) तेरे पोरू २ को ( सं-दधौ ) जोड़ता है तू ( तं गच्छ ) उसी को प्राप्त हो ( तत्र ते अयनम् ) वहां ही तेरा निवास-स्थान है । ( अयं जनः ) यह जन अर्थात् हम लोग ( ते अज्ञातः ) तेरा जाने हुए भी नहीं हैं ।

ये त्वा कृत्वालेभिरे विद्वला अभिचारिणः ।
शंभ्वी३दं कृत्यादूषणं प्रतिवर्त्म पुनःसरं तेन त्वा स्नपयामसि ॥ ९ ॥

भा०—( ये ) जो ( विद्वलाः ) जानकार ( अभिचारिणः ) अभिचारी, दूसरों पर घातक प्रयोग करने वाले लोग ( त्वा ) हे कृत्ये ! तुझको (कृत्वा)

---

७—( द्वि० ) 'उदाय्यम्', 'उदाय्यम्', 'उदाद्यम्' 'उदार्यम्' इत्यपि पाठाः क्वचित् क्वचित् । 'उदाय्यमिति हि निरामिनः ।

८—' रथस्येव ऋभुर्धिया ' इत्यपि क्वचित् पाठः ।

९—( तृ० ) 'विद्म इदं' ( च० ) 'नवमिदं' इति पैप्प० सं० ।

करके भी ( आ लेभिरे ) पुनः प्राप्त कर लेते हैं । ( इदं ) यह ( कृत्या-दूषणं ) पर-घातकप्रयोगों के विनाश करने का ( शंभु ) अति शान्तिदायक उपाय है और यही ( पुनःसरं ) बार-२-जाने आने का ( प्रति-वर्त्म ) प्रतिकार का मार्ग भी है । ( तेन ) उसी से ( त्वा ) तुझ कृत्या को ( स्नपयामः ) शुद्ध करते हैं, परखते हैं, तेरा निर्णय करते हैं ।

पाप परिशोधन ।

यद् दुर्भगां प्रस्नपितां मृतवत्सामुपेयिम ।
अपैतु सर्वं मत् पापं द्रविणं मोपं तिष्ठतु ॥ १० ॥ ( १ )

भा०—( यद् ) जब हम ( दुर्भगाम् ) बुरे लक्षणों वाली, ( प्रस्नपितां ) नहाई हुई या ( मृतवत्साम् ) मरे पुत्र या बच्छे वाली गौ के (उप ईयिम) समीप प्राप्त हों तब इसके कष्ट को देखकर ( मत् सर्वं पापम् ) मेरा समस्त पाप ( अप एतु ) मुझ से दूर हो और ( द्रविणम् ) द्रविण, धन, बल और ज्ञान ( मा उप तिष्ठतु ) मुझे प्राप्त हो ।

यत् ते पितृभ्यो ददतो यज्ञे वा नाम जगृहुः ।
संदेश्यात् सर्वस्मात् पापादिमा मुञ्चन्तु त्वौषधीः ॥११॥

भा०—हे पुरुष ( यत् ) यदि ( पितृभ्यः ) अपने पूज्य आचार्य गुरुओं के प्रति ( ददतः ) दान करते हुए या ( यज्ञे वा ) यज्ञ देवयज्ञ के अवसर में जो ( ते नाम ) तेरा नाम बुरे भाव से ( जगृहुः ) लें तो (इमा) ये (ओषधीः, ओषधियां या तापकारी प्रायश्चित्त क्रिया ( संदेश्यात् ) संदेश या बुरे तानों से प्राप्त ( सर्वस्मात् पापात् ) सब प्रकार के पापजनक प्रभाव से ( त्वा ) तुझको ( मुञ्चन्तु ) मुक्त करें ।

देवैनसात् पित्र्यान्नामग्राहात् संदेश्याद्भिनिष्कृतात् ।
मुञ्चन्तु त्वा वीरुधो वीर्येण ब्रह्मण ऋग्भिः पयस ऋषीणाम् ॥१२॥

१०-( प्र० ) 'प्रस्निपितां' [ ? ] इति पैप्प० सं० ।

भा०—( वीरुध ) नाना प्रकार से पाप से रोकने वाली प्रायश्चित्त क्रियाएं या ज्ञान-वल्लियां, या ओषधियों के समान कष्टनिवारण करने हारी होकर ( त्वा ) तुझको ( देव एनसात् ) विद्वानों के प्रति किये पापाचरण से, ( पित्र्यात ) अपने पालक माता पिता गुरुओं के प्रति किये अपराध से और ( नाम ग्राहात् ) किसी के प्रति भी बुरे नाम करने या बुरी तरह से पुकारने के अपराध से और ( सदेश्यात् ) सदेश किसी के प्रति किये गये तानों से उत्पन्न अपराध से और ( अभि नि-कृतात् ) किसी के प्रति अत्याचार या अपमान या दुत्कार देने से उत्पन्न पाप से ( त्वा ) तुझे ( ब्रह्मणा वीर्येण ) महाज्ञान रूप बल से ( ऋषिभि ) वेदमन्त्रों द्वारा प्राप्त ( ऋषीणां पयसा ) ऋषियों के तृप्तिकारक उपदेशों से ( मुञ्चन्तु ) मुक्त छुड़ावें ।

यथा वातश्च्यावर्यति भूम्या रेणुमन्तरिक्षाच्चाभ्रम् ।

एवा मत् सर्वं दुर्भूतं ब्रह्मनुत्तमपायति ॥ १३ ॥

भा०—( यथा ) जिस प्रकार ( वात. ) वायु का तेज झकोरा ( भूम्या ) भूमि से ( रेणुम् ) धूलि को और ( अन्तरिक्षात् च अभ्रम् ) अन्तरिक्ष से मेघ को ( च्यावयति ) उड़ा ले जाता है ( एवा ) इसी प्रकार ( सर्वम् ) सब प्रकार के ( दुर्भूतम् ) दुर्भाव ( ब्रह्मनुत्तम् ) ब्रह्मज्ञान या वेद-ज्ञान से ताड़ित होकर ( अप अयति ) दूर भाग जाता है ।

अपं क्राम् नानंदती विनद्धा गर्दभीव ।

कर्तृन् नक्षस्वेतो नुत्ता ब्रह्मणा वीर्यावता ॥ १४ ॥

भा०—हे कृत्ये ! दूसरों से उत्पन्न किये दुर्भावने ! दुष्ट पीड़ाजनक क्रिये ! तू ( वीर्यावता ) वीर्यवान् ( ब्रह्मणा ) महाज्ञान रूप कोड़े से ( नुत्ता ) हांकी जाकर ( विनद्धा गर्दभी इव ) बिना बन्धन के खुली घोड़ी के समान ( नानदती ) बराबर ऊंचा स्वर करती हुई गर्जती हुई चिंघारती हुई ( इत ) यहां से ( कर्तृन् ) अपने उत्पन्न करने वालों के पास ही ( नक्षस्व ) भाग जा ।

सेनारूप कृत्या ।

**अ॒यं पन्थाः॑ कृ॒त्येति॑ त्वा नयामो॒ऽभि॒प्रहि॑तां॒ प्रति॑ त्वा॒ प्र हि॑ण्मः ।**
**तेना॒भि या॑हि भञ्ज॒त्यन॑स्वतीव वा॒हिनी॑ वि॒श्वरू॑पा कुरू॒टिनी॑ ॥१५॥**

भा०—कृत्या रूप से सेना का वर्णन करते हैं । हे ( कृत्ये ) हिंसाकारिणि ! कृत्ये ! सेने ! ( अयं पन्थाः ) यह मार्ग है । ( इति ) इस प्रकार इस मार्ग से ( त्वा नयामः ) हम तुझे ले चलते हैं । ( अभि-प्रहितां ) यदि तुझे दूसरों ने हमारे विरुद्ध भेजा है तो ( त्वां ) तुझे ( प्रति प्र हिण्मः ) हम उलटे पांव फिर लौटा देते हैं । ( तेन ) उसी मार्ग से तू ( अनस्वती ) रथों, शकटों से युक्त ( वाहिनी ) वाहन=अश्व, हाथियों से युक्त, ( इव ) सेना के समान ( विश्वरूपा ) नाना रूपों को धारण करने वाली, नाना व्यूहवती, ( कुरूटिनी ) कुत्सित, कठोर शब्द या प्रतिघात करने वाली होकर ( भञ्जती ) शत्रु के बलों को या दुर्गों को तोड़ती हुई ( अभि याहि ) चढ़ाई कर ।

**परा॑क् ते॒ ज्योति॒रप॑थं ते अ॒र्वाग॒न्यत्रा॒स्मद॑य॑ना कृणुष्व ।**
**परे॒णेहि नव॒तिं ना॒व्या॒३॒॑ अति॑ दु॒र्गाः स्रो॒त्या मा क्ष॑णिष्ठाः॒ परे॑हि ॥१६**

भा०—हे कृत्ये ! ( ते ज्योतिः पराक् ) तेरे लिये परे प्रकाश है । ( अर्वाक् ) और इधर ( ते ) तेरे लिये ( अपथम् ) कोई मार्ग नहीं है । ( अस्मत् अन्यत्र ) हमसे अतिरिक्त ( अयना ) अपने जाने के मार्ग ( कृणुष्व ) कर । ( नाव्याः ) नाव से पार करने योग्य ( दुर्गाः ) दुर्गम ( नवतिं ) नव्वे ( स्रोत्याः ) नदियों को ( अति ) पार करके ( परेण इहि ) दूर चली जा । ( मा क्षणिष्ठाः ) तू मत मार या ( मा क्षणिष्ठाः ) देर मत कर ( परा-इहि ) दूर भाग जा ।

१५–( प्र० ) 'अयं पन्था अपि नयाभित्वा कृत्ये प्रहितां प्रति०' ( तृ० च० ) 'याहि भुञ्जत्यनस्वतीव' इति पैप्प० सं० ।

१६–' मा क्षमिष्ठाः ' इति ह्विटनिकामितः पाठः । ' घनिष्ठाः ', ' नाव्याति ' इति पैप्प० सं० ।

वात इव वृक्षान् नि मृणीहि पादय मा गामश्वं पुरुषमुच्छिष एषाम्।
कर्तॄन् निवृत्येतः कृत्येऽप्रजास्त्वाय बोधय ॥ १७ ॥

भा०—हे ( कृत्ये ) कृत्ये ! हिंसाशील सेने ! ( वात इव ) वायु का झकोरा जिस प्रकार ( वृक्षान् ) वृक्षों को मोड़ता फोड़ता गिरा देता है उस प्रकार तू भी ( कर्तॄन् ) हिंसक पुरुषों को ( नि मृणीहि ) निर्मूल कर डाल और ( नि पादय ) उखाड़ डाल । ( एषां ) उनके ( गाम् अश्वम् पुरुषम् ) गौ, घोड़े और पुरुष को भी ( मा उच्छिष ) जीता मत छोड़ । ( इतः ) यहां से ( निवृत्य ) लौट कर उनको ( अप्रजास्त्वाय ) प्रजाहीन हो जाने की ( बोधय ) चेतावनी दे ।

यां ते बर्हिषि यां श्मशाने क्षेत्रे कृत्यां वलगं वा निचख्नुः ।
अग्नौ वा त्वा गार्हपत्येऽभिचेरुः पाकं सन्तं धीरतरा अनागसम् १८

भा०—( यां ) जिस ( कृत्या ) घातक प्रयोग को ( ते ) तेरे ( बर्हिषि ) धान्य, पशु या प्रजा में और ( यां ) जिसको ( श्मशाने ) मसान में और ( क्षेत्रे ) खेत में ( निचख्नुः ) गाड़ देते हैं या जिस ( वलगं ) किसी गुप्त प्रयोग को प्रजा, मसान या खेत में गाड़ दिया है, गुप्तरूप से स्थापित कर दिया है और या ( धीरतराः ) अधिक बुद्धिमान् लोग ( अनागसम् ) निरपराध ( पाकम् ) पवित्र ( त्वा ) तुझ ( सन्तं ) सज्जन को भी ( गार्हपत्ये ) गार्हपत्य ( अग्नौ ) अग्नि में ( अभिचेरुः ) तेरे विरुद्ध अतिचार या घातक प्रयोग करते हैं ।

उपाहृतमनुबुद्धं निखातं वैरं त्सार्यन्वविदाम कर्त्रम् ।
तदेतु यत आभृतं तत्राश्व इव वि वर्तताम् हन्तु कृत्याकृतः प्रजाम् १९

१७—( प्र० ) 'वातेव' इति पैप्प० सं० ।

१८—'यां ते चक्रुर्बर्हिषि' ( द्वि० ) 'कृत्यां क्षेत्रे' ( च० ) 'धीरतरा भागसम्' तमितो नाशयामसि । इति पैप्प० सं० ।

१९—( प्र० ) 'उपाभृतम्' ( च० ) 'तत्राश्वेव' इति पैप्प० सं० ।

भा०—( उपाहृतम् ) उपहाररूप में दिये गये ( अनु-बुद्धं ) अनुकूल रूप में जाने गये ( निखातम् ) गाड़े हुए, पुराने ( वैरम् ) वैरभाव को ( त्सारि ) कुटिल और ( कर्त्रम् ) घातक ( अनु अविदाम ) पाते हैं। ( तत् ) वह ( यत आ-भृतम् ) जहां से उठा हो वहां ही ( एतु ) चला जाय और ( तत्र ) वहां ( अश्व इव ) व्यापक अग्नि के समान ( वर्त्तताम् ) रहे और ( कृत्या-कृतः ) परघातक सेनाओं और प्रयोगों को करने वालों की ( प्रजाम् ) प्रजा को ही ( हन्तु ) विनाश करे।

स्वायसा असयः सन्ति नो गृहे विद्मा ते कृत्ये यतिधा परूंषि।
उत्तिष्ठैव परेहीतोऽज्ञाते किमिहेच्छसि ॥ २० ॥ ( २ )

भा०—( स्वायसः ) उत्तम लोहे कि बनी ( असयः ) तलवारें ( नः गृहे सन्ति ) हमारे घर में हैं। हे ( कृत्ये ) अज्ञात घातक सेने! ( ते ) तेरे ( परूंषि ) पोरू २ को ( विद्म ) हम जानते हैं कि ( यतिधा ) वे कितने हैं। ( उत्तिष्ठ एव ) उठ, ( इतः ) यहां से ( परा इहि ) परे जा! हे ( अज्ञाते ) बिना जानी हुई कृत्ये! सेने! ( इह किम् इच्छसि ) यहां तू क्या चाहती है?

ग्रीवास्ते कृत्ये पादौ चापि कर्त्स्यामि निर्द्रव।
इन्द्राग्नी अस्मान् रक्षतां यौ प्रजानां प्रजावती ॥ २१ ॥

भा०—हे ( कृत्ये ) कृत्ये! ( ते ) तेरे ( ग्रीवाः ) गर्दनें, गर्दन के मोहरों को और ( पादौ ) पावों को ( अपि ) भी ( कर्त्स्यामि ) काट डालूंगा। ( निर्द्रव ) नहीं तो यहां से निकल भाग। वे ( इन्द्राग्नी ) इन्द्र और अग्नि, राजा और सेनापति ( अस्मान् ) हमारी ( रक्षताम् ) रक्षा करें ( यौ ) जो दोनों ( प्रजानां ) प्रजाओं के लिये ( प्रजावती ) प्रजावाली माता के समान हैं।

२१-( च० ) 'प्रजानां प्रजापती' इति ह्विटनिकामितः पाठः। 'इन्द्राग्नी एनां रक्षतां यौ प्रजानां प्रजापती इति पैप्प० सं०।

सोमो राजाधिपा मृडिता च भूतस्य नः पतयो मृडयन्तु ॥ २२ ॥

भा०—( सोमः ) सोम सब को शुभ कामों मे प्रेरणा करने वाला, एव शान्त सौम्य गुणों से युक्त ( राजा ) राजा, प्रजा के हृदय को प्रसन्न रखने वाला ही ( अधिपा ) प्रजा का पालक और ( मृडिता च ) सुखी करने हारा होता है। ( नः ) हमें ( भूतस्य ) समस्त संसार के या प्राणियों के ( पतयः ) पालक लोग ( मृडयन्तु ) सुखी करें।

भवाशर्वावस्यतां पापकृते कृत्याकृते। दुष्कृते विद्युतं देवहेतिम् ॥२३

भा०—( भवाशर्वौ ) भव और शर्व दोनों ( पापकृते ) पापाचरण करने वाले ( कृत्याकृते ) दूसरे पर घातक प्रयोग करने वाले ( दुष्कृते ) दुष्ट या दुखदायी काम करने वाले पर ( देवहेतिम् ) दिव्य आयुधरूप ( विद्युतम् ) बिजुली के अस्त्र को ( अस्यताम् ) फेंकें।

यद्येयथ द्विपदी चतुष्पदी कृत्याकृता संभृता विश्वरूपा।
सेतोऽष्टापदी भूत्वा पुनः परेहि दुच्छुने ॥ २४ ॥

भा०—( यदि ) यदि ( कृत्या-कृता ) पर-घात प्रयोग करने वाले पुरुष द्वारा ( संभृता ) परिपुष्ट हुई ( विश्वरूपा ) नाना प्रकार की कृत्या या हिंसा का कार्य ( द्विपदी ) दो चरण वाली ( चतुष्पदी ) चार चरण वाली, ( एयथ ) हम पर आवे तो ( सा ) वह ( इतः ) यहां से ( अष्टा पदी भूत्वा ) आठ चरण वाली होकर हे ( दुच्छुने ) दुःखदायिनि कृत्ये! ( पुनः ) तू फिर ( परा इहि ) दूर चली जा।

अभ्यक्ताक्ता स्वरंकृता सर्वं भरन्ती दुरितं परेहि।
जानीहि कृत्ये कर्तारं दुहितेव पितरं स्वम् ॥ २५ ॥

२२—( द्वि० ) 'अनन्त न पतयो' इति पैप्प० सं०।
२३—( प्र० ) 'पापकृत्वने' इति पैप्प० सं०।

भा०—( अभ्यक्ता ) सब प्रकार से चन्दनादि लेप से सुन्दर ( अक्ता ) तैल आदि से मर्दित, ( सु-अरंकृता ) उत्तम रीति से आभूषणों से सुसज्जित होकर भी वेश्या के समान ( सर्वं ) सब प्रकार के ( दुरितम् ) दुष्टाचारों और दुर्व्यसनों को अपने भीतर तू ( भरन्ती ) धारण करती है । तू ऊपर से सुन्दर और भीतर से कुत्सित है । तू ( परा इहि ) दूर जा । हे कृत्ये ! ( दुहिता स्वम् पितरम् इव ) जिस प्रकार कन्या अपने पिता को ही समझती है और उसी के आश्रय रहती उसी का व्यय कराती है उसी प्रकार तू ( कर्त्तारं जानीहि ) अपने उत्पादक को जान, उसी के पास रह ।

परेहि कृत्ये मा तिष्ठो विद्धस्येव पदं नय ।
मृगः स मृगयुस्त्वं न त्वा निकर्तुमर्हति ॥ २६ ॥

भा०—हे ( कृत्ये ) कृत्ये सेने! ( परा इहि ) परे चली जा । ( मा तिष्ठ ) कहीं मत ठहर । ( विद्धस्य पदं इव ) बाण से घायल शिकार के पैरों के निशान देखकर जिस प्रकार शिकार खोज लिया जाता है उसी प्रकार तू शत्रु के ( पदं नय ) पैर खोज २ कर उस तक पहुंच जा । ( मृगः सः ) वह शत्रु मृग है । ( त्वं मृगयुः ) तू शिकारी है । वह शत्रु ( त्वा ) तुझे ( निकर्तुम् न अर्हसि ) दबा नहीं सकता ।

उत हन्ति पूर्वासिनं प्रत्यादायापर इष्वा ।
उत पूर्वस्य निघ्नतो नि हन्त्यपरः प्रति ॥ २७ ॥

भा०—युद्ध दो ही प्रकार से हो सकता है ( उत ) या तो (पूर्वासिनं) पहले ही 'आसन' वृत्ति से बैठे हुए पुरुष पर ( अपरः ) दूसरा (प्रति आदाय) उसके प्रतिकूल उस पर चढ़ाई करके ( इष्वा ) बाण द्वारा उसे ( हन्ति )

२७-( तृ० ) 'उतो पूर्वस्य' इति पैप्प० सं० । ( द्वि० ) 'प्रत्यादाय' इति पैप० साय० ।

मारता है। और ( उत ) या ( पूर्वस्य निघ्नतः ) पहला पुरुष जब मारता हो तब ( अपर ) दूसरा ( प्रति नि हन्ति ) उसके बदले उसको मारता है। सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय, द्वैधीभाव इन छः अंगों में आसन चतुर्थ है। अपने राज्य में जमे रहना 'आसन' कहाता है।

पुनरेहि शृणु मे वचोऽथेहि यतः प्रयथ।
यस्त्वा चकार तं प्रति ॥ २८ ॥

भा०—( पुनः एहि ) पुनः ( मे ) मेरा ( वचः ) वचन ( शृणु ) सुन ( अथ इहि ) और वहां जा ( यतः, प्रयथ ) जहां से तू आई है। ( यः त्वा चकार ) जो तुमको पैदा करता है ( तं प्रति ) तू उसी के प्रति जा। अर्थात् जो सेना का प्रयोग करे उसके प्रति सेना को चढ़ाई के लिये भेज दे।

अनागोहत्या वै भीमा कृत्ये मा नो गामश्वं पुरुषं वधीः।
यत्रयत्रासि निहिता ततस्त्वोत्थापयामसि पर्णाल्लघीयसी भव ॥२९॥

भा०—हे ( कृत्ये ) सेने! ( अनागोहत्या ) निरपराध पुरुषों का घात करना ( भीमा ) बड़ा उग्र और भयानक परिणाम लाने वाला है। अतः ( नः ) हमारे ( गाम् अश्वं पुरुषं मा वधीः ) गौ, घोड़े और पुरुषों को मत मार। ( यत्र यत्र ) जहां २ तू ( निहिता असि ) रक्खी गई है। अर्थात् तूने जहां २ अपने डेरे डाले हैं ( ततः ) वहां २ से ( त्वा उत्थापयामसि ) तुझे उठा दें। तू ( पर्णात् ) पत्ते से भी अधिक ( लघीयसी ) हलकी ( भव ) हो जा।

यदि स्थ तमसावृता जालेनाभिहिता इव।
सर्वाः संलुप्येतः कृत्याः पुनः कर्त्रे प्र हिण्मसि ॥ ३० ॥

भा०—हे सैनिक पुरुषो! यदि तुम लोग ( जालेन ) जालों में ( अभिहिता इव ) बंधे हुओं के समान ( तमसा ) अन्धकार से या मृत्यु से

२८–( तृ० ) 'स पुनः' इति पैप्प० सं०।

( आवृताः स्थ ) घिर जाओ तो ( सर्वाः ) सब ( कृत्याः ) घातप्रतिघात करने वाली सेनाओं को ( इतः ) यहां से ( संलुप्य ) मिटा कर हम ( पुनः ) फिर ( कर्त्रे ) उनके कर्त्ता संचालक के संहार के लिये ही उनको ( इतः ) यहां से ( प्र हिण्मसि ) उसके प्रति प्रयोग करें ।

कृत्याकृतो वलगिनोऽभिनिष्कारिणः प्रजाम् ।
मृणीहि कृत्ये मोच्छिषोऽमून् कृत्याकृतो जहि ॥ ३१ ॥

भा०—हे ( कृत्ये ) घातकारिणि सेने ! तू ( कृत्याकृतः ) सेना के घातक प्रयोग करने वाले, ( वलगिनः ) गुप्त मन्त्रणा करने वाले, ( प्रजाम् अभि-निःकारिणः ) प्रजा के ऊपर आक्रमण करने वाले लोगों को ( मृणीहि ) विनाश कर और ( अमून् ) उन ( कृत्या-कृतः ) घातिनी सेना के प्रयोजक लोगों को ( मा उच्छिषः ) जीता न छोड़ । प्रत्युत ( जहि ) मार डाल ।

यथा सूर्यो मुच्यते तमसस्परि रात्रिं जहात्युषसंश्च केतून् ।
एवाहं सर्वं दुर्भूतं कर्त्रं कृत्याकृता कृतं हस्तीव रजो दुरितं जहामि ३२

भा०—( यथा सूर्यः ) जिस प्रकार सूर्य ( तमसः परिमुच्यते ) अन्धकार से आप से आप मुक्त हो जाता है ( रात्रिम् ) वह रात्रि को और ( उषसः च केतून् ) उषा के पूर्व ज्ञापक चिह्नों को भी क्रमशः ( जहाति ) त्याग देता है और उदय को प्राप्त हो जाता है ( एवा ) इसी प्रकार ( अहम् ) मैं ( कृत्या-कृता ) मेरे प्रति घातक सेना के प्रयोक्ता शत्रु से ( कृतम् ) प्रयोग किये ( दुर्भूतम् ) दुष्ट ( कर्त्रं ) घातक प्रयोगों को ( जहामि ) त्याग दूं, विनाश कर दूं और उनसे पार हो जाऊं और ( हस्ती रजः इव ) हाथी जिस प्रकार धूल को उड़ा देता है उसी प्रकार मैं ( दुरितम् ) शत्रु के दुष्ट प्रयोग या दुराचार को भी ( जहामि ) छोड़ दूं, त्याग दूं, उड़ा दूं ।

३२-( प्र० ) 'सूर्यस्तमसस्तोमुच्यते परि' ( द्वि० ) 'केतुम्' इति पैप्प० सं० ।

## [ २ ] पुरुष देह की रचना और उसके कर्त्ता पर विचार।

नारायण ऋषिः । पुरुषो देवता । पार्ष्णी सूक्तम् । ब्रह्मप्रकाशिसूक्तम् । १-४, ७, ८, त्रिष्टुभः, ६, ११ जगत्यौ, २८ भुरिग्बृहती, ५, ९, १०, १२-२७, २९-३३ अनुष्टुभः, ३१, ३२ इति साक्षात्परब्रह्मप्रकाशिन्यावृचौ । त्रयस्त्रिंशदृचं सूक्तम् ॥

**केन पार्ष्णी आभृते पूरुषस्य केन मांसं संभृतं केन गुल्फौ ।**
**केनाङ्गुलीः पेशनीः केन खानि केनोच्छ्लङ्खौ मध्यतः कः प्रतिष्ठाम् ॥१॥**

भा०—( पुरुषस्य ) पुरुष, मनुष्य या प्राणी के देह के ( पार्ष्णी ) दोनों एड़ियां ( केन ) किसने ( आभृते ) बनाई हैं ? और ( मांसं ) मांस ( केन ) किसने ( संभृतं ) देह में लाकर लगाया ? ( गुल्फौ केन ) गुल्फ=टखने किसने लगाये ? ( पेशनीः ) पोरुओं वाली नाना अवयवों से युक्त ( अङ्गुलीः केन ) ये अंगुलियां किसने जोड़ दीं ? ( खानि ) शरीर के ये नाक, कान, मुंह आदि इन्द्रियों के छिद्र ( केन ) किसने बनाये ? ( उत्-श्लङ्खौ ) सिर के ऊपर के दोनों कपाल ( केन ) किसने बनाये ? और ( मध्यतः ) बीच में ( प्रतिष्ठाम् ) बैठने के लिये चूतड़ भाग ( कः ) किसने बनाया ?

**कस्मान्नु गुल्फावधरावकृण्वन्नष्ठीवन्तावुत्तरौ पूरुषस्य ।**
**जङ्घे निर्ऋत्य न्यदधुः क्व स्विज्जानुनोः सन्धी क उ तच्चिकेत ॥२॥**

---

[२] १-( च० ) 'उच्छ्लङ्खौ', 'उच्छङ्खौ' इति च क्वचित् पाठः । पदपाठेऽपि उत श्लङ्खौ, उत शङ्खौ इत्येव । ( प्र० ) 'पार्ष्ण्याभृते पौरुषस्य' ( तृ० ) 'पेशिनीः' इति पैप्प० सं० ।

२-( द्वि० ) 'पौरुषस्य' ( द्वि० ) 'निर्ऋतिनधे न्यदधुः' ( च० ) 'सन्धि ऊबवाना' इति पैप्प० सं० ।

भा०—( कस्मात् नु ) किस कारण से ( पुरुषस्य ) पुरुष के ( अधरौ ) नीचे के ( गुल्फौ ) दोनों टखने और ( उत्तरौ ) ऊपर के ( अष्ठीवन्तौ ) घुटने ( अकृण्वन् ) बनाये गये हैं ? और क्यों ( जंघे ) दोनों जांघें ( निर्ऋत्य ) अलग २ करके ( नि अदधुः ) रखी गई हैं ? और ( जानुनोः ) दोनों गोडों के ( सन्धी ) जोड़ों को ( क्वचित् ) कहां जोड़ा गया है ( तत् ) इस सब रहस्य को ( क उ ) कौन ( चिकेत ) जानता है ?

चतुष्टयं युज्यते संहितान्तं जानुभ्यामूर्ध्वं शिथिरं कबन्धम् ।
श्रोणी यदूरू क उ तज्जजान याभ्यां कुसिन्धं सुदृढं बभूव ॥३॥

भा०—( चतुष्टयं ) पूर्वोक्त दोनों जांघें और दोनों गोडे इन चारों को ( संहितान्तम् ) इनके सिरे खूब अच्छी प्रकार मिला २ कर ( युज्यते ) जोड़े गये हैं और ( जानुभ्याम् ) टांगों के ( ऊर्ध्वम् ) ऊपर ( कबन्धम् ) कबन्ध= धड़ भाग ( शिथिरम् ) शिथिल रूप से रख दिया गया है । ( श्रोणी ) दो कूल्हे और ( यत् ऊरू ) ये दोनों जंघाएं ( तत् ) इनको ( क उ जजान ) किसने बनाया ? ( याभ्याम् ) जिनके कारण ( कुसिन्धम् ) यह कुत्सित, दुर्गन्ध मल मूत्र बहाने वाला या विचित्र रूप से बन्धा हुआ, अथवा परस्पर संसक्त अथवा छोटी नाड़ियों से पूर्ण शरीर ( सु-दृढम् ) खूब मज़बूत ( बभूव ) हो गया है ।

कति देवाः कतमे त आसन् य उरो ग्रीवाश्चिक्युः पूरुषस्य ।
कति स्तनौ व्यदधुः कः कफोडौ कति स्कन्धान् कति पृष्टीरचिन्वन् ॥४॥

भा०—( कति देवाः ) इस शरीर में देव जीवन ज्योति के प्रकाशक तत्व कितने हैं । ( कतमे ते ) उनमें से वे कौनसे २ हैं ( ये ) जो

३–( प्र० ) 'संहतान्त' ( च० ) 'सुभृतं बभूव' इति पैप्प० सं० ।
४–( द्वि० ) 'पौरुषस्य' ( तृ० ) 'निश्चयौ कः कपोलौ' इति पैप्प० सं० । 'कफोडौ', 'कफौजौ' इत्यादयोऽपि नानाः पाठाः क्वचित् क्वचित् ।

( पूरुषस्य ) पुरुष देह के ( उरः ) छाती और ( ग्रीवाः ) गर्दन के मोहरों को ( चित्यु ) बना रहे हैं ? और ( स्तनौ ) स्तनों को ( कति ) कितने तत्व ( वि अदधुः ) विशेष रूप से धारण कर रहे हैं ? और ( कः ) कौनसा तत्व ( कफोडौ ) दोनों हंसुलियों या कपोल=गालों को धारण करता है। और ( स्कन्धान् कति ) कन्धों को कितने तत्व धारण कर रहे हैं। और ( पृष्टीः ) पसुलियों या पीठ के मोहरों को ( कति ) कितने तत्व ( अचिन्वन् ) बनाये हुए हैं।

को अस्य बाहू समभरद् वीर्यं करवादिति।
अंसौ को अस्य तद् देवः कुसिन्धे अध्या दधौ ॥ ५ ॥

भा०—( अस्य ) इस पुरुष के ( बाहू ) बाहुओं को ( कः ) कौनसा देव ( समभरत् ) पुष्ट करता है कि ( इति वीर्यं करवात् ) वह वीर्य बल का काम उत्पन्न करे। ( अस्य ) इसके ( अंसौ ) भुजाओं के ऊपर के भागों को ( कः ) कौन बनाता है और ( तद् ) उनको ( कः देवः ) कौन देव ( कुसिन्धे ) शरीर में ( अध्या दधौ ) स्थापित करता है।

कः सप्त खानि वि ततर्द शीर्षणि कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्।
येषां पुरुत्रा विजयस्य मह्मनि चतुष्पादो द्विपदो यन्ति यामम् ॥६॥

भा०—( कः ) कौन देव ( शीर्षणि ) शिर भाग में ( सप्त खानि ) सात इन्द्रियों के छिद्रों को ( वि ततर्द ) विशेष रूप से गढ़ कर बनाता है ? और कौन ( इमौ कर्णौ ) इन दो कानों, ( नासिके ) इन दो नाक के छिद्रों और ( चक्षणी ) इन दो आंखों और ( मुखं ) इस मुख को किसने बनाया

५—( द्वि० ) 'वीर्यं कृणवानिति ' ( च० ) ' क सिन्धावध्यधि ' इति पैप्प० सं०।

६—( द्वि० ) ' चक्षणि नासिके मुखम् ' ( तृ० ) ' विजयस्य मह्मनि ' इति पैप्प० सं०। ' यामन् ' इति क्वचित् पाठः।

( येषां ) जिनके ( विजयस्य महानि ) विजय की महिमा=महान् सामर्थ्य में ( पुरुत्रा ) बहुतसे ( चतुष्पदः ) चौपाये और ( द्विपदः ) पक्षिगण और दोपाये मनुष्य भी ( यामम् ) अपना जीवन-मार्ग ( यन्ति ) तय करते हैं।

हन्वोर्हि जिह्वामदधात् पुरुचीमधा महीमधि शिश्राय वाचम्।
स आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तरपो वसानः क उ तच्चिकेत ॥ ७ ॥

भा०—जो देव ( हन्वोः ) दोनों जबाड़ों के बीच में ( जिह्वाम् ) जीभ को ( अदधात् ) रखता है। ( अधा ) और वहां ही वह ( पुरुचीम् ) सर्व-व्यापक, ( महीम् ) बड़ी भारी ( वाचम् ) वाक्-शक्ति को ( अधि शिश्राय ) स्थापित करता है। ( सः ) वह ( भुवनेषु ) लोकों के ( अन्तः ) भीतर व्यापक ( अपः वसानः ) समस्त जीवों, प्राणियों, कर्मों, ज्ञानों और मूल-कारण रूप प्रकृति के परिमाणुओं में भी व्यापक है। ( क उ ) कौन ( तत् ) उसको ( चिकेत ) जानता है ?

मस्तिष्कमस्य यतमो ललाटं ककाटिकां प्रथमो यः कपालम्।
चित्वा चित्यं हन्वोः पूरुषस्य दिवं रुरोह कतमः स देवः ॥ ८ ॥

भा०—( यतमः ) जो देव ( अस्य ) इस पुरुष-देह के ( मस्तिष्कम् ) मस्तिष्क को, ( ललाटम् ) ललाट, माथे को और ( यः ) जो ( प्रथमः ) सबसे प्रथम विद्यमान इस पुरुष के ( ककाटिकाम् ) गले की घंटी और ( कपालम् ) कपाल, खोपड़ी को और ( पूरुषस्य ) पुरुष-देह के ( हन्वोः ) दोनों जबाड़ों के बीच की ( चित्यम् ) रचना को ( चित्वा ) बनाकर ( दिवः ) प्रकाशस्वरूप द्यौः या मोक्षपद में ( रुरोह ) व्याप्त हुआ है (सः) वह ( देवः ) देव ( कतमः ) कौनसा है।

---

७-( तृ०, च० ) 'स आवरीवर्त्ति महिना व्योमन् अपसानः कातिचिद् प्रवेद' इति पैप्प० सं०।

प्रियाप्रियाणि बहुला स्वप्नं संबाधतन्द्र्यः ।
आनन्दानुग्रो नन्दांश्च कस्माद् वहति पूरुषः ॥ ९ ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! विचार करो कि ( उग्रः ) बलवान् होकर ( पूरुषः ) यह पुरुष ( बहुला ) बहुत प्रकार के ( प्रिया प्रियाणि ) प्रिय, चित्त को भले लगने वाले और अप्रिय, चित्त को बुरे लगने वाले भावों को, ( स्वप्नम् ) निद्रा ( संबाध तन्द्र्यः ) पीड़ा और थकान ( आनन्दान् ) आनन्दों और ( नन्दांश्च ) हर्षों को ( कस्मात् ) किस हेतु से या कहां से ( वहति ) प्राप्त करता है।

आर्तिरवर्तिर्निर्ऋतिः कुतो नु पुरुषेऽमतिः ।
राद्धिः समृद्धिरव्यृद्धिर्मतिरुदितयः कुतः ॥ १० ॥ ( ४ )

भा०—( पुरुषे ) पुरुष में ( आर्तिः ) पीड़ा, दुःख, मानसिक व्यथा, ( अवर्तिः ) बेचैनी या बेरोजगारी ( निर्ऋतिः ) पाप की प्रवृत्ति और ( अमतिः ) अज्ञान ये ( कुतः ) कहां से आये या किस कारण से उत्पन्न होते हैं। और ( राद्धिः ) कार्यसिद्धि ( समृद्धिः ) संपत्ति, ( अव्यृद्धिः ) विशेष संपत्ति का अभाव अथवा दरिद्रता सदाचार का अभाव, ( मतिः ) विशेष ज्ञान और ( उदितयः ) ऊपर उठने की प्रवृत्तियां ( कुतः ) कहां से और किस कारण से उत्पन्न होती हैं।

को अस्मिन्नापो व्यदधाद् विषूवृतः पुरूवृतः सिन्धुसृत्याय जाताः ।
तीव्रा अरुणा लोहिनीस्ताम्रधूम्रा ऊर्ध्वा अवाचीः पुरुषे तिरश्चीः ॥ ११ ॥

भा०—( अस्मिन् पुरुषे ) इस पुरुष देह में ( आपः ) ऐसे द्रवों, रसों को ( कः ) किसने ( वि अदधात् ) रचा है जो ( विषूवृतः ) नाना प्रकार से

---

९—( द्वि० ) 'सदाधतन्द्रियः' ( च० ) 'पौरुषः' इति पैप्प० सं० ।
१०—( द्वि० ) 'कुतोऽधिपुरुषे' ( तृ० ) 'समृद्धिर्न्यृद्धि' इति पैप्प० सं० ।
११—( प्र० ) 'कोऽस्मिन्नापो व्यधात्' ( तृ० ) 'तीव्रारुणा' इति पैप्प० सं० ।

देह में घूमते हैं ( पुरूचृतः ) समस्त अंगों में घूमते और ( सिन्धु-सृत्याय जाताः ) नाड़िओं में गति करने के योग्य होगये है । और ये नाड़ियें इस शरीर में ( तीव्राः ) तीव्र गति करने वाली ( अरुणाः ) लाल (लोहिनी ) सुर्ख और ( ताम्रधूम्रा ) लाल नीले रंग की होकर ( ऊर्ध्वाः ) इधर ( अवाचीः ) नीचे और ( तिरश्चीः ) तिरछी जाती हैं ।

को अस्मिन् रूपमंदधात् को मह्मानं च नाम च ।
गातुं को अस्मिन् कः केतुं कश्चरित्राणि पूरुषे ॥ १२ ॥

भा०—( अस्मिन् पुरुषे ) इस पुरुष-देह में ( कः ) कौन ( रूपम् ) रूप को धारण करता है, ( मह्मानं ) महत्व या महिमा और ( नाम च ) नाम को ( कः ) कौन उत्पन्न करता है ( अस्मिन् ) इस पुरुष में ( गातुं कः ) गातु=गति चेष्टा को कौन स्थापित करता है ( केतुं कः ) आत्मा के ज्ञापक चिह्न या ज्ञान या ज्ञान सामर्थ्य को कौन देता है और ( चरित्राणि कः ) नाना प्रकार के सत् और असत् चरित्रों, इन्द्रियों के व्यापारों और प्रवृत्तियों को कौन स्थापित करता है ।

को अस्मिन् प्राणमवयत् को अपानं व्यानमु ।
समानमस्मिन् को देवोऽधि शिश्राय पूरुषे ॥ १३ ॥

भा०—( अस्मिन् पूरुषे ) इस पुरुष-देह में ( प्राणम् ) प्राण को, जीवन शक्ति को ( कः अवयत् ) कौन संचारित करता है, जिस प्रकार जुलाहा कपड़े के तन्तुओं को बुन देता है उस प्रकार इस देह के ताने में प्राण रूप बरनी कौन बुन देता है । ( अपानम् व्यानम् उ कः ) अपान और व्यान को कौन संचारित कर देता है । ( कः देवः ) कौन देव ( अस्मिन् ) इस पुरुष-देह में ( समानम् ) समान नामक प्राण भेद को ( अधि शिश्राय ) स्थापित करता है ।

---

१२-( च० ) 'पौरुषे' इति पैप्प० सं० ।

१३-( प्र० ) 'प्राणमदधात्' ( च० ) 'पौरुषे' इति पैप्प० सं० ।

को अस्मिन् यज्ञमदधादेको देवोऽधि पूरुषे ।
को अस्मिन्त्सत्यं कोऽनृतं कुतो मृत्युः कुतोऽमृतम् ॥ १४ ॥

भा०—वह ( एकः ) एक ( कः ) कौनसा ( देवः ) प्रकाशक देव है जो ( अस्मिन् ) इस ( पुरुषे ) पुरुष देह में ( यज्ञम् ) यज्ञरूप आत्मा को ( अधि अदधात् ) अधिष्ठाता रूप से स्थापित करता है ? ( अस्मिन् ) इसमें ( सत्यम् ) सत्य को ( कः ) कौन रखता है ? ( अनृतं कः ) अनृत मृषा को कौन रखता है ? ( मृत्युः ) मृत्यु, मौत देह का आत्मा से छूट जाना ( कुतः ) किस कारण से होता है ? और आत्मा ( अमृतम् कुतः ) अमृत किस कारण से और किस प्रकार से है ।

को अस्मै वासः पर्यदधात् को अस्यायुरकल्पयत् ।
बलं को अस्मै प्रायच्छत् को अस्याकल्पयज्जवम् ॥ १५ ॥

भा०—( अस्मै ) इस पुरुष को ( वासः ) पहनने के वस्त्र देह रूप चोला ( कः परि अदधात् ) कौन पहराता है ? ( अस्य ) इसकी ( आयुः ) आयुष्काल को ( कः अकल्पयत् ) कौन नियत करता है ? ( अस्मै ) इस को ( बलम् ) बल=शारीरिक शक्ति ( कः प्र अयच्छत् ) कौन प्रदान करता है ? ( अस्य ) इस शरीर के ( जवम् ) वेग या क्रिया सामर्थ्य को ( कः अकल्पयत् ) कौन रचता है ।

केनापो अन्वतनुत केनाहरकरोद् रुचे ।
उषसं केनान्वैन्द्ध केन सायंभवं ददे ॥ १६ ॥

---

१४–( द्वि० तृ० ) 'एकोऽधि पौरुषे । को अनृतं को मृत्युम् को अमृतं दधौ' इति पैप्प० सं० ।

१५–( प्र० ) 'को वाससा पर्यदधात्' ( च० ) 'कोऽस्या' इति पैप्प० सं० ।

१६–( प्र० ) 'केना पोऽन्व' इति पैप्प० सं० ।

भा०—( आपः ) ये जल ( केन ) किस के सामर्थ्य से ( अनु अतनुत ) सर्वत्र फैले हैं ( केन ) किसने ( रुचे ) प्रकाश के लिये ( अहः ) सूर्य को ( अकरोत् ) बनाया । ( केन ) किसने ( उपसम् ) उषा काल को ( अनु-ऐन्ध ) पुरुष के अनुकूल प्रकाशित किया और ( केन ) किसने ( सायं-भवम् ) सायंकाल को बनाया ।

को अस्मिन् रेतो न्य/दधात् तन्तुरा तायतामिति ।
मेधां को अस्मिन्नध्यौहत् को बाणं को नृतो दधौ ॥ १७ ॥

भा०—( अस्मिन् ) इस पुरुष-देह में ( रेतः ) वीर्य को ( कः न्यदधात् ) कौन स्थापित करता है कि ( तन्तुः, आ तायताम् इति ) जिससे इस पुरुष का प्रजातन्तु और फैले ? ( अस्मिन् ) इस पुरुष में ( मेधां ) मेधा बुद्धि को ( कः ) कौन ( अधि औहत् ) धारण करता है ? ( बाणं कः ) कौन इसमें वाणी या वाक्-शक्ति को धारण करता और ( नृतः कः ) नृत्य या हाथ पैर आदि को अपने इच्छानुरूप चेष्टाओं को कौन धारण करता है ?

केनेमां भूमिमौर्णोत् केन पर्यभवद् दिवम् ।
केनाभि मह्ना पर्वतान् केन कर्माणि पूरुषः ॥ १८ ॥

भा०—पुरुष ने ( इमाम् भूमिम् ) इस भूमि को ( केन ) किस ( मह्ना ) सामर्थ्य से ( और्णोत् ) आच्छादित किया है । ( केन ) किस सामर्थ्य से ( दिवम् ) द्यौलोक को ( परि अभवत् ) व्याप रखा है । ( पर्वतान् ) पर्वतों को ( केन ) किस ( मह्ना ) महत्व, सामर्थ्य से धारण किया है और ( केन ) किस सामर्थ्य से ( पूरुषः ) पुरुष ( कर्माणि ) कर्मों को करता है ।

---

१७–' कोऽस्मिन् रेतोदधात् ' ( द्वि० ) ' तायतामितः ' ( च० ) ' को वाणं को अनृतं दधौ ' इति पैप्प० सं० ।

केन पर्जन्यमन्वेति केन सोमं विचक्षणम् ।
केन यज्ञं च श्रद्धां च केनास्मिन् निहितं मनः ॥ १९ ॥

भा०—पुरुष ( केन ) किस प्रकार से ( पर्जन्यम् ) मेघको ( अनु एति ) अपने जीवन के कार्यों में सुसंगत करता या प्राप्त करता है और ( विचक्षणम् ) नाना प्रकार से देखने योग्य ( सोम ) अन्न या अन्न को ( केन ) किस प्रकार से ( अन्वेति ) प्राप्त करता है ( केन यज्ञं च श्रद्धां च ) यज्ञ और श्रद्धा को किस प्रकार प्राप्त करता है ? और ( अस्मिन् ) इस पुरुष में ( केन ) किसने ( मनः ) मननशील चित्त को स्थापित किया है ।

केन श्रोत्रियमाप्नोति केनेमं परमेष्ठिनम् ।
केनेममग्निं पूरुषः केन संवत्सरं ममे ॥ २० ॥ ( ५ )

भा०—( श्रोत्रियम् ) वेद के विद्वान् श्रोत्रिय पुरुष को ( केन ) किस रीति से किस प्रयोजन से पुरुष ( आप्नोति ) प्राप्त करता है और ( इमम् ) इस ( परमेष्ठिनम् ) परम मोक्ष-स्थान पर विराजमान परमेश्वर को ( केन ) किस प्रकार, किस मार्ग से प्राप्त करता है । पुरुष ( इमम् ) इस ( अग्निम् ) जीवरूप अग्नि को ( केन ) किससे ज्ञान करता है और ( संवत्सरं ) संवत्सर रूप कालमय प्रजापति का ( केन ) किस प्रकार से ( ममे ) ज्ञान करता है या उसको मापता है ।

ब्रह्म श्रोत्रियमाप्नोति ब्रह्मेमं परमेष्ठिनम् ।
ब्रह्मेममग्निं पूरुषो ब्रह्म संवत्सरं ममे ॥ २१ ॥

---

१९—‘केन पर्जन्यमाप्नोति’ इति पैप्प० सं० ।

२०—( तृ० ) ‘पुरुषः’ इति पैप्प० सं० ।

२१—( तृ० च० ) ‘ब्रह्मायस्य श्रद्धा ब्रह्मास्मि च इतं मनः’ इति पैप्प० सं०

भा०—( पूरुषः ) पुरुष ( ब्रह्म ) ब्रह्म, वेदज्ञान के लिये ( श्रोत्रियम् आप्नोति ) श्रुति=वेदज्ञानी ब्रह्म के विद्वान् ब्राह्मण के पास जाता है। और ( ब्रह्म ) ब्रह्म-ज्ञान से वह ( परमेष्ठिनम् ) परमपद में स्थित ब्रह्म को प्राप्त होता है। ( ब्रह्म ) ब्रह्म, ब्रह्मज्ञान और वेदाभ्यास से ( इमम् अग्निम् ) इस अग्नि को, इस जीवात्मा को भी प्राप्त करता, साक्षात् करता है ( ब्रह्म संवत्सरं ममे ) और ब्रह्म से ही उस कालमय संवत्सर का ज्ञान करता है।

केन॑ दे॒वाँ अनु॑ क्षियति॒ केन॒ दैव॑जनी॒र्विशः॑ ।
केने॒दम॒न्यन्नक्ष॑त्रं॒ केन॒ सत् क्ष॒त्रमु॑च्यते ॥ २२ ॥

भा०—( देवान् ) देवों, विद्वानों और परमात्मा के रचे दिव्य पदार्थों को ( केन ) किस सामर्थ्य से ( अनु क्षियति ) अपने वश करता है, उनको अपने अनुकूल करता है ? ( देवजनीः विशः ) देव=परमात्मा से उत्पादित पशु पक्षी कीटपतङ्ग आदि प्रजाओं को ( केन ) किस सामर्थ्य से ( अनु-क्षियति ) अपने अनुकूल बना कर उनके साथ रहता है ? अथवा ( देवान् ) प्राणों को और ( देवजनीः विशः ) प्राण से उत्पन्न उप-प्राणों के साथ यह पुरुष=आत्मा ( केन ) किस सामर्थ्य से ( अनुक्षियति ) एक ही देह में रहता है ? ( केन अन्यत् ) किससे विरहित होकर ( इदम् ) यह ( नक्षत्रम् ) नक्षत्र वीर्य हीन है, और ( केन सत् ) किसके साथ विद्यमान रह कर यह ( क्षत्रम् ) क्षत्र=बलस्वरूप चेतन ( उच्यते ) कहा जाता है।

ब्रह्म॑ दे॒वाँ अनु॑ क्षियति॒ ब्रह्म॒ दैव॑जनी॒र्विशः॑ ।
ब्रह्मे॒दम॒न्यन्नक्ष॑त्रं॒ ब्रह्म॒ सत् क्ष॒त्रमु॑च्यते ॥ २३ ॥

भा०—( ब्रह्म देवान् अनुक्षियति ) ब्रह्मशक्ति से यह पुरुष ( देवान् ) विद्वानों के बीच में या इन्द्रियों और वाणी के बीच में आत्मा ( अनुक्षि-

२२–' केन देवीरजनयद् विशः ' इति पैप्प० सं०।

पति ) निवास करता है। ( ब्रह्म ) ब्रह्मशक्ति से ही ( देवजनीः ) ईश्वर से उत्पादित चर, अचर प्रजाओं में या उप प्राणों में भी यह पुरुष, आत्मा निवास करता है ( ब्रह्म अन्यत् ) ब्रह्मशक्ति से अतिरिक्त ( इदम् ) यह सब ( नक्षत्रम् ) 'नक्षत्र'=निवास है और ( ब्रह्म सत् ) ब्रह्म-शक्ति से युक्त ही यह सब ( क्षत्रम् उच्यते ) क्षत्र=बलयुक्त चेतन कहा जाता है।

केनेयं भूमिर्विहिता केन द्यौरुत्तरा हिता।
केनेदमूर्ध्वं तिर्यक् चान्तरिक्षं व्यचो हितम् ॥ २४ ॥

भा०—( इयं भूमि ) यह भूमि ( केन ) किसने ( विहिता ) विशेष रूप से स्थिर की, धारण की या बनाई है? और ( केन ) किसने ( उत्तरा द्यौः ) ऊपर का यह आकाश ( हिता ) धारण किया, थामा या बनाया? और ( इदम् ) यह ( ऊर्ध्वं तिर्यक् च ) ऊपर का और तिरछा ( व्यच ) व्यापक ( अन्तरिक्षम् ) अन्तरिक्ष, वातावरण ( हितम् ) धारण किया, थामा या बनाया है।

ब्रह्मणा भूमिर्विहिता ब्रह्म द्यौरुत्तरा हिता।
ब्रह्मेदमूर्ध्वं तिर्यक् चान्तरिक्षं व्यचो हितम् ॥ २५ ॥

भा०—( ब्रह्मणा ) उस महान् ब्रह्मशक्ति ने ( भूमि विहिता ) यह भूमि बनाई और विशेष रूप से धारण और स्थिर की। ( ब्रह्म ) उस महान् शक्ति ब्रह्म ने ( उत्तरा द्यौः ) ऊपर का आकाश भी ( हिता ) बनाया और स्थिर किया है। ( इदं ) यह ( ऊर्ध्वं तिर्यक् च व्यचः, अन्तरिक्षम् ) ऊपर का और तिरछा फैला हुआ अन्तरिक्ष, वातावरण भी उसी ( ब्रह्म हितम् ) महान् शक्ति ब्रह्म ने धारण किया, बनाया और स्थिर किया है।

२४—'केनेद भूमिर्निहिता' इति पैप्प० सं०।
२५ ( प्र० द्वि० ) 'ब्रह्मणा भूमिर्निहिता, ब्रह्मासुत्तरा दधी' इति पैप्प० सं०।

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत् ।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः ॥ २६ ॥

भा०—( अथर्वा ) अथर्वा=प्रजापति परमात्मा ( अस्य ) इस पुरुष के ( मूर्धानम् ) सिर को और ( हृदयं च ) हृदय को ( संसीव्य ) सीकर ( यत ) जब ( मस्तिष्काद् ) मस्तिष्क से ( ऊर्ध्वः ) ऊपर और ( शीर्षतः ) शिर के भी ऊपर होकर ( पवमानः ) प्राणस्वरूप होकर स्वयं समस्त देहों को ( प्रैरयत् ) गति दे रहा है । अर्थात् वह परमात्मा ही सब देहों में चेतना को यन्त्रों में कारीगर के समान चला रहा है । किसी का नियम सूत्र उसके हाथ से परे नहीं, वह सब के मस्तिष्क और सिरों के ऊपर अध्यक्षरूप से विद्यमान है ।

तद् वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः ।
तत् प्राणो अभि रक्षति शिरो अन्नमथो मनः ॥ २७ ॥

भा०—( वा ) अथवा ( अथर्वणः ) अथर्वा प्रजापति का बनाया हुआ ( तत् ) वह ( शिरः ) शिर ही ( देव-कोशः ) देव-कोश, देव=इन्द्रियों का मूल आवरण या निवासस्थान ( सम्-उब्जितः ) बना हुआ है । ( तत् ) उस ( शिरः ) शिर को ( प्राणः ) प्राण ( अभिरक्षति ) चारों ओर से रक्षा करता है । और ( अन्नम् अथो मनः ) अन्न और मन भी उसकी रक्षा करते हैं ।

ऊर्ध्वो नु सृष्टा३स्तिर्यङ्नु सृष्टा३ः सर्वा दिशः पुरुष आ बभूवाँ३ । ¹
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥ २८ ॥

भा०—( पुरुषः ) पुरुष ( नु ) क्या ( ऊर्ध्वः ) ऊपर ऊंचे खड़े हुए रूप में या मनुष्य से उच्च योनि में, ( सृष्टः ) उत्पन्न किया गया था या ( तिर्यङ् नु ) वह तिरछे या तिर्यग्-योनि में ( सृष्टः ) उत्पन्न किया गया

२६–( च० ) 'पवमानोऽधिशीर्षतः' इति पैप्प० सं० ।

२७–( तृ० ) 'प्राणोऽभिरक्षति श्रीम्' इति पैप्प० सं० ।

२८–१. 'विचार्यमाणानामिति टेः प्लुतः' ।

भा या ( सर्वा दिश ) सब दिशाओं में ( पुरुष ) पुरुष ( आ बभूव ) प्रकट हुआ था ? अर्थात् ऊर्ध्व=इस मनुष्यलोक से ऊपर वाई और इससे उच्च योनि म प्रथम पुरुष उत्पन्न हुआ था कि जिसमे ये सब मनुष्य पीछे उत्पन्न हुए या वह पुरुष प्रथम तिर्यक् योनि में उत्पन्न हुआ था और या सभी दिशाओं म अर्थात् सभी योनियों मे वह पुरुष आत्मा प्रकट हुआ यह वितर्क उठा करता है ? अथवा—वह पुरुष (उर्ध्वा) उपर ही द्यौलोक में प्रकट हुआ था, तिर्यङ्=अन्तरिक्ष लोक में प्रकट हुआ था सभी दिशाओं में उसकी सत्ता रही यह सदा वितर्क उठता है । इसकी विवेचना उचित रीति से करनी चाहिये ।

( य ) जा विद्वान् ( ब्रह्मण ) ब्रह्म को ( पुर ) उस पुर् को जिसके भीतर रहने से वह आत्मा ( पुरुष ) पुरुष ( उच्यते ) कहा जाता है—जानता है वही इस तर्क का समाधान कर सकता है ।

यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम् ।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः ॥ २९ ॥

भा०— ( य ) जो ( वै ) निश्चय से ( ब्रह्मण ) ब्रह्म की ( अमृतेन ) अमृत=परमानन्द रस से या अनन्त जीवन से ( आवृता ) घिरी, परिपूर्ण ( ताम् ) उस ( पुरम् ) पुरी को ( वेद ) जान लेता है ( तस्मै ) उसको ( ब्रह्म च ) वह परमात्मा रूप महान् शक्ति और (ब्राह्माश्च, उस ब्रह्मरूप महान् शक्ति के उपासक या उसके उत्पन्न किये लोक ही ( चक्षु ) देखने के लिये इन्द्रियां ( प्राणम् ) जीवन और ( प्रजाम् ) सन्तान को (ददु ) प्रदान करते हैं ।

न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा ।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥ ३० ॥

२९–( द्वि० ) 'आवृता पुरीम्' ( च० ) 'आयुः कीर्त्तिं प्रजां ददुः' इति तै० आ० । 'आयुः प्राणं' इति पैप्प० सं० ।

३०–(द्वि०) 'जरसः पुरः' (च०) 'यस्मात् पुरुष उच्यते' इति पैप्प० सं० ।

भा०—( यः ) जो ( ब्रह्मणः पुरं वेद ) ब्रह्म की उस पुरी को जानता है ( यस्याः ) जिसका अध्यक्ष साक्षात् ( पुरुष उच्यते ) पुरुष कहा जाता है। ( तम् ) उसको ( चक्षुः ) चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियगण (न जहाति) नहीं छोड़ते ( न प्राणः ) और न प्राण ही ( जरसः पुरा ) बुढ़ापे के पूर्व त्यागता है।

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥ ३१ ॥

भा०—( अष्टा-चक्रा ) आठ चक्रों और ( नव-द्वारा ) नवद्वारों से युक्त ( देवानाम् ) देव-इन्द्रिय-गणों की ( अयोध्या ) किसी से युद्ध द्वारा विजय न किये जाने वाली ( पूः ) पुरी है। ( तस्यां ) उसमें ( हिरण्ययः ) तेजःस्वरूप ( कोशः ) प्राणों का एकमात्र आश्रय उनका परम निधि ( स्वर्गः ) सुखस्वरूप ( ज्योतिषा ) परम तेज से ( आवृतः ) ढका हुआ है।

तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः ॥ ३२ ॥

भा० - ( तस्मिन् ) उस ( हिरण्यये ) तेजोमय ( त्रि-अरे ) तीन अरों वाले और ( त्रि-प्रतिष्ठिते ) तीन चरणों या आश्रयों पर स्थित ( कोशे ) परम निधानरूप कोश में ( यत् यक्षम् ) जो परम पूजनीय तत्व ( आत्मन्-वत् ) आत्मस्वरूप है ( तत् वै ) उसका ही निश्चय से ( ब्रह्मविदः ) ब्रह्मज्ञानी लोग ( विदुः ) ज्ञान किया करते हैं।

प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम्।
पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम् ॥ ३३ ॥

३१-' हिरण्मयः स्वर्गः कोशो ' इति तै० आ०।

३२-( द्वि० ) 'त्रिदिवे' (तृ०) 'तस्मिन् यदन्तरात्म

३३-( तृ० ) ' हिरण्मयी ' इति तै० आ०, पैप्प० ' ... च प्रजापतिः ' इति पैप्प० सं०।

भा०—( प्र भ्राजमानाम् ) अतिशय तेज से प्रकाशमान ( हरिणीम् ) कान्ति मनोहारिणी ( यशसा ) यशो रूप तेज से ( सं परीवृताम् ) चारों तरफ से घिरी हुई ( हिरण्ययीम् ) अति तेजस्विनी ( अपराजिताम् ) किसी से भी न जीती गई उस ब्रह्मपुरी में ( ब्रह्मा ) ब्रह्म का उपासक ज्ञानी पुरुष ( विवेश ) प्रवेश करता है ।

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

[ तत्र द्वे सूक्ते, पञ्चषष्टिश्च ऋच ]

## [ ३ ] वीर राजा और सेनापति का वर्णन ।

अथर्वा ऋषि । वरणो, वनस्पतिश्चन्द्रमाश्च देवता: । १, ३, ६ भुरिक् त्रिष्टुभः, ८ पथ्यापंक्ति, ११, १६ भुरिजौ । १३, १४ पथ्यापत्ती, १४-१७ २१ पथ्या त्रिष्टुभ , २, ४, ५, ७, ९, १०, १२, १३, १५ अनुष्टुभ । पञ्चविंशर्चं सूक्तम् ॥

अयं मे वरणो मणिः सपत्नक्षयणो वृषा ।
तेना रभस्व त्वं शत्रून् प्र मृणीहि दुरस्यतः ॥ १ ॥

भा०—( अयम् ) यह ( वरणः ) सब से वरण करने या मुख्य रूप ...ोग्य श्रेष्ठतम हम में से राज्यतिलक द्वारा अभिषेक करने शत्रु का वारण करने हारा पुरुष ही ( मणि ) शिरोमणि नेता होता है । वह स्वयं ( वृषा ) सब सुखों का वर्षक, उठाने योग्य वृषभ के समान राज्य भार को उठानेमें समर्थ, के तुल्य सुखों का वर्षक ( सपत्न क्षयणः ) शत्रुओं का ...ते ! ( तेन ) ऐसे पुरुष के बल पर ( त्वं ) तू ( शत्रून् )

शक्ति के उपा...
इन्द्रियां ( प्राण...
न यं तं च...
पुरं यो ब्रह्म...

२९-( द्वि० )
तै० आ० ।

३०-(द्वि०) 'त्रस्य पुत्र पैप० म० ।

शत्रुओं को ( रभस्व ) विनाश कर या पकड़ और ( दुरस्यतः ) दुष्ट कामना करने वालों को ( प्र मृणीहि ) विनाश कर ।

प्रैणान्छृणीहि प्र मृणा रभस्व मणिस्ते अस्तु पुरएता पुरस्तात् ।
अवारयन्त वरणेन देवा अभ्याचारमसुराणां श्वःश्वः ॥ २ ॥

भा०—हे राजन् ! ( एनान् ) इन शत्रुओं को ( प्र शृणीहि ) मार ( प्र मृणा ) विनाश कर, ( रभस्व ) पकड़ ले । वही शत्रुओं का निवारण करने में समर्थ सेनापति ( पुरस्तात् ) आगे ही आगे ( पुरः एता ) अपनी सेना के आगे प्रमुख रूप से चलने वाला ( अस्तु ) हो । ( देवाः ) देव, विद्वान् लोग ( वरणेन ) शत्रु के वारण करने में समर्थ पुरुष से ही ( असुराणाम् ) असुरों के ( श्वः श्वः ) निरन्तर होने वाले, नये से नये ( अभ्याचारम् ) आक्रमण को ( अवारयन्त ) वारण कर देते हैं ।

अयं मणिर्वरणो विश्वभेषजः सहस्राक्षो हरितो हिरण्ययः ।
स ते शत्रूनधरान् पादयाति पूर्वस्तान् दभ्नुहि ये त्वा द्विषन्ति ॥३॥

भा०—( अयम् ) यह ( वरणः ) शत्रुओं का निवारण करने वाला ( मणिः ) नर-शिरोमणि पुरुष ही ( विश्व-भेषजः ) समस्त दुःखों को शान्त करने हारे औषध के समान है, वह ( सहस्राक्षः ) चर या गुप्त दूतों और राजसभा के सभासदों की आंखों और शास्त्र-चक्षुओं द्वारा मानो सूर्य में आंखों से युक्त होकर साक्षात् सहस्राक्ष इन्द्र के समान है । ( हरितः ) मनोहर आश्रय वृक्ष के समान श्यामल या सूर्य के समान [illegible] ( मे ) शान्तिप्रद है और वही ( हिरण्ययः ) बड़ा धन-ऐश्वर्यसम्पन्न [illegible] ) प्रदान वह ( ते ) तेरे ( शत्रून् ) शत्रुओं को ( अधरान् ) नीचे [illegible] देता है । हे वरण ! शत्रुनिवारक ! तू ( पूर्वः ) सब [illegible] [ त्व ] जो

३–( द्वि० ) 'हिरण्मयः' ( तृ० ) 'यस्ते

( तान् ) उनको ( दभ्नुहि ) विनाश कर डाल ( ये ) जो ( त्वा ) तुझे ( द्विषन्ति ) द्वेष करते हैं।

अयं ते कृत्यां विततां पौरुषेयादयं भयात्।
अयं त्वा सर्वस्मात् पापाद् वरणो वारयिष्यते ॥ ४ ॥

भा०—( अय वरण ) यह शत्रु निवारण करने में समर्थ शूर-वीर सेनापति ( विततास् ) विस्तृत, दूर तक फैली ( कृत्याम् ) घातक सेना को भी ( वारयिष्यते ) परे हटा देने में समर्थ है। और ( अयम् ) यह सेनापति ( पौरुषेयात् भयात् ) पुरुषों से होने वाले भय से बचाने में समर्थ है। और ( अयं त्वा सर्वस्मात् पापात् ) यह तुझ पर होने वाले सब प्रकार के अत्याचार से तुझ को ( वारयिष्यते ) बचाने में समर्थ है।

वरणो वारयाता अयं देवो वनस्पतिः।
यक्ष्मो यो अस्मिन्नाविष्टस्तमु देवा अवीवरन् ॥ ५ ॥

अथर्व० ६ । ८५ । १ ॥

भा०—( अयं ) यह ( वरण ) शत्रु को वारण करने में समर्थ पुरुष ( देव ) दिव्य गुणवान्, कान्तिमान्, तेजस्वी, राजा साक्षात् ( वनस्पति. ) समान आश्रय है। अर्थात् जिस प्रकार घना वृक्ष अपने शरण शक्ति के उपको छाया देता और उसको सूर्य के ताप से बचाता और फल इन्द्रियो ( प्राण है ऐसे ही वह भी अपने आश्रितों को शत्रु के तीव्र प्रहारों न वै तं अपने उत्तम ऐश्वर्यों से आश्रितों को पुष्ट करता है। ( य. पुरं यो ब्रह्मनिर ( यक्ष्म· ) पूजा सत्कार के योग्य महान् आत्मा है। ( देवा. ) देव विद्वान् लोग ( तम् उ ) उसका श्रेष्ठ

२९–( द्वि० ) सं० आ० । ) 'पौरुषेयमव वधम् । अय ते सर्वं पापानम्' इति
३०–(द्वि०) 'त्रस्म·' ।

रूप में वरण करते और राज्यसिंहासन पर अभिषेक करते हैं या उसकी शरण लेते उसको आश्रय वृक्ष के समान घेरे रहते हैं।

स्वप्नं सुप्त्वा यदि पश्यासि पापं मृगः सृतिं यति धावाद्जुष्टाम्।
परिक्षवाच्छकुनेः पापवादाद्यं मणिर्वरणो वारयिष्यते ॥ ६ ॥

भा०—हे राजन्! (यदि) यदि (सुप्त्वा) सोकर तू (पापम्) पाप युक्त, अत्याचार और अन्यायपूर्ण अपने पर होने वाले भयङ्कर वध आदि के (स्वप्नं) स्वप्नमय दृश्य को (पश्यासि) देखे और (यति) यदि (मृगः) कोई वनैला जन्तु (अजुष्टाम्) अप्रिय, अनभिलषित (सृतिम्) मार्ग में (धावात्) आ धमके। और (परिक्षवात्[1]) निन्दाजनक लोकवाद से, और (शकुनेः) प्रबल (पापवादात्) पापमय निन्दावाद से (वरणः) शत्रु से वारण करने में समर्थ (मणिः) यह शिरोमणि राजा (वारयिष्यते) प्रजा की और तेरी रक्षा करेगा। राजा का रक्षकवर्ग राजा को सुख से सोने देते हैं, उसकी रक्षा में राजा रात को शत्रु के भय के अत्याचार मय स्वप्न नहीं देखता और प्रजा भी निश्चिन्त सोती है। उसकी रक्षा में वन के पशु नहीं सताते, व्यर्थ लोकापवाद नहीं उठते, प्रत्युत रक्षा के प्रबन्ध से उसका यश होता है और प्रबल पापमय निन्दा भी नहीं उठती।

अरात्यास्त्वा निर्ऋत्या अभिचारादथो भयात्।
मृत्योरोजीयसो वधाद् वरणो वारयिष्यते ॥ ७ ॥

भा०—(अरात्याः) सुख न देने वाली, शत्रु की (निर्ऋत्याः) (भू मि में) (ऐसा) [illegible] सेना के (अभिचारात्) आक्रमण से और उसके [illegible] प्रदान

६–(प्र०) 'सुप्त्वा यति' (द्वि०) 'मृगश्रुतं यदि'। 'परिक्षवा' (च०) 'वारयात' इति पैप्प० संहिता [ ] भी

१. क्षु शब्दे अदादिः। परिक्षनः परिवादः।

७–(च०) 'त्वं वरणो वारय' इति पैप्प०

( ओजीयसः ) बड़े प्रबल ( मृत्योः ) मृत्यु के भय और ( वधात् ) प्राण-नाश, शस्त्रवध से भी ( वरणः ) यह 'वरण' नाम रक्षकवर्ग राजा प्रजा को ( वारयिष्यते ) आपत्तियों से बचा लेने में समर्थ होता है।

यन्मे माता यन्मे पिता भ्रातरो यच्च मे स्वा यदेनश्चकृमा वयम् ।
ततो नो वारयिष्यतेयं देवो वनस्पतिः ॥ ८ ॥

भा०—( यत् एनः ) जो पाप ( मे माता ) मेरी माता और ( यत् एनः ) जो पाप मेरा पिता और ( यत् च ) जो पाप ( मे ) मेरे (भ्रातरः) भाई लोग और ( यत् एनः ) जो पाप मेरे ( स्वाः ) अपने बन्धु जन और ( वयम् ) हम ( चकृम ) करते हैं ( ततः ) उन सब पापों से ( अयम् ) यह ( वनस्पतिः ) बड़े वृक्ष के समान शरण योग्य प्रजापालक ( देवः ) देव, राजा ( वारयिष्यते ) रक्षा करेगा। राजा प्रजा के भीतरी सम्बन्धों में होने वाले अत्याचारों से भी प्रजा की रक्षा राजा ही करे।

वरणेन प्रव्यथिता भ्रातृव्या मे सबन्धवः ।
असूर्तं रजो अप्यगुस्ते यन्त्वधमं तमः ॥ ९ ॥

भा०—( मे ) मेरे ( स बन्धव ) बन्धुजनों के साथ षड्यन्त्र रचने
...मेरे ( भ्रातृव्याः ) शत्रु लोग ( वरणेन ) इस रक्षक वर्ग से ( प्रव्य-
...थित होकर जो ( असूर्त्त ) प्रकाशहीन ( रजः ) राजस-भाव=
शक्ति के उप... (अपि अगुः ) प्राप्त होते हैं ( ते ) वे ( अधमं ) अधम ( तमः )
इन्द्रियाँ ( प्राण... ( यन्तु ) प्राप्त हों ।

न वै तं च...रायुष्मान्त्सर्वपूरुषः ।
पुरं यो ब्रह्म...णि परि पातु दिशोदिशः ॥ १० ॥ ( ७ )

२९-( द्वि० ) तृ० आ० । 'स्नात्रो' ( प्र० ) 'इद देववृहस्पतिः' इति पैप्प० सं० ।
१०-(द्वि०) 'त्वम. ...' पैप्प० सं० ।

भा०—( अहम् ) मैं ( अरिष्टः ) अहिंसित, सुरक्षित और ( अरिष्ट-गुः ) सुरक्षित पशुओं या इन्द्रियों सहित रहूं और ( सर्व-पूरुषः ) मैं अपने समस्त पुरुषों नौकर चाकरों सहित ( आयुष्मान् ) दीर्घायु रहूं। ( तं मा ) उस मुझको ( अयं वरणः मणिः ) यह वरण, रक्षकवर्ग शिरोमणि ( दिशः दिशः ) समस्त दिशाओं में ( परि पातु ) रक्षा करे।

अयं मे वरण उरसि राजा देवो वनस्पतिः ।
स मे शत्रून् वि बाधतामिन्द्रो दस्यूनिवासुरान् ॥ ११ ॥

भा०—( इन्द्रः ) इन्द्र आत्मा ( दस्यून् ) आत्मज्ञान का नाश करने वाले ( असुरान् ) प्राणों में रमणकारी विषय भोगों को ( इव ) जिस प्रकार पीड़ित करता है उसी प्रकार ( अयं वरणः ) यह विद्वानों से वरने और शत्रुओं को वारण करने में समर्थ ( देवः ) प्रकाशमान्, कान्तिमान ( वनस्पतिः ) आश्रय-वृक्ष के समान सब का पालक ( राजा ) राजा मेरे ( उरसि ) छाती या हृदय में विराजे। ( सः ) वह ( मे ) मेरे ( शत्रून् ) शत्रुओं को ( वि बाधताम् ) विशेष रूप से या विविध उपायों से [illegible] करे, दमन करे।

इमं बिभर्मि वरणमायुष्मान् छतशारदः । [illegible]
स मे राष्ट्रं च क्षत्रं च पशूनोजश्च मे दधत् [illegible]

भा०– (इमम्) इस ( वरणम् ) शत्रु वारण [illegible] ( [illegible] ) में भृति द्वारा पोषण करूं और ( आयुष्मान् शत-[illegible] च ) [illegible] ( मे ) की आयु वाला होऊं। ( सः ) वह ( मे ) मेरे ( ओज, [illegible] ) [illegible] को, क्षत्र-बल को ( पशून् ) पशुओं को ( [illegible] प्रभाव को ( मे दधत् ) मेरे में धारण करा[illegible]

[illegible] १० सं० ।
[illegible] [ [illegible] ] [illegible]

११–( प्र० ) 'वक्षोरसि' इति पै०

यथा वातो वनस्पतीन् वृक्षान् भनक्त्योजसा ।
एवा सपत्नान् मे भङ्ग्धि पूर्वान् जाताँ उतापरान् ।
वरुणस्त्वाभि रक्षतु ॥ १३ ॥

भा०—( यथा ) जिस प्रकार ( वातः ) प्रबल वायु ( वनस्पतीन् ) वन के पालक रूप बड़े २ ( वृक्षान् ) वृक्षों को ( ओजसा ) अपने बल से ( भनक्ति ) तोड़ डालता है ( एवा ) उसी प्रकार ( मे ) मेरे ( पूर्वान् ) पूर्व के उत्पन्न ( उत ) और ( अपरान् ) बाद के ( जातान् ) उत्पन्न ( सपत्नान् ) शत्रुओं को ( भङ्ग्धि ) तोड़ डाल, नाश कर । हे राजन् ! ( वरुणः ) ऐसा शत्रु वारण-समर्थ पुरुष ( त्वा ) तेरी ( अभि रक्षतु ) रक्षा करे ।

यथा वातश्चाग्निश्च वृक्षान् प्सातो वनस्पतीन् ।
एवा सपत्नान् मे प्साहि पूर्वान्० ॥ १४ ॥

भा०—( यथा ) जिस प्रकार ( वातेन ) प्रबल वायु से ( प्रक्षीणाः ) उखाड़े और ( नि अर्पिताः ) नीचे गिराये वृक्ष भूमि पर लोट जाते हैं ( एवा ) उसी प्रकार ( त्वं ) तू ' वरण ' ( मे सपत्नान् प्रक्षिणीहि ) मेरे शत्रुओं का विनाश कर और ( नि अर्पय ) नीचे गिरा ( पूर्वान् जातान्० इत्यादि ) पूर्ववत् ।

तांस्त्वं प्र च्छिन्द्धि वरण पुरा दिष्टात् पुरायुषः ।
य एनं पशुषु दिप्सन्ति ये चास्य राष्ट्रदिप्सवः ॥ १६ ॥

भा०—( ये ) जो लोग ( एनम् ) इस राजा के ( पशुषु ) पशुओं पर ( दिप्सन्ति ) घात लगाये हैं और ( ये च ) जो ( अस्य ) इस राजा के ( राष्ट्र-दिप्सवः ) राष्ट्र , जनपद पर घात लगाये हैं उनको मारकर हड़प लेना चाहते हैं हे ( वरण ) शत्रुवारक ! ( तान् ) उनको ( त्वं ) तू ( दिष्टात् पुरा ) निर्दिष्ट, भाग्य से लिखे समय से पूर्व या ( आयुषः ) उन की पूर्ण आयु होने के पूर्व ही ( प्रच्छिन्धि ) विनाश कर ।

यथा सूर्यो अतिभाति यथास्मिन् तेज आहितम् ।
एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु,
तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा ॥ १७ ॥

करे । ( तेजसा ) तेज से ( मा ) मुझे ( सम् उक्षतु ) पूर्ण करे । अर्थात् शत्रुरक्षक पुरुषों के बल पर मैं सूर्य के समान कान्तिमान् , समृद्धिमान् , यशस्वी, तेजस्वी राजा हो जाऊं ।

यथा यशश्चन्द्रमस्यादित्ये च नृचक्षसि । एवा म० ॥ १८ ॥

भा०—( यथा ) जिस प्रकार ( चन्द्रमसि ) चन्द्रमा में और ( नृचक्षसि ) समस्त मनुष्यों के देखने वाले या सब के दर्शनीय ( आदित्ये च ) आदित्य में ( यशः ) यश कीर्त्ति है । ( एवा मे वरणो मणि० ) इत्यादि । इसी प्रकार शत्रु वारक शिरोमणि पुरुष भी मुझे कीर्त्ति और भूति प्रदान करे, वह मुझे तेज और यश से युक्त अर्थात् तेजस्वी और यशस्वी करे ।

यथा यशः पृथिव्यां यथास्मिन् जातवेदसि । एवा० ॥ १९ ॥

भा०—( यथा ) जिस प्रकार ( पृथिव्यां ) पृथिवी में और ( अस्मिन् जातवेदसि ) इस जातवेदा अग्नि में ( यशः ) यश=कीर्त्ति है ( एवा मे वरणो मणि० इत्यादि ) पूर्ववत् ।

यथा यशः कन्यायां यथास्मिन्त्संभृते रथे । एवा० ॥ २० ॥ ( ८ )

भा०—( यथा ) जिस प्रकार का ( कन्यायां ) शुद्धचरित्रा कन्या में और ( यथा ) जिस प्रकार का ( अस्मिन् ) इस ( संभृते ) युद्ध के लिये युद्ध-सामग्री से सुसज्जित ( रथे ) रथ में ( यशः ) यश है (एवा मे वरण० इत्यादि ) पूर्ववत् ।

यथा यशः सोमपीथे मधुपर्के यथा यशः । एवा० ॥ २१ ॥

भा०—( यथा ) जिस प्रकार का ( सोमपीथे ) सोमपान करने में ( यशः ) यश है और ( यथा ) जिस प्रकार का ( मधुपर्के ) मधुपर्क प्राप्त करने में ( यशः ) यश है ( एवा मे वरण० इत्यादि ) पूर्ववत् ।

---

१८–( प० ) ' समनक्तु माम् ' इति पैप्प० सं० ।

यथा यशोऽग्निहोत्रे वषट्कारे यथा यशः । एवा० ॥ २२ ॥

भा०—( यथा ) जिस प्रकार का ( अग्निहोत्रे ) अग्निहोत्र में ( यशः ) यश है और ( यथा ) जिस प्रकार का ( वषट्कारे ) यज्ञ के करने में ( यशः ) यश है ( एवा मे वरणः० इत्यादि , पूर्ववत् ।

यथा यशो यजमाने यथास्मिन् यज्ञ आहितम् । एवा० ॥ २३ ॥

भा०—( यथा ) जिस प्रकार का ( यजमाने ) यजमान, यज्ञ करने वाले पुरुष में और ( यथा ) जिस प्रकार का यश ( अस्मिन् यज्ञे ) इस यज्ञ में ( आ-हितम् ) रखा है । ( एवा मे वरणः० इत्यादि ) पूर्ववत् ।

यथा यशः प्रजापतौ यथास्मिन् परमेष्ठिनि । एवा० ॥ २४ ॥

भा०—( यथा प्रजापतौ यशः ) जैसा प्रजापति में यश है और ( यथा ) जैसा ( अस्मिन् परमेष्ठिनि ) इस परमेष्ठी, ब्रह्मा या सर्वोच्च पद पर स्थित परमेश्वर और राजा होने में यश है । ( एवा मे वरणः० ) इत्यादि पूर्ववत् ।

यथा देवेष्वमृतं यथैषु सत्यमाहितम् ।
एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु
तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा ॥ २५ ॥ ( ६ )

भा०—( यथा ) जिस प्रकार ( देवेषु ) देव दिव्य पदार्थ, अग्नि, जल, वायु, पृथ्वी और आकाश आदि ईश्वर के बनाये पदार्थों में ( अमृतम् ) जीवन-प्रद सामर्थ्य और उनमें रहने वाला नित्य विशेष गुण और विद्वानों में परम ब्रह्मज्ञान रहता है और ( यथा ) जिस प्रकार ( एषु ) इन 'देव' विद्वान्, ब्रह्मज्ञ पुरुषों में ( सत्यम् ) सत्य ( आ-हितम् ) स्थिर है । ( एवा मे वरणः मणिः० इत्यादि ) उस प्रकार का यश कीर्त्ति और सम्पत्ति यह शत्रुवारक पुरुष मुझे प्राप्त करावे । और वह मुझे तेजस्वी और यशस्वी करे ।

---

२४-' यथास्मिन् जातवेदसि ' इति पैप्प० सं० ।

## [ ४ ] सर्प विज्ञान और चिकित्सा ।

अथर्वा ऋषि । गरुत्मान् तक्षको देवता । २ त्रिपदा यवमध्या गायत्री, ३, ४ पथ्या बृहत्यौ, ८ उष्णिग्गर्भा परा त्रिष्टुप्, १२ भुरिक् गायत्री, १६ त्रिपदा प्रतिष्ठा गायत्री, २१ ककुम्मती, २३ त्रिष्टुप्, २६ बृहती गर्भा ककुम्मती भुरिक् त्रिष्टुप्, १, ५-७, ९, ११, १३-१५, १७-२०, २२, २४, २५ अनुष्टुभ । षड्विंशर्चं सूक्तम् ॥

**इन्द्रस्य प्रथमो रथो देवानामपरो रथो वरुणस्य तृतीय इत् ।**
**अहीनामपमा रथं स्थाणुमारदथार्षत् ॥ १ ॥**

भा०—( इन्द्रस्य ) इन्द्र-आत्मा का ( प्रथमः ) सब से उत्कृष्ट ( रथः ) रथ-रस या वीर्य है और ( देवानाम् ) देवों विद्वानों या देवों=शरीरगत इन्द्रियों का ( रथ ) रथ-रस या वीर्य ( अपरः ) उससे उतर कर दूसरे नम्बर पर है । ( वरुणस्य ) वरुण=प्राण, व्यान अग्नि का ( रथः ) रस या वीर्य, ( तृतीयः ) तीसरे दर्जे का ( इत् ) है । ( अहीनाम् ) सर्पों या मेघों का ( रथः ) रस या वीर्य ( अपमा=अवमाः ) सब से नीचे है जो ( स्थाणुम् ) वनस्पतियों में या शरीर में ( आरत् ) प्राप्त होता है ( अथ अर्षत् ) और जो तीव्र वेदना उत्पन्न करता या फैल जाता है ( अथ रिषत् ) और या जो प्राणघात करता है ।

'रथः' रथो रंहतेर्गतिकर्मणः, स्थिरतेर्वा स्याद्विपरीतस्य, रममाणोऽस्मिन् तिष्ठतीति वा रपतेर्वा रसतेर्वा । निरु० ९ । २ । १ ॥ तं वा एतं रसं सन्तं रथ इत्याचक्षते । गो० पू० २ । २१ ॥ वज्रो वै रथः । तै० १ । ३ । ६ । १ ॥ 'रथ' का अर्थ गमन साधन, स्थिरता का साधन-यत्न, रमण साधन=

---

[ ४ ] १ ( द्वि० ) 'अहीनामुपमा रथः' इति पैप्प० सं० । ( च० ) 'अथारिषत्' इति ह्विटनिकामितः पाठः । अथारत्, अथारिषत् इति च क्वचित् पाठः ।

ऐश्वर्य, व्यसन और और रस है। रस को ही रथ कहा जाता है। वज्र=वीर्य, रथ है। इन्द्र=आत्मा का सबसे अधिक बल है, उससे उतर कर देवों, ज्ञानेन्द्रियों का, उससे उतर कर प्राण, अपान, व्यान या अग्नि का और सब से कम अहि=सर्पों को। अधिक बलवान् अपने से कम बल वाले को दबा लेता है इस सिद्धान्त से सर्पों के रस=विष को दूर करने या उस पर विजय पाने के लिये उससे अधिक रस वाले पदार्थ का प्रयोग करना चाहिये। इसके अतिरिक्त रस वनस्पतियों में विद्यमान है। सर्प का सब से निकृष्ट श्रेणी का विष भी शरीर में प्रवेश करता और फैल जाता है।

दुर्भः शोचिस्तुरुणकमश्वस्य वारः परुषस्य वारः।
रथस्य बन्धुरम् ॥ २ ॥

भा०—विष के बांधने वाले पदार्थों का वर्णन करते हैं। (दर्भः) दाभ, कुशा नाम घास, (शोचिः) जलता चमकता हुआ आग का अंगारा, (तरूणकम्) तरुणक या कन्तृण (अश्वस्य वारः) 'अश्व' विशेष सरपत या कनेर के बाल या जल और (परुषस्य वारः) परुष नाम के सरपत के बाल या जल ये पदार्थ (रथस्य) रथ रस या सर्पों के विष के (बन्धुरम्) बांधने वाले पदार्थ हैं। ग्रीफिथ के मत में—सांप जिन घास, सरकण्डों में रहता है वही उसके रथ हैं। उनमें दर्भ सांपों की चमक है, उसके नये फूल सांपों के रथ के घोड़ों के बाल हैं और सरपत के बाल उनके रथ की बैठक है। यह असंगत बातें हैं।

दर्भ=कुश। शोचिः=अग्निः, सूर्य का ताप। 'अश्वस्य वारः'=अश्व के बाल, ये घोड़े के बाल नहीं प्रत्युत यह एक 'काश' या सरपत की जाति है जिस को राजनिघण्टु में 'अश्वाल' शब्द से कहा गया है। 'अन्योऽशिशिमिशि गुण्टा अश्वालो नीरजः शरः।' यह पानी में बहुत फैलता है, जिसकी चटाइयां भी बनती हैं। उसके पत्ते विशेष रूप से दाह-तृष्णा को शान्त करते हैं। अथवा—'अश्वस्य वार' करवीरकों का भी वाचक होना

सम्भव है । आयुर्वेद में उसे 'अश्वमार' 'हयमार' आदि कहा जाता है, वेद में उसे 'अश्व-वार' कहा गया है । वह तीव्र विषघ्न पदार्थ है । 'परुषस्य वारः'—परुष नामक छोटी दाभ की जाति है, इसको राज-निघण्टु 'सर' नाम से पुकारता है । यह पित्तोल्वण, दाह, विष आदि का नाशक है । अथवा परुष=पोरुओं वाला नड, नल है जो 'नलः स्यादधिको वीर्यः शस्यते रसकर्मणि" औरों से अधिक वीर्यवाला और रस-कर्म या विषचिकित्सा में अधिक उपयोगी है या फालसा='परूषक', तरूणक=तरुणक या तरुण=कत्तृण नामक ओषधि । यह "भूतग्रहविषघ्नं च व्रणक्षतविरोपणम्" भूतग्रह और विषका नाशक व्रण क्षतादि की रोपक ओषधि है । इन पदार्थों का प्रयोग आयुर्वेद, डाक्टरी विद्या से जानना चाहिये ।

अवं श्वेत पदा जहि पूर्वेण चापरेण च ।
उद्प्लुतमिव दार्वहीनामरसं विषं वारुग्रम् ॥ ३ ॥

भा०—हे ( श्वेत ) श्वेत करवीर अश्वखुरक नाम ओषधे ! ( वाः ) जल जिस प्रकार ( उद्प्लुतम् ) जलमें उतराती हुई ( दारु ) लकड़ी को ( अरसम् ) निर्बल और नीरस करके विनष्ट कर देता है उसी प्रकार ( पूर्वेण ) पूर्व के और ( अपरेण च ) अपर के ( पदा ) पाद, फूल और मूल से ( अहीनां ) सांपों के ( उग्रम् ) तीव्र ( विषम् ) विष को ( अरसम् ) निर्बल करके ( अव जहि ) विनाश कर ।

अरंघुषो निमज्योन्मज्य पुनरब्रवीत् ।
उद्प्लुतमिव दार्वहीनामरसं विषं वारुग्रम् ॥ ४ ॥

भा०—( अरं घुषः ) तूम्बा, (निमज्य) जल में डूब कर (पुनः उन्मज्य) फिर ऊपर उठकर ( अब्रवीत् ) बतलाता है कि मेरे प्रभाव से ( उद्प्लुतं दारु )

३-( च० ) 'वारिदुग्रम्' इति पैप्प० सं० ।
४-( प्र० ) 'उदन्योन्मज्योन्मज्य पुनः' इति पैप्प० सं० ।

पानी में डूबे हुए लकड़ी के टुकड़े को (वाः इव, जिस प्रकार जल ( अरसम्) निर्बल कर देता है उसी प्रकार ( अहीनाम् ) सांपों का ( उग्रम् ) उग्र, भयानक, तीव्र ( विषम् ) विष भी ( अरसम् ) रसहीन, निर्बल हो जाता है। कटु तुम्बी='कटुकालाम्बुनी' कहाती है । वह वमनकारिणी विषघ्नी है। उसका एक नाम 'इक्ष्वाकु' भी है। वेद में उसे 'अरं-घुषा' अति शब्द करने वाली 'वीणा की तुम्बी' कहा है।

पै॒द्वो ह॑न्ति कस॒र्णीलं॑ पै॒द्वः श्वि॒त्रमु॒तासि॒तम् ।
पै॒द्वो र॑थ॒र्व्याः शिरः॒ सं बि॑भेद पृदा॒क्वाः ॥ ५ ॥

भा०—( पैद्वः ) 'पैद्व' नामक द्रव्य ( कसर्णीलं ) कसर्णील नामक सर्प को विनाश करता है। ( पैद्वः ) वही 'पैद्व' नामक द्रव्य ( श्वित्रम् ) श्वित्र=श्वेत सर्प ( उत ) और ( असितम् ) काले सर्प को भी विनाश करता है। ( पैद्वः ) पैद्व नामक द्रव्य ( रथर्व्याः ) रथर्वी नामक सांप जाति और ( पृदाक्वाः ) पृदाकू नामक सांप की जाति के ( शिरः ) शिर को भी ( बिभेद ) तोड़ डालता है। 'पैद्वः'=अश्व=करवीर या गिरिकर्णिक या अश्वखुरक या अश्वगन्धा नामक ओषधि लेना उचित है ? केशव के मत से पैद्व नामक एक जन्तु है जो 'तालिणी' कहाता है। जो पीले रंग का या चिटकनेदार होता है। उसके भय से सर्प नहीं आता। 'कसर्णील' अति विषैली सर्प जाति होनी है। 'श्वित्र', 'असित', 'रथर्वी' और 'पृदाकू' ये सभी सर्पों की भिन्न २ जातियों के नाम हैं।

पैद्व॒ प्रेहि॑ प्रथ॒मोऽनु॑ त्वा व॒यमेम॑सि ।
अही॒न् व्य/स्यतात् प॒थो येन॑ स्मा व॒यमे॒मसि॑ ॥ ६ ॥

भा०—हे ( पैद्व ) पैद्व=अश्व नामक ओषधे ! ( प्रथमः ) प्रथम तू ( प्र-इहि ) आगे २ चल और ( त्वा अनु ) तेरे पीछे ( वयम् ) हम ( एमसि )

५-( प्र० ) 'कसर्णीलं', ( तृ० ) 'रथर्व्याः' इति पैप्प० सं०।

चलें ( येन ) जिस मार्ग से ( वयम् ) हम ( एमसि ) चलें उस ( पथः ) मार्ग से ( अहीन् ) सांपों को ( वि अस्यतात् ) दूर भगा दे ।

इदं पैद्वो अंजायतेदमस्य परायणम् ।
इमान्यर्वत पदाहिघ्न्यो वाजिनीवतः ॥ ७ ॥

भा०—( इदम् ) यह ( पैद्वः ) अश्व नामक ओषध ही ( अजायत ) ऐसा उत्तम पदार्थ सिद्ध हुआ है । ( इयम् ) यह ही ( अस्य ) इसका ( परायणम् ) परम ओषध है, ( वाजिनीवत ) बलवती शक्ति से युक्त ( अहिघ्न्यः ) सर्पनाशक ( अर्वत. ) 'अर्वन्=अश्व' नामक ओषध के ( इमानि ) ये ( पदा ) विशेष जानने योग्य लक्षण हैं ।

संयंतं न वि ष्पंरद् व्यात्तं न सं यंमत् ।
अस्मिन् क्षेत्रे द्वावही स्त्री च पुमांश्च तावुभावरसा ॥ ८ ॥

अस्या पूर्वार्धं अथर्व० ६ । ५६ । १ ॥ तृ० च० ॥

भा०—सांप का मुख ( सन्यतम् ) बांधा जाय तो ऐसे कि ( न विष्परत् ) फिर खुल न सके । और यदि उसका मुख ( व्यात्त ) खुल गया हो तो फिर ( न सं यमत् ) बन्द न हो । तो ( अस्मिन् क्षेत्रे ) इस उपाय से ( द्वौ ) दोनों ( अही ) सांप जातियां ( स्त्री च पुमान् च ) मादा और नर ( तौ उभौ ) वे दोनों ही ( अरसा ) निर्विष हो जाती हैं । सांप का जब मुँह खुले तो उसका मुँह बन्द न होने दिया जाय और यदि बन्द कर लिया तो खुलने न दिया जाय इस रीति से सांप को पकड़ना चाहिये । ऐसे पकड़ने से सांप अपने विषैले दांतों का प्रयोग नहीं कर सकता । और वह निर्विष होकर निर्बल हो जाता है ।

अरसास इहाहयो ये अन्ति ये च दूरके ।
घनेनं हन्मि वृश्चिकमहिं दण्डेनागंतम् ॥ ९ ॥

अस्या उत्तरार्धं ऋ० १ । १९१ ॥ परि० उत्तरार्धेन समः ॥

---

९–( द्वि० ) 'ये अन्ति तेच' इति पैप्प० सं० ।

भा०—( ये ) जो सांप ( अन्ति ) समीप हों और ( ये च दूरके ) जो दूर हों वे भी ( अहयः ) सांप ( इह ) इस उपाय से ( असारसाः ) निर्बल, बलरहित, लाचार हो जाते हैं कि ( घनेन ) किसी कठोर ताड़ने योग्य हतौड़े से ( वृश्चिकम् ) विच्छू को ( हन्मि ) मारूं और ( आगतम् ) समीप आये ( अहिम् ) सांप को ( दण्डेन हन्मि ) दण्ड से मारूं । अर्थात् दण्ड से सांप और हतौड़े से विच्छू का मारने के उपाय से सभी पास और दूर के सांप लाचार हैं ।

अघाश्वस्येदं भेषजमुभयोः स्वजस्य च ।
इन्द्रो मेऽहिमघायन्तमहिं पैद्वो अरन्धयत् ॥ १० ॥ ( १० )

भा०—( अघाश्वस्य ) 'अघाश्व' नामक सर्प और ( स्वजस्य च ) स्वज नामक सर्प ( उभयोः ) दोनों का ( इदम् भेषजम् ) यह भेषज है ( इन्द्रः ) 'इन्द्र' नामक ओषधि ( मे ) मेरे ( अघायन्तम् ) ऊपर आक्रमण करने वाले सर्प को उसी प्रकार विनाश करती है जिस प्रकार ( पैद्वः पूर्वोक्त अश्व या श्वेत नामक ओषध ( अहिम् अरन्धयत् ) अहि को नाश करता है । 'इन्द्र' नामक औषध अश्मन्तक है जो गुण में—

'विदाह-तृष्णाविषमज्वरापहो विषार्ति विच्छर्दिहरश्च भूतजित्' ।

दाह, पियास, विषमज्वर, विषपीड़ा, वमन आदि विकारों का नाश करती है और 'इन्द्रक' कहाती है । अथवा 'इन्द्रायुध' अश्व का दूसरा नाम है । यही कदाचित् अश्वान्तक भी कहाता है । करवीर ही का दूसरा नाम अश्वान्तक है । महावीर शतकुन्द आदि भी इसके नाम हैं ।

'अघाश्व' और 'स्वज' दो प्रकार के सर्प हैं प्रथम 'अघाश्व' जो घोड़े के समान ऊपर उछल कर आक्रमण करे, 'स्वज' जो शरीर के साथ लिपट चिपट कर काटे ।

---

१०–( द्वि० ) 'उभयोः वृश्चिकस्य च' इति पैप्प० सं० ।

पैद्वस्य मन्महे वयं स्थिरस्य स्थिरधाम्नः ।
इमे पश्चा पृदाकवः प्रदीध्यत आसते ॥ ११ ॥

भा०—( वयम् ) हम ( स्थिरस्य ) स्थिर ( स्थिरधाम्नः ) स्थिरवीर्य वाले ( पैद्वस्य ) पैद्व=अश्व नामक ओषधि के बल से विष को हम ( मन्महे ) स्तम्भित करते हैं । उसी के बल पर ( इमे ) ये ( पृदाकवः ) पृदाकु नामक महासर्प ( पश्चा ) पीछे हट कर ( प्रदीध्यतः ) विशेष रूप से, चिन्तामग्न से होकर ( आसते ) खड़े रह जाते हैं ।

नष्टासवो नष्टविषा हता इन्द्रेण वज्रिणा ।
जघानेन्द्रो जघ्निमा वयम् ॥ १२ ॥

भा०—( वज्रिणा ) वज्र=वीर्य बल वाले ( इन्द्रेण ) इन्द्र नामक पूर्वोक्त औषध से ( हताः ) मरे हुए सर्प ( नष्टासवः ) प्राण रहित और ( नष्टविषाः ) विष रहित हो जाते हैं । ( इन्द्रः जघान ) जब इन्द्र औषध उनको मारता है तब उनको ( वयम् जघ्निम ) हम ही मारते हैं ।

हतास्तिरश्चिराजयो निपिष्टासः पृदाकवः ।
दर्विं करिक्रतं श्वित्रं दर्भेष्वसितं जहि ॥ १३ ॥

भा०—( तिरश्चि-राजयः ) तिरछी धारियों वाले सर्प ( हताः ) मार दिये गये और ( पृदाकवः ) 'पृदाकु' नामक मूषक भक्षक सर्प भी ( नि-पिष्टासः ) सर्वथा पीस डाले जा सकते हैं । ( दर्विम् ) 'दर्वी' कड़छे के आकार के फण वाले नाग को ( करिक्रतम् ) और करिक्रत्='करैत' नामक काले साप को और ( श्वित्रम् ) श्वेत 'श्वित्र' नामक साप को और ( असितम् ) असित, काल नामक सर्प को भी हे पुरुष ! ( दर्भेषु ) उपरोक्त दाभ या

११-( च० ) 'दीध्यनामते' इति पैप्प० सं० ।
१३-( तृ० ) 'दर्वि जनिकर' इति पैप्प० सं० ।

कुशाओं के बल पर ( जहि ) मार । अथवा ( दर्भेषु ) सर्पनाशक पदार्थों के बल पर उनको नाश करो ।

कैरातिका कुमारिका सका खनति भेषजम् ।
हिरण्ययीभिरभ्रिभिर्गिरीणामुप सानुषु ॥ १४ ॥

भा० —( सका ) वह ( कैरातिका ; किरात=गिरिवासी वर्ग की ( कुमारिका ) कुमारी ( हिरण्ययीभिः ) लोह की बनी ( अभ्रिभिः ) कुदालियों से या खुरपियों से ( गिरीणाम् ) पर्वतों के ( सानुषु ) शिखरों पर ( भेषजम् ) ओषधि रूपसे ( खनति ) खोदती है । अथवा—वह 'किरात' वर्ग की ( कुमारिका ) कुमारी=वन्ध्यकर्कोटकी नामक जड़ी पर्वतों के शिखरों पर लोहे की बनी कुदालियों से ( खनति ) खोदी जाती है ।

'कुमारिका'—वन्ध्यकर्कोटकी देवी मनोज्ञा च कुमारिका ।
विज्ञेया नागदमनी सर्व भूतप्रमार्दिनी ॥
स्थावरादि विषघ्नी च शस्यते सारस्थापने । [रा० नि०]

किरानाः—गिरिषु अतन्ति इति किराताः । छान्दसं गत्वं पररूपं दीर्घ-एकादेशश्चेति ॥

अर्थात्—वनवासी, गिरि पर्वतों के वासिनी कन्याएं लोह की कुदालियों से पर्वतों पर से ओषधि खन कर लाया करें । अथवा किरात-वर्ग' की कुमारी या वन्ध्यकर्कोट की नामक ओषधि खोद कर लानी चाहिये ।

आयमगन् युवा भिषक् पृश्निहापराजितः ।
स वै स्वजस्य जम्भन उभयोर्वृश्चिकस्य च ॥ १५ ॥

भा०—( अयम् ) यह ( युवा ) बलवान् ( अपराजितः ) अपराजित नामक औषध ( पृश्नि-हा ) पृश्नि, चितकबरे कौड़िया सांप का नाशक और ( भिषक् ) विष रोग को दूर करने हारा है । ( सः च ) वह ( स्वजस्य ) स्वज नामक सर्प ( वृश्चिकस्य च ) और वृश्चिक, बिच्छू ( उभयोः ) दोनों का ( जम्भनः ) नाशक है ।

'अपराजिता' शब्द से निघण्टु में अश्वखुरक, बलामोटा, विष्णुक्रान्ता, और शुभ्रागी या शेफालिका या शंखपुष्पी नामक ओषधि ली जाती हैं। इनमें—अश्वखुरक=गिरिकर्णिका, कटभी, श्वेत आदि नाम से कहाती है। वह चक्षुष्य, विष-दोषघ्न है। शेफालिका, गिरिसिन्धुक या श्वेत सुरसा कहाती है वह भी विषघ्न है।

बलामोटा—विजया नागदमनी, निःशेषविषनाशिनी।
विषमोद्भगमनी महायोगेश्वरीति च॥

विष्णुक्रान्ता भी विषघ्न है।

इन्द्रो मेऽहिमरन्धयन्मित्रश्च वरुणश्च।
वातापर्जन्योभा॥ १६॥

भा०—( इन्द्र ) इन्द्र-नामक ओषधि या विद्युत् ( मित्रः च ) मित्र, सूर्य और ( वरुणः च ) वरुण, जल, ( वातापर्जन्या ) वात, प्रचण्ड वायु और ( पर्जन्य ) मेघ ( उभा ) ये दोनों भी ( अहिम् अरन्धयत् ) सर्प को ( मे ) मेरे लिये वश करते हैं।

इन्द्रो मेऽहिमरन्धयत् पृदाकुं च पृदाक्वम्।
स्वजं तिरश्चिराजिं कसर्णीलं दशोनसिम्॥ १७॥

भा०—( पृदाकुम् ) पृदाकु नामक नर सर्प को, ( पृदाक्वम् ) पृदाकु नाम मादा सांपिन को, ( स्वजम् ) स्वज, ( तिरश्चिराजिम् ) तिरछी धारियों वाले सर्प और ( कसर्णीलम् ) कसर्णील और ( दशोनसिम् ) दशोनसि नामक सांप को भी ( इन्द्रः ) इन्द्र नामक ओषधि ( मे अरन्धयत् ) मेरे वश कर देती है।

---

१६–'इन्द्रो मेहीनजम्भयत्' इति पैप्प० सं०।

१७–'पैद्वो मेहीन् अजम्भयत्' ( च० ) 'कुशर्णील नशोनसिम्' इति पैप्प० सं०।

इन्द्रो जघान प्रथमं जनितारमहे तव ।
तेषामु तृह्यमाणानां कः स्वित् तेषामसद् रसः ॥ १८ ॥

भा०—हे ( अहे ) अहे ! हे सर्प ! ( तव ) तेरे ( प्रथमं ) सब से प्रथम ( जनितारं ) उत्पादक को ( इन्द्रः ) इन्द्र नामक ओषधि ( जघान ) विनाश करे । ( तेषां ) उन ( तृह्यमाणानाम् ) विनाश किये जाते हुओं में से ( तेषाम् ) उन कुछ एक का ही ( कः स्वित् ) क्या कुछ ( रसः ) रस या विष ( असत् ) उत्पन्न होना सम्भव है ।

सं हि शीर्षाण्यग्रभं पौञ्जिष्ठ इव कर्वरम् ।
सिन्धोर्मध्यं परेत्य व्य/निजमहेर्विषम् ॥ १९ ॥

भा०—मैं सर्पों को वश करने में चतुर पुरुष सांपों के ( शीर्षाणि ) सिरों को ( अग्रभम् ) पकड़ लूं और ( इव ) जिस प्रकार ( पौञ्जिष्ठः ) पौञ्जिष्ठ, कैवट ( सिन्धोः ) नदी के ( कर्वरं ) अतिविक्षुब्ध ( मध्यं ) मध्य भाग को ( परेत्य ) पहुंच जाता है उसी प्रकार मैं भी ( सिन्धोः-मध्यम् ) सिन्धु=नदी के बीच में ( परेत्य ) जा कर ( अहेः ) सांप के ( विषम् ) विष को ( वि-अनिजम् ) विशेषरीति से धो डालूं ।

अहीनां सर्वेषां विषं परा वहन्तु सिन्धवः ।
हतास्तिरश्चिराजयो निपिंष्टासः पृदाकवः ॥ २० ॥ ( ११ )

भा०—( सर्वेषाम् अहीनाम् ) सब प्रकार के सांपों के ( विषम् ) विष को ( सिन्धवः ) नदियां ( परा वहन्तु ) दूर बहा ले जाती हैं । और इस प्रकार ( तिरश्चिराजयः ) तिरछी रेखाओं वाले सांप ( हताः ) विनष्ट हों, ( पृदाकवः ) मूषकखोर सांप भी ( निपिष्टासः ) सर्वथा पीस डाले जांय ।

---

१८–' तेषां वन्द्य ' इति पैप्प० सं० ।
१९–( द्वि० ) ' पौञ्जिष्टिव ' इति पैप्प० सं० ।

ओषधीनामहं वृण उर्वरीरिव साधुया ।
नयाम्यर्वतीरिवाहे निरैतु ते विषम् ॥ २१ ॥

भा०—( अहम् ) मैं ( ओषधीनाम् ) ओषधियों को ( उर्वरीः, इव ) धान्यों के समान ( साधुया ) भली प्रकार ( वृणे ) चुनता हूं। और ( अर्वती इव ) 'अर्वती' ओषधि के समान उत्तम गुण वाली ओषधियों को ( नयामि ) प्राप्त करता हूं जिनसे हे ( अहे ) सांप ( ते ) तेरा ( विषम् ) विष ( निः, एतु ) शरीर से दूर हो।

यदग्नौ सूर्ये विषं पृथिव्यामोषधीषु यत् ।
कान्दाविषं कनक्नकं निरैत्वैतु ते विषम् ॥ २२ ॥

भा०—( यत् ) जो ( विषम् ) विष (अग्नौ) अग्नि में है ( पृथिव्यां ) पृथिवी में और ( ओषधीषु ) ओषधियों में है और जो ( कान्दाविषं ) कन्दों में और ( कनक्नकं ) धतूरे आदि मादक पदार्थों में है। हे सर्प ! उनके द्वारा ( ते विषम् ) तेरा विष ( निर् एतु, एतु ) सर्वथा दूर हो।

ये अग्निजा ओषधिजा अहीनां ये अप्सुजा विद्युत आबभूवुः ।
येषां जातानि बहुधा महान्ति तेभ्यः सर्पेभ्यो नमसा विधेम ॥२३॥

भा०—( ये ) जो सांप ( अग्निजाः ) अग्नि से उत्पन्न होने वाले, ( ओषधिजाः ) ओषधि से उत्पन्न होने वाले और ( अहीनां ) सांपों में से ( ये ) जो ( अप्सुजाः ) जलों में उत्पन्न और जो ( विद्युतः ) बिजुली से ( आ-बभूवुः ) उत्पन्न अर्थात् प्रकट होते हैं और ( येषां ) जिनके ( जातानि ) अपत्य या नाना प्रकार की जातियें ( बहुधा ) बहुत प्रकार की ( महान्ति )

---

२२-( तृ० ) 'कान्दाविषं वरिक्न्द' इति पैप्प० सं० ।

२३-' ये अभ्रजा विद्युता बभूवुः ', 'तेषा जातानि बहुधा बहूनि तेभ्यः सर्पेभ्यो नमसा विधेम' इति पैप्प० सं० ।

और बड़ी २ होती हैं ( तेभ्यः ) उन ( सर्पेभ्यः ) सांपों को हम ( नमसा ) वश करने के उपाय द्वारा ( विधेम ) अपने कार्यों में लावें ।

तौदी नामांसि कुन्या/घृताची नाम वा असि ।
अधस्पदेन ते पदमा ददे विषदूषणम् ॥ २४ ॥

भा०—( तौदी नाम ) तौदी नाम की ( कन्या घृताची नाम वा ) कन्या और 'घृताची' नामक की ( असि ) तू औषध है । ( ते ) तेरे ( अधः पदेन ) नीचे के मूल से ( ते ) तेरा ( पदम् ) मूल ( आददे ) लेता हूं वह ( विष-दूषणम् ) विष का नाशक है ।

तौदी कन्या या तो कौड़ी वाचक है या घृतकुमारी या वन्ध्यकर्कोटकी नागदमन कहाती है ।

अङ्गादङ्गात् प्र च्यावय हृदयं परि वर्जय ।
अधा विषस्य यत् तेजोवाचीनं तदेतु ते ॥ २५ ॥

भा०—( अङ्गात् अङ्गात् ) अंग २ से ( प्र च्यावय ) विष को चुआ डाल । ( हृदयं ) हृदय को विष से ( परि वर्जय ) छुड़ा दे, बचा । ( अध ) और तब ( विषस्य ) विष का ( यत् तेजः ) जो तेज है ( तत् ) वह ( ते ) तेरे शरीर से ( अवाचीनम् ) नीचे ( एतु ) उतर आवे ।

यदि शरीर में जहर फैल जाय तो उसके वेग को कम करने के लिये स्थान २ पर से घात करके रुधिर बहा दे । इस प्रकार विष का वेग कम हो जाता है और उतर जाता है ।

---

२४–' अधस्पदेन ते पदमाददे ' इति पैप्प० सं० ।

२५–' हृदयोपरि ' इति पैप्प० सं० ।

आरे अ॑भूद् वि॒षम॑रौद् वि॒षे वि॒षम॑प्रागपि॑ ।
अ॒ग्निर्वि॒षमहे॒र्निर॑धात् सोमो॒ निर॑णयीत् ।
दं॒ष्टार॒मन्व॑गाद् वि॒षमहि॑रमृत ॥ २६ ॥ ( १२ )

भा०—सक्षेप मे इतने उपाय विष को दूर करने के हैं ( विषम् ) विष ( आरे ) दूर ( अभूद् ) हो इसके लिये ( विषम् अरौत् ) प्रथम विष को दृढ बन्धन द्वारा रोक दिया जाय । दूसरा ( विषे विषम् अप्राक् अपि ) विष में उसका विरोधी विष या उसका सजातीय विष मिला दिया जाय । तीसरा ( अग्नि. ) आग ( अहेः विषम् ) सांप के विष को ( निर् अधात् ) सर्वथा बाहर कर दे । 'चौथा' ( सोम. ) सोम या शान्तिकारक औषध ( निर् अनयीत् ) विष को दूर कर दे । और पांचवां वही ( विषम् ) विष ( दंष्टारम् ) काटने वाले सांप को ही ( अनु अगात् ) प्राप्त हो कि जिससे ( अहिः अमृत ) वह सांप स्वयं मर जाय । सर्प के विष का सर्प के काटे पर पुनः, ओषधिरूप से प्रभावकारी होने के विषय मे ( अथर्व० ५ । १३ । १४ ) पर विशेष विवरण देखने योग्य है ।

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

[ तत्र सूक्ते द्वे, ऋचश्चैकाग्न्चाशत् ]

---

## [ ५ ] विजिगीषु राजा के प्रति प्रजा के कर्त्तव्य ।

१—२४ सिन्धुद्वीप ऋषि. । २५—३६ कौशिक ऋषि । ३७–४० ब्रह्मा ऋषि । ४२—५० विहव्यः प्रजापतिर्देवता । १–१४, २२–२४ आपश्चन्द्रमाश्च देवताः ।

---

२६—' आरे मूद्विषम् अरौत् विषे विषमप्राग् अपि । अग्निरहेर्निरधाग् विषं सोमोऽनयी द्विषम् अहिरमृतः ।" इति पैप्प० सं० ।

१५–२१ मन्त्रोक्ताः देवताः । २६–३६ विष्णुक्रमे प्रतिमन्त्रोक्ता वा देवताः । ३७–५० प्रतिमन्त्रोक्ताः देवताः । १–५ त्रिपदाः पुरोऽभिकृतयः ककुम्मतीगर्भाः पंक्तयः, ६ चतुष्पदा जगतीगर्भा जगती, ७–१०, १२, १३ त्र्यवसानाः पञ्चपदा विपरीतपादलक्ष्मा बृहत्यः, ११, १४ पथ्या बृहती, १५–१८, २१ चतुरवसाना दशपदा त्रैष्टुब्गर्भा अतिधृतयः, १९, २० कृती, २४ त्रिपदा विराड् गायत्री, २२, २३ अनुष्टुभौ, २६–३५ त्र्यवसानाः षट्पदा यथाक्षरं शक्वर्योऽतिशक्वर्यश्च, ३६ पञ्चपदा अतिशाक्वर–अतिजागतगर्भा जष्टिः, ३७ विराट्पुरस्ताद् बृहती, पुरोष्णिक्, ३९, ४१ आर्षी गायत्री, ४० विराट विषमा गायत्री, ४२, ४३, ४५–४८ अनुष्टुभः, ४४ त्रिपाद् गायत्री गर्भा अनुष्टुप्, ५० अनुष्टुप् । पञ्चाशदृचं सूक्तम् ॥

इन्द्र॒स्यौज॒ स्थेन्द्र॑स्य॒ सह॒ स्थेन्द्र॑स्य॒
बलं॒ स्थेन्द्र॑स्य वी॒र्यं॑ स्थेन्द्र॑स्य नृ॒म्णं स्थ॑ ।
जि॒ष्णवे॒ योगा॑य ब्रह्मयो॒गैर्वो॑ युनज्मि ॥ १ ॥

भा०—हे प्रजाजनो ! आप लोग ( इन्द्रस्य ) ऐश्वर्यवान् राजा के ( ओजः स्थ ) ओज, प्रभाव हो । आप लोग ( इन्द्रस्य ) राजा के ( सहः स्थ ) सहः=शत्रु को दबाने में समर्थ बल हो । ( इन्द्रस्य बलं स्थ ) हे प्रजाजनो ! आप लोग इन्द्र के बल हो । ( इन्द्रस्य वीर्यं स्थ ) आप लोग इन्द्र के वीर्य हो । ( इन्द्रस्य नृम्णं स्थ ) आप लोग इन्द्र के धन हो । मैं पुरोहित ( वः ) आप प्रजाजनों को ( जिष्णवे ) विजयशील ( योगाय ) उद्योगी विजिगीषु राजा के निमित्त ( ब्रह्मयोगैः ) वेद के विज्ञानमय उपायों के साथ ( युनज्मि ) जोड़ता हूं । अर्थात् आपको वेद विज्ञानों की शिक्षा देता हूं । अथवा ( ब्रह्मयोगैः ) आप लोगों को विद्वान् ब्राह्मणों के उपदिष्ट उपायों से युक्त करता हूं ।

[ ५ ] १–' इन्द्रस्य बलं स्थ, इन्द्रस्य नृम्णं स्थ इन्द्रस्य शुष्मं स्थ, इन्द्रस्य वीर्यं स्थ । जिष्णवे योगाय इन्द्रयोगैर्वो युनज्मि ' इति पैप्प० सं० ।

इन्द्रस्यौज० । जिष्णवे योगाय क्षत्रयोगैर्वो युनज्मि ॥ २ ॥

भा०—हे प्रजाजनो ! ( इन्द्रस्य ओजः स्थ० इत्यादि ) आप लोग ऐश्वर्यवान् राजा के ओज हो, शत्रु के दबाने वाले बल हो इन्द्र के वीर्य हो, इन्द्र के धन हो, मैं आप लोगों को ( जिष्णवे योगाय ) विजिगीषु राजा के लिये ( क्षत्रयोगैः ) क्षात्र=क्षत्रियोचित साधनों से (युनज्मि) युक्त करता हूं।

इन्द्रस्यौज० । जिष्णवे योगायेन्द्रयोगैर्वो युनज्मि ॥ ३ ॥

भा०—हे प्रजाजनो ! ( इन्द्रस्य ओजः स्थ० ) आप लोग ऐश्वर्यवान् राजा के ओज हो, शत्रु को दबाने वाले सामर्थ्य हो, बल हो, वीर्य हो, धन हो । मैं आप लोगों को ( जिष्णवे योगाय ) विजयशील उद्योगी राजा के लिये ( इन्द्रयोगैः ) इन्द्र=राजा के उचित, अथवा परम ऐश्वर्यवान् पुरुषों के उचित साधनों से ( युनज्मि ) युक्त करता हूं ।

इन्द्रस्यौज० । जिष्णवे योगाय सोमयोगैर्वो युनज्मि ॥ ४ ॥

भा०—हे प्रजाजनो ! आप लोग ( इन्द्रस्य ओजः स्थ० इत्यादि ) ऐश्वर्यवान् राजा के ओज हो, सामर्थ्य हो, बल हो, वीर्य हो, धन हो । मैं राज पुरोहित आप लोगों को ( जिष्णवे योगाय ) विजयशील उद्योगी राजा के निमित्त ( सोम-योगैः ) सोम आदि ओषधियों के साधनों अथवा शान्ति-दायक, सुखदायक साधनों से ( युनज्मि ) युक्त करता हूं ।

इन्द्रस्यौज० । जिष्णवे योगायाप्सुयोगैर्वो युनज्मि ॥ ५ ॥

भा०—( इन्द्रस्य ओजः स्थ० ) हे प्रजाजनो ! आप लोग ऐश्वर्यवान् राजा के ओज हो, सामर्थ्य हो, बल हो, वीर्य हो, धन हो । मैं राजपुरो-

३-' अन्नयोगैः ' इति पैप्प० सं० ।

४-' मरुद्योगैः ' इति पैप्प० सं० ।

५-' अपां योगैः ' इति पैप्प० सं० ।

हित, आप लोगों को ( जिष्णवे योगाय ) विजयशील उद्योगी राजा के निमित्त ( अप्सुयोगैः ) प्रजा के उचित समस्त साधनों से ( वः युनज्मि ) आप लोगों को युक्त करता हूं।

इन्द्रस्यौज॒ स्थेन्द्र॑स्य॒ सह॒ स्थेन्द्र॑स्य॒ बलं॒ स्थेन्द्र॑स्य वी॒र्यं॑ स्थेन्द्र॑स्य नृ॒म्णं स्थ॑ । जि॒ष्णवे॒ योगा॑य॒ विश्वा॑नि मा भू॒तान्युप॑ तिष्ठन्तु यु॒क्ता म॑ आप स्थ ॥ ६ ॥

भा०—हे प्रजाजनो ! आप लोग ( इन्द्रस्य ओजः स्थ० इत्यादि० ) ऐश्वर्यवान् राजा के ओज हो, सामर्थ्य हो, बल हो, वीर्य हो, धन हो। ( जिष्णवे योगाय ) विजयशील उद्योगी राजा के लिये ( विश्वानि ) समस्त प्रकार के ( भूतानि ) प्राणीगण ( मा उप तिष्ठन्तु ) मेरे पास आवें, हे ( आपः ) आप्त प्रजाजनो ! आप लोग ( मे ) मेरे द्वारा ( युक्ताः ) उचित २ कार्यों में नियुक्त ( स्थ ) रहो।

अ॒ग्नेर्भा॒ग स्थ॑ । अ॒पां शु॒क्रमा॑पो देवी॒र्वर्चो॑ अ॒स्मासु॑ धत्त ।
प्र॒जाप॑तेर्वो॒ धाम्ना॒स्मै लो॒काय॑ सादये ॥ ७ ॥

भा०—हे आप्त प्रजाजनो ! आप लोग ( अग्नेः ) अग्नि के समान शत्रु को संतापकारी राजा के ( भागः स्थ ) भाग, अंश या सेवन करने योग्य प्रजा हो। हे ( देवीः ) दिव्य गुण वाले ( आपः ) आप्तजनो ! ( अपां ) कर्मों और बुद्धियों के ( शुक्रम् ) प्रकाशमान् वीर्य या सामर्थ्य को और ( वर्चः ) तेज को ( अस्मासु ) हम लोगों में ( धत्त ) धारण कराओ। मैं राजा का प्रतिनिधि ( प्रजापतेः ) प्रजा के स्वामी परमेश्वर या उसके प्रतिनिधि व्यवस्थापक राजा के ( धाम्ना ) तेज या धारण सामर्थ्य या बल से आप लोगों को ( अस्मै लोकाय ) इस देशवासी लोक के लिये ( सादये ) प्रतिष्ठित करता हूं, उच्च पद प्रदान करता हूं।

---

७–' र्वापापो ' इति पैप्प० सं० ।

इन्द्रस्य भाग स्थ । ० । ० ॥ ८ ॥
सोमस्य भाग स्थ । ० । ० ॥ ९ ॥
वरुणस्य भाग स्थ । ० । ० ॥ १० ॥ ( १३ )
मित्रावरुणयोर्भाग स्थ । ० । ० ॥ ११ ॥
यमस्य भाग स्थ । ० । ० ॥ १२ ॥
पितृणां भाग स्थ । ० । ० ॥ १३ ॥

देवस्य सवितुर्भाग स्थ । अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त । प्रजापतेर्वो धाम्नास्मै लोकाय सादये ॥ १४ ॥

भा०—हे आप्त प्रजाजनो ! आप लोग ( इन्द्रस्य भाग स्थ० । ० इत्यादि ) इन्द्र ऐश्वर्यशील राजा के अंश हो । आप लोग ( सोमस्य ) सर्व-प्रेरक, सर्वोत्पादक सोम, राजा के ( भाग. स्थ० । ० । इत्यादि ) भाग हो । हे आप्त प्रजाजनो ! आप ( वरुणस्य भागः स्थ० ) वरुण–सर्व दुःख-निवारक, प्रजा के रक्षक राजा के अंश हो ( मित्रावरुणयोः भागः स्थः ) मित्र सब को मृत्यु से बचाने वाले और सब आपत्तियों से बचाने वाले राजपद के भाग हो । आप ( यमस्य भाग· स्थ ) यम सर्व नियन्ता राजा के भाग हो । आप ( पितृणाम् ) राष्ट्र के परिपालक शासक जनों के ( भागः स्थ ) भाग हो और आप ( सवितुः ) सब के प्रेरक और उत्पादक ( देवस्य ) देव राजा के ( भाग स्थ ) भाग हो ( देवी. आपः ) हे दिव्य-गुण वाले आप्त पुरुषो ! आप ( अपाम् ) उत्तम विज्ञान युक्त कर्मों और विज्ञानों के ( शुक्रं वर्चः ) उज्ज्वल तेज को ( अस्मासु ) हम प्रजा लोगों में ( धत्त ) धारण करो, कराओ । मैं राजप्रतिनिधि ( वः ) आप लोगों को ( प्रजापतेः

८–१३–' बृहस्पतेर्भागस्थ० इत्यादि, प्रजापतेर्भागस्थ० ' इत्यादि अन्दद्य-मधिकम् , पैप० सं० ।

१४–( द्वि० ) ' शुक्र देवीरापो अस्मासु धत्त ' इति पैप० सं० ।

धाम्ना ) प्रजा के पालक राजा के अधिकार से ( अस्मै लोकाय ) इस राष्ट्र-वासी लोक=प्रजा के लिये ( सादये ) प्रतिष्ठित करता हूं, उच्चपद प्रदान करता हूं।

अर्थात् प्रजाओं को राजशासन के प्रत्येक विभाग का अंश समझाया जाय। आप्त विद्वान् लोग प्रजाओं में नाना विज्ञान और हितकारी कार्य प्रवृत्त करावें। इसी निमित्त उनको प्रजाओं में राजा के द्वारा उच्चपद प्रदान किये जावें और सब प्रकार के साधन उपस्थित किये जावें। जिससे राजा बलवान्, सामर्थ्यवान् हो और राष्ट्र विजयी और यशस्वी हो।

यो व आपोपां भागोऽप्स्वन्तर्यजुष्यो देवयजनः।
इदं तमति सृजामि तं माभ्यवनिक्षि।
तेन तमभ्यतिसृजामो योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
तं वधेयं तं स्तृषीयानेन ब्रह्मणानेन कर्मणानया मेन्या ॥ १५ ॥

भा०—हे ( आपः ) आप्त प्रजाजनो ! ( यः ) जो ( वः, अपां ) तुम प्रजाजनों का ( भागः ) अंश रूप, राजा ( अप्सु अन्तः ) प्रजाओं के भीतर विद्यमान् ( यजुष्यः ) अन्न आदि से सत्कार करने योग्य ( देवयजनः ) देव विद्वानों का उपासक या नियोजक है। ( इदं ) यह राष्ट्र (तम् अति सृजामि) उसको सौंपते हैं। ( तं ) उसका ( मा अभि अवनिक्षि ) अपमान मत करो। ( तेन ) उसके बल पर ( तम् अभि अति सृजामः ) उस पर चढ़ाई करते हैं ( यः अस्मान् द्वेष्टि ) जो हमसे द्वेष करता है ( यं वयं द्विष्मः ) और जिसको हम द्वेष करते हैं। ( अनेन ब्रह्मणा ) इस ब्रह्म, वेदज्ञान से ( अनेन कर्मणा ) इस कर्म से और ( अनेन मेन्या ) इस प्रबल आयुधवाले मन्युरूप बल या सेनारूप बल से ( तं वधेय ) उसको मारें और ( तं स्तृषीय ) उसका विनाश करें।

यो व आपोपामूर्मिरप्स्वन्तः ०। ०। ०। ० ॥ १६ ॥

यो वं आपोपां वत्सोऽऽप्स्व० । ० । ० । ० ॥ १७ ॥
यो वं आपोपां वृषभोऽऽप्स्व० । ० । ० । ० ॥ १८ ॥
यो वं आपोपां हिरण्यगर्भोऽऽप्स्व० । ० । ० । ० ॥ १९ ॥
यो व आपोपामश्मा पृश्निर्दिव्योऽऽप्स्व० । ० । ० । ० ॥२०॥ (१४)

भा०—हे ( आप· ) प्रजाजनो ! ( य· ) जो ( वः ) आप लोगों के ( अपाम् ) कर्मों और विज्ञानों की ( ऊर्मि· ) जलों के तरंग के समान बलवती उन्नतिकारिणी शक्ति ( अप्सु अन्त· ) प्रजाओं के भीतर विद्यमान है । और हे ( आपः ) प्रजाजनो ( व· अपा ) तुम प्रजाओं का जो ( वृषभ· ) मेघ के समान समस्त सुखों का वर्षक, बलवान् पुरुष जो ( अप्सु अन्तः ) प्रजाओं के भीतर विद्यमान है और हे ( आपः ) प्रजा के आप्त पुरुषो ! ( व· अपां ) आप प्रजाजन के बीच ( हिरण्यगर्भः ) सुवर्ण आदि को धारण करने वाले धनाढ्य लोग ( अप्सु अन्त· ) प्रजाओं के भीतर विद्यमान हैं । और हे ( आप· ) आप्तजनो ! ( वः, अपाम् ) आप प्रजाओं का ( अश्मा ) भोक्ता ( दिव्य ) दिव्य गुणवान् ( पृश्नि ) सूर्य के समान समस्त रसों का आदान करनेवाला और (अप्सु अन्त ) प्रजाओं के भीतर (यजुष्य ) यज्ञ आदि से पूजनीय ( देवयजन· ) विद्वानों का उपासक राजा विद्यमान है ( इदम् ) यह ( तम् ) उस पुरुष को ( अति सृजामि ) सौंपते हैं या उसको सबसे ऊपर राजा बना कर स्थापित करता हूं । ( तं ) उसको ( मा ) कभी मत ( अभि अव निचि ) निरादर करो । ( तेन ) उस राजा के बल से हम ( तम् अभि अति सृजामः ) उस पर चढ़ाई करते हैं ( य· अस्मान् द्वेष्टि ) जो हम से द्वेष करता है और ( यं वयं द्विष्मः ) जिससे हम द्वेष करते हैं । ( अनेन ब्रह्मणा ) इस वेदज्ञान से और ( अनेन कर्मणा ) इस यज्ञ-कर्म से और ( अनेन सेन्या ) इस शस्त्रमय सेना बल से ( तं वधेयम् ) उसको मारूं और ( तं स्तृषीय ) उसका नाश करूं ।

ये वं आपोपामग्नयोऽप्स्वं१न्तर्यजुष्या/देवयजनाः।
इदं तानति सृजामि तान् माभ्यवनिक्षि ।
तैस्तमभ्यति सृजामो योऽ३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
तं वधेयं तं स्तृषीयानेन ब्रह्मणानेन कर्मणानया मेन्या ॥ २१ ॥

भा०—हे (आपः) आप्त प्रजाजनो! (वः अपाम्) तुम प्रजाजनों में से (ये) जो (अग्नयः) ज्ञानवान्, शत्रुसंतापक पुरुष (अप्सु अन्तः) प्रजाजनों के ही बीच में विद्यमान (यजुष्याः) अन्नादि से सत्कार करने योग्य और (देवयजनाः) स्वयं विद्वानों के उपासक हैं (इदम्) यह राष्ट्र (तान् अति सृजामि) उनके हाथों सौंपता हूं (तान्) उनका (मा अभि अवनिक्षि) अनादर न करो। (तैः) उन्हीं के बल पर (तम् अभि अति-सृजामः) उस पर चढ़ाई करें (यः अस्मान् द्वेष्टि) जो हम से द्वेष करता है और (यं वयं द्विष्मः) जिससे हम द्वेष करते हैं। (अनेन ब्रह्मणा, अनेन कर्मणा, अनया मेन्या) इस ब्रह्म ज्ञान से, इस कर्म से और इस आयुध युक्त दण्ड बल से (तं वधेयं) उसको मारूं और (तं स्तृषीय) उसका विनाश करूं।

यदर्वाचीनं त्रैहायणादनृतं किं चोदिम ।
आपो मा तस्मात् सर्वस्माद् दुरितात् पान्त्वंहसः ॥ २२ ॥

उत्तरार्धम् अथर्व० ७ । ६ । १ ॥

भा०—(त्रैहायणाद् अर्वाचीनं) तीन वर्ष से उरे २ अब तक (यत् किं च) जो कुछ हम ने (अनृतं ऊदिम) असत्य भाषण किया (आपः) आप्त पुरुष (तस्मात्) उस (सर्वस्मात्) सब प्रकार के (दुरितात्) दुष्ट (अंहसः) पाप से (मा पान्तु) मुझे बचावें।

२२–'त्रैहायनाद्' इति पैप्प० सं०।

समुद्रं वः प्र हिणोमि स्वां योनिमपीतन ।
अरिष्टाः सर्वहायसो मा च नः किं चनाममत् ॥ २३ ॥

भा०—हे आप्त पुरुषो ! जिस प्रकार जलों का परम आश्रय स्थान समुद्र है, वे वह कर वहां पहुंचते हैं उसी प्रकार मैं ( वः ) आप लोगों को ( समुद्रं ) समुद्र के समान सब रसों, रत्नों का आश्रय परम ब्रह्म के प्रति ( प्रहिणोमि ) प्रेरित करता हूं । आप लोग ( स्वां योनिम् ) उस ही अपने परम आश्रय को ( अपीतन ) प्राप्त हों, उसमें मग्न रहो । आप लोग ( सर्व-हायसः ) समस्त आयु के पूर्ण सौ वर्षों तक ( अरिष्टाः ) विना दुःख के सकुशल रहो । ( नः ) हमें ( किंचन ) कोई भी वस्तु ( मा आममत् ) रोग उत्पन्न न करे ।

अरिप्रा आपो अप रिप्रमस्मत् ।
प्रास्मदेनो दुरितं सुप्रतीकाः प्र दुष्वप्न्यं प्र मलं वहन्तु ॥ २४ ॥

अथर्व० १४ । १ । १ । ११ ॥

भा०—( आपः ) जिस प्रकार स्वच्छ जल मल को दूर कर देता है उसी प्रकार ( आपः ) आप्त पुरुष ( अरिप्राः ) स्वयं निष्पाप होकर ( अस्मत् ) हमारे ( रिप्रम् ) पाप और हृदय के मल को ( अप वहन्तु ) दूर करें । और वे ( सुप्रतीकाः ) उत्तम रूप वाले स्वच्छ हृदय, सौम्यस्वभाव ( अस्मद् ) हमारे ( दुरितम् ) दुष्टाचरण रूप ( एनः ) पाप को ( प्र वहन्तु ) बहा दें दूर करें । और वे ( मलम् ) हृदय के मल के समान अन्तःकरण पर संस्काररूप से जमे ( दुःवप्न्यम् ) दुःस्वप्नों, बुरे स्वप्नों के कारण-स्वरूप कुसंस्कार को भी ( प्र वहन्तु ) दूर करें ।

---

२३–'स्वां योनिमभिगच्छत' इति ला० श्रौ० सू० । 'अपिगच्छत' इति आ० श्रौ० सू० ।

राजा का स्वरूप और राजा और प्रजा के कर्त्तव्य ।

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा पृथिवीसंशितोऽग्नितेजाः ।
पृथिवीमनु वि क्रमेऽहं पृथिव्यास्तं निर्भजामो
योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ।
स मा जीवीत् तं प्राणो जहातु ॥ २५ ॥

भा०—हे राजन् ! ( विष्णोः ) सर्व-व्यापक और सर्व-रक्षक परमेश्वर के तू ( क्रमः ) चरण-चिह्न पर चलने हारा है । अर्थात् उसके समान ही तू प्रजा का पालक है । तू ( सपत्नहा ) शत्रुओं का नाशक और ( पृथिवी-संशितः ) इस पृथिवी में सुतीक्ष्ण और ( अग्नितेजाः ) अग्नि के तेज से तेजस्वी है । राजा इस प्रकार अभिपूजित होकर अपना कर्त्तव्य समझे कि ( अहं ) मैं ( पृथिवीम् अनु ) पृथिवी पर वश करने के लिये ( वि क्रमे ) विशेष रूप से पराक्रम करूं । जिससे हम सब लोग ( तम् ) उस पुरुष को ( पृथिव्याः ) इस पृथिवी से ( निर्भजामः ) निकाल दें ( यः ) जो ( अस्मान् द्वेष्टि ) हम से द्वेष करता है और इसी कारण ( यं वयं द्विष्मः ) जिसको हम द्वेष करते हैं ( सः ) वह पुरुष तो ( मा जीवीत् ) न जीवे और ( तम् ) उसको ( प्राणः जहातु ) प्राण भी स्वयं त्याग दे ।

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहान्तरिक्षसंशितो वायुतेजाः ।
अन्तरिक्षमनु वि क्रमेऽहमन्तरिक्षात् तं निर्भजामो० । ० ॥२६॥

भा०—हे राजन् ! तू ( विष्णोः क्रमः, असि ) विष्णु का चरण है अर्थात् परमेश्वर के समान ही प्रजापालक के अधिकार पर विराजमान है । तू ( सपत्नहा ) शत्रुओं का नाशक ( अन्तरिक्ष-संशितः ) अन्तरिक्ष में प्रखर तेज से तीक्ष्णस्वभाव और ( वायु-तेजाः ) वायु के तेज से तेजस्वी, पराक्रमी है । इस प्रकार की प्रतिष्ठा के अनन्तर राजा संकल्प करे कि ( अहम् ) मैं ( अन्तरिक्षम् अनु ) अन्तरिक्ष पर ( वि क्रमे ) विशेष पराक्रम करूं । उसकी

प्रजा विचार करे कि ( य , अस्मान् द्वेष्टि० ) जो हम से द्वेष करे ( अन्तरिक्षात् निर्भजाम० ) उसको अन्तरिक्ष से निकाल दें ( स मा जीवीत्० ) वह न जीवे, प्राण उसको छोड़ दे ।

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा द्यौसंशितः सूर्यतेजाः ।
दिवमनु वि क्रमेऽहं दिवस्तं ० । ० ॥ २७ ॥

भा०—हे राजन् ! तू ( विष्णोः ) विष्णु का ( क्रमः ) पद है उसके समान प्रजापालक है । तू ( सपत्नहा ) शत्रुओं का नाशक ( द्यौ-संशितः ) द्यौः, आकाश से सुतीक्ष्ण होकर ( सूर्य-तेजाः ) सूर्य के समान तेज से तेजस्वी है । इस प्रकार प्रतिष्ठा प्राप्त कर राजा विचार करे कि ( अहम् ) मैं ( दिवम् अनु ) द्यौ पर भी ( वि क्रमे ) पराक्रम करूं । उसके प्रजागण सदा यही संकल्प करें कि ( य. अस्मान् द्वेष्टि० ) जो हमसे द्वेष करे और जिससे हम द्वेष करें ( दिवस्तं निर्भजाम ) द्यौलोक के सुखों से उसे वञ्चित करें । ( स. मा जीवीत् , प्राणः तं जहातु ) वह न जीवे और प्राण उसको त्याग दे ।

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा दिक्संशितो मनस्तेजाः ।
दिशोऽनु वि क्रमेऽहं दिग्भ्यस्तं ० । ० ॥ २८ ॥

भा०—हे राजन् ! तू ( विष्णोः क्रमः, असि ) विष्णु परमेश्वर का क्रम= पद है अर्थात् उसके समान प्रजापालन के कार्य पर नियुक्त है । तू ( सपत्नहा ) शत्रुओं का नाशक और ( दिक् संशितः ) दिशाओं में ( मनःतेजाः ) मन के तेज से तेजस्वी है । इस पद को प्राप्त करके राजा संकल्प करे कि ( अहम् ) मैं ( दिशः, अनु वि क्रमे ) दिशाओं में भी विक्रम करूं । ( दिग्भ्यः तं निर्भजामहे० ) दिशाओं से उसको निकाल दें जो हम से द्वेष करे और जिससे हम द्वेष करें ( स. मा जीवेत्० ) इत्यादि पूर्ववत् ।

१. २७-' द्यौः संशितः ' इति क्वचित् पाठः ।

विष्णोः क्रमोसि सपत्नहाशासंशितो वाततेजाः ।
आशा अनु वि क्रमेहमाशाभ्यस्तं ० । ० ॥ २९ ॥

भा०—( विष्णोः क्रमः असि ) हे राजन् ! तू विष्णु, पालक परमेश्वर के पद पर प्रजापालक के कार्य पर नियुक्त है । तू ( सपत्नहा ) शत्रुओं का नाशक ( आशा-संशितः ) आशाओं में तीक्ष्णस्वभाव और ( वाततेजाः ) प्रचण्ड वायु के तेज से तेजस्वी है । इस पद पर नियुक्त राजा संकल्प करे कि ( अहम् ) मैं ( आशाः अनु वि क्रमे ) आशाओं में स्वयं पराक्रम करूं ( आशाभ्यः तं ० ) इत्यादि पूर्ववत् ।

विष्णोः क्रमोसि सपत्नह ऋक्संशितः सामतेजाः ।
ऋचोनु वि क्रमेहमृग्भ्यस्तं ० । ० ॥ ३० ॥ ( १५ )

भा०—हे राजन् ! ( विष्णोः क्रमः, असि ) तू प्रजापालक परमेश्वर के पद पर है । तू ( सपत्नहा ) शत्रुओं का नाशक ( ऋक्-संशितः ) ऋग्=विज्ञान में प्रखर ज्ञानवान् ( सामतेजाः ) साम के तेज से तेजस्वी है । इस प्रकार राजा प्रतिष्ठित होकर संकल्प करे कि ( अहं ऋचः, अनु वि क्रमे ) मैं ऋग्, मन्त्रों-विज्ञानों में विक्रम करूं और ( ऋग्भ्यः तं निर्भजा० ) इत्यादि पूर्ववत् ।

विष्णोः क्रमोसि सपत्नहा यज्ञसंशितो ब्रह्मतेजाः ।
यज्ञमनु वि क्रमेहं यज्ञात् तं ० । ० ॥ ३१ ॥

भा०—हे राजन् तू ( विष्णोः क्रमः, असि ) प्रजापालक परमेश्वर के पद पर है तू ( सपत्नहा ) शत्रु का नाशक है तू ( यज्ञ-संशितः ) यज्ञ से तीक्ष्ण शक्ति-सम्पन्न है ( ब्रह्म-तेजाः ) वेदमन्त्रों के तेजों से तेजस्वी है । इस पद पर प्रतिष्ठित होकर राजा संकल्प करे कि ( अहं यज्ञम् अनुविक्रमे ) मैं यज्ञ में विक्रम करूं ( यज्ञात् तं ) इत्यादि पूर्ववत् ।

---

३०–' सपत्नहा ऋक् ' इति पाठिः ।

विष्णोः क्रमोसि सपत्नहौषधीसंशितः सोमतेजाः ।
ओषधीरनु वि क्रमेहमोषधीभ्यस्तं ० । ० ॥ ३२ ॥

भा०—हे राजन् ( विष्णोः क्रमः, असि ) तू विष्णु प्रजापालक के क्रम अर्थात् पद पर नियुक्त है । तू ( सपत्नहा ) शत्रुओं का नाशक ( ओषधी-संशितः ) ओषधियों में तेजस्वी है ( सोम-तेजाः ) सोम के तेज से तेजस्वी है । इस पद पर प्रतिष्ठित होकर राजा संकल्प करे कि ( अहं ओषधीः अनु विक्रमे ) मैं ओषधियों पर पराक्रम करूं । ( ओषधीभ्यः त० ) इत्यादि पूर्ववत् ।

विष्णोः क्रमोसि सपत्नहाप्सुसंशितो वरुणतेजाः ।
अपोनु वि क्रमेहमद्भ्यस्तं ० । ० ॥ ३३ ॥

भा० - हे राजन् ! ( विष्णोः क्रमः, असि ) तू प्रजापालक प्रभु के पद पर नियुक्त है । तू ( सपत्नहा ) शत्रुओं का नाशक ( अप्सु संशितः ) जलों या प्रजाओं में सुतीक्ष्ण है ( वरुणतेजाः ) वरुण, स्वयंवृत राजा के तेज से तेजस्वी है । इस प्रकार प्रतिष्ठित होकर राजा संकल्प करे कि ( अहम् अपः, अनु विक्रमे ) मैं जलों या प्रजा पर भी अपना पराक्रम करूं । ( अद्भ्यः तम्० ) जलों, प्रजाओं से इत्यादि पूर्ववत् ।

विष्णोः क्रमोसि सपत्नहा कृषिसंशितोन्नतेजाः ।
कृषिमनु वि क्रमेहं कृष्यास्तं ० । ० ॥ ३४ ॥

भा०—हे राजन् ! ( विष्णोः क्रमः असि ) तू प्रजापालक के पद पर है । तू ( सपत्नहा ) शत्रुनाशक है । तू ( कृषिसंशितः ) कृषि के कार्यों में सुतीक्ष्ण, बलशाली है ( अन्नतेजाः ) अन्न ही तेरा तेज है । इस प्रकार प्रतिष्ठित होकर राजा संकल्प करे ( अहं कृषिम् अनु वि क्रमे ) मैं कृषि-कर्म के लिये उद्योग, पराक्रम करूं । प्रजाएं संकल्प करें कि ( कृष्याः तं० ) हम कृषि से इत्यादि पूर्ववत् ।

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा प्राणसंशितः पुरुषतेजाः ।
प्राणमनु वि क्रमेऽहं प्राणात् तं निर्भजामो योऽस्मान् द्वेष्टि
यं वयं द्विष्मः । स मा जीवीत् तं प्राणो जहातु ॥ ३५ ॥

भा०—हे राजन् ! ( विष्णोः क्रमः, असि ) तू प्रजापालक के पद पर नियुक्त है । तू ( सपत्न-हा ) शत्रु का नाश ( प्राण-संशितः ) प्राणों में सुतीक्ष्ण ( पुरुष-तेजाः ) पुरुष आत्मा के तेज से तेजस्वी है । इस प्रकार प्रतिष्ठित होकर राजा संकल्प करे कि ( प्राणम् अनु अहम् वि क्रमे ) मैं प्राण को वश करने का पराक्रम करूं । प्रजा संकल्प करे कि ( प्राणात् तं० ) प्राण से उसको० । इत्यादि पूर्ववत् ।

राजा को विष्णु के पद पर प्रतिष्ठित किया है । पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, दिशा, आशा, ऋक्, यज्ञ, ओषधि, अपः, कृषि और प्राण, इन ११ पदार्थों से उसको सम्पन्न करके क्रम से उसमें अग्नि, वायु, सूर्य, मन, वात, साम, ब्रह्म, सोम, वरुण, अन्न और पुरुष इनके तेज से तेजस्वी किया जाता है । राजा प्रतिष्ठित होकर उक्त ग्यारहों तेजों से तेजस्वी होकर, उक्त ग्यारह पदार्थों पर वश करता है । और प्रजाएं अपने शत्रुओं को उक्त ग्यारहों पदार्थों से वञ्चित करने में समर्थ होती हैं । स्मृतियों ने समस्त देवों की मात्राओं को एकत्र कर राजा को बनाने और 'विष्णु' अवतार मानने या 'नाविष्णुः पृथिवीपतिः' का सिद्धान्त प्रकट किया है वह वेद के इसी सिद्धान्त पर अवलम्बित है ।

अराजके हि लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुते भयात् ।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत् प्रभुः ॥ ३ ॥
इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च ।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥ ४ ॥
सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट् ।
स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः ॥७॥ ( मनु० अ० ६ )

इसी प्रकार मनुने इन देवों के साथ राजा की तुलना की है। देखो मनु० अ० ९, श्लोक ३००—३११।

जितम॒स्माक॒मुद्भि॑न्नम॒स्माक॑म॒भ्य᳕ष्ठां॒ विश्वा॒: पृत॑ना॒ अरा॑तीः।
इ॒दम॒हमा॑मुष्याय॒णस्या॒मुष्याः॑ पु॒त्रस्य॒ वर्च॒स्तेजः॑
प्रा॒णमायु॒र्नि वे॑ष्टयामी॒दमे॑नमध॒राञ्चं॑ पादयामि ॥ ३६ ॥

भा०—समस्त प्रजाएं अपने राजा के साथ सहोद्योगी होकर जब विजय प्राप्त करें तो निश्चय करें कि ( जितम् ) जो विजय किया गया है वह ( अस्माकम् ) हम सबका है। ( उद्‌भिन्नम् ) जो उत्तम फल प्राप्त हुआ है वह भी हम समस्त प्रजाओं का है। राजा अपना कर्त्तव्य समझे कि मैं ( विश्वा. ) समस्त ( अराती ) शत्रुभूत ( पृतनाः ) समस्त सेनाओं को ( अभि अस्थाम् ) उन पर चढ़ाई करके विजय करता हूं। पुरोहित उस विजय के पश्चात् विजेता राजा का अभिषेक करे कि ( अहम् ) मैं ( इदम् ) यह ( आमुष्यायणस्य ) अमुक के गोत्र के ( अमुष्या. पुत्रस्य ) अमुक माता के पुत्र को ( वर्च. ) वर्चस, ( तेजः ) तेज ( प्राणम् आयु. ) प्राण और आयु को ( नि वेष्टयामि ) बांधता हूँ और ( इदम् ) इस प्रकार ( एनम् ) उस शत्रु को ( अधराञ्चम् ) नीचे ( पादयामि ) गिराता हूं।

सूर्य॑स्या॒वृत॒मन्वाव॑र्ते॒ दक्षि॑णा॒मन्वा॒वृत॑म्।
सा मे॒ द्रवि॑णं यच्छतु॒ सा मे॑ ब्राह्मणवर्च॒सम् ॥ ३७ ॥

भा०—मैं राजा ( सूर्यस्य आवृतम् अनु ) सूर्य के मार्ग या व्रत पर ही ( आवर्त्ते ) आचरण करूं। सूर्य के समान तेजस्वी होकर उसके समान शासन करूं और ( दक्षिणाम् अनु आवृतम् ) और सूर्य जिस प्रकार दक्षिण दिशा में तीक्ष्ण होता है उसी प्रकार मैं राजा भी दक्ष=बल-शाली होकर असह्य तेज से युक्त हो जाऊं। ( सा ) वह सूर्य के समान आचरण शैली ( मे ) मुझे ( द्रविणं यच्छतु ) द्रव्य सम्पत्ति प्रदान करे

और ( सा ) वही वृत्ति ( मे ) मुझे ( ब्राह्मण-वर्चसम् ) ब्राह्म तेज, ब्राह्मणों का तेज, विद्वानों का बल भी प्रदान करे।

सूर्य का व्रत मनुस्मृति में—

अष्टौ मासान् यथादित्यस्तोयं हरति रश्मिभिः ।
तथा हरेत् करं राष्ट्रान्नित्यमर्कव्रतं हि तत् ॥

आठ मासों तक जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों से जल लेता है उसी प्रकार राजा नित्य अपने राष्ट्र से कर संग्रह करे। यह 'अर्कव्रत' है।

दिशो ज्योतिष्मतीरुभ्यावर्ते ।
ता मे द्रविणं यच्छन्तु ता मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥ ३८ ॥

भा०—( ज्योतिष्मतीः ) ज्योति से सम्पन्न ( दिशः ) दिशाओं की तरफ़ ( अभि आवर्ते ) जाता हूं। ( ता मे द्रविणं यच्छन्तु ) वे मुझे द्रव्य प्रदान करें ( ता मे ब्राह्मण-वर्चसम् ) वे मुझे ब्राह्मणों, विद्वानों का तेज प्रदान करें।

सप्तऋषीनुभ्यावर्ते ।
ते मे द्रविणं यच्छन्तु ते मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥ ३९ ॥

भा०—( सप्त ऋषीन् अभि आवर्ते । ते मे द्रविणं० इत्यादि ) सातों ऋषियों के समीप जाता हूं। वे मुझे द्रव्य विभूति और ब्राह्मणों का तेज प्रदान करें।

ब्रह्माभ्यावर्ते । तन्मे द्रविणं यच्छतु तन्मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥४०॥ (१६)

भा०—( ब्रह्म अभि आवर्ते ) ब्रह्म, वेदज्ञान के प्रति मैं आता हूं तदनुकूल आचरण करता हूं। ( तत् मे द्रविणं यच्छतु, तत् मे ब्राह्मण वर्चसम् ) वह मुझे द्रविण दे और वह मुझे विद्वान् ब्राह्मणों का तेज प्रदान करें।

ब्राह्मणाँ अभ्यावर्ते । ते मे द्रविणं यच्छन्तु ते मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥४१॥

भा०—( ब्राह्मणान् अभि आवेन ) ब्राह्मणों की शरण जाता हूं। ( ते मे दक्षिणां यच्छन्तु ) वे मुझे दक्षिणा प्रदान करें ( ते मे ब्राह्मण वर्चसम् ) वे मुझे विद्वान् ब्राह्मणों का तेज भी प्रदान करें।

यं वयं मृगयामहे तं वधैः स्तृणवामहै।
व्यात्ते परमेष्ठिनो ब्रह्मणापीपदाम तम् ॥ ४२ ॥

भा०—( य ) जिस शत्रु का ( वय ) हम लोग ( मृगयामहे ) पीछा करें। उसको ( वधैः ) हथियारों से ( स्तृणवामहै ) विनाश करें। ( परमेष्ठिनः ) परम स्थान में विराजमान प्रजापति राजा के ( व्यात्ते ) विशेष रूप से खुले मुख में, उसके अधिकार में ( ब्रह्मणा ) वेद के निर्णय के अनुसार ( तम् ) उसको ( आ अपीपदाम ) हम कैद में डाल दें। राजा के अधीन लोग जिस अपराधी को ढूंढ कर लावें, धर्मशास्त्र के अनुसार निर्णय करके उसको अपराध के अनुसार कारागार में रखें।

वैश्वानरस्य दंष्ट्राभ्यां हेतिस्तं समधादभि।
इयं तं प्सात्वाहुतिः समिद् देवी सहीयसि ॥ ४३ ॥

भा०—( हेतिः ) आयुध-वज्र आदि शस्त्र ( तम् ) उस दण्ड के योग्य पुरुष को ( वैश्वानरस्य ) समस्त प्रजा के हितकारी अग्नि के समान तेजस्वी राजा की दाढ़ों [ कानूनी और पुलिस सम्बन्धी पकड़ों ] से ( सम् अभि धात् ) भली प्रकार पकड़ ले। जिस प्रकार ( आहुतिः ) अग्नि में आहुति डाली जाती है उसी प्रकार अपराधी को राजा के हाथ पकड़ा देना भी राजा रूप अग्नि में आहुति देना है। ( तम् ) उस अपराधी को ( प्सात्वा ) खाकर, निगल कर, वश करके ( समित् ) राजा जलते काष्ठ के समान अति तेजस्वी होकर ( देवी ) प्रकाशमान ( सहीयसी ) और अधिक बलवान् हो जाता है।

१. ४३–'सवितामस्य दंष्ट्राभ्यां' इति पैप्प० सं०।

कैदी के साथ व्यवहार ।

राज्ञो॒ वरु॑णस्य ब॒न्धो॑ऽसि ।
सो॒ऽमुमा॑मुष्याय॒णम॒मुष्याः॑ पु॒त्रमन्ने॑ प्रा॒णे ब॑धान ॥ ४४ ॥

भा०—हे कारागार ! तू ( वरुणस्य ) पापों के निवारक ( राज्ञः ) राजा का ( बन्धः ) बन्धन स्थान है । ( सः ) वह तू ( अमुष्यायणम् ) जो अमुक गोत्र के, अमुक पुरुष के पोते ( अमुष्याः पुत्रम् ) और अमुक माता के पुत्र ( अमुम् ) अमुक कैदी को ( अन्ने प्राणे ) खाने भर के अन्न, जीवन धारण मात्र पर ( बधान ) बांध ले । कारागार विभाग राजा के अधीन रहे और वह राजा के कैदी को जीवन और अन्न मात्र पर बन्धन में रखे। उसे ठीक प्रकार से जीने दे और खाने को दे ।

यत् ते॒ अन्नं॑ भुवस्पत आ॒क्षिय॑ति पृथि॒वीमनु॑ ।
तस्य॑ न॒स्त्वं भु॑वस्पते॒ संप्रय॑च्छ प्रजापते ॥ ४५ ॥

भा०—हे ( भुवः पते ) पृथिवी के स्वामी ! ( यत् ) जो ( ते अन्नम् ) तेरा अन्न ( पृथिवीम् अनु आ क्षियति ) पृथिवी पर है, हे ( भुवस्पते प्रजापते ) प्रजा के पालक ! पृथिवी के रक्षक ! राजन् ! ( त्वं ) तू ( तस्य ) उस अन्न को ( नः ) हमें ( सं-प्रयच्छ ) प्रदान कर ।

अपो॑ दि॒व्या अ॑चायिषं॒ रसे॑न॒ सम॑पृक्ष्महि ।
पय॑स्वानग्न॒ आग॑मं॒ तं मा॒ सं सृ॑ज॒ वर्च॑सा ॥ ४६ ॥
सं मा॑ग्ने॒ वर्च॑सा सृज॒ सं प्र॒जया॒ समायु॑षा ।
वि॒द्युर्मे॑ अस्य दे॒वा इन्द्रो॑ वि॒द्यात् स॒ह ऋषि॑भिः ॥ ४७ ॥
अथर्व० कां० ७ । ८९ । १, २ ॥

भा०—इन दोनों मन्त्रों की व्याख्या देखो अथर्व० [ कां० ७ । ८९ । १, २ ] ।

पर-पीड़ाकारी पुरुष को दण्ड—विधान ।

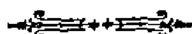
यद॑ग्ने अ॒द्य मि॑थु॒ना शपा॑तो॒ यद्वा॒चस्तृ॒ष्टं ज॒नय॑न्त रे॒भाः ।
म॒न्योर्मन॑सः शर॒व्या॒३॒॑ जाय॑ते॒ या तया॑ विध्य॒ हृद॑ये यातु॒धाना॑न् ॥४८॥
परा॑ शृणीहि॒ तप॑सा यातु॒धाना॒न् परा॑ग्ने॒ रक्षो॒ हर॑सा शृणीहि ।
परा॒र्चिषा॒ मूर॑देवाञ्छृणीहि॒ परा॑सु॒तृपः॒ शोशु॑चतः शृणीहि ॥४९॥

अथर्व० का० ८ । ३ । १२, १३ ॥

भा०—इन दोनों मन्त्रों की व्याख्या देखो अथर्व० [ कां० ८ । ३ । १२, १३ ] ।

अ॒पाम॑स्मै॒ वज्रं॒ प्र ह॑रामि॒ चतु॑र्भृष्टि शीर्ष॒भिद्या॑य वि॒द्वान् ।
सो अ॒स्याङ्गा॑नि॒ प्र शृ॑णातु॒ सर्वा॒ तन्मे॑ दे॒वा अनु॑ जानन्तु॒
विश्वे॑ ॥ ५० ॥ ( १७ )

भा०—मैं ( विद्वान् ) ज्ञानी, इसके अपराध को जानता हुआ (अस्मै) इसके लिये ( अपाम् ) आप्तजनों के बनाये ( चतुर्भृष्टिम् ) चारों ओर से संतापकारक ( वज्रम् ) पाप से निवारक दण्ड को इसके ( शीर्ष भिद्याय , शिर तोड़ने के लिये ( प्र हरामि ) प्रहार करता हूं । ( सः ) वह वज्र ( अस्य ) इस अपराधी के ( अङ्गानि ) अंगों को ( प्र शृणातु ) अच्छी प्रकार नाश करे । ( तत् ) मेरे इस कार्य को ( विश्वे-देवाः ) सब विद्वान् पुरुष ( अनु-जानन्तु ) अनुज्ञा दें । राजा इस प्रकार अपराधियों के दण्ड की विद्वान् पुरुषों से अनुमति लेकर दण्ड प्रदान किया करे ।



४८–४९—क्वचित् तु ' यदग्ने इति द्वे ' इत्येव प्रतीकमुपलभ्यते ।

## [ ६ ] शिरोमणि पुरुषों का वर्णन ।

बृहस्पतिर्ऋषिः । फालमणिरुत वनस्पतिर्देवता । १, ४, २१ गायत्र्यः, ३ आप्यी, ५ षट्पदा जगती, ६ सप्तपदा विराट् शक्वरी, ७–९ त्र्यवसाना अष्टपदा अष्टयः, १० नवपदा धृतिः, ११, २३–२७ पथ्यापंक्तिः, १२–१७ त्र्यवसाना षट्पदाः शक्वर्यः, २० पथ्यापंक्तिः, ३१ त्र्यवसाना षट्पदा जगती, ३५ पञ्चपदा अनुष्टुब्गर्भा जगती, २, १८, १९, २१, २२, २८–३०, ३२–३४ अनुष्टुभः । पञ्चत्रिंशदृचं सूक्तम् ॥

अरातीयोर्भ्रातृव्यस्य दुर्हार्दो द्विषतः शिरः ।
अपि वृश्चाम्योजसा ॥ १ ॥

भा०—( अरातीयोः ) अदानशील, कर न देने वाले ( दुर्हार्दः ) दुष्ट चित्त वाले ( द्विषतः ) द्वेष करने हारे ( भ्रातृव्यस्य ) शत्रु के ( शिरः ) शिर को ( ओजसा ) प्रभाव और बल से ( अपि वृश्चामि ) काट लूं ।

वर्म मह्यमयं मणिः फालाज्जातः करिष्यति ।
पूर्णो मन्थेन मागमद् रसेन सह वर्चसा ॥ २ ॥

भा०—( फालात्[1] ) शत्रुनाशन, शत्रुओं को तितर-बितर कर देने के कार्य से ( जातः ) सामर्थ्यवान् होकर ( अयं ) यह ( मणिः ) शिरोमणि सेनापति ( मह्यम् ) मुझ राजा के लिये ( वर्म ) कवच या रक्षा का साधन ( करिष्यति ) करेगा । और वह ( मन्थेन ) शत्रु का मथन कर डालने वाले बल से ( पूर्णः ) पूर्ण बलवान् होकर और ( रसेन ) रस या रथ और ( वर्चसा ) बल तेज से सम्पन्न होकर ( मा ) मुझ राजा के पास ( आ अगमत् ) आवे ।

[ ६ ] २-( तृ० ) ' पूर्णेन मन्थेन ' इति पैप्प० सं० ।

१. फल्ल विशरणे, इति भ्वादिः ।

यत् त्वा शिक्वः परावधीत् तक्षा हस्तेन वास्या।
आपस्त्वा तस्माज्जीवलाः पुनन्तु शुचयः शुचिम् ॥ ३ ॥

भा०—हे राजन् ! (यत्) जिस प्रकार (शिक्व) चतुर (तक्षा) शिल्पी (वास्या) अपनी बसोली से लकड़ी को छीलता है उसी प्रकार (त्वा) तुझे (यत्) जब (शिक्व) चतुर शत्रु (हस्तेन) अपने हनन साधन शस्त्र से (परावधीत्) खूब घायल कर डाले तो भी (जीवलाः आपः) जिस प्रकार जीवन देने वाले जल अधमरे को पुनः जिला देते हैं, उसी प्रकार (जीवलाः) जीव=प्राण पुनः प्राप्त कराने वाले (शुचयः) शुद्ध चित्त वाले निष्कपट (आपः) आप्तजन (शुचिम्) शुद्ध चित्त निष्कपट (त्वा) तुझको (तस्मात्) उस आघात की पीड़ा से (पुनन्तु) मुक्त करें, शुद्ध पवित्र करें। मणिपक्ष में—हे मणे! तुझको क्योंकि बढ़ई ने अपने हाथ से घड़ा था। अतः तुझको जीवनप्रद जल पवित्र करें।

हिरण्यस्रगयं मणिः श्रद्धां यज्ञं महो दधत्।
गृहे वसतु नोऽतिथिः ॥ ४ ॥

भा०—(अयं) यह (मणिः) शिरोमणि पुरुष (हिरण्यस्रक्) सुवर्णमाला धारण करने वाला, ऐश्वर्यवान् होकर भी (श्रद्धा) ईश्वर और धर्म-कार्य में श्रद्धा=सत्य धारणावली बुद्धि, (यज्ञं) यज्ञ और (महः) तेज को (दधत्) धारण करे और (नः) हमारे (गृहे) घर में (अतिथिः) अतिथि होकर (वसतु) निवास करे।

तस्मै घृतं सुरां मध्वन्नमन्नं क्षदामहे।
स नः पितेव पुत्रेभ्यः श्रेयःश्रेयश्चिकित्सतु
भूयोभूयः श्वःश्वो देवेभ्यो मणिरेत्य ॥ ५ ॥

३–(द्वि०) 'वास्या' इति पैप्प० सं०। (प्र०) 'इषे शिक्व' (तृ० च०) 'आपस्त्वा सर्व जीवला शुन्धन्तु शुचयः शुचिम्' इति आप० श्रौ० सू०।

भा०—( तस्मै ) उस शिरोमणि रूप अतिथि के लिये ( घृतम् ) घी, ( सुराम् ) जल, ( मधु ) मधु, शहद ( अन्नम् अन्नम् ) और प्रत्येक प्रकार का अन्न ( क्षदामहे ) खिलाते हैं। ( पुत्रेभ्यः ) पुत्रों को ( पिता इव ) जिस प्रकार पिता ( श्रेयः श्रेयः ) परम कल्याण का ही उपदेश करता है उसी प्रकार ( नः ) वह भी ( नः ) हमारे ( पिता ) पिता के समान पूजनीय होकर हमें ( श्रेयः श्रेयः ) सब प्रकार के कल्याणमय कर्त्तव्य का ही ( चिकित्सतु ) ज्ञान करावे और वह ( मणिः ) शिरोमणि ( भूयः भूयः ) बार २ ( श्वः श्वः ) प्रत्येक दिन ( देवेभ्यः ) विद्वानों से शिक्षा ( एत्य ) प्राप्त कर हमें उपदेश दिया करे।

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे ।
तमग्निः प्रत्यमुञ्चत सो अस्मै दुह आज्यं भूयोभूयः श्वःश्व-
स्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ ६ ॥

भा०—( फालं ) शत्रु-सेना के तोड़ने फोड़ने वाले ( घृतश्चुतम् ) घृत वीर्य और बल पराक्रम को दर्शाने वाले ( खदिरम् ) शत्रु के विनाशक ( मणिम् ) शिरोमणि मुख्य ( उग्रम् ) बलवान् तीक्ष्णस्वभाव ( यम् ) जिस पुरुष को ( ओजसे ) उसके बल पराक्रम के कारण ( बृहस्पतिः ) वेदवाणी का पालक ज्ञानी, मन्त्री ( अबध्नात् ) राजा के साथ बांधता है अर्थात् उसके कार्य के लिये प्रतिज्ञाबद्ध या नियुक्त करता है ( तम् ) उसको ( अग्निः ) शत्रुतापक, अग्निस्वभाव राजा ही ( प्रति-अमुञ्चत ) धारण करता है। तभी ( सः ) वह शिरोमणि पुरुष ( अस्मै ) इस राजा के लिये ( भूयः भूयः ) बहुत २ प्रकार के और बार २ ( आज्यं दुहे ) वीर्य और पराक्रम के कार्य पूर्ण करता है। और हे राजन् ! ( तेन ) उसके बल से ही ( श्वः श्वः ) भावी काल में बराबर ( त्वं ) तू ( द्विषतः ) अपने शत्रुओं को ( जहि ) विनाश कर।

वेदज्ञ मन्त्री मुख्य २ बलवान् व्यक्तियों को प्रतिज्ञाबद्ध और वेतनबद्ध

करके रखे। राजा उनको धारण करे। वह उसके नाना पराक्रम के कार्य साधे। उनके बल पर शत्रुओं का नाश करे।

'अबध्नात्'—बन्ध धातु का प्रयोग वेतन पर नियुक्त करने अर्थ में प्रयुक्त है जैसे 'बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः।' भाषा में 'बधा लेना' कहाता है।

'प्रत्यमुञ्चत्'—पहनने या धारण करने अर्थ में प्रयुक्त होता है, जैसे—'तमग्रीव प्रत्यमुञ्चत्' कदाचित् उन वीर शिरोमणियों को फली या शूली के आकार का कोई चिह्न भी धारण कराया जाता हो जिसके कारण मणि शब्द से मणिवान् का ग्रहण किया गया है।

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं०। तमिन्द्रः प्रत्यमुञ्चतौजसे वीर्याय कम्। सो अस्मै बलमिद् दुहे भूयोभूय:० ॥ ७ ॥

भा०—( यम् फाल घृतश्चुतं=खदिर उग्र मणिं बृहस्पति ओजसे अबध्नात् ) शत्रु सेना के तोड़ने फोड़ने वाले बल पराक्रम के कर्त्ता, शत्रु के विनाशक, तीक्ष्णस्वभाव, बलवान् शिरोमणि पुरुष को ( बृहस्पति ) वेदज्ञ विद्वान्, महामात्य राजा के कार्य में बांधता है ( तम् इन्द्र ओजसे वीर्याय कम् प्रति अमुञ्चत ) उसको इन्द्र ऐश्वर्यशील राजा अपने तेज और वीर्य की वृद्धि के लिये ही धारण करता है। ( स अस्मै भूयो भूय बलम् इद् दुहे ) वह उस राजा के लिये बराबर बल को ही बढ़ाता है। ( तेन श ख त्वं द्विषत जहि ) उसके बल से तू हे राजन्! भविष्य में अपने शत्रुओं को मारने में समर्थ हो।

यमब०। तं सोमः प्रत्यमुञ्चत महे श्रोत्राय चक्षसे। सो अस्मै वर्च इद् दुहे भूयो० ॥ ८ ॥

८-( प० ) 'प्रत्यमुञ्चत द्रविणायरमाययम्। सो अस्मै मदित' इति पैप्प० सं०।

भा०—( यम् अबध्नात्० इत्यादि ) पूर्ववत् । ( तं सोमः ) उस शिरोमणि पुरुष को सोम स्वरूप सबका प्रेरक राजा ( महे ) अपने बड़े महत्त्वपूर्ण कार्य ( श्रोत्राय ) कान के लिये अर्थात् राष्ट्र की सब शिकायतों को सुनने के लिये और ( महे चक्षसे ) चक्षु अर्थात् राष्ट्र के निरीक्षण के महत्त्वपूर्ण कार्य के लिये ( प्रति अमुञ्चत ) धारण करता है । ( सः अस्मै वर्च इद् दुहे ) वह राजा के वर्चः=तेज को बढ़ाता है । ( भूयो भूयः श्वः श्वः तेन द्विषतो जहि ) हे राजन् उसके बल पर तू भविष्य में अपने द्वेषकारी लोगों के मारने में समर्थ हो । उत्तम शिरोमणि पुरुषों को राजा वेतन पर राष्ट्र की प्रजाओं के परस्पर के विवादों को श्रवण करने और व्यवस्था के निरीक्षण के लिये नियुक्त करे । इससे राजा का ही तेज बढ़ता है, शत्रु नष्ट होते हैं ।

यमब॑० । तं सूर्यः॒ प्रत्य॑मुञ्चत॒ तेने॒मा अ॑जय॒द् दिशः॑ ।
सो अ॑स्मै॒ भूति॒मिद् दु॑हे॒ भूयो॑० ॥ ९ ॥

भा०—( यम् अबध्नात्० इत्यादि ) पूर्ववत् । ( तं ) उस शिरोमणि पुरुष को ( सूर्यः ) सूर्य के समान प्रखर तेजस्वी राजा ( प्रत्यमुञ्चत् ) स्वयं धारण करता है ( तेन इमा दिशः अजयत् ) उसके बल पर इन समस्त दिशाओं पर जय प्राप्त करता है । ( सः ) वह शिरोमणि पुरुष ( भूतिम् इत् ) भूति, राज्य और राष्ट्र की सम्पत्ति को ही ( भूयः भूयः दुहे ) बराबर अधिकाधिक बढ़ाया करता है । (तेन श्वः श्वः द्विपतः जहि) हे राजन् ! उसके बल पर ही तू भविष्य में सदा द्वेष करने हारे शत्रुओं को मारने में समर्थ हो । अर्थात् राजा देशान्तर विजय के कार्य के लिये भी उत्तम उत्तम पुरुषों को वेतन पर नियुक्त करे । वे उसकी राष्ट्र सम्पत्ति को बढ़ावें और उनके बल पर राजा शत्रुओं को दण्ड दे ।

यमब॑ध्ना॒द् बृह॒स्पति॑र्म॒णिं फा॒लं घृ॑त॒श्चुत॑मु॒ग्रं ख॑दि॒रमोज॑से ।
तं बि॑भ्र॒च्चन्द्रमा॑ म॒णिमसु॑राणां॒ पुरो॑ऽजयद् दान॒वानां॒ हिर॑ण्ययीः ।

सो अस्मै त्रिवृदिद् दुहे भूया० ॥ १० ॥ ( १८ )

भा०— यम् अबध्नात्० इत्यादि । पूर्ववत् । ( तं मणिम् ) उस श्रेष्ठ नररत्न को ( बिभ्रत् ) धारण करता हुआ ( चन्द्रमा ) प्रजा को सुखी करने हारा राजा ( असुराणां ) असुरों और ( दानवानाम्[1] ) प्रजा के पीड़ाकारी दानवों के ( हिरण्ययी ) लोहे की या सुवर्ण आदि धन सम्पत्ति से भरी हुई ( पुरः ) नगरियों को ( अजयत् ) विजय करता है । ( सः ) वह नररत्न ( अस्मै भूयो भूयः त्रियम् इत् दुहे ) इस राजा के धन ऐश्वर्य को ही अधिकाधिक बढ़ाता है । ( तेन श्व श्व द्विषत जहि ) उसके बल पर भविष्य में भी राजा अपने शत्रुओं को विनाश करने में समर्थ होता है ।

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे ।
सो अस्मै वाजिनं दुहे भूया० ॥ ११ ॥

भा०—( बृहस्पतिः ) वेदज्ञ विद्वान् बृहस्पति के समान राष्ट्र का महामन्त्री ( यम् ) जिस ( मणिम् ) पुरुष-रत्न को ( आशवे ) अति शीघ्रकारी ( वाताय ) प्रचण्ड वात के समान तीव्र वेग के कार्य सम्पादन करने के लिये ( अबध्नात् ) कार्य पर वेतन द्वारा नियुक्त करता है ( सः ) वह अस्मै) राजा के लिये ( भूयो भूयः ) अधिकाधिक ( वाजिनम् ) वेगवान् अश्व आदि यानों और रथों को ( दुहे ) तैय्यार कर देता है । ( तेन श्व श्व द्विषत जहि ) हे राजन् ! ऐसे नररत्न के बल पर तू भविष्य में बराबर शत्रुओं का नाश कर ।

राजा वेगवान् रथों के उत्पन्न करने हारे शिल्पवेत्ता विद्वानों को नियुक्त करे । वे राज्य में सहस्रों वेगवान् रथों को उत्पन्न करें ।

---

१०–' सो अस्मै तेन ' इति पैप्प० सं० ।

। १ दान खण्डने भ्वादि, ।

यमबं० । तेनेमां मणिना कृषिमश्विनाभि रक्षतः ।
स भिषग्भ्यां महो दुहे भूयो० ॥ १२ ॥

भा०—( बृहस्पतिः ) वेदज्ञ बृहस्पति पद पर स्थित महामात्य ( आशवे वाताय ) आशुगामी प्रचण्डवान् जिस प्रकार मेघ को समुद्र से लाकर पृथिवी पर वर्षा देता है उसी प्रकार अपने प्रबल यन्त्रों से जलधाराओं और नदियों नहरों को चलाने के कार्य के लिये ( यत् मणिम् ) जिस नर-रत्न को ( अबध्नात् ) राष्ट्र के कार्य में नियुक्त करता है । (तेन) उस नर-रत्न के बल से ( अश्विनौ ) राष्ट्र के नर नारी लोग ( इमां कृषिम् ) इस अन्न की खेती को ( अभि रक्षतः ) रक्षा करते हैं । ( सः ) वही नर-रत्न ( भिषग्भ्याम् ) दोनों प्रकार के ओषधि-चिकित्सक और शल्य-चिकित्सक के लिये ( भूयोभूयः ) अधिकाधिक ( महः ) महत्वपूर्ण पदार्थ ( दुहे ) उत्पन्न करता है । हे राजन् ( तेन श्वः श्वः ) उससे भविष्य में तू ( द्विषतः जहि ) शत्रुओं का विनाश कर ।

यमबं० । तं बिभ्रत् सविता मणिं तेनेदमजयत् स्वः ।
सो अस्मै सूनृतां दुहे भूयो० ॥ १३ ॥

भा०—( यम् अबध्नात्० इत्यादि ) पूर्ववत् । ( तं मणिं ) उस नर-रत्न को ( सविता बिभ्रत् ) सविता धारण करके सूर्य के समान तेजस्वी राजा ( तेन ) उसके बल से ( इदम् ) इस ( स्वः ) आकाश लोक को ( अजयत् ) विजय कर लेता है । ( सः ) वह ( अस्मै ) इस राजा के लिये ( सूनृताम् ) शुभ सत्यवाणी या कीर्ति को ( भूयो भूयः दुहे ) अधिकाधिक उत्पन्न करता है । हे राजन् ! ( तेन श्वः श्वः द्विषतो जहि ) उसके बल से भविष्य में शत्रुओं के विजय में समर्थ हो ।

प्रचण्ड वेगवान् यानों के कर्त्ता शिल्पज्ञ के द्वारा आकाशचारी विमानों से राजा विशाल आकाश पर वश करे और उस बल से यश कीर्ति प्राप्त करके शत्रुओं को वश करे ।

यमर्व० । तमापो बिभ्रतीर्मणिं सदा धावन्त्यक्षिताः ।
स आभ्योमृतमिद् दुहे भूयो० ॥ १४ ॥

भा०—( यम् अबध्नात्० इत्यादि ) पूर्ववत् । ( तं मणिं आपः बिभ्रतीः ) उस नर-रत्न को अपने भीतर धारण करने हारी 'आपः' आप्त प्रजाएं जल धाराओं के समान ( सदा ) निरन्तर ( अक्षिताः ) बिना विनाश के निरन्तर ( धावन्ति ) चला करती हैं । ( सः ) वह नर-रत्न ( आभ्यः ) इन प्रजाओं के लिये ( भूयः भूयः ) अधिकाधिक ( अमृतम् इत् दुहे ) अमृत या दीर्घायु या अमर जीवन को पूर्ण करता है । ( तेन त्वं द्विषतः श्वः श्वः जहि ) इत्यादि पूर्ववत् ।

यमर्व० । तं राजा वरुणो मणिं प्रत्यमुञ्चत शंभुवम् ।
सो अस्मै सत्यमिद् दुहे भूयो० ॥ १५ ॥

भा०—( यम् अबध्नात्० इत्यादि ) पूर्ववत् । ( तं मणिम् ) उस शिरोमणि ( शम्भुवम् ) सुखकारी नर-रत्न को ( वरुणः राजा ) राजा वरुण ( प्रत्यमुञ्चत् ) मणि के समान धारण करता है । ( सः, अस्मै ) वह इस राजा को प्रतिनिधि होकर ( सत्यम् इत् दुहे ) सत्य, न्याय को ही ( भूयो भूयः ) अधिकाधिक बढ़ाता है ( तेन द्विषतः श्वः श्वः जहि० इत्यादि ) पूर्ववत् ।

यमर्व० । तं देवा बिभ्रतो मणिं सर्वांल्लोकान् युधाजयन् ।
स एभ्यो जितिमिद् दुहे भूयो० ॥ १६ ॥

भा०—( यम् अबध्नात्० इत्यादि ) पूर्ववत् । ( तं मणिम् ) उस नर-रत्न पुरुष को ( बिभ्रतः ) अपने बीच धारण करते हुए ( देवाः ) विद्वान् पुरुष ( युधा ) अपने युद्ध करने के सामर्थ्य से ( सर्वान् लोकान् ) समस्त लोकों को ( अजयन् ) विजय कर लेते हैं । ( सः ) वह नरमणि ही ( एभ्यः ) उन देव विद्वान् पुरुषों के लिये ( भूयः भूयः ) अधिकाधिक

(जितिम् इत् दुहे) विजयों को करता है। 'तेन श्वः श्वः०' इत्यादि पूर्ववत्।

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे।
तमिमं देवता मणिं प्रत्यमुञ्चन्त शंभुवम्।
स आभ्यो विश्वमिद् दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि॥१७॥

(यम् अबध्नाद्० इत्यादि) पूर्ववत्। (शम्भुवम्) कल्याण और सुख के उत्पादक (तम् इमं मणिम्) इस नर-रत्न को (देवताः) दिव्य शक्तियां और दिव्य पदार्थ स्वयं (प्रत्यमुञ्चन्त) धारण करते हैं। (सः) वह नर-रत्न (आभ्यः) उन दिव्य पदार्थों के द्वारा (विश्वम् इद्) समस्त संसार के सारे पदार्थ को (भूयो भूयः) अधिकाधिक (दुहे) प्राप्त करता है। (तेन श्वः श्वः त्वं० इत्यादि) पूर्ववत्।

ऋतवस्तमबध्नतार्तवास्तमबध्नत।
संवत्सरस्तं बद्ध्वा सर्वं भूतं वि रक्षति॥१८॥

भा०—(ऋतवः) ऋतुगण (तम्) उसको (अबध्नत) अपने में बांधते हैं, धारण करते हैं, (आर्तवाः तम् अबध्नत) 'आर्त्तव' उसको बांधते, धारण करते हैं। (तं) उस नर-रत्न को (संवत्सरः) संवत्सर भी बांधकर (सर्वं भूतं) समस्त प्राणिसमूह को (वि रक्षति) विविध प्रकार से पालन करता है। अर्थात् ऋतु, ऋतु के भाग और संवत्सर=वर्ष जिस प्रकार सूर्य को धारण करते हैं और प्रजा का पालन करते हैं उसी प्रकार प्रजाएं, अधिकारी-गण और राजा भी ऐसे नर-रत्नों को स्वयं अपने राष्ट्र में नियुक्त करके नाना प्रकार से प्राणियों का पालन करता है।

(१) 'ऋतवः'—याः षड्विभूतयः ऋतवस्ते। जै० उ० १।२१।१॥ तद् यानि २ भूतानि ऋतवस्ते। श० ६।१।३।८॥ अग्नयो वा

१७–(च०) 'प्रत्यमुञ्चन्' इति क्वचित्कः पाठः।

ऋतवः । श० ६ । ७ । १ । २६ ॥ ऋतवो वै सोमस्य राज्ञो राजभ्रातरो यथा मनुष्यस्य । ऐ० १ । १३ ॥ ऋतव पितरः । कौ० ५ । ७ ॥ ऋतवो होत्राश सिन । कौ० २६ । ८ ॥ ऋतवो वा होत्रा । गो० पू० ५ । ३ ॥ सदस्या ऋतवोऽभवन् । तै० ३ । १२ । ६ ४ ॥ ऋतवो वै विश्वेदेवा । श० ७ । १ । १ । ४३ ॥

( २ ) 'ऋतव्या '—ऋतव एव यद् ऋतव्या । श० ८ । ७ । १ । १ ॥ क्षत्र वा ऋतव्या विश इतरा इतरा इष्टका । श० ८ । ७ । १ । २ ॥ इमे वै लोका ऋतव्या । श० ८ । ७ । १ । १२ ॥

( ३ ) 'संवत्सर '—य स भूतानां पतिः संवत्सरः सः । श० ६ । १ । ३ । ८ ॥ संवत्सरो वै प्रजापतिरेकशतविधः । श० १० । २ । ६ । १ ॥ संवत्सरो वै पिता वैश्वानरः प्रजापतिः । श० १ । ५ । १ । १६ ॥ संवत्सरो वै सोमो राजा । श० ४ । ५३ । ७ ॥ सुमेक संवत्सर एवैको ह्येव नाभि राट् यत् सुमेक इति । श० १ । ७ । २ । २६ ॥ संवत्सरो वै समस्त सहस्वान् श्लोकवान् पुष्टिमान् । ऐ० २ । ४१ ॥

( १ ) छः विभूतियें, समस्त प्राणी विद्वान् पुरुष राजा के राज भाई अर्थात् राज शासन के सहयोगी अधिकारी गण, वृद्ध पितागण, याज्ञिक विद्वान् सदस्य गण 'ऋतु' कहाते हैं। ( २ ) क्षत्रिय सैनिकगण 'ऋतव्य' हैं या समस्त राष्ट्रवासी लोग ही 'ऋतव्य' हैं। ( ३ ) प्राणियों का पालक, प्रजापति, समस्त लोगों का हितकारी, प्रजापालक राजा सब में उत्तम एकाधिपति, बलवान्, पुष्टिमान् पुरुष 'संवत्सर' है। अध्यात्म क्षेत्र में ऋतु, ऋतव्य-प्राण, संवत्सर पुरुष शरीर और मणि=आत्मा।

अन्तर्देशा अबध्नत प्रदिशस्तमबध्नत ।
प्रजापतिसृष्टो मणिर्द्विषतो मे ऽधराँ अकः ॥ १६ ॥

भा०—( अन्तर्देशाः ) अन्तराल दिशाएं और ( प्रदिशः ) मुख्य चार दिशाएं भी ( तम् ) उस नररत्न को सूर्य के समान ( अबध्नत )

गले में मणि के बने हार के समान धारण करती हैं। ( प्रजापति सृष्टः ) प्रजापालक परमेश्वर का उत्पन्न किया हुआ वह ( मणिः ) नर-शिरोमणि पुरुष ( मे ) मेरे से ( द्विषतः ) द्वेष करने हारे शत्रुओं को ( अधरान् ) नीचे ( अकः ) कर देता है।

अथर्वाणो अबध्नताथर्वणा अंबध्नत ।
तैर्मेदिनो अङ्गिरसो दस्यूनां बिभिदुः पुरस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ २० ॥ ( १६ )

भा०—(अथर्वाणः, अथर्व निश्चल स्थिरमति, पुरुष और (आथर्वणाः) अथर्व वेद के विद्वान् गण उस नर-रत्न को अपने गले में हार के समान ( अबध्नत ) धारण करते हैं। ( तैः ) उनसे ( मेदिनः ) परिपुष्ट ( अङ्गिरसः ) विज्ञानवान पुरुष ( दस्यूनां ) प्रजा के विनाशक दुष्ट डाकू लोगों के ( पुरः ) गढ़ों को ( बिभिदुः ) तोड़ डालते हैं। हे राजन् ( तेन ) उससे ( त्वं ) तू ( द्विषतः ) अपने शत्रुओं को ( जहि ) विनाश कर।

तं धाता प्रत्यमुञ्चत स भूतं व्य/कल्पयत् ।
तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ २१ ॥

भा०—( तं ) उसको ( धाता ) धारण करने और उत्पन्न करने वाला विधाता प्रभु स्वयं ( प्रत्यमुञ्चत ) धारण करता है। ( सः ) वह ( भूतम् ) इस चराचर को ( वि अकल्पयत ) नाना प्रकार से उत्पन्न करता या नाना प्रकार से विभक्त करता है। ( तेन ) उस नरश्रेष्ठ पुरुष के बल पर हे राजन् ! तू ( द्विषतः जहि ) शत्रुओं का नाश कर।

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम् ।
स मायं मणिरागमद् रसेन सह वर्चसा ॥ २२ ॥

---

२१—' भूतान्यकल्पयत् ' इति पैप्प० सं०।

२२—' असुरक्षितिम् ' इति पैप्प० सं०।

भा०—( यम् ) जिस ( असुरक्षितिम् ) असुरों के विनाशकारी पुरुष को ( बृहस्पतिः ) वेदज्ञ महामात्य ( देवेभ्यः ) देव विद्वान् श्रेष्ठ पुरुषों के लिये ( अबध्नात् ) राष्ट्र में नियुक्त करता है ( मा ) मुझ राजा के पास ( रसेन ) अपने बल और ( वर्चसा ) तेज के ( सह ) साथ ( सः, अयं मणिः ) वह यह नर-शिरोमणि या सर्व बाधा-निवारक रूप में (आअगमत्) प्राप्त हो।

यमर्ब॰ । स मायं मणिरागमत् सह गोभिरजाविभिरन्नेन प्रजया सह ॥ २३ ॥

भा०—( यम् अबध्नात्० इत्यादि ) असुरों के विनाशक जिस पुरुष को वेदज्ञ महामात्य श्रेष्ठ पुरुषों की रक्षा के लिये नियुक्त करता है ( सः अयं ) वह यह ( मणिः ) नररत्न ( गोभिः अजाविभिः सह ) गौओं, बकरियों और भेड़ों के साथ और ( प्रजया सह ) प्रजा के साथ या ( आगमत् ) मुझ राजा को प्राप्त हो।

यमयं॰ । स मायं मणिरागमत् सह व्रीहियवाभ्यां महसा भूत्या सह ॥ २४ ॥

भा०—( यम् अबध्नात्० इत्यादि ) असुरों के विनाशक जिस पुरुष को वेदज्ञ विद्वान् श्रेष्ठ पुरुषों की रक्षा के लिये नियुक्त करे (सः अयं मणिः) वह नरश्रेष्ठ पुरुष ( व्रीहियवाभ्यां ) धान्य और जौ आदि अन्नों और ( महसा भूत्या सह ) बड़ी भारी धन सम्पत्ति के साथ ( मा ) मुझ राजा को ( आअगमत् ) प्राप्त हो।

यमयं॰ । स मायं मणिरागमन्मधोर्घृतस्य धारया कीलालेन मणिः सह ॥ २५ ॥

भा०—( यम् अबध्नात्० इत्यादि ) असुरों के विनाशक जिस पुरुष को वेदज्ञ विद्वान् श्रेष्ठ पुरुषों की रक्षा के लिये नियुक्त करे (सः अयं मणिः)

वह नरश्रेष्ठ ( मधोः घृतस्य धारया ) मधुर पदार्थों और घृत की धारा और ( कीलालेन ) अमृत या जल या परम अन्न रस के साथ ( मा ) मुझ राजा को ( आ-अगमत् ) प्राप्त हो ।

यमब॑० । स मा॒यं म॒णिरागं॑म॒दूर्ज॑या॒ पय॑सा स॒ह द्रवि॑णेन श्रि॒या स॒ह ॥ २६ ॥

भा०—( यम् अबध्नात्० इत्यादि ) असुरों के नाशक जिस पुरुष को वेदज्ञ विद्वान् श्रेष्ठ पुरुषों की रक्षा के लिये नियुक्त करे ( सः अयं मणिः ) वह यह नरश्रेष्ठ ( ऊर्जया पयसा सह ) अन्न की बलकारी सारवान् शक्ति और पुष्टिकारक दूध और जल के साथ और ( द्रविणेन ) धन सम्पत्ति और ( श्रिया सह ) लक्ष्मी के साथ ( मा आ-अगमत् ) मुझ राजा को प्राप्त हो ।

यमब॑० । स मा॒यं म॒णिरागं॑म॒त् तेज॑सा॒ त्विष्या॑ स॒ह यश॑सा की॒र्त्या॑ स॒ह ॥ २७ ॥

भा०—( यम् अबध्नात्० ) पूर्ववत् । ( सः अयं मणिः ) वह नर यह श्रेष्ठ ( तेजसा ) तेज, ( त्विषा ) कान्ति, ( यशसा कीर्त्या ) यश और कीर्त्ति के ( सह ) साथ ( मा आ-अगमत् ) मुझ राजा को प्राप्त हो ।

यमब॑ध्ना॒द् बृह॒स्पति॑र्दे॒वेभ्यो॒ असु॑रक्षि॒तिम् ।
स मा॒यं म॒णिरागं॑म॒त् सर्वा॑भि॒र्भूति॑भिः स॒ह ॥ २८ ॥

भा०—( यम् अबध्नात्० इत्यादि ) पूर्ववत् । ( सः अयं मणिः ) वह यह नरश्रेष्ठ ( सर्वाभिः भूतिभिः सह ) समस्त कल्याण सम्पदाओं के साथ ( मा आ-अगमत् ) मुझ राजा को प्राप्त हो ।

तमि॒मं दे॒वता॑ म॒णिं मह्यं॑ ददतु पु॒ष्टये॑ ।
अ॒भि॒भुं क्ष॑त्र॒वर्ध॑नं सपत्न॒दम्भ॑नं म॒णिम् ॥ २९ ॥

२८–' ओजसा तेजसा सह ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—( अभिभुम् ) सबको अपने सामर्थ्य से दबाने वाले ( क्षत्र-वर्धनम् ) क्षत्र-बल को बढ़ाने वाले ( सपत्न-दम्भनम् ) शत्रुओं के विनाशक, स्तम्भनशील, सर्वाधार ( तम् इमम् मणिम् ) उस नरश्रेष्ठ पुरुष को (देवता.) समस्त देवगण ( पुष्ट्यै ) राज्य की पुष्टि के लिये ( मह्यम् ) मुझे ( ददतु ) प्रदान करें ।

ब्रह्मणा तेजसा सह प्रति मुञ्चामि मे शिवम् ।
असपत्नः सपत्नहा सपत्नान् मेधराँ अकः ॥ ३० ॥ (२०)

भा०—मैं ( ब्रह्मणा ) ब्रह्म, वेदमय या ब्राह्मणों के ज्ञानमय ( तेजसा ) तेज के साथ ( शिवम् ) उस कल्याणमय नरश्रेष्ठ को ( प्रति-मुञ्चामि ) धारण करूं । वह ( सपत्नहा ) शत्रुनाशक ( असपत्न. ) शत्रुरहित, अजातशत्रु, नरश्रेष्ठ ( सपत्नान् ) शत्रुओं को ( मे अधरान् ) मेरे नीचे ( अक ) करे ।

उत्तरं द्विषतो मामयं मणिः कृणोतु देवजाः ।
यस्य लोका इमे त्रयः पयो दुग्धमुपासते ।
स मायमधि रोहतु मणिः श्रैष्ठ्याय मूर्धतः ॥ ३१ ॥

भा०—( अयं ) यह ( मणि. ) नर-रत्न, शत्रुस्तम्भक पुरुष (देवजा.) देव विद्वानों द्वारा सामर्थ्यवान् एवं अधिकार सत्ता को प्राप्त होकर ( माम् ) मुझे ( द्विपतः ) शत्रुओं के ( उत्तरम् ) ऊपर, उनसे ऊंचा ( कृणोतु ) करे और ( यस्य ) जिसके ( दुग्धम् ) उत्पन्न किये या दुहे गये प्राप्त किये हुए ऐश्वर्य को ( इमे ) ये ( त्रयः ) तीनों ( लोकाः ) लोक, उत्तम, मध्यम और निकृष्ट तीनों श्रेणियों के प्राणी ( उपासते ) भोग करते हैं । ( सः ) वह ( अयम् मणि. ) यह नरोत्तम परम पुरुष ( श्रैष्ठ्याय ) सबसे श्रेष्ठ होने के कारण ( मूर्धतः माम् अधिरोहतु ) मेरे भी शिरोभाग पर पूज्य होकर रहे ।

३१–( प० ) 'स त्वायमभिरक्षतु' इति पैप्प० सं० ।

यह मन्त्र सूक्त में आये 'मणि' शब्द के वाच्यार्थ का स्वरूप दर्शाता है।

यं देवाः पितरो मनुष्या/उपजीवन्ति सर्वदा।
स मायमधि रोहतु मणिः श्रैष्ठ्याय मूर्धतः ॥ ३२ ॥

भा०—( यं ) जिस नरश्रेष्ठ पुरुष के आश्रय पर ( पितरः ) गुरु, माता, पिता, आचार्य आदि पिता के समान पालक पूजनीय पुरुष और ( मनुष्याः ) मननशील जीव ( सर्वदा ) सब कालों में ( उप-जीवन्ति ) अपनी आजीविका प्राप्त करते हैं ( सः मणिः ) वह शिरोमणि पुरुष ( श्रैष्ठ्याय माम् मूर्धतः आधिरोहतु ) सर्वश्रेष्ठ होने के कारण मेरे भी शिरोभाग पर अर्थात् मुझ से भी ऊंचे पद पर रहे।

यथा बीजमुर्वरायां कृष्टे फालेन रोहति।
एवा मयि प्रजा पशवोऽन्नमन्नं वि रोहतु ॥ ३३ ॥

भा०—( यथा ) जिस प्रकार ( उर्वरायाम् ) उर्वरा, उत्कृष्ट भूमि में ( फालेन ) हल की फाली से ( कृष्टे ) हल चला लेने पर बोया हुआ ( बीजम् ) बीज ( रोहति ) खूब अच्छी प्रकार उगता है और फलता है ( एवा ) उसी प्रकार ( मयि ) मुझ में ( प्रजा पशवः अन्नं वि रोहतु ) प्रजाएं, पशु और अन्न विशेष प्रकार से उत्पन्न हों और समृद्ध हों। ' फाल मणि ' का रहस्यार्थ इस मन्त्र में स्पष्ट कर दिया है।

यस्मै त्वा यज्ञवर्धन मणे प्रत्यमुचं शिवम्।
तं त्वं शतदक्षिण मणे श्रैष्ठ्याय जिन्वतात् ॥ ३४ ॥

भा०—हे ( यज्ञवर्धन ) यज्ञ राष्ट्र की व्यवस्था-संगति को निरन्तर बढ़ाने हारे ( मणे ) शिरोमणे ! ( त्वां ) तुझ ( शिवम् ) शिव, कल्याणकारी का ( यस्मै ) जिसको ( प्रति अमुचम् ) मैं धारण करता हूं। हे ( शतदक्षिण मणे ) सैकड़ों दक्षिणाओं से सम्पन्न शिरोमणे ! ( तं ) उस राजा को ( श्रैष्ठ्याय ) सर्वश्रेष्ठ पद प्राप्त कराने के लिये ( जिन्वतात् ) समर्थ हो।

एतमिध्मं समाहितं जुषाणो अग्ने प्रति हर्य होमैः ।
तस्मिन् विदेम सुमतिं स्वस्ति प्रजां चक्षुः पशून्त्समिद्धे
जातवेदसि ब्रह्मणा ॥ ३५ ॥ ( २१ )

भा०—हे ( अग्ने ) अग्ने ! शत्रुतापकारिन् राजन् ! ( समाहितम् इध्मम् जुषाण ) जिस प्रकार आग में रखे काष्ठ को प्राप्त करके अग्नि घृत चरु के होमों द्वारा दीप्त हो जाती है उसी प्रकार ( एतं ) इस ( समाहितम् ) भली प्रकार तुझ में स्थापित ( इध्मम् ) दीप्तियुक्त राज्यपद को ( जुषाण ) प्राप्त करता हुआ ( होमैः ) बलि, राष्ट्र कर रूप द्रव्यादानों से ( प्रति हर्य ) समृद्ध हो । ( ब्रह्मणा ) वेद के विद्वान् ब्राह्मणवर्ग या ब्रह्म बल से ( तस्मिन् ) उस ( जात-वेदसि ) ज्ञानवेदा, ऐश्वर्यवान् राजा के ( समिद्धे ) अति प्रदीप्त होजाने पर हम राष्ट्रवासी जन ( स्वस्ति ) कल्याणपूर्वक ( सुमतिम् ) उत्तम ज्ञान ( प्रजाम् ) उत्तम सन्तान और ( चक्षुः ) चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों और ( पशून् ) गौ, अश्व आदि पशुओं को ( विदेम ) प्राप्त करें ।

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

[ तत्र सूक्तद्वयम्, पञ्चाशितिश्च ऋचः ]

## [ ७ ] ज्येष्ठ ब्रह्म या स्कम्भ का स्वरूप वर्णन ।

अथर्वा क्षुद्र ऋषिः । मन्त्रोक्तः स्कम्भः अध्यात्मं वा देवता । स्कम्भ सूक्तम् ॥ १ विराट् जगती, २, ८ भुरिजौ, ७, १३ परोष्णिक्, ११, १५, २०, २२, ३७ ३९ उपरिष्टात् ज्योतिर्जगत्यः, १०, १४, १६, १८ उपरिष्टाद्बृहत्यः, १७ त्र्यवसाना पञ्च जगती, २१ बृहतीगर्भा अनुष्टुप्, २३, ३० ३७, ४० अनुष्टुभः, ३१ मध्येज्योतिर्जगती, २२, २४, २६ उपरिष्टाद् विराड् बृहत्यः, ३३ परा विराड् अनुष्टुप्, ३५ चतुष्पदा जगती, १८, ३–६, ९, १२, १९, ४०,

४२-४३ त्रिष्टुभः, ४१ आर्षी विराड् गायत्री, ४४ द्विपदा वा पञ्चपदा निचृत् पदपंक्तिः । चतुश्चत्वारिंशदृचं सूक्तम् ॥

कस्मिन्नङ्गे तपो अस्याधि तिष्ठति कस्मिन्नङ्ग ऋतमस्याध्याहितम् ।
क्व व्रतं क्व श्रद्धास्य तिष्ठति कस्मिन्नङ्गे सत्यमस्य प्रतिष्ठितम् ॥१॥

भा०—( अस्य ) इसके ( कस्मिन् अंगे ) किस अंग में ( तपः ) 'तप' ( अधि तिष्ठति ) विराजता है ? ( अस्य ) और इसके ( कस्मिन् अंगे ) किस अङ्ग में ( ऋतम् अधि आ-हितम् ) 'ऋत' धरा है ? (अस्य) इसके किस भाग में ( व्रतं तिष्ठति ) व्रत बैठा है और किस अङ्ग में ( श्रद्धा ) श्रद्धा स्थित है ? और ( अस्य ) इसके ( कस्मिन् अङ्गे ) किस अङ्ग में ( सत्यम् प्रतिष्ठितम् ) सत्य प्रतिष्ठित है ?

कस्मादङ्गाद् दीप्यते अग्निरस्य कस्मादङ्गात् पवते मातरिश्वा ।
कस्मादङ्गाद् वि मिमीतेऽधि चन्द्रमा मह स्कम्भस्य मिमानो अङ्गम् ॥ २ ॥

भा०—( अस्य ) इस स्कम्भ के ( कस्मात् अंगात् ) किस अङ्ग से ( अग्निः ) अग्नि ( दीप्यते ) प्रकाशित होता है ? ( मातरिश्वा ) मातरिश्वा, वायु ( कस्मात् अंगात् ) किस अङ्ग से ( पवते ) बहता है ? ( चन्द्रमाः ) चन्द्रमा ( महः स्कम्भस्य ) महान् स्कम्भ=ज्येष्ठ ब्रह्म, सर्वाश्रय परम आत्मा के ( अङ्गम् ) स्वरूप को ( मिमानः ) प्रकट करता हुआ ( कस्मात् अंगात् ) किस अङ्ग से ( अधि वि मिमीते ) प्रकट होता है ?

कस्मिन्नङ्गे तिष्ठति भूमिरस्य कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्यन्तरिक्षम् ।
कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्याहिता द्यौः कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्युत्तरं दिवः ॥ ३ ॥

[ ७ ] १–( प्र० ) 'तपोऽस्य' इति पैप्प० सं० ।
२–( च० ) 'स्कम्भस्य महस् मिमानो' इति पैप्प० सं० ।

भा०—( अस्य ) इसके ( कस्मिन् अंगे ) किस अङ्ग में ( भूमिः ) भूमि ( तिष्ठति ) विराजती है ? ( अस्य ) इसके ( कस्मिन् अङ्गे ) किस अङ्ग में ( अन्तरिक्षम् ) अन्तरिक्ष ( तिष्ठति ) विराजमान है ? ( कस्मिन् अङ्गे ) किस अङ्ग में ( निहिता द्यौः तिष्ठति ) धारी द्यौः विराजती है ? और ( दिवः उत्तरम् ) द्यौलोक से भी परे का भाग उस 'स्कम्भ' के ( कस्मिन् अङ्गे ) किस अङ्ग के ( तिष्ठति ) स्थित है ?

क्वं॒ प्रेप्सं॑न् दीप्यत ऊ॒र्ध्वो अ॒ग्निः क्वं॒ प्रेप्सं॑न् पवते मात॒रिश्वा॑ ।
यत्र॒ प्रेप्सं॑न्तीरभि॒यन्त्या॒वृतः॑ स्क॒म्भं तं ब्रू॑हि कत॒मः स्वि॑दे॒व सः ॥४॥

भा०—हे विद्वान् पुरुष ! बतला ? ( ऊर्ध्वः अग्निः ) ऊपर विराजमान वह महान् अग्नि, सूर्य ( क प्रेप्सन् ) किस में अपनी अभिलाषा बांधे, या कहां जाना चाहता हुआ ( दीप्यते ) प्रकाशित हो रहा है ? और ( मातरिश्वा ) वायु ( क प्रेप्सन् ) कहां पहुंचने की अभिलाषा से ( पवते ) निरन्तर बहता है ? ( आवृतः ) ये सब मार्ग ( क प्रेप्सन्तीः ) कहां पहुंचना चाहते हुए ( अभि यन्ति ) चले चले जा रहे हैं ? हे विद्वन् ! तू ( तं ) उस ( स्कम्भम् ) सर्व जगत् के आश्रयभूत, स्तम्भ या 'स्कम्भ' का ( ब्रूहि ) उपदेश कर ( स ) वह ( कतमः स्वित् ) कौन सा पदार्थ है ?

क्वा॑र्धमा॒साः क्वं॑ यन्ति॒ मासाः॑ संवत्स॒रेण॑ स॒ह सं॑विदा॒नाः ।
यत्र॒ यन्त्यृ॒तवो॒ यत्रा॑र्त॒वाः स्क॒म्भं तं० ॥ ५ ॥

भा०—( अर्ध-मासाः ) आधे मास, पक्ष और ( मासाः ) मास ( सं-वत्सरेण ) संवत्सर के ( सह ) साथ ( संविदानाः ) सहमति या संगलाभ करके ( क यन्ति ) कहां जा रहे हैं ? ये ( ऋतवः ) ऋतु और ( आर्त्तवाः ) ऋतु के भाग ( यत्र यन्ति ) जहां जाते हैं, हे विद्वन् ! ( तं ) उस सर्वाश्रय ( स्कम्भम् ) स्कम्भ का ( ब्रूहि ) उपदेश कर ( सः कतमः स्वित् एव ) वह कौन सा पदार्थ है ?

क्व प्रेप्संन्ती युवती विरूपे अहोरात्रे द्रवतः संविदाने ।
यत्र प्रेप्संन्तीरभियन्त्यापः स्कम्भं तं० ॥ ६ ॥

भा०—( विरूपे ) विपरीत रूप वाले, काले और गोरे रंग के, तमः और प्रकाशस्वरूप (युवती) मानो दो नर-नारी के समान परस्पर मन्त्रणा करते हुए (अहोरात्रे) दिन और रात ( क्व प्रेप्सन्ती ) कहां पहुंचने की अभिलाषा करके (द्रवतः) जारहे हैं ? (आपः) ये जलधाराएं, नदियें (यत्र) जहां भी (प्रेप्सन्तीः) पहुंचने की अभिलाषा करती हुई ( अभि यन्ति ) चली जा रही हैं हे विद्वन् ! ( तं स्कम्भम् ) जगत् के उस परम आश्रयभूत 'स्कम्भ'=खम्भे का ( ब्रूहि ) उपदेश कर ( कतमः स्विद् एव सः ) वह कौनसा सर्वोत्कृष्ट पदार्थ है ?

यस्मिन्त्स्तब्ध्वा प्रजापतिर्लोकान्त्सर्वां अधारयत् ।
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ ७ ॥

भा०—( प्रजापतिः ) समस्त प्रजाओं के पालक परमेश्वर ने ( यस्मिन् ) जिस परम आश्रय पर ( सर्वान् लोकान् ) समस्त लोकों को ( स्तब्ध्वा ) थाम कर ( अधारयत् ) धारण किया है हे विद्वन् ! ( तं स्कम्भं ब्रूहि ) उस 'स्कम्भ' महान् जगत्-स्तम्भ का उपदेश कर। ( कतमः स्विद् एव सः ) वह कौनसा पदार्थ है ?

यत् परममवमं यच्च मध्यमं प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम् ।
कियता स्कम्भः प्र विवेश तत्र यन्न प्राविशत् कियत् तद् बभूव ॥८॥

भा०—हे विद्वन् ! ( प्रजापतिः ) प्रजाओं के पालक परमात्मा प्रजापति ने ( यत् ) जो ( परमम् ) परम, सबसे उत्कृष्ट, सात्विक या द्यौलोक, ( यत् च अवमम् ) सबसे निकृष्ट तामस या भूलोक और ( यच्च मध्यमम् ) जो मध्यम राजस या बीच का अन्तरिक्ष लोक ( विश्वरूपं ) विश्वरूप, समस्त

७-'यस्मिन् स्तब्ध्वा' इति क्वचित् पाठः ।

ब्रह्माण्ड ( ससृजे ) बनाया है ( तत्र ) उसमें ( स्कम्भ ) वह परम आश्रय स्तम्भ रूप 'स्कम्भ', ज्येष्ठ ब्रह्म ( कियता ) कितने अंश से ( प्र विवेश ) प्रविष्ट है और ( यत् ) जो भाग ( न प्रविशत् ) उसमें प्रविष्ट नहीं है ( तत् ) वह ( कियत् बभूव ) कितना शेष है ?

कियता स्कम्भः प्र विवेश भूतं कियद् भविष्यदन्वाशयेऽस्य ।
एकं यदङ्गमकृणोत् सहस्रधा कियता स्कम्भः प्र विवेश तत्र ॥९॥

भा०—वह 'स्कम्भ' ( भूतम् ) भूतकाल में ( कियता ) कितने अंश से ( प्रविवेश ) प्रविष्ट है ? और ( भविष्यत् ) भविष्यत् काल में ( अस्य ) इस स्कम्भ रूप ज्येष्ठ ब्रह्म का ( कियत् ) कितना अंश ( अनु आ-शये ) व्याप्त है। और ( एकम् अङ्गम् ) एक ही अंग को ( यद् ) यदि ( सहस्रधा ) सहस्रों रूपों में ( अकृणोत् ) प्रकट किया है तो ( तत्र ) वहां ( स्कम्भ ) स्कम्भ, सर्वाश्रय ज्येष्ठ ब्रह्म ( कियता ) कितने अंश से ( प्र विवेश ) प्रविष्ट है।

यत्र लोकांश्च कोशांश्चापो ब्रह्म जना विदुः ।
असंच्च यत्र सच्चान्तः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥१०॥(२२)

भा०—( यत्र ) जिसके आश्रय पर ( लोकान् च ) समस्त लोकों और ( कोशान् च ) समस्त हिरण्यगर्भ आदि भुवनों को ( आपः ) समस्त विश्व के मूल, कारणरूप, प्रकृति के सूक्ष्म परमाणु और ( जनाः ) विद्वान् जन ( ब्रह्म ) ब्रह्म, सबसे महान् वेदज्ञान को भी आश्रित जानते हैं। और ( यत्र ) जहां ( असत् च ) असत्, अव्याकृत जगत् और ( अन्तः ) जिसके भीतर ( सत् च ) सत्, व्याकृत जगत् भी विद्यमान है ( तं स्कम्भं ब्रूहि ) उस स्कम्भ, सर्वाश्रय, ज्येष्ठ ब्रह्म का उपदेश कर। ( सः कतमः स्विद् एव ) वह इन समस्त पदार्थों में कौनसा है ? अथवा ( यत्र ) जहां ( असत् च ) असत् अव्याकृत प्रकृति विद्यमान है और ( अन्तः ) भीतर जो ( सत् च ) स्वयं सत् स्वरूप है ( तं स्कम्भं ब्रूहि ) उस जगदाधार, परमेश्वर स्कम्भ के रूप को बतला ?

यत्र तपः पराक्रम्य व्रतं धारयत्युत्तरम् ।
ऋतं च यत्र श्रद्धा चापो ब्रह्म समाहिताः स्कम्भं तं० ॥ ११ ॥

भा०—( यत्र ) जिसके आश्रय पर ( तपः ) तप, पराक्रम करके ( उत्तरम् ) उत्कृष्ट ( व्रतम् ) व्रत, आचरण को ( धारयति ) धारण करता है और ( यत्र च ) जहां ( ऋतम् ) ऋत परम सत्य ( श्रद्धा च ) और श्रद्धा, (आपः) आपः, समस्त जीवगण या प्रकृति का सूक्ष्म परमाणु या आप्त परम-पद में प्राप्त मुक्त जीव और ( ब्रह्म ) अव्यक्त प्रकृति या समस्त विश्व या वेद का परम ज्ञान ( सम्-आहिता ) एक ही संग आश्रित हैं ( तं स्कम्भं ब्रूहि ) उस परम जगदाधारभूत स्कम्भ का उपदेश कर । ( कतमः स्विद् एव सः ) वह कौनसा परम पूजनीय ईश्वर है ?

यस्मिन् भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता ।
यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यार्पिताः स्कम्भं तं० ॥ १२ ॥

भा०—( यस्मिन् ) जिसमें ( भूमिः ) भूमि ( अन्तरिक्षं ) अन्तरिक्ष और ( द्यौः ) द्यौ लोक ( अधि आहिता ) स्थित हैं । ( यत्र ) जिसमें ( अग्निः चन्द्रमाः ) अग्नि, चन्द्रमा ( सूर्यः ) सूर्य और ( वातः ) वायु ( आ अर्पिताः ) सब प्रकार से आश्रित होकर ( तिष्ठन्ति ) खड़े हैं ( तं स्कम्भम् ) उस स्कम्भ का ( ब्रूहि ) उपदेश कर । ( कतमः स्वित् एव सः ) वह भला कौनसा है ?

यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अङ्गे सर्वे समाहिताः । स्कम्भं तं० ॥ १३ ॥

भा०—( यस्य अङ्गे ) जिसके अङ्ग में ( सर्वे ) सब के सब ( त्रयःत्रिंशत् ) तेतीस ( देवाः ) देवगण ( सम्-आहिताः ) भली प्रकार स्थित हैं ( तं

---

११-( द्वि० ) 'पराक्रम्य व्रतं', ( तृ० ) 'सत्यं च यत्र' ( च० ) 'श्रद्धा च यत्र चापः' इति पैप्प० सं० ।

स्कम्भं ब्रूहि कतम. स्विद् एव स ) उस स्कम्भ का उपदेश कर वह कौनसा है ?

" कतमे ते ते त्रयस्त्रिंशदित्यष्टौ वसव , एकादश रुद्राः, द्वादशादित्या· स्त एकत्रिंशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशाविति ॥ २ ॥ कतमे वसव इति, अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौ श्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसव. । एतेषु हीदं सर्वं हितमिति तस्माद्वसव· इति ॥ ३ ॥ कतमे रुद्रा इति । दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मा एकादशस्ते यदाऽस्माच्छरीरान्मर्त्यो दुत्क्रामन्ति अथ रोदयन्ति । तद् यद् रोदयन्ति तस्माद् रुद्राः इति ॥ ४ ॥ कतम आदित्या इति । द्वादश वै मासा संवत्सरस्यैत आदित्याः । एते हि इदं सर्वमाददाना यन्ति । यदिदं सर्वमाददाना यन्ति तस्मात् आदित्या इति " ( बृहदा० उप० ३ । ९ । २–५ ) बृहदारण्यक उपनिषत् में अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौः, चन्द्रमा और नक्षत्र ये आठ ' वसु ' हैं, पुरुष शरीर में दश प्राण और आत्मा ये ग्यारह ' रुद्र ', वर्ष के १२ मास आदित्य और अशनि और पशु या और यज्ञ, स्तनयित्नु या इन्द्र और प्रजापति ये ३३ देवता गिनाये हैं ।

यत्र ऋषयः प्रथमजा ऋचः साम यजुर्मही ।
एकर्षिर्यस्मिन्नार्पितः स्कम्भं तं० ॥ १४ ॥

भा०—( यत्र ) जिसमें ( प्रथमजा. ) सबसे प्रथम उत्पन्न ऋषि, अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा और उनके हृदय में प्रकाशित ( ऋचः साम यजुः मही ) ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद और महती ब्रह्मविद्या ब्रह्मवेद=अथर्व आश्रित हैं और ( यस्मिन् ) जिसके स्वरूप में ( एक ऋषिः ) वह एकमात्र परम ऋषि सर्व संसार का द्रष्टा परमेश्वर स्वयं ( अर्पितः ) विराजमान है, ( तं स्कम्भं ) उस स्कम्भ का उपदेश कर ? ( कतम. स्वित् एव सः ) वह कौनसा पदार्थ है ?

---

१४–( प्र० ) ' यत्र ऋषयो भूतकृतः ' इति पैप्प० स० ।

इस मन्त्र में सूक्त की ग्रन्थि खोल दी है ।

यत्रामृतं च मृत्युश्च पुरुषेऽधि समाहिते ।
समुद्रो यस्य नाड्यः पुरुषेऽधि समाहिताः स्कम्भं तं० ॥ १५ ॥

भा०—( अमृतं च ) अमृत, अमर जीवन और ( मृत्युः च ) मृत्यु दोनों ( यत्र पुरुषे ) जिस परम पुरुष में ( अधि समाहिते ) आश्रित हैं और ( समुद्रः ) समुद्र, महान् आकाश ( यस्य ) जिसके महान् ब्रह्माण्डमय शरीर में ( पुरुषे नाड्य इव सम् आहिताः ) पुरुष के शरीर में रुधिरभरी नाड़ियों के समान स्थित है ( तं स्कम्भं ब्रूहि ) उस स्कम्भ का उपदेश करो ? ( कतमः स्वित् एव सः ) वह कौनसा है ?

यस्य चतस्रः प्रदिशो नाड्यस्तिष्ठन्ति प्रथमाः ।
यज्ञो यत्र पराक्रान्तः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥१६॥

भा०—और ( यस्य ) जिसके विराट् रूप में ( प्रदिशः ) मुख्य दिशाएं ( प्रथमाः नाड्यः ) मुख्य नाड़ियों के समान ( तिष्ठन्ति ) विराजती हैं ( यत्र ) जिसमें ( यज्ञः ) यह विश्वरूप महान् यज्ञ ( पराक्रान्तः ) बड़ी उत्कृष्टता से सम्पादित होता है ( तं स्कम्भं ब्रूहि ) उस स्कम्भ का उपदेश कर । ( कतमः स्वित् एव सः ) बतला वह कौनसा है ?

ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम् ।
यो वेद परमेष्ठिनं यश्च वेद प्रजापतिम् ।
ज्येष्ठं ये ब्राह्मणं विदुस्ते स्कम्भमनुसंविदुः ॥ १७ ॥

---

१५–( द्वि० ) ' पुरुषश्च समाहितः ' इति पैप्प० सं० ।

१६–( द्वि० ) ' प्रथमाः ' इति ह्विटनिकामितः पाठः । ' प्रम्यसाः ' इति प्रायशः । ' प्रम्यसाः ' इति लाक्षणिकं रूपम् प्रम्यसाः प्रमीता इत्यर्थः ।

१७–( प० ) ' ते स्कम्भमर[ नु ]सं विदुः ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—( ये ) जो विद्वान् योगी जन ( पुरुषे ) इस पुरुष=शक्ति रूप में विद्यमान ( ब्रह्म ) उस महान् ब्रह्म का ( विदुः ) साक्षात् ज्ञान करते हैं ( ते ) वे ही ( परमेष्ठिनम् ) पर पद में स्थित ब्रह्म का भी ( विदुः ) साक्षात्कार करते हैं और ( यः ) जो ब्रह्मवेत्ता ( परमेष्ठिनम् ) उस परमधाम में स्थित परम पुरुष का ( वेद ) साक्षात् ज्ञान कर लेता है ( यः च ) और जो ( प्रजापतिम् ) इस समस्त चर, अचर प्रजा के पालक का ( वेद ) साक्षात् ज्ञान प्राप्त कर लेता है और ( ये ) जो ब्रह्मवेदी गण ( ज्येष्ठम् ) परम ज्येष्ठ सबसे उत्कृष्ट ( ब्राह्मणं ) ब्रह्म के पुरुषमय विराट्रूप को ( विदुः ) साक्षात् प्राप्त करते हैं ( ते ) वे ही ( स्कम्भम् ) उस परम जगदाधार स्कम्भ का ( अनु संविदुः ) भली प्रकार ज्ञान लाभ करते हैं।

यस्य शिरो वैश्वानरश्चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्।
अङ्गानि यस्य यातवः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ १८ ॥

भा०—( वैश्वानरः ) वैश्वानर, सूर्य ( यस्य ) जिसका ( शिरः ) शिर है, ( अङ्गिरसः ) अंगिरस=उसके विराट् देह में रस या सारभूत तेजोमय सहस्रों नक्षत्रमय सूर्य ( चक्षुः ) चक्षुरूप ( अभवन् ) हैं। और ( यातवः ) गतिमान समस्त लोक ( यस्य ) जिसके ( अङ्गानि ) अङ्ग हैं ( तं स्कम्भं ब्रूहि ) उस स्कम्भ का उपदेश करो। ( कतमः स्वित् एव सः ) वह कौनसा पदार्थ है ?

यस्य ब्रह्म मुखमाहुर्जिह्वां मधुकशामुत।
विराजमूधो यस्याहुः स्कम्भं तं० ॥ १९ ॥ १९ ॥

भा०—(यस्य) जिसका ( मुखम् ) मुख, मुख्य या मुख स्थानीय (ब्रह्म) 'ब्रह्म' वेद को ( आहुः ) बतलाते हैं और ( मधुकशाम् ) मधुकशा अमृतवल्ली

१९–( तृ० ) 'विराज यस्योधाहुः' इति पैप्प० सं०।

को ( जिह्वाम् आहुः ) उस स्कम्भ की जिह्वा बतलाते हैं ( उत ) और ( विराजम् ) 'विराट्' रूप को ( यस्य ) जिसका ( ऊधः ) ऊधस् अर्थात् आनन्द रस का 'थान' कहते हैं । हे विद्वन् ! ( तं स्कम्भं ब्रूहि ) उस स्कम्भ का उपदेश कर । ( कतमः स्विद् एव सः ) वह सब देवों में से कौनसा देव है ?

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन् ।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ २० ॥ ( २३ )

भा०—( यस्मात् ) जिस 'स्कम्भ' से ( यजुः ) यजुर्वेद ( अप अकषन् ) प्रकट हुआ । ( सामानि ) साम ( यस्य लोमानि ) जिसके लोम हैं और ( अथर्वाङ्गिरसः ) अथर्व और आङ्गिरस वेद ( मुखम् ) जिस 'स्कम्भ' का मुख हैं । ( तं स्कम्भं ब्रूहि ) उस स्कम्भ को मुझे बतला कि ( कतमः स्विद् एव सः ) वह सब देवों में से कौनसा देव है ?

असच्छाखां प्रतिष्ठन्तीं परममिव जना विदुः ।
उतो सन्मन्यन्तेवरे ये ते शाखामुपासते ॥ २१ ॥

भा०—( जनाः ) लोग ( प्रतिष्ठन्तीं ) प्रकट रूप से प्रत्यक्ष होने वाली ( शाखाम् ) अव्याकृत 'शाखा' समस्त आकाश में व्यापक सृष्टि को ही ( परमम् इव ) परम असत् के समान ( विदुः ) जानते हैं । ( उतो ) और ( ये ) जो ( अवरे ) दूसरे लोग ( शाखाम् उपासते ) उस परम ब्रह्म में लीन शक्ति की उपासना करते हैं ( ते ) वे उसको ( सत् मन्यन्ते ) 'सत्' ही मानते हैं । अथवा पदपाठ के अनुसार, ( प्रतिष्ठन्तीम् असत्-शाखाम् ) प्रकट रूप में विराजमान 'असत्'=प्रकृति मूलक इस सृष्टि को ही ( जनाः परमम् इव विदुः ) लोग परम तत्व के समान जानते हैं । ( उतो ) और

२०–'यस्मादृचोऽपा', ( तृ० ) 'छन्दांसि यस्य' इति पैप्प० सं० ।

( ये ) जो उस ( शाखाम् उप आसते ) शाखा=शक्ति की उपासना करते हैं उस पर विचार करते हैं ( ते अवरे ) वे दूसरे लोग उसको 'सत्' सत् रूप से जानते हैं ।

यत्रादित्याश्च रुद्राश्च वसवश्च समाहिताः ।
भूतं च यत्र भव्यं च सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ २२ ॥

भा०—( यत्र ) जिसके ( आदित्याः च, रुद्राः च, वसवः च ) बारह आदित्य, मास, ११ रुद्र—दश प्राण और ११ वां आत्मा और आठ वसु-गण ( सम् आहिताः ) एकत्र स्थित हैं और ( यत्र च ) जहां ( भूत भव्यं च ) भूत और भविष्यत् जगत् और ( सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः ) समस्त लोक प्रतिष्ठित हैं ( तं स्कम्भं ब्रूहि ) उस स्कम्भ को बतलाओ कि ( कतमः स्विद् एव स ) वह कौनसा है ?

यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा निधिं रक्षन्ति सर्वदा ।
निधिं तमद्य को वेद यं देवा अभिरक्षथ ॥ २३ ॥

भा०—( यस्य ) जिसके ( निधिम् ) परम भण्डार की ( त्रयस्त्रिंशत् ) तेंतीस ( देवाः ) देवगण ( सर्वदा रक्षन्ति ) सदा रक्षा करते हैं तो हे ( देवाः ) देवगणो ! ( यं ) जिसकी तुम ( अभि रक्षथ ) सब प्रकार से रक्षा करते हो ( तं निधिम् ) उस खजाने को ( अद्य ) आज, अब ( कः वेद ) कौन जानता है ? कोई विरला ही जानता है ।

यत्र देवा ब्रह्मविदो ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते ।
यो वै तान् विद्यात् प्रत्यक्षं स ब्रह्मा वेदिता स्यात् ॥ २४ ॥

भा०—( यत्र ) जिसके आश्रय पर ( देवाः ) समस्त देवगण हैं उस ( ज्येष्ठं ब्रह्म ) ज्येष्ठ, सर्वोत्कृष्ट परब्रह्म को ( ब्रह्मविदः ) ब्रह्मवेत्ता ऋषि

२४-( द्वि० ) 'यो वै तद् ब्रह्मणो वेद स वै ब्रह्मविदो विदुः' इति पैप्प० सं० ।

( उपासते ) उपासना करते हैं । ( यः ) जो ( वै ) भी ( तान् ) उन ब्रह्मवेदियों का ( प्रत्यक्षम् ) प्रत्यक्ष साक्षात् ( विद्यात् ) लाभ करे ( सः वेदिता ) वह भी ज्ञानी ( ब्रह्मा ) ब्रह्मवेत्ता ( स्यात् ) हो जाय ।

बृहन्तो नाम ते देवा येऽसंतः परि जज्ञिरे ।
एकं तदङ्गं स्कम्भस्यासंदाहुः परो जनाः ॥ २५ ॥

भा०—( ते ) वे ( देवाः ) देव ( बृहन्तः ) 'बृहत्' नामक हैं ( ये ) जो ( असतः ) 'असत्' से ( परि जज्ञिरे ) उत्पन्न होते हैं । ( स्कम्भस्य ) स्कम्भ का ( तत् ) वह ( एकम् अङ्गम् ) एक अङ्ग है जिसको ( जनाः ) लोग ( परः ) इस व्याकृत जगत् से परे ( असत् ) 'असत्' रूप से ( आहुः ) बतलाते हैं ।

यत्र स्कम्भः प्रजनयन् पुराणं व्यवंर्तयत् ।
एकं तदङ्गं स्कम्भस्य पुराणमनुसंविदुः ॥ २६ ॥

भा०—( यत्र ) जिस रूप में ( स्कम्भः ) 'स्कम्भ' ने ( प्र-जनयन् ) सृष्टि उत्पन्न करते हुए ( पुराणं वि अवर्तयत् ) 'पुराण' नाम हिरण्यगर्भ को बनाया । ( तत् ) वह भी ( स्कम्भस्य ) 'स्कम्भ' जगदाधार परमेश्वर का ( एकं अङ्गम् ) एक अङ्ग=रूप है जिसको विद्वान् लोग ( पुराणम् ) 'पुराण' नाम से ( अनु संविदुः ) जानते हैं ।

यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे ।
तान् वै त्रयस्त्रिंशद्देवानेके ब्रह्मविदो विदुः ॥ २७ ॥

२५–( द्वि० ) 'पुरा जज्ञिरे' इति ल्युविग्कामितः पाठः । 'परं जज्ञिरे' गूरकामितः पाठः । 'पुरो जज्ञिरे' इति पैप्प० सं० ।

२६–( च० ) 'पुराणमरसं विदुः' इति पैप्प० सं० ।

२७–( द्वि० ) 'गात्राणि भेजिरे' इति पैप्प० सं० ।

भा०—( यस्य अङ्गे ) जिसके शरीर में ( त्रयस्त्रिंशत् देवाः ) तेंतीस देव ( गात्रा विभेजिरे ) अवयव के समान बंटे हुए हैं । ( एके ब्रह्मविद. ) कोई ब्रह्मवेत्ता ( तान् ) उन ( त्रयस्त्रिंशत् देवान् ) तेंतीस देवों का ही ( विदुः ) ज्ञान प्राप्त करते हैं ।

हिरण्यगर्भं परममनत्युद्यं जना विदुः ।
स्कम्भस्तदग्रे प्रासिञ्चद्धिरण्यं लोके अन्तरा ॥ २८ ॥

भा०—( जना ) लोग ( हिरण्यगर्भम् ) हिरण्यगर्भ को ही (परमम्) परम ( अनति-उद्य विदुः ) ऐसा तत्व जानते हैं कि जिसके परे और कोई पदार्थ न बतलाया जा सके । परन्तु ( तत् हिरण्य ) उस 'हिरण्य' तेजोमय वीर्य को ( अग्रे ) उसके भी पूर्व ( लोके अन्तरा ) इस लोक के बीच में ( स्कम्भ· ) उस जगदाधार 'स्कम्भ' ने ही ( प्रासिञ्चत् ) प्रकृति में सिञ्चन किया था ।

स्कम्भे लोकाः स्कम्भे तपः स्कम्भेऽध्यृतमाहितम् ।
स्कम्भ त्वा वेद प्रत्यक्षमिन्द्रे सर्वं समाहितम् ॥ २९ ॥

भा०—( स्कम्भे लोकाः ) स्कम्भ में समस्त लोक, ( स्कम्भे तप. ) 'स्कम्भ' में तप, और ( स्कम्भे ऋतम् अधि आहितम् ) स्कम्भ में 'ऋत' परम ज्ञान प्रतिष्ठित है । हे ( स्कम्भ ) 'स्कम्भ' जगदाधार ! मैं द्रष्टा ( त्वा ) तुमको ( प्रत्यक्षं वेद ) साक्षात् करूं कि ( इन्द्रे सर्वं समाहितम् ) उस परम् ऐश्वर्यवान् परमेश्वर में समस्त जगत् अच्छी प्रकार स्थित है ।

इन्द्रे लोका इन्द्रे तप इन्द्रेऽध्यृतमाहितम् ।
इन्द्रं त्वा वेद प्रत्यक्षं स्कम्भे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ ३० ॥ ( २४ )

२९–( तृ० ) 'स्कम्भं त्वा' इति क्वचित्कः पाठः ।
३०–( तृ० ) 'इन्द्र त्वा' इति ह्विटनिकामितः पाठः ।

भा०—( इन्द्रे लोकाः ) 'इन्द्र' परमेश्वर में समस्त लोक स्थित हैं ( इन्द्रे तपः ) उस 'इन्द्र' परमेश्वर में 'तप' स्थित है। ( इन्द्रे ऋतम् अधि आहितम् ) इन्द्र परमेश्वर में समस्त परम ज्ञान स्थित है। मैं ( त्वा इन्द्रं प्रत्यक्षं वेद ) तुझ जगदाधार परमेश्वर को ही 'इन्द्र' परमैश्वर्यवान् साक्षात् जानूं। ( स्कम्भे सर्वं प्रतिष्ठितम् ) उस जगत् के आधारभूत 'स्कम्भ' में समस्त संसार विराजमान है।

नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात् पुरोषसः।
यदुजः प्रथमं संबभूव स ह तत् स्वराज्यमियाय यस्मान्नान्यत् परमस्ति भूतम् ॥ ३१ ॥

भा०—( नाम नाम्ना जोहवीति ) मनुष्य एक नाम या पद की व्याख्या करने के लिये दूसरे नाम या पद से उसको पुकारता है या ( नाम ) उस नमस्कार योग्य परमेश्वर को ( नाम्ना ) किसी भी पद से पुकार लेता है। वह परमतत्व तो ( पुरा सूर्यात् ) इस सूर्य से भी पहले और ( उषसः पुराः ) सूर्य के पूर्व उषा होता है और वह उषा से भी पूर्व विद्यमान है। ( यत् ) जब ( प्रथमं ) सब से प्रथम ( सः ) वह ( अजः ) अजन्मा, परम आत्मा ही ( सं बभूव ) एकमात्र था ( तत् ) उस समय ( सः ) निश्चय से वही ( स्वराज्यम् इयाय ) स्वयं प्रकाशमान रूप को प्राप्त था। ( यस्मात् ) जिसमें ( अन्यत् ) दूसरा ( परम् भूतम् ) कोई 'भूत'=उत्पन्न होने वाला पदार्थ, पर=इस जगत् को अतिक्रमण करने वाला उससे पूर्व विद्यमान ( न अस्ति ) नहीं है। इस मन्त्र में ह्विटनी का 'अज' का अर्थ 'बकरा' करना बड़ा हास्यास्पद है।

यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३२ ॥

३१–( प्र० ) 'जोहवीमि' ( च० ) 'स्वराज्यं जगाम' इति पैप्प० सं०।

इस रूपक को छान्दोग्य [ अ० ५. खं० १०-१८ ] उपनिषद् में स्पष्ट किया है—तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा संदेहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादा उर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन, आस्यमाहवनीयः । इत्यादि ।

स्कम्भो दाधार द्यावापृथिवी उभे इमे स्कम्भो दाधारोर्व१न्तरिक्षम् ।
स्कम्भो दाधार प्रदिशः षडुर्वीः स्कम्भ इदं विश्वं भुवनमा विवेश ॥३५॥

भा०—वह ( स्कम्भः ) स्कम्भ ( इमे ) इन ( उभे ) दोनों ( द्यावा-पृथिवी ) द्यौ और पृथिवी को ( दाधार ) धारण किये हुए है । ( स्कम्भः ) वही जगदाधार स्तम्भ रूप ' स्कम्भ ' ( उरु ) विशाल इस ( अन्तरिक्षम् ) अन्तरिक्ष को ( दाधार ) धारण किये हुए है । ( स्कम्भः ) स्कम्भ ही ( उर्वीः ) विशाल इन ( प्रदिशः ) दिशाओं को ( दाधार ) धारण करता है । वस्तुतः ( इदं विश्वम् ) यह समस्त चराचर ( भुवनम् ) लोक ( स्कम्भे आविवेश ) स्कम्भ के ही भीतर घुसा हुआ है । अथवा—( स्कम्भः, इदं विश्वं भुवनम् आविवेश ) वह जगदाधार ही समस्त विश्व में प्रविष्ट है । ' तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् ' छां० उप० ।

यः श्रमात् तपसो जातो लोकान्त्सर्वान्त्समानशे ।
सोमं यश्चक्रे केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३६ ॥

भा०—( यः ) जो ( श्रमात् ) श्रम, प्रयत्नस्वरूप ( तपसः ) तप से ( जातः ) प्रादुर्भूत या प्रकट होकर ( सर्वान् लोकान् ) समस्त लोकों में ( सम् आनशे ) पूर्णरूप से व्याप्त है । और ( यः ) जो ( सोमम् )

---

३५–' स्कम्भे । इदम् ' इति पदपाठः । पूर्वपादद्वये ' स्कम्भः ' इति प्रथमो-पन्योश्चतुर्थेऽपि ' स्कम्भः ' इत्येव साधुः ।

सोम जीव या समस्त जगत् को या सर्व प्रेरक शक्ति का या ज्ञान या आनन्द का ही ( कवलम् ) 'केवल' अपना स्वरूप ( चक्रे ) बनाता है या जो ज्ञानी पुरुष को ही मुक्त करता है। ( तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ) उस सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म को नमस्कार है।

कथं वातो नेलयति कथं न रमते मनः।
किमापः सत्यं प्रेप्सन्तीर्नेलयन्ति कदा चन ॥ ३७ ॥

भा०—( वातः ) वायु ( कथं न ) क्यों नहीं ( ईलयति ) चैन पाता ? ( मनः ) मन ( कथं न रमते ) क्यों नहीं एक ही वस्तु में रमता ? यह क्यों चञ्चल है ? ( सत्यम् ) उस सत्यस्वरूप को ही ( प्रेप्सन्तीः ) प्राप्त होने के लिये उत्सुक होकर क्या ( आपः ) जल भी ( कदाचन ) कभी ( न ईलयन्ति ) विश्राम नहीं पाते ?

महद् यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे।
तस्मिन् छ्रयन्ते य उ के च देवा वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः ॥ ३८ ॥

भा०—( भुवनस्य मध्ये ) इस समस्त संसार के बीच में ( महद् यक्षम् ) वह बड़ा भारी पूजनीय या समस्त शक्तियों का एकमात्र संगम-स्थान है जो ( तपसि क्रान्तं ) तप-तेज में व्यापक और ( सलिलस्य पृष्ठे ) सलिल अन्तरिक्ष के भी पृष्ठ पर उसके भी ऊपर शासक रूप से विद्यमान है। ( ये उ के च ) जो कोई भी ( देवाः ) प्रकाशमान तेजस्वी देव दिव्य पदार्थ हैं वे ( वृक्षस्य स्कन्धः ) वृक्ष के तने के ( परितः शाखाः, इव ) चारों ओर शाखाओं के समान ( तस्मिन् ) उस परम शक्तियों के एकमात्र संगम-स्थान 'यक्ष' में ही ( श्रयन्ते ) आश्रय ले रहे हैं। इसी के लिये अन्यत्र वेद में—'यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे देवैः संपिबते यमः'।

---

३७-( च० ) 'प्रच्छमति सर्वं' इति पैप्प० सं०।

यस्मै॒ हस्ता॑भ्यां॒ पादा॑भ्यां वा॒चा श्रोत्रे॑ण॒ चक्षु॑षा ।
यस्मै॑ दे॒वाः सदा॑ ब॒लिं प्र॒यच्छ॑न्ति॒ विमि॑ते॒ऽमि॑तं स्क॒म्भं तं ब्रू॑हि कत॒मः स्वि॑दे॒व सः ॥ ३९ ॥

भा०—( यस्मै ) जिसके निमित्त ( हस्ताभ्यां पादाभ्याम् ) हाथों और पैरों से ( वाचा, श्रोत्रेण, चक्षुषा ) वाणी, कानों और आंखों से ( देवाः ) देवगण दिव्य पदार्थ या विद्वान्-गण ( बलिम् प्रयच्छन्ति ) बलि-उपहार, या आदरभाव प्रदान करते हैं । और जो ( विमिते ) नाना प्रकार से बने हुए इस परिमित संसार में ( अमितम् ) असीम, अपरिमित, अनन्त है । ( तं स्कम्भं ब्रूहि ) उस जगदाधारभूत स्कम्भ को बतला । ( कतमः स्विद् एव सः ) वह है कौनसा पदार्थ ?

अप॒ तस्य॑ ह॒तं तमो॒ व्यावृ॑त्तः॒ स पा॒प्मना॑ ।
सर्वा॑णि॒ तस्मि॒न् ज्योतीं॑षि॒ यानि॒ त्रीणि॑ प्र॒जाप॑तौ ॥ ४० ॥

भा०—( तस्य ) उस परमेश्वर की शक्ति से ( तमः ) समस्त अन्धकार ( अप-हतम् ) विनष्ट हो जाता है । ( सः ) वह समस्त ( पाप्मना ) पापों से ( वि-आवृत्तः ) पृथक् रहता है । ( यानि ) जो ( त्रीणि ) तीनों ( ज्योतींषि ) ज्योतियां हैं ( सर्वाणि ) वे सब भी ( तस्मिन् ) उसी ( प्रजापतौ ) प्रजापति में ही विराजमान हैं ।

यो वे॑त॒सं हि॑र॒ण्यय॑ं॒ तिष्ठ॑न्तं सलि॒ले वेद॑ ।
स वै गुह्यः॑ प्र॒जाप॑तिः ॥ ४१ ॥

भा०—( सलिले वेतसम् ) जल में जिस प्रकार 'वेतस' या बेन का पौदा जल के आश्रय पर जीवन धारण करता है इसी प्रकार ( हिरण्ययम् ) 'हिरण्य'=तेजोमय ईश्वरीय वीर्य से उत्पन्न हुए हिरण्यगर्भ या संसार को इस

४१—'गुह्य प्र-' इति क्वचित् पाठः ।

( सलिले ) परम कारण या परम महान् के बीच में ( निष्क्तम् ) विराजमान हुआ जानता है ( स वै ) वही ( गुह्य ) समस्त गुहा हिरण्यगर्भ में गुप्त ( प्रजापतिः ) प्रजा का स्वामी है।

तन्त्रमेके युवती विरूपे अभ्याक्रामं वयतः षण्मयूखम्।
प्रान्या तन्तूंस्तिरते धत्ते अन्या नाप वृञ्जाते न गमातो अन्तम् ॥४२॥

भा०—( एके ) जिस प्रकार कोई दो ( युवती ) युवती स्त्रियां ( विरूपे ) एक दूसरे से भिन्न २ रूप वाली गोरी और काली ( अभि आक्रामम् ) बार २ आ आ, जा जा कर ( षड् मयूखम् ) ६ खूंटी वाले ( तन्त्रम् ) जाल को ( वयतः ) बुनती हैं। उनमें से ( अन्या ) एक ( तन्तून् ) सूत्रों को ( प्रतिरते ) फैलाती है। और ( अन्या ) दूसरी ( धत्ते ) गाठती है। वे दोनों ( न अप वृञ्जाते ) कभी विश्राम नहीं लेती काम नहीं त्याग करतीं और तो भी वे दोनों ( न अन्तं गमतः ) कार्य की समाप्ति तक नहीं पहुंच पातीं। इसी प्रकार ( एके ) उषा और रात्रि ( युवती ) एक दूसरे से नित्य संगत या काल का विभाग करने वाली ( विरूपे ) तम और प्रकाशमय विरुद्ध रूप वाली ( अभ्याक्रामम् ) बार २ आ आ और जा जा कर ( षड् मयूखम् तन्त्रम् ) छः मयूख, छः दिशाओं वाले या छः ऋतुओं वाले या छः किरणों वाले तन्त्र=विश्वरूप जाल को ( वयतः ) बुनती हैं। उनमें से ( अन्या ) एक उषा ( तन्तून् ) सूर्य की किरणरूप तन्तुओं को ( प्रतिरते ) फैलाती है और ( अन्या ) दूसरी रात्रि ( धत्ते ) उन सब किरणों को अपने भीतर लुप्त कर लेती है। ( न अप वृञ्जाते ) वे दोनों कभी विश्राम नहीं लेती और ( न गमतः अन्तम् ) न कार्य के अन्त तक ही पहुंचती हैं।

---

४२—' द्वे स्वसारौ वयतस्तन्त्रमेतत् सनातनं विततं षण्मयूखम्। अवान्यांस्तन्तून् किरतो धत्तोऽन्यान् नाप वृञ्जाते० ' इति तै० ब्रा०।

तयोरहं परिनृत्यन्त्योरिव न वि जानामि यतरा परस्तात् ।
पुमानेनद् वयत्युद् गृणत्ति पुमानेनद् वि जभाराधि नाके ॥ ४३ ॥

उत्तरार्धः ऋ० १० । १३० । २ । इति पूर्वार्धेन समः ॥

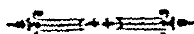
भा०—( परिनृत्यन्त्योः ) मानो नाचती हुई सी ( तयोः ) उन दोनों उषा और रात्रि में से ( न वि जानामि ) मैं यह नहीं निर्णय कर सकता कि ( यतरा परस्तात् ) पहले कौन उत्पन्न हुई । वस्तुतः ( एनत् ) इस समस्त विश्व को ( पुमान् ) वह परम पुरुष बुनता है और ( पुमान् ) वह पुरुष ही ( एनत् ) इसको ( उद् गृणत्ति ) उकेल डालता है, संहार करता है । और ( पुमान् ) वह परम पुरुष ही ( एनत् ) इस विश्व को ( नाके ) परम सुखमय आश्रय में अथवा आकाश में ( अधि वि जभार ) नाना प्रकार से चला रहा है ।

इमे मयूखा उप तस्तभुर्दिवं सामानि चक्रुस्तसराणि वातवे ॥ ४४ ॥ ( २५ )

( द्वि० च० ) ऋ० १० । १३० । २ द्वि० च० ॥

भा०—( इमे ) ये ( मयूखाः ) मयूख, किरणें ही ( दिवम् ) द्यौः-लोक को या सूर्य को ( तस्तभुः ) थामे हुए हैं । ( सामानि ) वायु, आदित्य, मेघ आदि पदार्थ और वाग्, मन, श्रोत्र आदि प्राण ये पदार्थ ही ( वातवे ) इस लोक को बुनने के लिये ( तसराणि ) तन्तु जालों को ( चक्रुः ) बनाये हुए हैं ।

नृसिंह के स्तम्भ से निकलने आदि की कथा का यह 'स्कम्भ सूक्त' मूल है ।



४३-' पुमाँ एनं तनुत उत्कृणत्ति पुमान्वितत्ने अधिनाके अस्मिन् ' इति ऋ० ।
४४-' इमे मयूखाः उपसेदुरूसदः सामानि चक्रुस्तसराण्योतवे ' इति ऋ० ।

## [ ८ ] ज्येष्ठ ब्रह्म का वर्णन।

कुत्स ऋषिः। आत्मा देवता। १ उपरिष्टाद् बृहती, २ बृहतीगर्भा अनुष्टुप्, ५ भुरिग् अनुष्टुप्, ७ पराबृहती, १० अनुष्टुब्गर्भा बृहती, ११ जगती, १२ पुरोबृहती त्रिष्टुब्गर्भा आर्षी पङ्क्तिः, १५ भुरिग् बृहती, २१, २३, २५, २९, ६, १४, १९, ३१–३३, ३७, ३८, ४१, ४३ अनुष्टुभः, २२ पुरोष्णिक्, २६ द्व्युष्णिग्गर्भा अनुष्टुप्, २७ भुरिग् बृहती, ३० भुरिक्, ३९ बृहतीगर्भा त्रिष्टुप्, ४२ विराड् गायत्री, ३, ४, ८, ९, १३, १६, १८, २०, २४, २८, २९, ३४, ३५, ३६, ४०, ४४ त्रिष्टुभः। चतुश्चत्वारिंशदृचं सूक्तम्॥

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥ १॥

भा०—(यः) जो परमेश्वर (भूतं च) भूतकाल और (भव्यं च) भविष्यत् काल और (यः च सर्वम्) जो समस्त जगत् पर (अधितिष्ठति) अधिष्ठाता होकर वश करता है और (यस्य च) जिसका (केवलम्) केवल, अपना स्वरूप (स्वः) सुखमय, आनन्द और प्रकाशमय स्वरूप है (तस्मै) उस (ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) सर्वश्रेष्ठ परब्रह्म के लिये नमस्कार है।

स्कम्भेनेमे विष्टभिते द्यौश्च भूमिश्च तिष्ठतः।
स्कम्भ इदं सर्वमात्मन्वद् यत् प्राणन्निमिषच्च यत्॥ २॥

भा०—(स्कम्भेन) उस जगदाधार 'स्कम्भ' द्वारा के (वि-स्तभिते) थामे हुए (इमे द्यौः च भूमिः च) ये दोनों द्यौः और भूमि आकाश और पृथ्वी (तिष्ठतः) स्थिर हैं। (इदं सर्वं आत्मन्वत्) यह समस्त चेतन प्राणि संसार जिनमें आत्मा यह मात्रा रूप से विद्यमान है (यत्) जो (प्राणत्) श्वास लेता (यत् निमिषत् च) और जो आंखें झपकता है (सर्वम्) सब (स्कम्भे) उस जगदाधार परमेश्वर स्कम्भ में आश्रित है।

तिस्रो ह प्रजा अत्यायमायुन् न्य१न्या अर्कमभितो विशन्त ।
बृहन् ह तस्थौ रजसो विमानो हरितो हरिणीरा विवेश ॥ ३ ॥

ऋ० ८ । ९० । १४ ॥

भा०—( तिस्रः प्रजाः ) तीन सात्विक, राजस और तामस प्रजाएं, ( अति-आयम् ) अति अधिक आवागमन को ( आयन् ) प्राप्त होती हैं और इनके अतिरिक्त ( अन्याः ) अन्य, दूसरी त्रिगुण अतीत, बन्धन मुक्त प्रजाएं ( अर्कम् अभितः ) अर्चना करने योग्य, परम पूजनीय परमेश्वर के पास ( नि अविशन्त ) आश्रय लेती हैं। वह परमात्मा ( बृहत् ) महान् ( रजसः ) समस्त लोकों को ( विमानः ) विशेष रूप से निर्माण करता हुआ ( तस्थौ ) सर्वत्र विराजमान है और वही ( हरितः ) सूर्य के समान अति प्रकाशवान् ( हरिणीः ) समस्त तेजस्वी, प्रकाशमान् पदार्थों या समस्त दिशा में ( आ विवेश ) आविष्ट है, व्यापक है।

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत ।
तत्राहतास्त्रीणि शतानि शङ्कवः षष्टिश्च खीला अविचाचला ये ॥४॥

ऋ० १ । १६४ । ४८ ॥

भा०—( द्वादश प्रधयः ) बारह प्रधियां या पुट्ठियां हैं, ( एकं चक्रम् ) एक चक्र है, ( त्रीणि नभ्यानि ) तीन नाभियां हैं ( तत् ) उस आत्मा के स्वरूप को ( कः उ चिकेत ) कौन जानता है। ( तत्र ) वहां

[ ८ ] ३–ऋग्वेदेऽस्याः जमदग्निर्भार्गव ऋषिः। पवमानो देवता। ( प्र० ) 'अ या-यन्नीयु-' ( द्वि० ) 'अभितो विविश्रे' ( तृ० च० ) 'तस्थौ भुवने-ष्वन्त पवमानो हरित आविवेश' ( प्र० ) 'तिस्रो न प्राजान्या' ( तृ० ) 'रजसो विमानं' ( द्वि० ) 'स्वार्कं' इति पा० भे०।

४–'तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः' इति ऋ०। अस्या ऋग्वेदे दीर्घतमा ऋषिः। संवत्सरात्मा कालो देवता।

अथवा—पांच इन्द्रियें और छठा मन ये छः यम हैं । आत्मा एकज स्वयंभू एक है । उसमें वे पांचों सम्बद्ध हैं । अथवा—द्वादश प्राण छः यम= जोड़े हैं वे एक आत्मा में सम्बद्ध हैं ।

आविः सन्निहितं गुहा जरन्नाम महत् पदम् ।
तत्रेदं सर्वमार्पितमेजत् प्राणत् प्रतिष्ठितम् ॥ ६ ॥

भा०—( गुहा ) गुहा में, ब्रह्माण्ड में और इस शरीर में ( जरन्= चरन् ) व्यापक ( महत् ) वह महान् ( पदम् ) ज्ञातव्य, वेद्य ( नाम ) पदार्थ है जो ( आविः ) साक्षात् ( सन्निहितम् ) अति समीप में भीतर स्थित है । (तत्र) उस आत्मा में ( इदं सर्वम् ) यह सब ( एजत् प्राणत् ) गतिशील प्राण लेने वाला देह, इन्द्रिय, चित्त आदि और ब्रह्माण्ड में समस्त सूर्य चन्द्र नक्षत्र वायु आदि सब ( प्रतिष्ठितम् ) आश्रित है ।

एकचक्रं वर्तत एकनेमि सहस्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चा ।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं क्व १ तद् बभूव ॥ ७ ॥
अथर्व० ११ । ४ । २२ ॥

भा०—( पुरः प्र ) पूर्व से उग कर, ( पश्चा नि ) पश्चिम में अस्त होने वाला ( एकचक्रम् ) एक ज्योतिश्चक्र से युक्त ( एकनेमि ) संवत्सर रूप एक धार वाला सूर्य ( वर्त्तत ) जिस प्रकार घूमता है उसी प्रकार यह आत्मा ( पुरः प्र ) आगे २ विज्ञान रूप में बराबर उदित होता और ( पश्चा नि ) पीछे भूतकाल में निमीलित सा होता हुआ ( एक-नेमि ) एकस्वरूप ( एक चक्रम् ) एकमात्र कर्त्ता होकर ( सहस्राक्षरम् ) सहस्रों अक्षर=अक्षय शक्तियों से सम्पन्न होकर ( वर्त्तते ) सदा विद्यमान रहता है । कभी विनाश को प्राप्त नहीं होता । और जैसे सूर्य ( अर्धेन ) आधे से ( विश्वं भुवनं

७-( प्र० ) 'अष्टाचक्रं वर्तत' ( च० ) 'यदस्यार्धं कतमः स केतुः' इति अथर्व० [ ११ । ४ । २२ ] ।

जो इसमें 'पर' अति सूक्ष्मतत्त्व है वह बहुत समीप है और जो 'अवर' स्थूल तत्व है वह बहुत दूर है।

'पञ्चवाही' का स्वरूप श्वेताश्वतर उपनिषत् में दर्शाया है कि—

पञ्चस्रोतोऽम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलम्।
पञ्चावर्त्तां पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चशाद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः॥

इसकी शङ्कराचार्य कृत व्याख्या दर्शनीय है।

**तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्।**
**तदासत ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः॥ ९॥**

भा०—एक (तिर्यग्-बिलः) तिरछे मुख और (ऊर्ध्व-बुध्नः) ऊपर को पैंदे वाला (चमसः) चमस है। (तस्मिन्) उसमें (विश्वरूपं) 'विश्वरूप' नाना रूप (यशः) मूर्तिमान् बल (निहितम्) रखा है। (तत्) वहां, उस शक्तिमान् आत्मा में (सप्त ऋषयः) सात ऋषि दृश, सात शीर्ष गत प्राण (साकम्) एकत्र होकर (आसत) विराजते हैं। (ये) जो (अस्य महतः) इस महान् आत्मा के (गोपाः) रक्षक या द्वारपाल के समान उसको आवरण किये हुए या घेरे हुए (बभूवुः) हैं।

शतपथ ब्राह्मण के बृहदारण्यक भाग में—"अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न इतीदं तच्छिर एव ह्यर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपं प्राणा वै यशो विश्वरूपं तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे। प्राणा वा ऋषयः प्राणानेतदाह।" यह 'शिर' वह 'चमस' या पात्र है जिसका बिल-मुख पासे पर तिरछे खुला है और पैंदा, कपाल ऊपर है। इसमें यशोरूप प्राण रखे हैं। उस पात्र के किनारे २ सात ऋषि, सात प्राण, दो कान-गोतम

९-(प्र०) 'अर्वाग्बिलश्च' (तृ० च०) 'तस्यासत ऋषयः सप्तर्तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना' इति [ बृह० २४ । ५ । २४ ]।

और भरद्वाज, दो चक्षु विश्वामित्र और जमदग्नि, दो नासिका-वसिष्ठ और कश्यप और मुख्य अत्रि, ये सात ऋषि विराजते हैं जो इसके 'गोपा' पहरेदार के समान उसको घेरे हैं। देखो बृहदारण्यक उप० [ अ० २ । २ । ३ । ४ ] इस आर्ष व्याख्या को कुछ अनात्मज्ञ योरोपियन असंगत कहते हैं यह उनका घोर अज्ञान है।

या पुरस्ताद् युज्यते या च पश्चाद् या विश्वतो युज्यते या च सर्वतः।
यया यज्ञः प्राङ् तायते तां त्वा पृच्छामि कतमा सर्चाम् ॥१०॥ (२६)

भा०—( ऋचां सा कतमा ) ऋचाओं में से वह कौनसी ऋक् अर्च-नीय पूजनीय स्तुत्य शक्ति है ( या ) जो ( पुरस्तात् ) आगे भी ( प्रयुज्यते ) जुड़ी रहती है और ( या च पश्चात् ) जो पीछे से भी जुड़ी रहती है और ( या च विश्वतः युज्यते ) जो सब प्रकार से जुड़ी रहती है और ( या च सर्वतः ) जो सब ओर से जुड़ी रहती है। और ( यया ) जिससे ( यज्ञः ) यज्ञ, विश्वरूप ब्रह्माण्ड ( प्राङ् ) पूर्वाभिमुख होकर ( तायते ) विस्तृत किया जाता है। वह ऋचा देखो, गोपथ ब्रा० १ । १ । २२ ॥ 'ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन्०' इत्यादि। अर्थात्, वह स्तुत्य शक्ति ब्रह्मशक्ति है।

यदेजति पतति यच्च तिष्ठति प्राणदप्राणन्निमिषच्च यद् भुवत्।
तद् दाधार पृथिवीं विश्वरूपं तत् संभूय भवत्येकमेव ॥ ११ ॥

भा०—( यद् एजति ) यह जो कुछ कांपता है, ( पतति ) चलता है, ( यत् च तिष्ठति ) और जो खड़ा है ( प्राणत् अप्राणत् ) प्राण लेता हुआ या न प्राण लेता हुआ ( यत् निमिषत् भुवत् च ) और झंपकता या नष्ट होता हुआ और उत्पन्न होता हुआ, उस सब को ( तत् ) वह परमब्रह्म ही ( विश्व-रूपम् ) सर्वरूप होकर ( दाधार ) धारण कर रहा है, वही ( पृथिवीं दाधार )

१०-( च० ) 'तेना सा ऋचाम्' इति बहुत्र। ( प्र० द्वि० ) 'यो ह पश्चात्' 'यो ह सर्वत' इति पैप्प० सं०।

पृथिवी को धारण करता है ( तत् संभूय ) वह समस्त एकत्र होकर ( एकम् एव भवति ) 'एक' ही है। उससे भिन्न कोई पदार्थ अलग नहीं रह जाता। 'यन्मध्ये पतितः स्तद्ग्रहणेन गृह्यते' जो पदार्थ जिसके बीच में है उसीके ग्रहण से वह भी लिया जाता है। यही तात्स्थ्योपाधि है। जिसके अनुसार 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' का व्याख्यान महर्षि दयानन्द ने किया है।

अनन्तं विततं पुरुत्रानन्तमन्तवच्चा समन्ते ।
ते नाकपालश्चरति विचिन्वन् विद्वान् भूतमुत भव्यमस्य ॥ १२ ॥

भा०—( अनन्तम् ) अनन्त सीमारहित परम कारण और ( अन्तवत् च ) अन्त वाला, सीमा युक्त कार्य ये दोनों ही ( सम् अन्ते ) एक दूसरे की सीमा हैं। वस्तुतः देखें तो ( अनन्तम् ) अनन्त अन्तरहित, कारण पदार्थ है जो ( पुरुत्र ) नाना रूपों में ( विततम् ) प्रकट रूप से फैला है, परन्तु 'अनन्त'=कारण और 'अन्तवत्' कार्य ( ते ) उन दोनों को ( नाकपालः ) मोक्षमय धाम का पालक वह प्रभु परमात्मा ही जो ( अस्य ) इस विश्व के ( भूतम् ) अतीत उत्पन्न हुए और ( भव्यम् ) उत्पन्न होने वाले भविष्यत् को ( विद्वान् ) जानता है वह दोनों को ( विचिन्वन् ) विवेक करता हुआ ( ते ) उन दोनों को ( चरति ) वश कर रहा है या अपने भीतर ले रहा है।

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरदृश्यमानो बहुधा वि जायते ।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं कतमः स केतुः ॥ १३ ॥

पूर्वार्धः यजु० ३१ । १९ पूर्वार्धेन सह ॥

---

१२-( द्वि० ) 'नमते' ( तृ० ) 'चरति विचिन्वन्' ( च० ) 'भूत यदि भव्यमस्य' इति पैप्प० सं० ।

१३-( द्वि० ) 'अजायमानः' इति यजु० । बहुधा प्रजायते, ( तृ० च० ) 'अर्धेन परि भूतं विश्वं ... जजान ।' इति पैप्प० सं० ।

भा०—( गर्भे अन्त ) गर्भ के भीतर जिस प्रकार आत्मा ( अदृश्यमान ) बिना दीख हो ( चरति ) विचरता है और ( बहुधा वि जायते ) बहुत प्रकार से नाना योनियों में नाना शरीर धारण कर उत्पन्न होता है उसी प्रकार ( प्रजापति ) प्रजा का पालक वह प्रभु ( गर्भे अन्त ) इस हिरण्यगर्भ के भीतर ( चरति ) व्यापक है। और ( अदृश्यमान ) स्वयं दृष्टिगोचर न होता हुआ भी ( बहुधा ) सूर्य, चन्द्र नक्षत्र आदि रूपों में ( विजायते ) विविध शक्तियों के रूप में प्रकट होता है। वह ( अर्धेन ) आधे, जब या प्रकृतिमय भाग से ( विश्व भुवन जजान ) समस्त कार्य जगत् को प्रकट करता है और ( यत् ) जो ( अस्य ) इसका ( अर्ध ) शेष अर्ध-भाग या परम समृद्ध रूप है ( स ) वह ( केतु ) ज्ञानमय पुरुष ( कतम ) कौनसा है ? पता नहीं। अथवा ( स केतु कतम ) वह ज्ञानमय पुरुष 'क-तम'=अतिशय सुख स्वरूप है।

ऊर्ध्वं भरन्तमुदकं कुम्भेनेवोदहार्यम्।
पश्यन्ति सर्वे चक्षुषा न सर्वे मनसा विदुः ॥ १४ ॥

भा०—( कुम्भेन इव ) घड़े के द्वारा जिस प्रकार ( ऊर्ध्वम् ) सिर के ऊपर ( उदकम् ) पानी को ( भरन्तम् ) उठाये हुए ( उदहार्यम् ) कहार या धीवर को सब कोई देखते हैं उसी प्रकार ( ऊर्ध्वम् ) ऊपर आकाश में ( कुम्भेन ) मेघ के द्वारा ( उदक भरन्तम् ) जल को धारण करते हुए उस प्रभु को या पर्जन्य रूप प्रजापति को ( सर्वे ) सभी लोग ( चक्षुषा ) आंखों से ( पश्यन्ति ) देखते हैं। परन्तु ( मनसा ) मन से या ज्ञान साधन से ( न विदु ) उसका साक्षात् ज्ञान नहीं करते हैं। प्रभु के कार्यों को देखते हुए उसके कारण शक्ति को नहीं देखते हैं।

दूरे पूर्णेन वसति दूर ऊनेन हीयते।
महद् यक्षं भुवनस्य मध्ये तस्मै बलिं राष्ट्रभृतो भरन्ति ॥ १५ ॥

भा०—वह पर ब्रह्म ( दूरे ) दूर रह कर भी ( पूर्णेन ) पूर्ण ब्रह्माण्ड के साथ ( वसति ) रहता है, उसमें सर्व व्यापक होकर रहता है और (दूरे) दूर रह कर ही ( ऊनेन ) अल्प परिमाण वाले इस जगत् से ( हीयते ) बचा रहता है, अर्थात् परिमित नहीं होता। वह ( महद् यक्षम् ) बड़ा भारी पूजनीय देव ( भुवनस्य ) इस कार्य जगत् के बीच में व्यापक है। ( तस्मै ) उसके लिये ( राष्ट्र-भृतः ) दीप्तिमान् पिण्डों को धारण करने वाले बड़े सूर्यादिक भी सम्राट् को सामन्त राष्ट्रपतियों के समान ( बलिं भरन्ति ) बलि या कर, उपहार, और भेंट पूजा प्रदान करते हैं।

यतः सूर्य उदेत्यस्तं यत्र च गच्छति ।
तदेव मन्येऽहं ज्येष्ठं तदु नात्येति किं चन ॥ १६ ॥

भा०—( यतः ) जिससे ( सूर्यः ) सूर्य ( उद् एति ) उदय अर्थात् उत्पन्न होता और ( यत्र च ) जहां ( अस्तं गच्छति ) अस्त अर्थात् पुनः प्रलय काल में लीन हो जाता है ( तद् एव ) उसको ही मैं ( ज्येष्ठम् ) सब से श्रेष्ठ ब्रह्म ( मन्ये ) मानता हूं। ( तद् उ ) उसको ( किंचन न अत्येति ) कोई पार नहीं कर सकता। इस मन्त्र में सूर्य का 'उदय' 'अस्त' दोनों शब्द उत्पन्न होने और प्रलय होने अर्थ में प्रयुक्त हैं। इसका रहस्य छान्दोग्य उपनिषद् में 'संवर्ग' प्रकरण में देखिये।

ये अर्वाङ् मध्य उत वा पुराणं वेदं विद्वांसमभितो वदन्ति ।
आदित्यमेव ते परि वदन्ति सर्वे अग्निं द्वितीयं त्रिवृतं च हंसम् ॥ १७ ॥

१६–'यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति । तं देवाः सर्वे अर्पितास्तदु नात्येति कश्चन' इति कठोप०।

१७–'ये अर्वाङ् उत वा पुराणे' (अ०) 'तृतीयं च हंसम्' इति पैप्प० सं०।

भा०—( ये ) जो विद्वान् ( अर्वाङ् ) अर्वाक् कालिक, ( मध्ये ) मध्यकाल में वर्तमान ( उत वा ) और या ( पुराणम् ) पुराण अति सनातन ( वेद विद्वांसम् ) वेदमय ज्ञान को जानने वाले पुरुष के विषय में ( अभितः ) सर्वत्र ( वदन्ति ) वर्णन किया करते हैं ( ते ) वे विद्वान् ( सर्वे ) सब ( आदित्यम् एव ) समस्त ब्रह्माण्ड को अपने भीतर ले लेने वाले उस महान् पुरुष को ही लक्ष्य करके ( परिवदन्ति ) वर्णन करते हैं और ( द्वितीयम् ) उससे दूसरे दर्जे पर ( अग्निम् ) ज्ञान से युक्त मुक्त जीव और तीसरे पद पर ( त्रिवृतम् हंसम् ) हंस, शरीर में गमनागमन करने वाले त्रिगुण प्रकृति के बन्धन में बंधे, अहङ्कारवान् जीव के विषय में वर्णन किया करते हैं।

सहस्राह्ण्यं वियंतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम्।
स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य संपश्यन् याति भुवनानि विश्वा ॥१८॥

अथर्व० १३। २। ३८॥ १३। ३। १४॥

भा०—( हरेः ) आदित्य के समान तेजस्वी ( हंसस्य ) महान् आत्मा के ( स्वर्गम् ) स्वर्ग, सुखमय लोक में जाते हुए ( अस्य ) इसके ( सहस्राह्ण्यम् ) सहस्रों दिनों=वर्षों की यात्रा तक ( पक्षौ ) पक्ष ( वियतौ ) फैले रहते हैं। ( सः ) वह ( सर्वान् ) समस्त ( देवान् ) विद्वानों, मुक्त जीवों और आकाश के तेजस्वी पदार्थों को अपने ( उरसि ) विशाल वक्षःस्थल पर ( उपदद्य ) लेकर ( विश्वा भुवनानि ) समस्त लोकों को ( सं-पश्यन् ) देखता हुआ ( याति ) जाता है।

सत्येनोर्ध्वस्तपति ब्रह्मणार्वाङ् वि पश्यति।
प्राणेन तिर्यङ् प्राणति यस्मिन् ज्येष्ठमधि श्रितम् ॥ १९ ॥

भा०—वह महान् ब्रह्ममय तेजोमण्डल ( सत्येन ) सत्य के प्रकाश से ( ऊर्ध्वः ) सब से ऊपर विराजमान होकर ( तपति ) तपता है। और

( ब्रह्मणा ) ब्रह्म ज्ञान से ( अर्वाङ् ) नीचे इस कार्य जगत् को ( वि पश्यति ) नाना प्रकार से देखता है या प्रकाशित करता है । और ( प्राणेन ) प्राण रूप वायु से ( तिर्यङ् ) तिरछे रूप में ( प्राणति ) प्राण लेता है और समस्त प्राणियों को जीवन प्रदान करता है । वही वह है ( यस्मिन् ) जिसमें ( ज्येष्ठम् ) सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ( अधि श्रितम् ) स्वरूप से स्थित है ।

यो वै ते वि॒द्याद॒रणी॒ याभ्यां॑ निर्म॒थ्यते॒ वसु॑ ।
स वि॒द्वान् ज्ये॒ष्ठं म॑न्येत॒ स वि॑द्या॒द् ब्राह्म॑णं म॒हत् ॥ २० ॥ (२७)

भा०—( यः वै ) जो पुरुष ( ते अरणी ) इन दो अरणियों को विद्यात् जानता है ( याभ्यां ) जिनसे ( वसुम् ) वह सर्व ब्रह्माण्ड में बसने और सब जीवों को बसाने हारा ब्रह्म रूप वसु और इसी प्रकार देह का वासी आत्मा ( निर्मथ्यते ) मथ कर प्रकाशित कर लिया जाता है ( सः ) वही ( विद्वान् ) विद्वान् पुरुष ( ज्येष्ठं ) ज्येष्ठ ब्रह्म को जानता है । ( सः ) वही ( महत् ) बड़े ( ब्राह्मणम् ) ब्रह्म के स्वरूप को ( विद्यात् ) जान लेता है ।

श्वेताश्वतर उप० में अ० १ । १४ ॥

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन् निगूढवत् ॥

अपने देह को अरणि बना कर और प्रणव 'ओ३म्' को उत्तर अरणि बनावे और ध्यान के मंथन दण्ड से बारबार रगड़े तो परम गूढ़ आत्मा के भी दर्शन होते हैं ।

अ॒पाद॑ग्रे॒ सम॑भव॒त् सो अग्रे॒ स्व॑रा॒भ॑रत् ।
चतु॑ष्पाद् भू॒त्वा भोग्यः॒ सर्व॑माद॒त्त भोज॑नम् ॥ २१ ॥

भा०—सृष्टि के पूर्व में ( सः ) वह परम पुरुष ( अपात् ) 'अ' पात्, अविज्ञेय रूप, 'अमात्र' स्वरूप ( सम् अभवत् ) रहा । और ( अग्रे )

21-( द्वि० ) 'सोऽग्रे सर्वमाभरत्' इति पैप्प० सं० ।

सृष्टि के उत्पन्न होने के पूर्व वही ( स्व ) सुखमय प्रकाशमय मोक्ष धाम को ( आभरत् ) धारण करता था । वह पुनः ( चतुष्पात् ) 'चतुष्पात्' होकर ( भोग्य ) सब संसार का भोक्ता होकर ( सर्वम् ) समस्त संसार को ( भोजनम् ) अपना भोजन बना कर ( आ अदत्त ) अपने भीतर लीन रहा है ।

'अत्ता चराचरग्रहणात्'। वेदान्त सूत्रम् ।

प्रकाशवान्, अनन्तवान्, ज्योतिष्मान् और आयतनवान् ये ब्रह्म के चार पाद हैं प्रत्येक पाद की चार २ कलाएं हैं । प्राची, प्रतीची, दक्षिणा, उदीची ये प्रकाशवान् पाद की चार कला हैं, पृथिवी अन्तरिक्ष, द्यौः, समुद्र ये अनन्तवान् पाद की चार कलाएं हैं अग्नि, सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, ये ज्योतिष्मान् पाद की चार कलाएं हैं प्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन ये आयतनवान् पाद की चार कलाएं हैं । इस प्रकार चतुष्कल, चार चरणों से समस्त संसार को उस ब्रह्म ने अपना भोजन बना लिया है । यह संसार उसका भोग्य है अतः वह महान आत्मा 'भोग्य' कहाता है । भोग्यम् अस्यास्तीति 'भोग्य' सर्वं भोक्ता इत्यर्थः । अर्शआदित्वा द् अच् ।

भोग्या भवदथो अन्नमदद् बहु ।
यो देवमुत्तरावन्तमुपासातै सनातनम् ॥ २२ ॥

भा०—वह पुरुष भी ( भोग्य ) समस्त संसार को अपना भोग्य बनाने वाला होकर ( अभवत् ) सबका प्रभु होकर विराजता है । वह ही ( बहु ) बहुत सा ( अन्न ) अन्न खाने का पदार्थ जीवों को भी ( अदद् ) प्रदान करता है ( य ) जो ( उत्तरावन्तं ) सब से उत्कृष्ट पद को प्राप्त ( सनातनम् ) सनातन ( देवम् ) देव को ( उपासाते ) उपासना करता है ।

२२–( प्र० ) 'भाग्या' इति पाठः प्रामादिकः ।

सनातनमेनमाहुरुताद्य स्यात् पुनर्णवः ।
अहोरात्रे प्र जायेते अन्यो अन्यस्य रूपयोः ॥ २३ ॥

भा०—( एनम् ) उस परम पुरुष को ( सनातनम् ) सनातन पुरुष ( आहुः ) कहा करते हैं । परन्तु ( उत अद्य ) वह तो आज भी ( पुनः नवः ) फिर भी नया का नया ही है । जैसे ( अहोरात्रे प्रजायेते ) दिन, रात बराबर नये २ उत्पन्न होते रहते हैं तो भी ( अन्यः अन्यस्य ) एक दूसरे के ( रूपयोः ) रूपों में समान होते हैं ।

ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः एतद्वैतत् । का० उप० २ । ४ । १३ ॥

शतं सहस्रमयुतं न्य/र्बुदमसंख्येयं स्वमस्मिन् निविष्टम् ।
तदस्य घ्नन्त्यभिपश्यत एव तस्माद् देवो रोचत एष एतत् ॥२४॥

भा०—( अस्मिन् ) इस परम पुरुष में ( शतम् ) सैकड़ों ( सहस्रम् ) हजारों, ( अयुतम् ) दस हजार, ( न्यर्बुदम् ) लाखों और ( असंख्येयम् ) असंख्य, गणनातीत ( स्वम् ) धन ऐश्वर्य ( निविष्टम् ) रखे हैं । ( अस्य ) इसके ( अभिपश्यतः एव ) देखने मात्र से ही समस्त लोक उसके ( तत् ) उस ऐश्वर्य को ( घ्नन्ति ) प्राप्त करते हैं । ( तस्मात् ) इसलिये ( एषः देवः ) वह महान, सर्व प्रकाशक, परम देव ( एतत् ) इस संसार को ( रोचते ) प्रदीप्त करता है ।

बालादेकमणीयस्कमुतैकं नेव दृश्यते ।
ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया ॥ २५ ॥

भा०—( एकम् ) एक वस्तु जो ( बालात् ) बाल=केश से भी ( अणीयस्कम् ) अत्यन्त सूक्ष्म ( उत एकम् ) और वह भी एक हो तो वह ( न इव दृश्यते ) नहीं के समान दीखती है । तो फिर (ततः) जो उससे भी सूक्ष्म वस्तु

२५ ( प्र० ) 'बालामनाथ दृश्ये' ( तृ० ) 'ततः परि' इति पैप्प० सं० ।

के ( परि-स्वजीयसी ) भीतर व्यापक अति सूक्ष्मतम ( देवता ) देव की जो सत्ता है ( सा ) वह ( मम ) मेरे ( प्रिया ) हृदय को तृप्त करती एवं प्रिय लगती है । मैं उसका उपासक हूं । जैसे श्वेताश्वतर उप० [५ । ९] में—

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
भागो जीवः स विज्ञेय स चानन्त्याय कल्पते ॥ ५ । ७ ॥
उद्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रोऽप्यपरोऽपि दृष्टः ॥ ५ । ८ ॥
न सदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ॥
क० उप० [ २ । ६ । ९ ]
नैव वाचा न तपसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ॥
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥ क०, २ । ६ । १२ ॥

एक बाल की नोक को सौ हिस्सा में बांटा जाय वह सौवां भाग जीव का परिमाण जानो । वह सूई के नोक के समान है । वह बुद्धि या आत्मा के ज्ञान गुण से देख लिया जा सकता है । इसी प्रकार सूक्ष्म परम आत्मा को भी समझो । उसका रूप दिखाई नहीं देता । उसे आंख से कोई भी नहीं देखता न वाणी से कहा जा सकता है, न मनसे सोचा जा सकता है केवल ' है ' ऐसा कहने के अतिरिक्त और कुछ भी उसका जाना नहीं जा सकता । ह्निटनी ने इस मन्त्र में ' बाल ' का अर्थ बच्चा किया है, सो उसकी बालबुद्धि पर हंसी आती है ।

इयं कल्याण्यजरा मर्त्यस्यामृता गृहे ।
यस्मै कृता शये स यश्चकार जजार सः ॥ २६ ॥

भा०—( इयं ) यह ( कल्याणी ) कल्याणमयी चितिशक्ति, ( अजरा ) कभी जीर्ण न होने वाली, अविनाशिनी, ( मर्त्यस्य ) मरणशील जीव के

२६-( द्वि० ) ' तस्मै कृता ' इति पैप्प० सं० । ' यस्मै कृता सा शये सः ' इति रोसेन्ड ह्निटनीसम्मतः पाठः ।

( गृहे ) देह में भी ( अमृता ) अमृत, नित्य है । ( यस्मै ) जिस देह के रखने के लिये ( कृता ) उसे उसमें रखा जाता है ( सः शये ) वह तो मुर्दा होकर लेट जाता है और ( यः ) जो अन्न ( चकार ) उसे देह में धारण करता है ( सः ) वह भी जीर्ण हो जाता है, बूढ़ा हो जाता है । बस वह चिति शक्ति, आत्मा, स्वयं अविनाशी है ।

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी ।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥ २७ ॥

श्वेता० उप० ४ । ३ ॥

भा०—( त्वं स्त्री ) हे आत्मन् । तू स्त्री है, ( त्वं पुमान् असि ) तू पुरुष है । ( त्वं कुमारः ) तू कुमार है, ( उत वा ) और ( कुमारी ) तू कुमारी है । ( त्वं जीर्णः ) तू ही बूढ़ा होकर ( दण्डेन वंचसि ) दण्ड हाथ में लेकर चलता है । ( त्वं ) तू ही ( जातः ) शरीर धारीरूप में उत्पन्न होकर ( विश्वतोमुखः ) नाना प्रकार का ( भवसि ) हो जाता है ।

उतैषां पितोत वा पुत्र एषामुतैषां ज्येष्ठ उत वा कनिष्ठः ।
एको ह देवो मनसि प्रविष्टः प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः ॥२८॥

भा०—( उत ) और वह आत्मा ही ( एषां पिता ) इन बालकों का पिता है (उतवा) अथवा वही ( एषां पुत्रः ) इन पिता माताओं का पुत्र है । ( एषां ज्येष्ठः) वह भाइयों में से ज्येष्ठ भाई (उत वा, और (कनिष्ठः) वही कनिष्ठ, सबसे छोटा है । तो भी वह आत्मा क्या है ? वस्तुतः (ह) निश्चय से (एकः देवः) एक

२७–( द्वि० ) ' त्वं कुमारी उत वा कुमारः ' इति पैप्प० सं० ।

२८–'उतैषां ज्येष्ठ उत वा कनिष्ठः उतैषां पुत्र उत वा पितैषाम् ।' ( च० ) 'पूर्वो-ह जज्ञे स उ०' इति जै० उ० ब्रा० । ( प्र० द्वि० ) ' उतैव ज्येष्ठोऽस्या कनिष्ठोऽतैव भ्रातोतवा पितैषः', ( च० ) 'पूर्वो जातः' इति पैप्प० सं० ।

भा०—( अविः वै नाम देवता ) वह 'अवि' सर्वपालक देवता है जो ( ऋतेन परीवृता आस्ते ) 'ऋत' परम सत्य से व्याप्त है। ( तस्याः रूपेण ) उसके रोचक रूप से ही ( इमे वृक्षाः ) ये वृक्ष ( हरिताः ) हरे भरे हैं और ( हरित-स्रजः ) हरी पत्रमालाओं से ढके हैं।

अन्ति सन्तं न जहात्यन्ति सन्तं न पश्यति।
देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति ॥ ३२ ॥

भा०—पुरुष ( अन्ति सन्तम् ) समीप विद्यमान उस परम देव को ( न जहाति ) कभी दूर नहीं कर सकता, कभी नहीं त्याग सकता, कभी उससे अलग नहीं हो सकता। और वह ( अन्ति सन्तम् ) समीप विद्यमान उस आत्मा को ( न पश्यति ) देखता भी नहीं है। ( देवस्य काव्यं पश्य ) उस परम देव, क्रान्तप्रज्ञ, मेधावी, परम पुरुष के काव्य=इस अलौकिक कार्य जगत् को देख जो (न ममार) न कभी मरता और (न जीर्यति) न बूढ़ा होता है।

अपूर्वेणेषिता वाचस्ता वदन्ति यथायथम्।
वदन्तीर्यत्र गच्छन्ति तदाहुर्ब्राह्मणं महत् ॥ ३३ ॥

भा०—( अपूर्वेण ) जिसके पूर्व में कोई न था उस सबके आदि भूत परमेश्वर से ( इषिताः ) प्रेरित ( वाचः ) वेदवाणियां ( यथायथम् ) सत्य सत्य ही ( वदन्ति ) तत्व का वर्णन करती हैं। वे ( वदन्तीः ) यथार्थ तत्व का वर्णन करती हुई ( यत्र गच्छन्ति ) जहां जाती और विश्राम लेती हैं अर्थात् पहुंचती हैं ( तत् ) उस परम वक्तव्य ( महत् ) महान् पदार्थ को ऋषि लोग ( ब्राह्मणं आहुः ) ब्राह्मण या 'ब्रह्म' कहते हैं।

यत्र देवाश्च मनुष्याश्चारा नाभाविव श्रिताः।
अपां त्वा पुष्पं पृच्छामि यत्र तन्मायया हितम् ॥ ३४ ॥

भा०—( यत्र ) जिसमें ( देवाः च ) देव और ( मनुष्याः च ) मनुष्य सब ( नाभौ अराः इव ) नाभि या धुरा में अरों के समान ( श्रिताः )

आश्रित है। हे विद्वन्! (त्वा) तुझ से मैं (अपां पुष्पं पृच्छामि) अप समस्त जगत् के मूल प्रकृति के परिमाणुओं के अथवा समस्त कर्मों और ज्ञानों के 'पुष्प' अर्थात् पुष्ट करके जगत् रूप में व्यक्त करने वाले प्रकाशक या जगत् रूप कार्य फल के मूलभूत पुष्प=परम कारण ब्रह्म को पूछता हूं (यत्र) जिसमें (तत्) वह जगत् रूप फल (मायया) माया प्रकृति के सूक्ष्म रूप में (हितम्) विद्यमान रहता है।

येभिर्वात इषितः प्रवाति ये ददन्ते पञ्च दिशः सध्रीचीः।
य आहुतिमत्यमन्यन्त देवा अपां नेतारः कतमे त आसन् ॥३५॥

जै० उ० ब्रा० १। ३४॥

भा०—(येभिः) जिनसे (इषितः) प्रेरित होकर (वातः) वायु (प्रवाति) बहता है और (ये) जो (सध्रीचीः) एक साथ मिली हुई (पञ्च दिशः) पांचों दिशाओं को (ददन्ते) विभक्त कर लेते हैं या धारण करते हैं। और (ये) जो (देवाः) देव, गण, प्रकाश युक्त तेजस्वी पदार्थ (आहुतिम्) आहुति, या आहूति, प्रजा की पुकारों या प्रार्थना, अभिलाषा को (अति अमन्यन्त) नहीं जानते हैं अर्थात् जड़ हैं। (ते) वे (अपां) कर्मों के (नेतारः) प्रणेता (कतमे आसन्) कौन है?

इमामेषां पृथिवीं वस्त एकोऽन्तरिक्षं पर्येको बभूव।
दिवमेषां ददते यो विधर्ता विश्वा आशाः प्रति रक्षन्त्येके ॥ ३६ ॥

जै० उ० ब्रा० ॥

भा०—(एषाम् एक) इनमें से एक अग्नि नामक देव (इमाम् पृथिवीं वस्ते) इस पृथिवी में व्यापक है। (एकः) दूसरा वायु (अन्तरिक्षं परि बभूव) अन्तरिक्ष में व्यापक है। (एषाम्) इनमें से एक सूर्य (दिवं ददते) द्यौ को धारण करता है। (यः) जो समस्त प्रजाओं को (वि धर्ता) विविध प्रकार से धारण करता है। और (एके) कुछ चन्द्रमा नक्षत्र आदि देव (विश्वाः आशाः) समस्त दिशाओं को (प्रति रक्षन्ति) पालते हैं।

यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः ।
सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्याद् ब्राह्मणं महत् ॥ ३७ ॥

भा०—( यस्मिन् ) जिसमें ( इमाः ) ये समस्त ( प्रजाः ) प्रजाएं ( ओताः ) डरोयी पिरोई हुई हैं ( यः ) जो विद्वान् पुरुष उस ( विततम् ) विस्तृत ( सूत्रम् ) सूत्रको ( विद्यात् ) जानता है और ( यः ) जो ( सूत्रस्य सूत्रम् ) उस सूत्र के सूत्र को भी जानता है अर्थात् जो 'सूत्र' उत्पादक के उत्पादन सामर्थ्य को जानता है ( स महत् ब्राह्मणं विद्यात् ) वह बड़े भारी ब्रह्म के रूप को जानता है ।

वेदाहं सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः ।
सूत्रं सूत्रस्याहं वेदाथो यद् ब्राह्मणं महत् ॥ ३८ ॥

भा०—( अहम् ) मैं ( विततम् ) उस व्यापक ( सूत्रम् ) सूत्रको ( वेद ) जानता हूं ( यस्मिन् ) जिसमें ( इमाः प्रजाः ओताः ) ये प्रजाएं बिनी हुई हैं । ( अहं ) मैं ( सूत्रस्य सूत्रम् ) सूत्र के भी सूत्र को ( वेद ) जानता हूं, ( यद् ) जो ( महत् ब्राह्मणम् ) बड़ा ब्रह्म का स्वरूप है ।

यदन्तरा द्यावापृथिवी अग्निरैत् प्रदहन् विश्वदाव्यः ।
यत्रातिष्ठन्नेकपत्नीः परस्तात् क्वेवासीन्मातरिश्वा तदानीम् ॥ ३९॥

भा०—( यद् ) जब ( द्यावापृथिवी अन्तरा ) द्यौः और पृथिवी, जमीन और आकाश दोनों के बीच ( प्रदहन् ) जाज्वल्यमान ( विश्वदाव्यः ) समस्त संसार को जलाने हारा ( अग्निः ) अग्नि देव ( ऐत् ) व्याप जाता है ( यत्र ) जब कि ( परस्तात् ) दूर तक दिशाएं ( एक-पत्नीः ) उस एक महान् अग्नि की पत्नियों के समान समस्त दिशाएं ( अतिष्ठन् ) खड़ी रहती हैं ( तदानीम् ) तब प्रलय काल में ( मातरिश्वा ) वायु ( क इव आसीत् ) कहां रहता है ?

अप्स्वा॑सीन्मात॒रिश्वा॒ प्रवि॑ष्ट॒: प्रवि॑ष्टा दे॒वाः स॑लि॒लान्या॑सन् ।
बृ॒हन् ह॑ त॒स्थौ रज॑सो वि॒मानः॒ पव॑मानो ह॒रित॒ आ वि॑वेश ॥४०॥

भा०—( मातरिश्वा ) वायु उस समय ( अप्सु प्रविष्टः ) अप=प्रकृति के सूक्ष्म परमाणुओं में ( प्रविष्ट ) प्रविष्ट रहता है और ( देवाः ) अन्य देव, भी ( सलिलानि प्रविष्टाः आसन् ) प्रकृति के सूक्ष्म परमाणुओं में ही प्रविष्ट हो जाते हैं । उस समय वह ( बृहन् ) महान् ( पवमान ) सब का संचालक परमेश्वर ( रजस ) लोकों को ( विमानः ) रचना करता हुआ ( तस्थौ ) विद्यमान रहता है और वह ( हरितः आविवेश ) समस्त जाज्वल्यमान दिशाओं में भी व्यापक रहता है ।

उत्त॑रेणेव गाय॒त्रीम॒मृते॑ऽधि॒ वि च॑क्रमे ।
साम्ना॒ ये साम॑ सं॑वि॒दुर॒जस्तद्द॑दृशे॒ क्व॑ ॥ ४१ ॥

भा०—( गायत्रीम् उत्तरेण ) साधक पुरुष गय=प्राणों की रक्षा करने वाली चितिशक्ति को पार करके उससे ऊपर विराजमान ( अमृते अधि वि चक्रमे ) अमृत आत्मा के स्वरूप को प्राप्त करते हैं । ( ये ) जो योगी लोग ( साम्ना ) साम से, अपने आत्मा से ( साम ) 'साम' उस परब्रह्म को ( संविदुः ) जान लेते हैं अर्थात् आत्मा से परमात्मा को एक करके जान लेते हैं वे ही जानते हैं कि ( तद् ) उस समय ( अजः ) अजन्मा, आत्मा ( क्व ददृशे ) कहां या किस दशा में साक्षात् होता है ।

स प्रजापति र्देव षोडशधाऽऽत्मानं विकृत्य सार्धं समैत् । तद् यत् सार्धं समैत् तत्साम्नः सामत्वम् ॥ जै० उ० । १ । ४८ । ७ ॥

नि॒वेश॑नः सं॒गम॑नो॒ वसू॑नां दे॒व इ॑व सवि॒ता स॒त्यध॑र्मा ।
इन्द्रो॒ न त॑स्थौ सम॒रे धना॑नाम् ॥ ४२ ॥

यजु० १२ । ६६ ॥ ऋ० १० । १३९ । ३ ॥

४२—'रायो बुध्नः संगमनो वसूनां विश्वा रूपाभिचष्टे शचीभिः । देव इव सविता

भा०—वह ( देवः ) प्रकाशमान, सब का द्रष्टा, ( सविता इव ) सविता सर्वप्रेरक, सर्व प्रकाशक सूर्य के समान ( सत्य-धर्मा ) सत्य के बल से समस्त संसार का धारण करने हारा ( निवेशनः ) समस्त जगत् का आश्रय और ( संगमनः ) समस्त देवों, पञ्चभूतों का सङ्गमस्थान है। वह ( इन्द्रः ) सर्वैश्वर्यवान् ( धनानाम् ) समस्त ऐश्वर्यों के निमित्त होने वाले ( समरे ) संग्राम में ( इन्द्र इव तस्थौ ) परमैश्वर्यवान् राजा के समान विराजता है।

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः ॥ ४३ ॥

भा०—(नवद्वारम्) नव द्वार वाला ( पुण्डरीकम्[1] ) पुण्डरीक, कमल के समान पुण्य कर्म आचरण करने का साधन यह शरीर ( त्रिभिः ) तीन ( गुणैः ) गुणों से ( आवृतम् ) घिरा है। ( तस्मिन् ) उसमें ( यत् ) जो ( आत्मन्वत् ) आत्म सम्पन्न ( यक्षम् ) सब प्राणों का संगमस्थान आत्मा है ( एतत् वै ) उसको ही ( ब्रह्मविदः ) ब्रह्मवेत्ता, ब्रह्मज्ञानी पुरुष ( विदुः ) साक्षात् करते हैं।

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ॥४४॥(२६)

सत्यधर्मेन्द्रो न तस्थौ समरे धनानाम्' इति ऋ०। तत्र विश्वावसुर्देवगन्धर्व ऋषिः। सविता देवता। तत्र ( प्र० ) 'निवेशनः संगमनो' ( च० ) 'समरे पथीनाम्' इति यजु०।

१. पर्दीकाद्यश्चेति उणादौ 'पुण्डरीक' शब्दो निपात्यते। पुण्डति शुभकर्म आचरति इति पुण्डरीकं श्वेताम्भोजं, सितपत्रं, भेषजं, व्याघ्रोऽग्निर्वा इति दयानन्दः।

भा०—यह ( स्वयम्भू ) स्वयं अपनी शक्ति, सत्ता से सामर्थ्यवान् ( अकामः ) काम संकल्पों से रहित ( धीरः ) धारणावान्, ज्ञानवान्, ध्यानवान् ( अमृतः ) अमृतस्वरूप, अविनाशी, ( रसेन ) आनन्द रस से ( तृप्तः ) तृप्त है। ( कुतश्चन न ऊनः ) वह किसी प्रकार भी और कहीं से भी न्यून नहीं है। वह सर्वत्र पूर्ण है। ( तम् ) उस ( धीरम् अजरम् ) धीर, अजर, अमर ( युवानम् ) नित्य तरुण ( आत्मानम् ) आत्मा को ( एव ) ही ( विद्वान् ) जानने वाला पुरुष ( मृत्योः ) मौत से ( न बिभाय ) नहीं डरता।

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

[ तत्र सूक्ते द्वे, ऋचश्चाष्टाशीतिः । ]

---

## [ ९ ] 'शतौदना' नाम प्रजापति की शक्ति का वर्णन।

अथर्वा ऋषिः । मन्त्रोक्ता शतौदना देवता । १ त्रिष्टुप्, २-११, १३-२४ अनुष्टुभः, १२ पथ्यापङ्क्तिः, २५ द्व्युष्णिग्गर्भा अनुष्टुप्, २६ पञ्चपदा बृहत्यनुष्टुप् उष्णिग्गर्भा जगती, २७ पञ्चपदा अतिजागतानुष्टुब्गर्भा शक्वरी । सप्तविंशत्यृचं सूक्तम् ॥

**अघायतामपि नह्या मुखानि सपत्नेषु वज्रमर्पयैतम् ।**
**इन्द्रेण दत्ता प्रथमा शतौदना भ्रातृव्यघ्नी यजमानस्य गातुः ॥१॥**

भा०—हे ( इन्द्र ) इन्द्र ! राजन् ! प्रभो ! ( अघायताम् ) पापाचारी लोगों के ( मुखानि ) मुखों को या मुख्य पुरुषों को ( अपि नह्य ) बांध डाल। और ( सपत्नेषु ) तेरे राष्ट्र पर अपना स्वामित्व जमाने वाले शत्रुओं पर

---

[ ९ ] १–( च० ) 'यजमानाय गातुः' इति पैप्प० सं० ।

( एतम् चक्रम् ) यह चक्र तलवार को ( अर्पय ) चला । इस प्रकार की ( इन्द्रेण ) इन्द्र परमेश्वर से या राजा से ( दत्ता ) प्रदान की हुई ( प्रथमा ) सब से प्रथम ( शतौदना ) सैकड़ों वीर्य वाली ( भ्रातृव्यघ्नी ) शत्रुओं की नाशक शक्ति ( यजमानस्य ) यज्ञ—राष्ट्रमय व्यवस्था करने वाले के लिये ( गातुः ) सन्मार्ग है ।

'शतौदना'—प्रजापति र्वा ओदनः । श० १३ । ३ । ६ । ७ ॥ तै० ३ । ८ । २ । ३ ॥ रेतो वा ओदनः । श० १३ । १ । १ । ४ ॥ जिस शक्ति में सैकड़ों प्रजापालक पुरुष विद्यमान हों वह साम्राज्य शक्ति 'शतौदना' है । जो सब राष्ट्र को सुसंगठित करता है वह यजमान है । यह पृथ्वी वह शतौदना गौ है । अथैष गोसवः स्वाराज्यो यज्ञः तां० १९ । १३ । १ ॥ स्वराज्य प्राप्त करने को विशाल यज्ञ गोसव या गोमेध है । इस तत्व को न जान कर गोमेध में गौ को मारने आदि का उल्लेख करने वालों का अज्ञान प्रकट होता है ।

वेदिष्टे चर्म भवतु बर्हिर्लोमानि यानि ते ।
एषा त्वा रशनाग्रभीद् ग्रावा त्वैषोऽधि नृत्यतु ॥ २ ॥

भा०—पृथ्वी का गौ स्वरूप वर्णन करते हैं । हे पृथ्वीरूप गौ ! ( ते ) तेरे ऊपर ( वेदिः ) बनी यह वेदि=( चर्म भवतु ) चर्म है । और ( बर्हिः ) कुशा आदि ओषधियां और पशु और प्रजाएं ( यानि लोमानि ) ये जो सब लोम रूप हैं । ( एषा रशना ) यह 'रशना' रस्सी जो पशु के गले में बांधी जाती है वैसी ही यह रशना रस्सी राजा की राज-व्यवस्था है जो ( त्वा अग्रभीद् ) जो तुझे ग्रहण करती है, स्वीकार करती है, बांधती है । ( एषः ग्रावा ) यह विद्वान् वाग्मी पुरुष या क्षत्रिय राजा ( त्वा अधि ) तेरे ऊपर ( नृत्यतु ) आनन्द प्रसन्न हो ।

( १ ) ( वेदिः ) यदनेन विष्णुना इमां सर्वां पृथिवीं समविन्दत

तस्माद् वेदिर्नाम । श० १ । २ । ५ । ७ ॥ पृथिवी वेदिः । ऐ० ५ । ९ ॥ यज्ञ द्वारा पृथिवी को प्राप्त किया इसलिये पृथिवी वेदि कहाती है ।

( २ ) बर्हि —पशवो वै बर्हिः । ऐ० २ । ४ ॥ प्रजा वै बर्हिः । कौ० ५ । ७ ॥ ओषधयो बर्हिः । ऐ० ५ । २८ ॥ क्षत्रं प्रस्तरः, विश इतरद् बर्हिः । श० १ । ३ । ४ । १० ॥ प्रजा और पशु 'बर्हि' है ।

( ३ ) रशना=रज्जु । वरुण्या वा एषा यद् रज्जुः । श० ३ । २ । ४ । १८ ॥ राजा की व्यवस्था रज्जु है ।

( ४ ) ग्रावा=प्रस्तर । विड् वै ग्रावाणः । श० ३ । ९ । ३ ॥ यज्ञो वै ग्रावा । श० ११ । ५ । ९ । ७ ॥ विशो ग्रावाणः । श० ३ । ९ । ३ । ३ ॥ विद्वांसो हि ग्रावाणः । श० ३ । ९ । ३ । १४ ॥ क्षत्रं प्रस्तरः, विश इतरद् बर्हिः । श० १ । ३ । ४ । १० ॥ प्रजाएं और विद्वान् 'ग्रावा' कहाता है । प्रस्तर और 'ग्रावा' क्षत्र राजा, राज-शक्ति, के वाचक हैं । जैसे शिला में कूट पीस कर अन्न खाने योग्य हो जाता है इसी प्रकार राजा की व्यवस्था में बध कर प्रजा भोग्य हो जाती है ।

बालास्ते प्रोक्षणीः सन्तु जिह्वा सं मार्ष्ट्वघ्न्ये ।
शुद्धा त्वं यज्ञिया भूत्वा दिवं प्रेहि शतौदने ॥ २ ॥

भा०—( प्रोक्षणीः ) प्रोक्षणियां ( ते बालाः सन्तु ) तेरे पूंछ के बाल के समान हैं । हे ( अघ्न्ये ) गौ के समान न मारने योग्य पृथिवि ! ( ते जिह्वा ) तेरी जिह्वा अग्नि या विद्वान् रूप ( सं मार्ष्टु ) संमार्जन, परिशोधन करती है इस प्रकार ( त्वं ) तू ( यज्ञिया ) यज्ञ की हितकारिणी ( शुद्धा ) शुद्ध ( भूत्वा ) होकर हे शतौदने ! शतवीर्य ! तू ( दिवं ) द्यौः आकाशमार्ग में ( प्रेहि ) गमन करती है । या ( दिवं प्रेहि ) स्वर्ग सुख धाम रूप को प्राप्त होती है ।

यः शतौदनां पचति कामप्रेण स कल्पते ।
प्रीता ह्यस्यर्त्विजः सर्वे यन्ति यथायथम् ॥ ४ ॥

भा०—( यः ) जो इस ( शतौदनां ) शतौदना, शतवीर्यवती, पृथिवी को ( पचति ) यथा समय परिपाक करता है वह ( कामप्रेण ) अपने समस्त संकल्पों को पूर्ण करने वाले फल से ( कल्पते ) सम्पन्न हो जाता है । और ( अस्य ) उस राजा के ( ऋत्विजः ) यथाऋतु यज्ञ-सम्पादन करने वाले अन्य विद्वान् पुरुष भी ( प्रीताः ) सुप्रसन्न, तृप्त होकर ( सर्वे ) सब ( यथायथम् ) ठीक ठीक ( यन्ति ) फल प्राप्त करते हैं ।

स स्वर्गमा रोहति यत्रादस्त्रिदिवं दिवः ।
अपूपनाभिं कृत्वा यो ददाति शतौदनाम् ॥ ५ ॥

भा०—( सः ) वह ( स्वर्गम् ) स्वर्ग, सुखमय राज्य पर ( आरोहति ) चढ़ता है, अभिषिक्त होता है ( यत्र ) जहां ( अदः ) वह ( दिवः ) तेजोमय लोक के ( त्रिदिवम् ) तीनों तेजों से सम्पन्न लोक है । ( यः ) जो ( शतौदनाम् ) पूर्वोक्त शतौदना शतवीर्यों से युक्त पृथिवी को ( अपूप-नाभिम् ) अपूप अर्थात् अक्षीण राजशक्ति को नाभि या केन्द्र में स्थापित करके ( ददाति ) राष्ट्रवासियों को प्रदान करता है ।

अपूपनाभिः—इन्द्रियम् अपूपः । ऐ० २ । २४ ॥ इन्द्रस्य वीर्यम् इन्द्रियम् । तन्नाभिः सन्नहनं बलं यस्याः सा अपूपनाभिः । जिस पृथिवी को राजा का वीर्य सुबद्ध, सुव्यवस्थित करता है वह अपूपनाभि शतौदना पृथिवी है । जो राजा ऐसे सुव्यवस्थित राष्ट्र को बना देता है वह अपने राष्ट्र में तीनों लोकों का सुख प्राप्त करता है ।

स तांल्लोकान्त्समाप्नोति ये दिव्या ये च पार्थिवाः ।
हिरण्यज्योतिषं कृत्वा यो ददाति शतौदनाम् ॥ ६ ॥

५-( तृ० ) 'हिरण्यनाभिं कृत्वा' इति पैप्प० सं० ।

६-( द्वि० ) 'यत्राद्रो देवाः सनातने' ( तृ० ) 'अपूपनाभिं' इति पैप्प० सं० ।

भा०—( य ) जो ( शतौदनाम् ) शतवीर्यों वाली पृथिवी को ( हिरण्य-ज्योतिषम् ) सुवर्णमय सम्पत्ति से युक्त ( कृत्वा ) करके ( ददाति ) प्रदान करता है ( स. ) वह ( ये दिव्या. ) जो दिव्य और ( ये च पार्थिवा ) जो पार्थिव, पृथिवी पर विद्यमान सुन्दर लोक-स्थान हैं ( स' तान् ) वह उन ( लोकान् ) लोकों को भी ( सम्-आप्नोति ) प्राप्त कर लेता है।

ये ते देवि शमितारः पुक्तारो ये च ते जनाः ।
ते त्वा सर्वे गोप्स्यन्ति मैभ्यो भैषीः शतौदने ॥ ७ ॥

भा०—हे ( देवि ) देवि ! पृथिवि ! ( ते ) तेरे ( ये ) जो ( शमि-तार. ) कल्याण करने वाले और ( पक्तार ) तुझे परिपक्व करने वाले ( च ) और ( ये ) जो ( ते ) तेरे ( जना. ) ऊपर रहने वाले नाना प्रकार के प्रजाजन हैं ( ते ) वे ( त्वा ) तेरी ( सर्वे ) सब ( गोप्स्यन्ति ) रक्षा करेंगे। ( एभ्य. ) इनसे हे ( शतौदने ) शतवीर्ये पृथिवि ! ( मा भैषीः ) भय मत कर।

अग्निश्च अपापश्रोभी देवानां शमितारौ। तै० ३।६।६।४॥ मृत्यु-स्तदभवद् धाता शमितोग्रो विशांपतिः। तै० ३।१२।१।६॥ अर्थात् राजा, प्रजापालक लोग पृथ्वी के शमिता हैं जो उसको विभाग करके प्रजा को बांटते और उसमें खेती करते हैं।

वसवस्त्वा दक्षिणत उत्तरान्मरुतस्त्वा।
आदित्याः पश्चाद् गोप्स्यन्ति साग्निष्टोममति द्रव ॥ ८ ॥

भा०—हे पृथ्वी ! ( त्वा ) तुझको ( वसव ) वसु लोग ( दक्षिणत. ) दक्षिण दिशा से, ( मरुत त्वा उत्तरत ) मरुत्=वैश्यगण तुझे उत्तर दिशा से और ( आदित्याः ) आदित्य=ज्ञानी पुरुष तुझे ( पश्चात् ) पीछे से ( गोप्स्यन्ति ) रक्षा करेंगे। ( सा ) वह तू ( अग्निष्टोमम् अति द्रव ) अग्नि-ष्टोम नामक यज्ञ को पार कर जा।

'अग्निष्टोमः'—स वा एषोऽग्निरेव यदग्निष्टोमः । तं यदस्तुवंस्तस्मादग्नि-स्तोमः । ऐ० ३ । ४३ ॥ यो ह वा एष सूर्यः तपति एषोऽग्निष्टोमः एष साह्नः । गो० उ० ४ । १० ॥ अग्निष्टोमो वै संवत्सरः । ऐ० ४ । १५ ॥ अग्निष्टोमेन वै देवा इमं ( भू ) लोकमभ्यजयन् । तां० ६ । २ । ६ ॥ प्रतिष्ठा वा अग्नि-ष्टोमः । श० ३ । ३ । ३२ ॥

अग्नि अर्थात् शत्रु संतापक राजा स्वयं अग्निष्टोम है । उसी की उसमें स्तुति होती है । अथवा सूर्य पृथ्वी को तपाता है यह अग्निष्टोम का स्वरूप है । संवत्सर अग्निष्टोम है । अग्निष्टोम से इस भूलोक का विजय किया जाता है । इस लोक में प्रतिष्ठा प्राप्त करना अग्निष्टोम है ।

देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये ।
ते त्वा सर्वे गोप्स्यन्ति सातिरात्रमति द्रव ॥ ६ ॥

भा०—( देवाः ) देवगण, विद्वान् जन ( पितरः ) पितर, पितृ लोग, पालक, देश के वृद्ध लोग ( मनुष्याः ) मननशील प्रजाएं ( गन्धर्वाः ) युवक लोग ( ये च ) और जो ( अप्सरसः च , अप्सराएं, स्त्रियें हैं ( ते सर्वे ) वे सब ( त्वाम् ) तुझ को ( गोप्स्यन्ति ) रक्षा करेंगे । ( सा ) वह तू ( अतिरात्रम् ) अतिरात्र नामक यज्ञ को ( अति द्रव ) पार कर जा ।

'अतिरात्रः'—भूतं पूर्वो अतिरात्रो भविष्यदुत्तरः, पृथिवी पूर्वोऽतिरात्रो द्यौरुत्तरः । अग्निः पूर्वोऽतिरात्रः, आदित्य उत्तरः । प्राणः पूर्वोऽतिरात्रः, उदान उत्तरः । तां० १० । ४ । १ ॥ चक्षुषी अतिरात्रौ । तां० १८ । ७ । २ ॥ प्रतिष्ठा वा अतिरात्रः । श० ५ । ५ । ३ । ५ ॥ भूत और भविष्यत्, पृथिवी और द्यौः, अग्नि और सूर्य, प्राण और उदान ये दो २ जोड़े अतिरात्र हैं । जैसे देह में आंखें हैं उसी प्रकार राष्ट्र के निरीक्षक लोग अतिरात्र के रूप हैं । राज्य की प्रतिष्ठा अतिरात्र है ।

६–( प्र० द्वि० ) 'गन्धर्वाप्सरसो देवा ग्ना अङ्गिरसस्तथा' इति पैप्प० सं० ।

अन्तरिक्षं दिवं भूमिमादित्यान् मरुतो दिशः ।
लोकान्त्स सर्वानाप्नोति यो ददाति शतौदनाम् ॥ १० ॥ ( ३० )

भा०—( यः ) जो ( शतौदनाम् ) शतवीर्या भूमि को ( ददाति ) प्रदान करता है वह ( अन्तरिक्षम् ) अन्तरिक्ष ( दिवम् ) द्यौ ( भूमिम् ) भूमि और ( आदित्यान् ) आदित्य ( मरुतः ) मरुत् वायुओं और ( दिशः सर्वान् लोकान् ) दिशाओं और समस्त लोकों को ( आप्नोति ) प्राप्त होता है ।

घृतं प्रोक्षन्ती सुभगा देवी देवान् गमिष्यति ।
पक्तारमघ्न्ये मा हिंसीर्दिवं प्रेहि शतौदने ॥ ११ ॥

भा०—हे पृथिवि ! तू ( घृतम् ) घृत आदि पदार्थों को देने वाली गौ के समान अन्न और पुष्टिकारक जल को सर्वत्र अपने समस्त प्रदेशों में नदी और झरनों द्वारा ( प्रोक्षन्ती ) सींचती हुई ( सुभगा ) उत्तम ऐश्वर्य से युक्त होकर ( देवी ) समस्त पदार्थों के देनेहारी होकर ( देवान् ) देव विद्वान् दानियों को ( गमिष्यति ) प्राप्त होगी । हे ( अघ्न्ये ) अहिंसा करने योग्य देवि ! गौ के समान पृथिवि ! तू ( पक्तारम् ) अपने परिपाक करने वाले तुझे बहु गुणसम्पन्न करने वाले सूर्य के समान राजा को ( मा हिंसीः ) तू मत मार । प्रत्युत स्वयं हे ( शतौदने ) सैकड़ों वीर्य अन्नादि भोगों को धारण करनेहारी तू ( दिवम् ) सूर्य के प्रति या स्वर्ग के समान सुखकारी लोक बन जाने के प्रति ( प्रेहि ) गमन कर अर्थात् सूर्य के समान राजा को प्राप्त होकर धन धान्य सम्पन्न होकर स्वर्ग भूमि के समान हो जा ।

ये देवा दिविषदो अन्तरिक्षसदश्च ये ये चेमे भूम्यामधि ।
तेभ्यस्त्वं धुक्ष्व सर्वदा क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥ १२ ॥

---

११—( द्वि० ) 'सुभगा त्वान् देवी' इति पैप्प० सं० ।
१२ ( तृ० ) 'धुक्ष' इति सायणाभिमतः पाठः ।

भा०—( ये ) जो ( देवाः ) दान देने वाले और ज्ञानप्रकाशक और सब तत्वों के यथार्थ द्रष्टा और सूर्यादि ( दिविषदः ) द्यौलोक में विराजमान हैं और ( ये अन्तरिक्षसदः च ) जो अन्तरिक्ष में वायु आदि पदार्थ और वायुविद्या के ज्ञाता विराजमान हैं और ( ये च ) जो ( अधिभूम्याम् ) जल-समुद्रादि पदार्थ और नाना विद्वान्गण भूमि पर विराजते हैं ( तेभ्यः ) उनके लिये ( त्वं ) तू ( सर्वदा ) सब कालों में ( क्षीरम् ) दूध ( सर्पिः ) घृत आदि पौष्टिक पदार्थ और ( मधु ) अन्न मधु आदि मधुर पदार्थ ( धुक्ष्व ) गौ के समान उत्पन्न कर ।

यत् ते शिरो यत् ते मुखं यौ कर्णौ ये च ते हनू ।
आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥ १३ ॥

भा०—हे देवि ! ( यत् ) जो ( ते ) तेरा ( शिरः ) शिर है ( यत् ते मुखम् ) जो तेरा मुख है, ( यौ कर्णौ ) जो तेरे दो कान हैं और ( ये च ते हनू ) जो तेरे जबाड़े हैं वे सब ( दात्रे ) दानशील पुरुष को ( आमिक्षाम् ) आमिक्षा=दही ( क्षीरं सर्पिः अथो मधु ) दूध घी और मधु आदि मधुर पदार्थ ( दुह्रताम् ) प्रदान करें, उत्पन्न करें ।

यौ त ओष्ठौ ये नासिके ये शृङ्गे ये च तेऽक्षिणी । आमिक्षां० ॥१४॥
यत् ते क्लोमा यद्धृदयं पुरीतत् सहकण्ठिका । आमिक्षां० ॥१५॥
यत् ते यकृद् ये मतस्ने यदान्त्रं याश्च ते गुदाः । आमिक्षां० ॥१६॥
यस्ते प्लाशिर्यो वनिष्ठुर्यौ कुक्षी यच्च चर्म ते । आमिक्षां० ॥१७॥

---

१३ ( प्र० ) 'ये च ते शृङ्गे', (द्वि०) 'यौ च ते अक्षी' इति पैप्प० सं० ।
१४—' यत् ते मुख यत् ते शिरो ये कर्णा ये च ते हनू ' इति पैप्प० सं० ।
१५ -' यत्ते क्लोमा ' इति ह्विटनिकामितः पाठः ।
१६ ( द्वि० ) ' यान्त्राणि ' इति पैप्प० सं० ।

यत् ते मज्जा यदस्थि यन्मांसं यच्च लोहितम् । आमिक्षां० ॥१८॥
यौ त बाहू ये दोषणी यावंसौ या च ते ककुत् । आमिक्षां० ॥१९॥
यास्ते ग्रीवा ये स्कन्धा याः पृष्टीर्याश्च पर्शवः । आमिक्षां० ॥२०॥(२१)
यौ त ऊरू अष्ठीवन्तौ ये श्रोणी या च ते भसत् । आमिक्षां०॥२१॥
यत् ते पुच्छं ये ते वाला यदूधो ये च ते स्तना । आमिक्षां० ॥२२॥
यास्ते जङ्घा याः कुष्ठिका ऋच्छरा ये च ते शफाः । आमिक्षां०॥२३॥

भा०—( १४ ) ( ते यौ ओष्ठौ ) तेरे जो ओष्ठ हैं ( ये नासिके ) जो नासिकाएं हैं ( ये शृङ्गे ) जो दो सींग हैं और ( ये च ते अक्षिणी ) जो तेरी आंखें हैं, ( १५ ) ( यत् ते क्लोमा ) जो तेरा फेफड़ा है, ( यत् हृदयम् ) जो हृदय है ( सहकण्ठिका ) और जो कण्ठ सहित ( पुरीतत् ) मलाशय की बड़ी आंत है ( १६ ) ( यत् ते यकृत् ) जो तेरा कलेजा है, ( ये मतस्ने ) जो गुर्दे हैं, ( यद् आन्त्रम् ) जो आंतें हैं, ( या च ते गुदाः ) जो तेरी गुदा भाग की आंत हैं ( १७ ) ( ये ते प्लाशिः ) जो तेरी पिलही है ( यः वनिष्ठुः ) जो तेरा गुदा भाग है ( यौ कुक्षी ) जो दो कोख हैं ( यत् च चर्म ते ) और जो तेरा चर्म है, ( १८ ) ( यत् ते मज्जा ) जो तेरी मज्जा है, ( यत् अस्थि ) जो हड्डी है, ( यत् मांसम् ) जो मांस है, ( यत् च लोहितम् ) और जो तेरा रुधिर है, ( १९ ) ( यौ ते बाहू ) जो तेरी दोनों भुजाएं हैं ( ये दोषणी ) जो दो बाजुएं हैं ( यौ अंसौ ) जो दो कन्धे हैं, ( या च ते

---

१८ ' या स्वस्थीनि ' इति पैप्प० सं० ।

१९–' यौ त बाहू यौ ते अंसौ इदन या च ' इति पैप्प० सं० ।

२३–' ऋच्छरा ' इति क्वचित् । ' कृत्सराः ' इति पैप्प० सं० । 'ऋच्छरा' इति प्राकृत रूपमिति ह्विटनिः । ' ऋक्षरा ' इत्यस्य लिपिदोषः प्रमाद इति वा क्वचित् ।

ककुत् ) जो तेरा कुहान है. ( २० ) ( याः ते ग्रीवाः ) जो तेरे गर्दन के मोहरे हैं, ( ये स्कन्धाः ) जो तेरे कन्धे हैं ( याः पृष्टीः ) जो पीठ के मोहरे हैं. ( याः च पर्शवः ) और जो पसुलियां हैं, ( २१ ) ( यौ ते ऊरू ) जो तेरी पीछे की दो जंघाएं हैं, ( अष्ठीवन्तौ ) जो दो घुटने हैं ( ये श्रोणी ) जो दो कूल्हे और ( या च ते भसत् ) जो तेरा गुह्यांग, मूत्र मार्ग है, ( २२ ) ( यत् ते पुच्छम् ) जो तेरी पूंछ है, ( ये ते वालाः ) जो तेरे बाल हैं, ( यद् ऊधः ) जो तेरा थान है ( ये च ते स्तनाः ) और जो तेरे स्तन हैं, ( २३ ) ( या ते जंघाः ) जो तेरी जांघें हैं, ( या कुष्ठिकाः ) जो तेरी खुट्टियां और ( ऋच्छराः ) कलाई के भाग हैं और ( ये च ते शफाः ) जो तेरे खुर हैं, ये सब तेरे अङ्ग हे गो-रूप वसुंधरे ! ( दात्रे ) दान करने हारे पुरुष को ( आमिक्षां क्षीरं सर्पिः अथो मधु दुहूताम् ) ( १४-२३ ) दूध, दही, घी और मधु आदि पुष्टिकारक पदार्थ प्रदान करें। पृथ्वी के इन अंगों की कल्पना गौरूप से की है राष्ट्रमय पुरुष के भिन्न २ अंगों के समान ही इनकी कल्पना करनी चाहिये। कुछ अंगों का वर्णन अगले सूक्त में स्पष्ट होगा।

यत् ते चर्म शतौदने यानि लोमान्यघ्न्ये।
आमिक्षां दुहतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥ २४ ॥

भा०—हे ( शतौदने ) शतवीर्य गौ ! हे ( अघ्न्ये ) अहिंसनीय जीव ! ( यत् ते चर्म ) जो तेरा चर्म है और ( यानि लोमानि ) और जो लोम हैं वे ( दात्रे ) दानशील कल्याणवान् पुरुष को ( आमिक्षां क्षीरं सर्पिः, अथो मधु दुहूताम् ) दधि, दूध, घी, मधु आदि दें।

क्रोडौ ते स्तां पुरोडाशावाज्येनाभिघारितौ।
तौ पक्षौ देवि कृत्वा सा पक्तारं दिवं वह ॥ २५ ॥

भा०—हे गौ ! पृथ्वि ! (आज्येन) घृत या तेज से (अभि-घारितौ) मिले हुए ( पुरोडाशौ ) दो पुरोडाश या आकाश और पृथिवी दोनों ही ( ते क्रोडौ )

तेरे दोनों पार्श्वों के समान ( स्ताम् ) हैं । हे ( देवि ) देवी ज्ञानशील गौ ! तू उन दोनों का ( पक्षौ ) पक्ष ( कृत्वा ) बना कर ( यजमानम् ) अपने पालने हारे राजा को ( दिवं वह ) द्यौलोक स्वर्ग में ले जा।

' पुरोडाशौ '—स कूर्मरूपेणास्थ्नः पुरोडाशो वा एभ्यो मनुष्येभ्यस्त त्पुरोऽशयन् । य एभ्यो यज्ञ प्रारोचयत् । य एभ्यो यज्ञं प्रारोचयन् तस्मात् पुरोडाश पुरोदाशो वै नाम एतत् यत् पुरोडाश इति । श० १ । ६ । २ । ५ ॥ पुरो वा एतान् देवा अक्रत । ऐ० २ । २३ ॥ विड् उत्तर पुरोडाश । श० ४ । २ । ५ । २२ ॥ ' द्यावापृथिव्यौ हि कूर्मः ' श० ।

आकाश और पृथिवी, राजा और प्रजा ये दोनों मिल कर कूर्माकार हो जाते हैं ये दोनों दो पुरोडाश हैं इनके नाना रम्य पदार्थों में यह संसार आंखों को भला मालूम हुआ इसलिये ये दोनों पुरोदाश या पुरोडाश कहे जाते हैं । वे दोनों आज्य=सूर्य से प्रकाशित हैं वे पृथ्वी रूप गौ के दो पार्श्व हैं । उनके ऊपर वह राजा को धारण करती और स्वर्ग का सा आनन्द प्रदान करती है ।

उलूखले मुसले यश्च चर्मणि यो वा शूर्पे तण्डुलः कणः ।
यं वा वातो मातरिश्वा पवमानो ममाथाग्निष्टद्धोता सुहुतं कृणोतु ॥ २६ ॥

भा०—( यः च तण्डुलः कणः ) जो तण्डुल या चावलों का कण ( उलूखले ) ओखली में और ( मुसले ) मुसल में है और ( यः च चर्मणि यो वा शूर्पे ) और जो दाने नीचे बिछे चर्म में और जो शूर्प या छाज में हैं । ( यं वा ) और जिसको ( वातः ) प्रबल वेगवान् ( मातरिश्वा ) वायु ( पवमानः ) तुषों को कण से अलग करता हुआ ( ममाथ ) एक तरफ गिरा देता है ( होता अग्निः ) स्वीकार करने वाला अग्नि ( तत् ) उस कण को ( सुहुतं कृणोतु ) सुहुत, उत्तम आहुति रूप में स्वीकार ( कृणोतु ) करे ।

पृथ्वी क्षेत्र भूमि आदि के परिपक्व हो जाने पर खेतों से धान काट कर ऊखल मूसल से कूट कर, उन्हें वायु, छाज द्वारा साफ करके उनसे यज्ञ करें और पुनः उनका भोजन करें यह वेद का उपदेश है।

अपो देवीर्मधुमतीर्घृतश्चुतो ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक् सादयामि। यत्काम इदमभिषिञ्चामि वोऽहं तन्मे सर्वं सं पद्यतां वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ २७ ॥ ( ३२ )

भा०—मैं यज्ञशील पुरुष ( ब्रह्मणां हस्तेषु ) ब्राह्मण, वेद के विद्वानों के हाथों में ( देवीः ) दिव्य गुण वाली ( मधुमतीः ) मधुर रसवाली ( घृतश्चुतः ) घृत आदि पुष्टिकारक पदार्थ और तेज को उत्पन्न करने वाली ( अपः ) जल रूप प्रजाओं को ( प्र पृथक् सादयामि ) पृथक् २ सौंपता हूं ( यत्कामः ) जिस अभिलाषा से ( इदम् ) यह ( अहम् ) मैं ( वः ) आप लोगों का ( अभिषिञ्चामि ) अभिषेक करता हूं। अर्थात् प्रजाओं में आप लोगों को उच्च पद पर प्रतिष्ठित करता हूं ( तत् ) वह मेरी अभिलाषा ( सर्वं सम्पद्यताम् ) सब पूरी हो। और ( वयम् ) हम सब ( रयीणां ) धन सम्पत्तियों के स्वामी हों। जल हाथ में लेकर दान करने की शैली का यही मूल है। राजा विद्वान् ब्राह्मणों को पृथक् २ प्रदेशों में मान आदरपूर्वक पवित्र जलों द्वारा अभिषिक्त कर उनको अधिकारी रूप से प्रतिष्ठित करें। और सब धन धान्य सम्पत्ति से युक्त हों। इस प्रकार विद्वानों के हाथ में राज्य के भागों को देना ही वेदसम्मत दान है। ऐसे विद्वानों के हाथ में भूमि के सौंपने से वह समस्त रत्नों, यशों, पशु और घी-दूध आदि पुष्टिकारक पदार्थों को प्रसव करती है।

इस सूक्त से गौ मार कर होम करने आदि का जो अर्थ निकालते हैं वे भूल में हैं। समस्त सूक्त में कहीं मारने आदि का सम्बन्ध नहीं है।

---

२७–' इमा आपः मधु ' ( मु० ) ' यत्कामेदं ' इति पैप्प० सं० ।

यदि मारने आदि का प्रयत्न होता तो उससे तो रुधिर, चर्बी मांस आदि प्राप्त होता, घी दूध दही और मधु पदार्थ कभी प्राप्त न होते ।

## [ १० ] वशा रूप महती शक्ति का वर्णन ।

कश्यप ऋषिः । मन्त्रोक्ता वशा देवता । १, ककुम्मती अनुष्टुप् । ५, पञ्चपदाति जागतानुष्टुप् स्कन्धोग्रीवी बृहती, ६, ८, १०, विराजः, २३ बृहती, २४ उपरिष्टाद् बृहती, २६ आस्तारपंक्तिः, २७ शङ्कुमती, २९ त्रिपदाविराड्गायत्री, ३१ उष्णिग्गर्भा, ३२ विराट्पथ्या बृहती, २—४, ७, ९, ११–२२, २५, २८, ३०, ३३, ३४, अनुष्टुभः । चतुस्त्रिंशदृचं सूक्तम् ॥

नम॑स्ते जा॒यमा॑नायै जा॒ताया॑ उ॒त ते॒ नम॑: ।
बाले॑भ्यः श॒फेभ्यो॑ रू॒पाया॑घ्न्ये ते॒ नम॑: ॥ १ ॥

भा०—हे ( अघ्न्ये ) न हिंसा करने योग्य गौ! पृथ्वी! ( ते जायमानायै नमः ) उत्पन्न या प्रकट होती हुई तुझे नमस्कार है । ( जातायाः उत ते नमः ) उत्पन्न हुई तुझ को नमस्कार है । ( ते बालेभ्यः शफेभ्यः ) तेरे बालों और शफों के लिये भी ( नमः ) हमारा आदर है ।

दान करते समय गौ को नमस्कार करना उसके पैरों और पूंछ को नमस्कार करने के आचार का यही मूल है ।

यो वि॒द्यात् स॒प्त प्र॒वत॑: स॒प्त वि॒द्यात् प॑रा॒वत॑: ।
शिरो॑ य॒ज्ञस्य॒ यो वि॒द्यात् स व॒शां प्रति॑ गृह्णीयात् ॥ २ ॥

भा०—( यः ) जो ( सप्त प्रवतः ) सात उपरितर प्राणों और लोकों को ( विद्यात् ) जानता है और जो ( सप्त परावतः ) सात अधस्तन प्राणों, लोकों को जानता है और ( यः ) जो ( यज्ञस्य शिरः विद्यात् ) यज्ञ के

[१०] २–' सप्तैव परावतः ' इति पैप्प० सं० ।

शिरो भाग को जानता है ( सः वशां प्रति गृह्णीयात् ) वह इस वशा को दान रूप से स्वीकार करे।

वेदाहं सप्त प्रवतः सप्त वेद परावतः ।
शिरो यज्ञस्याहं वेद सोमं चास्यां विचक्षणम् ॥ ३ ॥

भा०—( अहम् ) मैं ( सप्त प्रवतः वेद ) सात 'प्रवत' उपरितन प्राणों और लोकों को जानता हूं और ( सप्त परावतः वेद ) सातों 'परावत' अधस्तन प्राणों और लोकों को भी जानता हूं। और ( अहम् ) मैं ( यज्ञस्य शिरः वेद ) यज्ञ के शिरोभाग को भी जानता हूं । और ( अस्याम् ) इस वशा पर ( विचक्षणम् ) विशेष रूप से द्रष्टा ( सोमम् ) सोम, राजा को भी ( वेद ) जानता हूं ।

वशा का स्वरूप

यया द्यौर्यया पृथिवी ययापो गुपिता इमाः ।
वशां सहस्रधारां ब्रह्मणाच्छावदामसि ॥ ४ ॥

भा०—( यया ) जिसने ( द्यौः ) द्यौलोक को और ( यया पृथिवी ) जिसने पृथिवी को और ( यया इमाः, आपः ) जिसने इन समस्त जलों को ( गुपिताः ) अपने भीतर सुरक्षित रखा हुआ है ( ताम् ) उस ( सहस्रधाराम् ) सहस्रों धाराओं वाली, सहस्रों को धारण पोषण करने में समर्थ पदार्थों के प्रवाहों से युक्त उस ( वशाम् ) अति कमनीय, सब जगत् को वश करने वाली 'वशा' को ( ब्रह्मणा ) वेद द्वारा हम ( अच्छा वदामसि ) भली प्रकार वर्णन करते हैं ।

इयं वै वशा पृश्निः । श० १ । ८ । ३ । १५ ॥ इयं वै पृथिवी वशा पृश्निर्यदिदमस्यां मूलि चामूलिचान्नाद्यं प्रतिष्ठितं तेनेयं वशा पृश्निः । श० ५ । १ । ३ । ३ ॥

द्यौ और पृथिवी दोनों ही 'वशा' हैं । इनमें नाना प्रकार के अन्न, रस प्रतिष्ठित हैं ।

शतं कंसाः शतं दोग्धारः शतं गोप्तारो अधि पृष्ठे अस्याः।
ये देवास्तस्यां प्राणन्ति ते वशां विदुरेकधा ॥ ५ ॥

भा०—( अस्याः अधिपृष्ठे ) उसके पीछे पीछे ( शतं कंसाः ) सैकड़ों कंस=कांस के बर्तन उसको दोहने के लिये चाहियें ( शतं दोग्धारः ) सैकड़ों उसके दोहने वाले हैं, ( शतं गोप्तारः ) उसके सैकड़ों रक्षक हैं। ( ये देवाः ) जो देव, विद्वान् पुरुष ( तस्यां प्राणन्ति ) उसके आधार पर प्राण धारण करते हैं ( ते ) वे उसको ( एकधा ) एक रूप से ( वशां ) वशा रूप से ( विदुः ) जानते हैं।

यज्ञपदीराक्षीरा स्वधाप्राणा महीलुका।
वशा पर्जन्यपत्नी देवाँ अप्येति ब्रह्मणा ॥ ६ ॥

भा०—वह 'वशा' ( यज्ञ-पदी ) यज्ञस्वरूप या यज्ञरूप चरणों वाली ( स्वधा-प्राणा ) स्वधा अन्नरूप प्राण वाली ( महीलुका ) मही, पृथ्वी आदि लोकों को प्रजारूप से धारण करने वाली है ( पर्जन्य-पत्नी ) मेघरूप प्रजापति की पत्नीस्वरूप यह पृथिवी ( वशा ) वशा ( ब्रह्मणा ) ब्रह्म=अन्न के साथ समृद्ध होकर ( देवान् ) देवों, विद्वानों के पास ( अप्येति ) प्राप्त होती है।

अनु त्वाग्निः प्राविशदनु सोमो वशे त्वा।
ऊधस्ते भद्रे पर्जन्यो विद्युतस्ते स्तना वशे ॥ ७ ॥

भा०—गत सूक्त में वशा के नाना अंगों का वर्णन किया था उनका दिग्दर्शन कराते हैं। हे ( वशे ) वशे! ( त्वा ) तेरे में ( अग्निः ) अग्नि ( अनु प्राविशत् ) तेरे अनुकूल होकर प्रविष्ट है। ( त्वा अनु सोमः ) तेरे अनुकूल ही सोम=राजा या सूर्य, तुझ में प्रविष्ट है। हे ( भद्रे ) कल्याण और सुखकारिणी! ( पर्जन्य ) मेघ, प्रजाओं का नेता राजा या रसों का

६ -' यज्ञपदिरक्षीरा स्वधा प्राणा मही लुका:' इति पैप्प० सं०।

प्रदाता मेघ स्वयं ( ऊधः ) दूध का भरा 'थान' है और ( विद्युतः ) विजुलियां ( ते स्तनाः ) तेरे स्तन हैं।

अपस्त्वं धुंक्षे प्रथमा उर्वरा अपरा वशे ।
तृतीयं राष्ट्रं धुक्षेन्नं क्षीरं वशे त्वम् ॥ ८ ॥

भा०—हे ( वशे ) वशे ! ( त्वं ) तू ( अपः ) जलों को या दुग्धों को ( धुक्षे ) प्रदान करती है। तू ( प्रथमा ) सबसे मुख्य, प्रथम, सर्वश्रेष्ठ ( उर्वरा ) अन्न और प्रजा के उत्पन्न करने में समर्थ ( अपरा ) सर्वोत्कृष्ट इस प्रत्यक्ष गाय से दूसरी है। और ( वशे ) हे वशे ! ( त्वम् ) तू ( अन्नं क्षीरं धुक्षे ) अन्न प्रदान करती है और क्षीर, दूध प्रदान करती है। अथवा—अन्न रूप दूध प्रदान करती है और ( तृतीयम् ) तीसरा या सबसे श्रेष्ठ ( राष्ट्रम् ) राष्ट्र को ( धुक्षे ) राष्ट्रोपयोगी प्रजा, धन ऐश्वर्य को भी तू ही प्रदान करती है।

यदादित्यैर्हूयमानोपातिष्ठ ऋतावरि ।
इन्द्रः सहस्रं पात्रान्त्सोमं त्वापाययद् वशे ॥ ९ ॥

भा०—हे ( वशे ) वशे ! हे ( ऋतावरि ) ऋत सत्य का और अन्न और जल धारण करने वाली ( यद् ) जब तू ( आदित्यैः ) द्वादश आदित्य अर्थात् १२ मासों से ( हूयमाना ) स्तुति प्राप्त करती हुई ( उपातिष्ठः ) विराजमान होती है तब ( इन्द्रः ) सूर्य या मेघ ( त्वा ) तुझ को ( सहस्रं पात्रान् ) हजारों पात्र हज़ारों कलसे भर २ कर ( सोमम् ) सोम—जल ( अपाययत् ) पान कराता है। अर्थात् द्वादश मास इस पृथ्वी पर यज्ञ करते हैं और मेघ अन्न जल धारा बरसाता है मानो सहस्रों पात्रों में सोमरस भर कर पिलाता है।

यदनूचीन्द्रमैरात् त्वं ऋषभोऽह्वयत् ।
तस्मात् ते वृत्रहा पयः क्षीरं क्रुद्धोऽहरद् वशे ॥ १० ॥ ( ३२ )

भा०—हे ( वशे ) वशे ! ( यत् ) जब तू ( अनूची. ) उसके अनुकूल होकर ( इन्द्रम् ) इन्द्र-मेघ के समान राजा के पास ( ऐः ) प्राप्त होती है। ( आत् ) और उसके पश्चात् ( त्वा ) तुझे ( ऋषभ ) तेज से दीप्तिमान् सूर्य और उसके समान राजा ( त्वा अह्वयत् ) तुझे अपने प्रति बुलाता है, तुझे अपने अभिमुख करता है। ( तस्मात् ) उस समय ( वृत्रहा ) मेघ रूप शत्रु का विनाशक सूर्य ( क्रुद्ध ) अति तेजस्वी होकर ( ते ) तेरा ( पयः ) काऽरूप, जल रूप ( क्षीरम् ) दूध ( अहरत् ) अपनी रश्मियों से हर लेता है।

यत् ते क्रुद्धो धनपतिरा क्षीरमहरद् वशे ।
इदं तदुद्य नाकस्त्रिषु पात्रेषु रक्षति ॥ ११ ॥

भा०—हे वशे ! ( यत् ) जब ( क्रुद्धः ) अति क्रुद्ध, तेजस्वी ( धनपतिः ) धनों, ऐश्वर्यों, तेजों का पालक राजा के समान सूर्य ( ते क्षीरम् ) तेरे क्षीर=दुग्ध को ( आहरत् ) ले लेता है ( इदं तत् ) यह वही तेरा दूध है जिसको ( अद्य ) सदा ( नाकः ) सूर्य ( त्रिषु पात्रेषु ) तीनों लोकों और उत्तम अधम मध्यम तीनों प्रकार के प्रजाजनों में ( रक्षति ) रखता है।

इन्द्र और सूर्य के समान राजा का आचरण मनुस्मृति में—

अष्टौ मासान् यथादित्यस्तोयं हरति रश्मिभिः ।
तथा हरेत् करं राष्ट्रान्नित्यमर्कव्रतं हि तत् ॥ ९ । ३०५ ॥
वार्षिकांश्चतुरो मासान् यथेन्द्रोऽभिप्रवर्षति ।
तथाभिवर्षेत् स्वं राष्ट्रं कामैरिन्द्रव्रतं चरन् ॥ ९ । ३०४ ॥

आठ मास सूर्य अपनी किरणों से पृथ्वी से जल खींचता है उसी प्रकार राजा राष्ट्र से कर ले, यह ' सूर्यव्रत ' है। जिस प्रकार इन्द्र=सूर्य मेघ

११—' पतिः क्षीर देहि मध्वदो ' इति पैप्प० सं० ।

रूप होकर चार मास तक जल वर्षाता है उसी प्रकार प्रजा पर धन धान्य की वर्षा करे यह 'इन्द्रव्रत' है ।

त्रिषु पात्रेषु तं सोममा देव्यहरद् वशा ।
अथर्वा यत्र दीक्षितो बर्हिष्यास्त हिरण्यये ॥ १२ ॥

भा०—( यत्र ) जहां ( दीक्षितः ) दीक्षित, क्रियाकुशल ( अथर्वा ) अथर्ववेद का विद्वान्, दण्डनीतिकुशल विद्वान् प्रजापति के समान राष्ट्र, पति के आसन पर विराजता है वहां ( वशा ) वशा–वशीकृत वह पृथिवी, ( तम् ) उस ( सोमम् ) सोम रूप रस को, अन्न को और राजा को ( देवी ) देवी पृथिवी ( त्रिषु पात्रेषु ) तीनों पात्रों में उत्तम अधम और मध्यम तीनों प्रकार के प्रजाजनों और तीनों लोकों में ( आ अहरत् ) प्रदान करती है ।

सं हि सोमेनागत समु सर्वेण पद्वता ।
वशा समुद्रमध्यष्ठाद् गन्धर्वैः कलिभिः सह ॥ १३ ॥

भा०—जब वह ( वशा ) वशा, पृथ्वी ( सोमेन ) सोम राजा से ( सम् अगत ) संयुत हुई तब ही वह ( सर्वेण ) समस्त ( पद्वता ) चरणों वाले प्राणियों से ( सम् उ ) संगत हुई । वह वशा पृथ्वी ( गन्धर्वैः कलिभिः सह ) गन्ध को लेने वाले सदा गतिशील वायुओं सहित जिस प्रकार ( समुद्रम् अधि अष्ठात् ) समुद्र पर स्थित है उसी प्रकार वह मानो ( कलिभिः ) कला-विद्, शिल्पी, ( गन्धर्वैः ) विद्वान् रक्षक पुरुषों सहित ( समुद्रम् ) समुद्र के समान रत्नों के आश्रय रूप राजा के आधार पर ही ( अधि अस्थात् ) स्थिर होती है ।

सं हि वातेनागत समु सर्वैः पतत्रिभिः ।
वशा समुद्रे प्रानृत्यदृचः सामानि बिभ्रती ॥ १४ ॥

भा०—( स वातेन सम् आगत हि ) वह वशा जब वात=वायु से युक्त होती है तब ( सर्वैः पतत्रिभिः सम् उ ) समस्त पक्षियों से भी युक्त होती है। वह वशा ( ऋचः ) ऋग्वेद और ( सामानि ) सामवेद को ( बिभ्रती ) धारण करती हुई ( समुद्रे अनृत्यत् ) समुद्र में प्रसन्न होकर नाचती सी है। अर्थात् जब वात या वायु के समान सर्व जीवनाधार राजा से युक्त होती है तब पक्षियों के समान प्रजाजन भी उसके ऊपर रहते हैं। और समुद्र के समान समस्त रत्नों के आश्रय गम्भीर राजा के आश्रय पर ही ( ऋचः सामानि ) ऋग्वेद के परम विज्ञानों और सामवेद के उपदिष्ट आध्यात्म ज्ञानों को भी धारण करती हुई प्रसन्न होती दिखाई देती है।

सं हि सूर्येणागत समु सर्वेण चक्षुषा।

वशा संमुद्रमत्यंख्यद् भद्रा ज्योतींषि बिभ्रती ॥ १५ ॥

भा०—जब वह वशा ( सूर्येण ) सूर्य के साथ ( सम् आगत ) संयुक्त होती है ( सर्वेण चक्षुषा ) समस्त चक्षुओं के साथ ( सम् उ ) भी संयुक्त होती है। वह ( वशा ) वशा ( भद्रा ज्योतींषि बिभ्रती ) कल्याणकारी सुखकारी तेजों को धारण करती हुई ( समुद्रम् अति अख्यत् ) उस समुद्र के समान सब रत्नों के आकर रूप राजा की ही कीर्त्ति को बखानती है।

अभीवृता हिरण्येन यदतिष्ठ ऋतावरि।

अश्वः समुद्रो भूत्वाध्यस्कन्दद् वशे त्वा ॥ १६ ॥

भा०—हे ( ऋतावरि ) ऋत-सत्य, अन्न, जल को धारण करने हारी पृथिवि ! ( यत् ) जब तू ( हिरण्येन ) सुवर्ण के समान बहुमूल्य सम्पत्ति से ( अभीवृता ) आवृत होकर ( अतिष्ठ ) रहती है तब हे वशे ! ( त्वा अधि ) तेरे पर ( समुद्र ) वह समुद्र=राजा ही ( अश्वः ) सब सम्पत्ति का भोक्ता

१५–( तृ० ) 'अत्यख्यद्', 'अत्यख्यत्' इति क्वचित् पाठौ।

राजा होकर ( अस्कन्दन् ) शत्रुओं पर आक्रमण करता और विजय करता है ।

तद् भद्राः समगच्छन्त वशा देष्ट्र्यथो स्वधा ।
अथर्वा यत्र दीक्षितो बर्हिष्यास्त हिरण्यये ॥ १७ ॥

भा०—( यत्र ) जहां ( दीक्षितः ) दीक्षा ग्रहण करके ( अथर्वा ) स्थिर, प्रजापति, राजा ( हिरण्यये ) सुवर्ण के ( बर्हिषि ) राष्ट्रपति के आसन पर ( आस्त ) बैठता है ( तद् ) उस समय ( भद्राः ) भद्र पुरुष ( सम् अगच्छन्त ) एकत्र होते ( अथो ) और ( वशा ) यह पृथ्वी उस समय ( स्वधा देष्ट्री ) अन्न को देने वाली होती है ।

वशा माता राजन्यस्य वशा माता स्वधे तव ।
वशायां जज्ञ आयुधं ततश्चित्तमजायत ॥ १८ ॥

भा०—( वशा ) यह वशा पृथ्वी ( राजन्यस्य माता ) राजाओं की माता है । हे ( स्वधे ) स्वधे ! अन्न ! ( तव माता वशा ) तेरी माता यह वशा पृथ्वी है । ( वशायाः आयुधम् जज्ञे ) 'वशा' पृथ्वी से शस्त्र उत्पन्न होते हैं ( ततः चित्तम् अजायत ) और वशा से ही 'चित्त'=ज्ञान या परस्परमेल उत्पन्न होता है ।

### वशा के देह का अलंकारमय वर्णन

ऊर्ध्वो बिन्दुरुदचरद् ब्रह्मणः ककुदादधि ।
ततस्त्वं जज्ञिषे वशे ततो होताजायत ॥ १९ ॥

---

१८–' वशाया जज्ञ आयुधम् ' इति ह्विटनिकामितः । ' जज्ञ ' इति तु बहुत्रापि लिङ्गव्यत्ययो यथा च अथर्व० ४ । २४ । ६ ॥ [illegible] ( प्र० ) ' दः प्राणः [illegible] । '[illegible]' [illegible] पाठो [illegible] प्रामादिक एव ।

भा०—( ब्रह्मणः ककुदात् अधि ) ब्रह्म=ब्राह्मण-वेदज्ञ विद्वान् पुरुषों के ( ककुदात् ) सर्वोत्कृष्ट, सर्वश्रेष्ठ पुरुष से या ब्राह्मबल के सर्वश्रेष्ठ भाग से ( ऊर्ध्व ) ऊर्ध्वगामी ( बिन्दु ) वीर्यस्वरूप तेज ( उत् अचरत् ) ऊपर उठता है। हे वशे ! ( तत त्व ) उससे तू ( जज्ञिषे ) उत्पन्न होती है। ( तत ) उससे ( होता अजायत ) उससे ( होता ) मन्त्रका आदान करने वाला पुरुष प्रकट होता है।

आस्नस्ते गाथा अभवन्नुष्णिहाभ्यो बलं वशे।

पाजस्या/ज्जज्ञे यज्ञ स्तनेभ्यो रश्मयस्तव ॥ २० ॥ ( ३४ )

भा०—हे वशे ! ( ते आस्न ) तेरे मुख से ( गाथा अभवन् ) गाथाएं, ऋचाए उत्पन्न होती है। ( उष्णिहाभ्या बलम् ) गर्दन की धमनियों से बल उत्पन्न होता है। ( पाजस्यात् यज्ञ जज्ञे ) पाजस्य, उदर के मध्यभाग से यज्ञ उत्पन्न होता है ( तव स्तनेभ्य ) तेरे स्तनों से रश्मिया उत्पन्न होती हैं।

ईर्माभ्यामयनं जातं सक्थिभ्यां च वशे तव।

आन्त्रेभ्या जज्ञिरे अत्रा उदरादधि वीरुध ॥ २१ ॥

भा०—हे ( वशे ) वशे ! ( तव ) तेरी ( ईर्माभ्याम् ) बाहुओं से ( सक्थिभ्यां च ) और तेरी अगली टांगों से ( अयनम् ) सूर्य के दक्षिण और उत्तर अयन ( जातम् ) होते हैं ( आन्त्रेभ्य ) आंतों से ( अत्रा ) नाना खाद्य पदार्थ उत्पन्न होते हैं। और ( उदरात् ) उदर=पेट से ( वीरुध ) लताए ओषधियां उत्पन्न होती हैं।

यदुदरं वरुणस्यानुप्राविशथा वशे।

ततस्त्वा ब्रह्मोदह्वयत् स हि नेत्रमवेत् तव ॥ २२ ॥

२०—' गाथा भवन्तु ' इति पैप्प० स०

२१—' ऋतुर्माभ्या ' ( तृ० ) ' यत्रा जज्ञिरे ' इति पैप्प० स० ।

भा०—हे वशे ! पृथ्वी ( यत् ) जब तू ( वरुणस्य ) सब से श्रेष्ठ वरणीय राजा के ( उदरम् ) पेट में, उसके शासन में ( अनु प्राविशथाः ) प्रविष्ट होती है ( ततः ) उसके बाद ( ब्रह्मा ) वेद और ब्रह्म के जानने वाला विद्वान् ( त्वा ) तुझे ( उत् अह्वयत् ) ऊंचे स्वर से बुलाता, उपदेश करता है । ( सः हि ) निश्चय, वही ( तव ) तुझे ( नेत्रं ) सन्मार्ग पर लेजाना ( अवेत् ) जानता है ।

सर्वे गर्भादवेपन्त जायमानादसूस्वः ।
ससूव हि तामाहुर्वशेति ब्रह्मभिः क्लृप्तः स ह्यस्या बन्धुः ॥२३॥

भा०—( असूस्वः ) कभी प्रसव न करनेहारी इस वशा के ( जायमानात् ) उत्पन्न होते हुए ( गर्भात् ) गर्भ से ( सर्वे ) सब ( अवेपन्त ) कांप जाते हैं ( ताम् ) उसको उस समय लोग ( आहुः ) कहते हैं कि ( वशा ससूव इति ) वशा उत्पन्न कर रही है, सू रही है । अर्थात् समस्त राष्ट्र को अपने हाथ में लेलेने वाला राजा, सम्राट् ही 'गर्भ' है जब पृथ्वी पर वह उत्पन्न होता है तो सब कांपते हैं । वशा उस राजन्य की माता है । वह राजन्य या राजा को उत्पन्न करती है । ( सः ) वह राजा ( ब्रह्मभिः ) ब्राह्मणों से ( क्लृप्तः ) सामर्थ्यवान् होकर ही ( अस्याः ) इस वशारूप पृथ्वी का ( बन्धुः ) बन्धु है, वह उसको नियम व्यवस्था में बांधने में समर्थ होता है ।

अराजक लोक हो जाने पर और्वानल की उत्पत्ति जो पुराणों में कही गयी है उसका मूल मन्त्र यह है । जब कहीं ज्वालामुखी उत्पन्न होता है तब जैसा भूकम्प होता है उसी प्रकार महान् राजा के उदय पर भी सबके हृदयों में उसके दिग्विजय से कम्प उत्पन्न होता है । अग्नि, अनल, और पृथ्वीस्थानीय देवता की संगति वशा रूप पृथ्वी में राजा की उत्पत्ति से लगानी चाहिये ।

२३–( तृ० च० ) 'ससूव हि तामाहुर्वशेति ब्रह्मभिः क्लृप्तः स ह्यस्या बन्धुः' इति पैप्प० सं० ।

युध एकः सं सृजति यो अस्या एक इद् वशी ।
तरांसि यज्ञा अभवन् तरसां चक्षुरभवद् वशा ॥ २४ ॥

भा०—( यः ) जो ( अस्याः ) इस वशा का ( एक इत् ) एकमात्र ( वशी ) वश करनेहारा राजा होता है वही ( एकः ) अकेला ( युधः ) योद्धाओं को ( सम्सृजति ) तैयार करता है। ( तरांसि ) अविद्या अन्धकारों में से पार करने वाले यथार्थ बलवान् पुरुष ही ( यज्ञा अभवन् ) यज्ञ, प्रजापति हैं। और ( तरसां ) उन विज्ञान या कष्टों से पार होने के उपायों को दिखाने वाले पुरुषों की ( वशा ) यह वशा पृथ्वी ही ( चक्षुः अभवत् ) चक्षु है। स्तोमो वै तरः. तां० ११। ४। ६ ॥

वशा यज्ञं प्रत्यगृह्णाद् वशा सूर्यमधारयत् ।
वशायामन्तरविशदोदुनो ब्रह्मणा सह ॥ २५ ॥

भा०—( वशा ) वशा यह पृथ्वी ( यज्ञम् ) यज्ञमय प्रजापति को ( प्रति अगृह्णात् ) स्वयं स्वीकार करती है। ( वशा सूर्यम् अधारयत् ) सूर्य और उसके समान प्रतापी तेजस्वी राजा को अपने ऊपर धारण करती है। वीरभोग्या वसुन्धरा। ( ओदन ) सर्वोच्च आसन पर बैठने वाला प्रजापति राजा ही ( वशायाम् ) इस पृथ्वी के ( अन्तः ) भीतर, गर्भ में ( ब्रह्मणा ) ब्रह्म, ब्राह्मण-बल के सहित ( अविशत् ) प्रविष्ट होता है। २३ ऋचा में जो वशा का गर्भ बतलाया है उसको यह मन्त्र स्पष्ट करता है।

परमेष्ठी वा एष यदोदनः। तै० १। ७। १०। ६॥ प्रजापतिर्वा ओदनः। श० १३। ३। ६। ७॥ रेतो वा ओदनः। श० १३। १। १। ४॥

सर्वोच्च आसन पर विराजमान, प्रजापालक राजा का नाम 'ओदन' है।

२५–( द्वि० ) 'वशा यज्ञमधारयत्' इति पैप्प० सं०।

वशा देवा अमृतमाहुर्वशां मृत्युमुपासते ।
वशेदं सर्वमभवद् देवा मनुष्याऽ असुराः पितर ऋषयः ॥ २६ ॥

भा०—विद्वान् लोग (वशाम् एव) वशाको ही (अमृतम् आहुः) 'अमृत' कहते हैं और (वशाम्) वशा को ही (मृत्युम्) मृत्यु रूप से (उपासते) उपासना करते हैं। (इदं सर्वम्) यह सब कुछ (वशा अभवत्) वशा ही है (देवाः मनुष्याः असुराः पितरः ऋषयः) जो देव मनुष्य, असुर, पितर और ऋषिगण हैं। अर्थात् पृथ्वी अमर जीवनमय है यही सबके मृत्युस्थली है सब प्राणी यहीं रहते हैं वही सब 'वशा' ही है। अर्थात् पृथ्वी से ही पृथ्वी के निवासी भी लिये जाते हैं।

य एवं विद्यात् स वशां प्रति गृह्णीयात् ।
तथा हि यज्ञः सर्वपाद् दुहे दात्रेऽनपस्फुरन् ॥ २७ ॥

भा०—(यः एवं विद्यात्) जो इस प्रकार का तत्त्व जान लेता है (सः) वह (वशां प्रतिगृह्णीयात्) वशा पृथ्वी को स्वीकार करने में समर्थ है। (तथा दात्रे) इसी प्रकार के जाननेहारे दाता के लिये (यज्ञः) यज्ञ-मय राष्ट्र (सर्वपात्) सर्व चरणों से सम्पन्न होकर (अनपस्फुरन्) विना व्याकुल हुए ही (दुहे) सब फल प्रदान करता है।

तिस्रो जिह्वा वरुणस्यान्तर्दीद्यत्यासनि ।
तासां या मध्ये राजति सा वशा दुष्प्रतिग्रहा ॥ २८ ॥

भा०—(वरुणस्य) वरुण, सर्वश्रेष्ठ राजा के (आसनि) मुख के (अन्तः) भीतर (तिस्रः) तीन जिह्वाएं, ज्वाला एं (दीद्यति) चमका करती हैं। (तासाम्) उनके (मध्ये) बीच में (या) जो (राजति) सब से अधिक उज्वल होकर चमकती है (सा) वह (वशा) 'वशा'

२६–'वशामेवामृतमाहु' इति पैप्प० सं०।
२७ (च०) 'दुहः प्रति' इति क्वचित्।

वशकारिणी शक्ति है ( दुष्प्रतिग्रहा ) उसका प्रतिग्रह करना, स्वीकार करना और वश करना बड़ा कठिन कार्य है।

चतुर्धा रेतो अभवद् वशायाः ।
आपस्तुरीयममृतं तुरीयं यज्ञस्तुरीयं पशवस्तुरीयम् ॥ २६ ॥

भा०—( वशायाः ) उस 'वशा' पृथ्वी का ( रेतः ) उत्पादक वीर्य, ( चतुर्धा ) चार प्रकार से विभक्त ( अभवत् ) होता है। ( तुरीयम् आपः ) एक चतुर्थांश 'आप' जल ( तुरीयं अमृतम् ) एक चौथाई भाग अमृत=अन्न ( तुरीय यज्ञः ) एक चौथाई भाग 'यज्ञ' और ( तुरीय पशवः ) एक चौथाई भाग 'पशु' हैं।

वशा द्यौर्वशा पृथिवी वशा विष्णुः प्रजापतिः ।
वशाया दुग्धमपिबन्त्साध्या वसवश्च ये ॥ ३० ॥

भा०—( वशा द्यौः ) वशा यह सूर्य है, ( वशा पृथिवी ) वशा पृथिवी है। ( प्रजापतिः ) प्रजा का पालक ( विष्णुः ) परमात्मा स्वयं ( वशा ) वशा है। ( वशायाः ) वशा के ( दुग्धम् ) दूध को ( साध्याः ) साधन सम्पन्न ( ये वसवः च ) जो प्राणी हैं वे ही ( अपिबन् ) प्राप्त करते और पान करते हैं।

वशायां दुग्धं पीत्वा साध्या वसवश्च ये ।
ते वै ब्रध्नस्य विष्टपि पयो अस्या उपासते ॥ ३१ ॥

भा०—( ये साध्याः ) जो साधनसम्पन्न, साधनावान् ( वसवः ) वास करनेहारे प्राणी हैं वे ( वशायाः ) इस उक्त वशा का ( दुग्धम् ) उत्पादित जल, अन्न, यज्ञ, पशु आदि से उत्पादित भोग्य पदार्थ को ( पीत्वा ) पान कर, भोग करके, ( ते ) वे ( ब्रध्नस्य ) सूर्य के ( विष्टपि ) विशेष

३१—' ब्रध्नस्य ' इति पैप्प० सं० ।

प्रकाश में ( अस्याः ) इसके ( पयः ) पुष्टिकारक पदार्थों का ( उपासते ) लाभ करते हैं।

सोमंमेनामेकें दुहे घृतमेक उपासते ।
य एवं विदुषे वशां ददुस्ते गतास्त्रिदिवं दिवः ॥ ३२ ॥

भा०—( एके ) एक विद्वान्‌गण ( एनाम् ) इस वशा से ( सोमम् ) सोम समान रोग हर ओषधियों को या राजा को ही ( दुहे ) उत्पन्न करते और उसको प्राप्त करते हैं और ( एके ) दूसरे लोग ( घृतम् ) उसके पुष्टि-कारक अन्न को ( उपासते ) उपभोग करते हैं। ( एवं विदुषे ) इस प्रकार के तत्व को जानने वाले विद्वान् के हाथों ( ये ) जो ( वशां ) इस पृथ्वी को ( ददुः ) सौंपते हैं ( ते ) वे ( दिवः त्रिदिवं गताः ) परम द्यौलोक में स्थित सर्वोत्तम लोक को प्राप्त होते हैं।

ब्राह्मणेभ्यो वशां दत्त्वा सर्वांल्लोकान्त्समंश्नुते ।
ऋतं ह्यस्यामार्पितमपि ब्रह्माथो तपः ॥ ३३ ॥

भा०—( ब्राह्मणेभ्यः वशां दत्वा ) ब्रह्म, वेद के जानने वाले विद्वान् पुरुषों को उक्त 'वशा' का दान करके दाता ( सर्वान् लोकान् सम् अश्नुते ) समस्त लोकों का सुख से भोग करता है। ( अस्याम् ) इस 'वशा' पर ( ऋतम् ) ऋत, सत्यज्ञान ( ब्रह्म ) ब्रह्मज्ञान और ( तपः ) तप ( आर्पितम् ) आश्रित है।

वशां देवा उप जीवन्ति वशां मनुष्या उत ।
वशेदं सर्वमभवद् यावत् सूर्यो विपश्यति ॥ ३४ ॥ ( ३५ )

भा०—( देवाः ) देव, विद्वान्‌गण ( वशाम् ) वशा के आधार पर ( उप जीवन्ति ) जीवन धारण करते हैं। ( उत वशाम् मनुष्याः ) और मनुष्य

३२–( द्वि० ) 'यः । एवं' इति पदपाठश्छन्दः ।

३३–'वशां दत्वा ब्राह्मणेभ्यः' इति पैप्प० सं० ।

भी इस वशा, पृथ्वी के आधार पर जीते हैं। ( यावत् सूर्यः विपश्यति ) जितने भी लोक को सूर्य प्रकाशित करता है ( इदं सर्वं वशा अभवत् ) यह सब 'वशा' ही है।

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

[ तत्र सूक्तद्वयम् , ऋचश्चैकषष्टिः । ]

## इति दशमं काण्डं समाप्तम् ।

[ दशमे दश सूक्तानि ऋच. सार्धशतत्रयम् ]

बाण-वस्वङ्क-चन्द्राब्दे चैत्र शुक्ले द्वितीयके ।
भृगौ काण्डं च दशमं पूर्तिमापदथर्वणः ॥



॥ ओ३म् ॥

# अथैकादशं काण्डम्



## [ १ ] ब्रह्मौदन रूप से प्रजापति के स्वरूपों का वर्णन।

ब्रह्मा ऋषिः। ब्रह्मौदनो देवता। १ अनुष्टुब्गर्भा भुरिक् पंक्तिः, २, ५ बृहतीगर्भा विराट्, ३ चतुष्पदा शाक्वरगर्भा जगती, ४, १५, १६ भुरिक्, ६ उष्णिक्, ८ विराड्गायत्री, ९ शाक्वरातिजागतगर्भा जगती, १० विराट् पुरोऽतिजगती विराड् जगती, ११ अतिजगती, १७, २१, २४, २६, २८ विराड्जगत्यः, १८ अतिजागतगर्भापरातिजागताविराड्अतिजगती, २० अतिजागतगर्भापरा शाक्वराचतुष्पदा भुरिक् जगती, २९, ३१ भुरिक्, २७ अतिजागतगर्भा जगती, ३५ चतुष्पात् ककुम्मत्युष्णिक्, ३६ पुरोविराड्, ३७ विराड् जगती, ७, १२, १४, १९, २२, २३, ३०–३४ त्रिष्टुभः। सप्तत्रिंशदृचं सूक्तम् ॥

**अग्ने जायस्वादितिर्नाथितेयं ब्रह्मौदनं पचति पुत्रकामा।**
**सप्तऋषयो भूतकृतस्ते त्वा मन्थन्तु प्रजया सहेह ॥ १ ॥**

भा०—हे (अग्ने) अग्ने! प्रकाशमान! परमेश्वर, सबसे आगे विद्यमान! तू (जायस्व) सृष्टि को उत्पन्न करता है। (अदितिः) अखण्डित प्रकृति जो समस्त सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु आदि पांचों भूतों, वसु रुद्र आदित्य आदि को उत्पन्न करने वाली है वह (पुत्रकामा) पुत्र की कामना करने वाली स्त्री के समान स्वयं (पुत्र-कामा) पुरुष के नाना रूप जीवों को उत्पन्न करने की अभिलाषा करती हुई (नाथिता[1]) ऐश्वर्यसम्पन्न होकर, ईश्वर की शक्ति और उसके बल वीर्य से युक्त होकर (ब्रह्मौदनम्) ब्रह्ममय, ब्रह्म की

---

[१] १–१. नाथृ नाधृ याच्ञोपतापैश्वर्याशीःषु। इति धातोः।

'पुं-त्र'=पुरुषों की रक्षा करे ऐसे पुरुष की कामना करती हुई ( ब्रह्मौदनं पचति ) ब्रह्मशक्ति से युक्त प्रजापति—राजा को परिपक्व कर रही है ( भूत-कृतः सप्त ऋषयः ) प्राणियों को उत्पन्न करने और उन पर अनुग्रह करने हारे सात मरीचि, अत्रि आदि ऋषि लोग ( प्रजया सह ) प्रजा के साथ ( इह-त्वा ) इस भूतल पर तुझे ( मन्थन्तु ) मथन करें।

**कृणुत धूमं वृषणः सखायोऽद्रोघाविता वाचमच्छ।**
**अयमग्निः पृतनाषाट् सुवीरो येन देवा असहन्त दस्यून् ॥ २ ॥**

ऋ० ३ । २९ । ९ ॥

भा०—हे ( वृषणः ) वर्षण करने हारे, समस्त कामना के पूरक वीर्य-वान् ( सखायः ) मित्रगणो ! आप लोग ( धूमम् ) शत्रु को कंपाने वाले इस वीर्यवान् पुरुष को ( कृणुत ) सम्पन्न करो, बढ़ाओ, उत्पन्न करो। यह ( अद्रोघाविता ) न द्रोह करने वालों की रक्षा करने हारा है। इसकी ( वाचम् अच्छ ) वाणी के प्रति तुम ध्यान दो। अथवा ( वाचमच्छ अद्रो-घाविता ) इसकी वाणी के या आज्ञा के प्रति द्रोह न करने वाले मित्रजनों की यह रक्षा करता है। ( अयम् ) यह ( अग्निः ) शत्रुतापक स्वभाव वाला अग्नि के समान तेजस्वी ( सुवीरः ) उत्तम वीर ( पृतनाषाट् ) समस्त शत्रु सेनाओं को दबाने हारा है। ( येन ) जिसके बल से ( देवाः ) देव-गण ( दस्यून् असहन्त ) विनाशकारी दुष्टों को पराजित करते हैं।

**अग्नेऽजनिष्ठा महते वीर्याय ब्रह्मौदनाय पक्तवे जातवेदः।**
**सप्तऋषयो भूतकृतस्ते त्वाजीजनन्नस्यै रयिं सर्ववीरं नियच्छ ॥३॥**

---

२—( प्र० ) 'कृणोत धूमं वृषणं सखायोऽस्रेधन्त इतनवाजमच्छ' ( च० ) 'देवासो' इति ऋ०। ऋग्वेदे विश्वामित्र ऋषिः। अग्निर्देवता। 'देवा असहन्त शत्रून्' इति पैप्प० सं०।

३—( द्वि० ) 'पक्तवे' ( तृ० ) 'सप्तर्षयो', 'ऽजीजनन्नस्मै……नि-यच्छतम्' इति पैप्प० सं०।

भा०—हे ( अग्ने ) राजन् ! तू ( महते वीर्याय ) बड़े भारी वीर्य सामर्थ्य के लिये ( अ जनिष्ठा. ) उत्पन्न हो । हे ( जातवेद. ) जातप्रज्ञ विद्वान् या ऐश्वर्यवान् जातवेद ! तू ( महौदनाय पक्वे ) महाशक्ति, विज्ञान द्वारा प्रजापति पद को परिपक्व या दृढ़ करने के लिये ( अ जनिष्ठा ) उत्पन्न हो । ( ते भूतकृत. सप्त ऋषय. ) वे प्राणियों की सृष्टि करने, उनको व्यवस्थित करने वाले, सात ऋषि जन ( त्वा अजीजनन् ) तुझको उत्पन्न करते हैं । ( अस्यै ) इस पृथ्वी के लिये तू ( सर्ववीरं रयिम् ) सब प्रकार के वीर-जनों से युक्त रयि सामर्थ्य, यश और बल को ( नि यच्छ ) नियमित कर, व्यवस्थित कर ।

समिद्धो अग्ने समिधा समिध्यस्व विद्वान् देवान् यज्ञियाँ एह वक्षः ।
तेभ्यो हविः श्रपयं जातवेद उत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥ ४ ॥

भा०—हे ( अग्ने ) राजन् ! अग्ने ! जिस प्रकार ( समिधा ) काष्ठ से अग्नि ( समिद्ध. ) खूब प्रज्वलित हो जाती है उसी प्रकार तू ( सम्-इधा ) समग्र तेज से ( समिद्धः ) अग्नि प्रदीप्त होकर ( सम् इध्यस्व ) प्रकाशित हो । तू ( विद्वान् ) ज्ञानी, विद्यावान् होकर ( इह ) इस राष्ट्र में ( यज्ञियान् ) यज्ञ, राष्ट्रयज्ञ के योग्य ( देवान् ) उत्तम देव, विद्वान् और सुसभ्य शासकों को ( आ वक्ष. ) धारण कर, स्थापित कर । हे ( जात-वेदः ) विद्वन् ! ऐश्वर्यवन् राजन् ! ( तेभ्य. ) इन उत्तम शासकों के लिये मैं राष्ट्रवासी ( हवि. ) अन्न आदि पदार्थ ( श्रपयम् ) पकाता हूं । ( इमम् ) इस राजा को ( उत्तमम् ) उत्तम उत्कृष्ट ( नाकम् ) सुखमय राज्य को ( अधिरोहय ) चढ़ा ।

---

४–( द्वि० ) ' विश्वा देवान् ' इति पैप्प० सं० । ( प्र० ) ' समिद्धः स ' इति सायणाभिमत. पाठ ।

त्रेधा भागो निहितो यः पुरा वो देवानां पितॄणां मर्त्यानाम्।
अंशान् जानीध्वं वि भजामि तान् वो यो देवानां स इमां पारयाति ॥५॥

भा०—( यः ) जो ( पुरा ) पहले ही ( त्रेधा भागः ) तीन प्रकार के भाग ( निहितः ) बना कर रखे गये हैं एक ( देवानाम् ) देव, राज-शासकों के लिये दूसरा ( पितॄणाम् ) प्रजा के पालक आचार्य और वानप्रस्थी, माता पिता पितामह आदि का और तीसरा ( मर्त्यानाम् ) साधारण अन्य मनुष्यों का, अतिथियों का और गृह-वासियों का, हे देव, पितर और मर्त्यजनो ! ( अहम् ) मैं गृह-स्वामी या परमात्मा ( वः ) आप लोगों के ( तान् ) उन भागों को ( वि भजामि ) विशेष रूप से पृथक् २ कर देता हूं। आप लोग अपने २ ( अंशान् ) अंशों को ( जानीध्वम् ) पृथक् २ जान लें। ( यः ) जो ( देवानाम् ) देवों शासकों का भाग है ( सः ) वह ( इमाम् ) इस पृथ्वी को ( पारयाति ) पालन करता है।

अग्ने सहस्वानभिभूरभीदसि नीचो न्युब्ज द्विषतः सपत्नान्।
इयं मात्रा मीयमाना मिता च सजातांस्ते बलिहृतः कृणोतु ॥ ६ ॥

भा०—हे ( अग्ने ) अग्ने ! राजन् ! तू ( सहस्वान् ) शत्रु के दबाने वाले 'सहः' बल से सम्पन्न होकर ( अभिभूः इत् अभि असि ) सब प्रकार से शत्रु को दबाने में समर्थ हो जाता है। ( अतः ) तू ( द्विषतः ) द्वेष करने हारे ( सपत्नान् ) शत्रुओं को ( नीचः ) नीचे ( नि उब्ज ) दबा। ( इयम् ) यह ( मात्रा ) विशेष परिमाण ( मीयमाना ) मापा जाता हुआ और ( मिता च ) परिमित होकर ( ते ) तेरे ( सजातान् ) साथ उन्नति को प्राप्त हुए अन्य राजाओं को ( बलिहृतः ) कर देने वाला ( कृणोतु ) करे। अथवा ( इयम् ) यह राजशाला या नगर की कोट ( मात्रा ) निर्माण

५-( प्र० ) 'निहितो जातवेदाः' ( द्वि० ) 'पितॄणामुत मर्त्यानां' ( च० ) 'सेमं पार-' इति पैप्प० सं०।

करने हार शिल्पी द्वारा मापी गयी और तैयार होकर तेरे साथ उन्नत लोगों को करप्रद करे।

साकं संजातैः पयसा सहैध्युदुब्जैनां महते वीर्याय।
ऊर्ध्वो नाकस्याधि रोह विष्टपं स्वर्गो लोक इति यं वदन्ति ॥ ७ ॥

भा०—हे राजन्! तू (पयसा) अपने वीर्य, क्षात्र बल से (संजातैः) अपने साथ उत्पन्न, उन्नत पदको प्राप्त मित्र राजा और बन्धु और सहोत्थायी लोगों के (साकम्) साथ (एधि) प्रबल बना रह। और (महते वीर्याय) अपने बड़े भारी बलको बढ़ा लेने के लिये (एनाम्) इस पृथ्वी को, राष्ट्र को या प्रजा को (उद् उब्ज) उन्नत कर। (नाकस्य विष्टपम्) सुखमय राज्य के विशेष तेजस्वी उस आसन या राजसिंहासन पर (ऊर्ध्वः) तू स्वयं उच्च होकर (अधिरोह) चढ़ (यम्) जिसको (स्वर्गो लोकः) लोग स्वर्गलोक तक भी (वदन्ति) कह देते हैं। अर्द्धं हि राज्यं पदमैन्द्रमाहुः इति कालिदासः। पयो हि रेतः। ६। २। १। २६॥ अग्निः तां गां सं बभूव। तस्यां रेत प्रासिञ्चत्। तत्पयोऽभवत्। श० २। २। ४। १५॥ क्षत्रं वै पयः। श० १२। ७। ३। ८। ८॥ समानजन्म वै पयश्च हिरण्यं च उभयं हि अग्निरेतसं। श० ३। २। ४। ८॥ अर्थात् राजा का वीर्य, क्षात्रबल 'पयः' कहाता है।

इयं मही प्रति गृह्णातु चर्म पृथिवी देवी सुमनस्यमाना।
अथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम् ॥ ८ ॥

भा०—(इयं मही) यह विशाल, पूजनीय (पृथिवी) पृथिवी (देवी) अन्नादि देनेहारी (सुमनस्यमाना) शुभ संकल्पवान्, सौम्य चित्त वाली होकर (चर्म प्रतिगृह्णातु) चर्म, चरण, सेना आदि के सन्मान को स्वीकार

७–'साकं सुजातैः' इति, (तृ०) 'विष्टपः' इति पैप्प० सं०।
८–(द्वि०) 'पृथिव्यै' (तृ०) 'सुकृतामुलोकम्' इति पैप्प० सं०।

कर। ( अथ ) और उसके बाद हम राष्ट्र वासीजन ( सुकृतस्य लोकम् ) पुण्य के लोक को ( गच्छेम ) प्राप्त हों।

अथवा—गृहस्थपक्ष में यह पृथ्वी शुभ चित्त होकर हमारे बिछाये चर्म को स्वीकार करे। हम पुण्य लोक को प्राप्त हों, जिस प्रकार चर्म बिछा कर अन्न ऊखल में कूटते हैं और उसी प्रकार सेना की व्यवस्था फैला कर फिर राजा कर आदि प्राप्त करे।

'चर्म=' चरतेर्मनिन्नीणादिकः। चरति येन स चर्म इति दयानन्दः।

**एतौ ग्रावा॑णा स॒युजा॑ यु॒ङ्ग्धि चर्म॑णि॒ निर्भि॑न्ध्यं॒शून् यज॑मानाय सा॒धु। अ॒व॒घ्न॒ती नि ज॑हि॒ य इ॒मां पृ॑त॒न्यव॑ ऊ॒र्ध्वं प्र॒जामु॒द्भर॒न्त्युदू॑ह ॥ ६ ॥**

भा०—हे ऋत्विक् ( चर्मणि ) चर्म पर ( सयुजा ) सदा साथ रहने वाले ( एतौ ग्रावाणौ ) इन दोनों 'ग्रावा' ऊखल और मुसल को ( युङ्ग्धि ) जोड़ और ( अंशून् ) अन्न के कणों को ( यजमानाय ) यज्ञ करनेहारे गृहपति के लिये ( साधु ) उत्तम प्रकार से ( निः भिन्धि ) कूट।

राजपक्ष में—हे पुरोहित ! अमात्य ! तू ( एतौ ग्रावाणौ ) इन दोनों ( स-युजौ ) सदा साथ रहने वाले क्षत्रिय और वैश्य प्रजा अथवा राजा और प्रजा दोनों को ( युङ्ग्धि ) परस्पर मिला। और ( यजमानाय ) राष्ट्रपति के लिये ( अंशून् ) तेजोमय, पुष्टिकारक अन्नादि पदार्थों को ( निर्भिन्धि ) बल से प्राप्त कर। विशो वै ग्रावाणः। श० ३। ७। १। वज्रो वै ग्रावा। श० ११। ५। १। ७॥ क्षत्रं वै प्रस्तरः। श० १। ३। ४। १।

हे पत्नि ! ( अवघ्नती ) मूसल का प्रहार करती हुई तू ( यः ) जो ( इमान् ) इस प्रजा को ( पृतन्यवः ) सेना लेकर विनाश करना चाहते हैं उनको ( निजहि ) सर्वथा विनाश कर। इसी प्रकार हे सेने ! तू प्रहार करती हुई स्वयं प्रजा के विनाशक लोगों का विनाश कर। हे राजन् ! तू गृहपति

के समान और हे पृथ्वी! तू पत्नी के समान (ऊर्ध्वं) अपने ऊपर (प्रजाम् उद्धरन्ती) प्रजा को धारण पोषण करती हुई (उदूह) उन्नत कर।

गृहाण ग्रावाणौ सकृतौ वीर हस्त आ ते देवा यज्ञियां यज्ञमंगुः।
त्रयो वरा यतमास्त्वं वृणीषे तास्ते समृद्धीरिह राधयामि ॥१०॥ (१)

भा०—हे वीर! राजन्! गृहपते! (सकृतौ) एक स्थान पर रखे हुए (ग्रावाणौ) ऊखल और मूसल दोनों को (हस्ते) हाथ में (गृहाण) पकड़। अर्थात् क्षत्रियों और प्रजाओं दोनों को अपने वश में रख। (यज्ञियाः) यज्ञ करने या राष्ट्र पालन में समर्थ (देवा.) विद्वान् देव तुल्य शासक लोग (ते यज्ञम् अगुः) तेरे यज्ञ में प्राप्त हों। (यतमान्) जिन २ वरण करने योग्य श्रेष्ठ पुरुषों को (त्वं) तू (वृणीषे) वरण करता है वे (त्रय वरा) तीन वर, श्रेष्ठ पुरुष हैं। (ताः) उन नाना प्रकार की (समृद्धीः) सम्पत्तियों को (ते) तेरे लिये मैं (राधयामि) प्राप्त कराता हूं।

इयं ते धीतिरिदमु ते जनित्रं गृह्णातु त्वामदितिः शूरपुत्रा।
परा पुनीहि य इमां पृतन्यवोऽस्यै रयिं सर्ववीरं नि यच्छ ॥ ११ ॥

भा० — हे राजन्! (इयम्) यह प्रजा (ते) तेरी (धीतिः) माता के दुग्ध पान करने के समान है। (इदम् उ ते) यह ही तेरा (जनित्रम्) उत्पन्न होने का स्थान है (त्वाम्) तुझको (शूरपुत्रा) तेरे समान शूरवीर पुत्र से युक्त होकर यह (अदितिः) पृथिवी (त्वाम्) तुझे (गृह्णातु) स्वीकार करे। (ये) जो लोग (इमां) इस पृथ्वी या पृथ्वी पर वासिनी प्रजा को (पृतन्यवः) सेना संग्रामों द्वारा कष्ट देना चाहते हैं उनको (परा पुनीहि) दूर कर डाल। (अस्यै) इसको (सर्ववीरम्) समस्त वीर पुरुष रूप (रयिं) धन को (नियच्छ) नियम में बांध या इसे प्रदान कर। राजा को प्रजा

१०—'ग्रावाणौ सयुजौ', 'हस्ता' इति पैप्प० सं०।
११—(च०) 'नियच्छतान्' इति पैप्प० सं०।

स्वीकार करे यही उसका पृथ्वी माता से उत्पन्न होना उसका दुग्ध पान करने के समान है । वह उसके शत्रुओं को धुन डाले और सब प्रजावासी वीरों से सेना बल बढ़ावे ।

उपश्वसे द्रुवये सीदता यूयं वि विच्यध्वं यज्ञियासस्तुषैः ।
श्रिया समानानति सर्वान्त्स्यामाधस्पदं द्विषतस्पादयामि ॥ १२ ॥

भा०—हे प्रजाजनो ! ( यूयं ) आप लोग ( द्रुवये ) धनैश्वर्य और स्थिर ( उपश्वसे ) जीवनयात्रा के लिये ( सीदत ) बैठो । हे ( यज्ञियासः ) पूजनीय पुरुषो ! आप लोग ( तुषैः ) तुष के समान तुच्छ लोगों से ( वि विच्यध्वम् ) पृथक् होकर रहो । हम उत्तम पुरुष ( श्रिया ) लक्ष्मी और धन की सत्ता में ( समानान् ) समान कोटि के लोगों में से ( सर्वान् ) सब से ( अति स्याम ) अधिक श्रेष्ठ हों । और मैं राजा ( द्विषतः ) अपने से द्वेष करने वाले पुरुषों को ( अधः पदम् ) नीचे के स्थान में ( आ पादयामि ) गिरा दूं । राजा अपनी प्रजाओं को स्थिर आजीविका दे, उत्तम लोगों को नीच लोगों से अलग रहने का उपदेश करे, जिससे प्रजा के लोग धनादि में समानों से भी गुणों में श्रेष्ठ बनें, और शत्रुओं को नीचे गिरावे ।

परेहि नारि पुनरेहि क्षिप्रमपां त्वा गोष्ठोऽध्यरुक्षद् भराय ।
तासां गृह्णीताद् यतमा यज्ञिया असन् विभाज्य धीरीतरा
जहीतात् ॥ १३ ॥

भा०—पनिहारी के दृष्टान्त से राजसभा के कार्यों का उपदेश करते हैं । हे ( नारि ) नर—नेताओं की बनी सभे ! ( परा इहि ) तू दूर तक

१२–( प्र० ) 'भुवये' इति सायणाभिमतः, बहुत्र च पाठः ।
१३–( तृ० ) 'यज्ञियासन्', ( च० ) 'विभज्य, धीरीतरा जहीत' इति पैप्प० सं० ।

जा, दूर तक देख। और फिर अपने केन्द्र स्थान में आजा। ( त्वा ) तेरे ऊपर ( अपां ) अपः, ज्ञान, कर्म या आप्त पुरुषों का ( गोष्ठः[1] ) समूह ( मराय ) तुझे पुष्ट करने के लिये ( त्वा अधि अरुक्षत् ) तेरे ऊपर विराजमान है। ( तासां ) उन आपः-कर्मों प्रजाओं में से ( यतमाः ) जो २ (यज्ञियाः) पूजनीय, श्रेष्ठ प्रजाएं ( असन् ) हों उनको हे सभे! तू ( गृहाणतात् ) ग्रहण कर और ( धीरी ) बुद्धिमती तू उनको ( विभाज्य ) अच्छों से पृथक् करके ( इतराः ) औरों को ( जहीतात् ) त्याग दे।

पनिहारी के पक्ष में—हे नारि ( परेहि ) जा और फिर शीघ्र आ। ( अपां गोष्ठ त्वा मराय अधि अरुक्षत् ) जलों का भरा घट तेरे सिर पर रखा है। जो उत्तम जल हों उनको ले ले और नीचे जो मलिन जल हों उनको तू बुद्धिमती त्याग दे।

**एमा अंगुर्योषितः शुम्भमाना उत्तिष्ठ नारि तवसं रभस्व।**
**सुपत्नी पत्यां प्रजया प्रजावत्या त्वागन् यज्ञः प्रति कुम्भं गृभाय ॥१४॥**

भा०—पत्नी और अन्य स्त्रियों के प्रति दृष्टान्त से राजसभा के कर्तव्यों का उपदेश करते हैं। ( इमाः योषितः ) ये स्त्रियां ( शुम्भमानाः, आ अगुः ) शोभित होकर वस्त्र अलंकारादि से सज कर आती हैं। ( हे नारि उत्तिष्ठ तवसं रभस्व ) हे नारि! पत्नी! तू बलवान् पुरुष को अपना पतिस्वरूप प्राप्त कर। ( पत्या सुपत्नी ) उत्तम पति के द्वारा ही स्त्री सुपत्नी अर्थात् उत्तम पत्नी कहाती है। और ( प्रजया प्रजावती ) उत्तम प्रजा सन्तान से स्त्री प्रजावती कहाती है। ( यज्ञः त्वा अगन् ) यज्ञ अर्थात् महत् पुरुष का संग तुझे प्राप्त हुआ है ( कुम्भं प्रति गृभाय ) जल से भरे कुम्भ को ग्रहण कर और उसकी पूजा सत्कार कर।

---

१ 'गोष्ठ.' छान्दस गत्वम्। 'काष्ठा,' गाष्ठत्वम्।

१४–'तव। भरभस्वेति सायणाभिमतः पदच्छेद.। 'तवस। रभस्व' इति पदपाठ.।

राजसभा पक्ष में—( इमाः योषितः ) ये प्रजाएं ( शुम्भमानाः ) सुशोभित होकर ( आ अगुः ) प्राप्त होती हैं। हे ( नारि ) नेतृजनों की सभे ! ( तवसम् ) बलवान् राजा को अपना पति स्वामी रूप ( रभस्व ) प्राप्त कर। तू ( पत्या ) अपने पति रूप राजा से ( सुपत्नी ) उत्तम पत्नी के समान उसके राष्ट्र को उत्तम रूप से पालन करने हारी है और राष्ट्र की ( प्रजया ) प्रजा से ही ( प्रजावती ) प्रजावती है । ( यज्ञः त्वा आ अगन् ) यज्ञरूप प्रजापति तुझे प्राप्त हुआ है । ( कुम्भं प्रति गृभाय ) कुम्भ रूप राष्ट्र को स्वयं स्वीकार कर । राष्ट्रं द्रोणकलशः । तां० ६ । ६ । १ ॥

ऊर्जो भागो निहितो यः पुरा व ऋषिप्रशिष्टाप आ भरैताः ।
अयं यज्ञो गातुविन्नाथवित् प्रजाविदुग्रः पशुविद् वीरविद् वो अस्तु १५

भा०—हे ( अपः ) जल के समान स्वच्छ आप्त प्रजाओ ! ( यः ) जो ( वः ऊर्जः भागः ) तुम्हारा ऊर्ज-बल और अन्न का नियत भाग ( निहितः ) निश्चित किया गया है वह ही निश्चित है । हे सभे ! ( ऋषिप्रशिष्टा ) ऋषि तत्त्व-ज्ञानी, वेदार्थद्रष्टा विद्वानों से शासित होकर तू ( पुनः ) उन ( अपः ) प्रजाओं को ( आ भर ) प्राप्त कर, पालन कर । ( अयम् ) यह ( यज्ञः ) राष्ट्र या प्रजापति के समान राजा ( गातुवित् ) सब मार्गों का जानने वाला, ( नाथवित् ) ऐश्वर्य का प्राप्त करने वाला ( प्रजावित् ) प्रजा को प्राप्त करने वाला और ( पशुवित् ) पशुओं को प्राप्त करने वाला और ( वः ) तुम्हारे लिये वीरों को प्राप्त करने वाला ( अस्तु ) हो ।

गृहपतिपक्ष में—हे जलो ! तुम्हारा सारवान् भाग इस कलश में रखा है । हे नारि ! तू ऋषि से अनुशासित होकर जलों को भर । यह यज्ञ अर्थात उत्तम मार्ग, ऐश्वर्य, प्रजा, पशु और वीर पुत्र को प्राप्त कराने वाला है ।

१५-( प्र० ) 'निहतः', '-प्रशिष्टाप एताः' इति ( तृ० ) 'नाथ-विद् गातुविद्' इति पैप्प० सं० ।

अग्ने चरुर्यज्ञियस्त्वाध्यरुक्षच्छुचिस्तपिष्ठस्तपसा तपैनम् ।
आर्षेया दैवा अभिसङ्गत्य भागमिमं तपिष्ठा ऋतुभिस्तपन्तु ॥१६॥

भा०—हे ( अग्ने ) अग्ने ' अग्नि के समान तेजस्वी राजन् ' ( यज्ञिय. चरु ) यज्ञसम्बन्धी चरु, भात जिस प्रकार अग्नि पर पकाने के लिये रख दिया जाता है उसी प्रकार यह ' यज्ञिय, चरु ' राष्ट्र सम्बन्धी वीर्य, तेज, या राष्ट्रूप कलश ( शुचि ) शुद्ध ( तपिष्ट ) दुष्टों को ताप देने वाला, ( त्वा अधि अरुक्षत् ) तुझे प्राप्त हुआ है । ( एनम् ) इसे अपने ( तपसा ) तेज से ( तप ) तपा और उज्ज्वल कर । ( आर्षेया ) ऋषियों से, विद्वानों से उत्पन्न ( दैवाः ) ऋषि और विद्वान् पुरुष ही स्वयं ( तपिष्ठा ) तपस्वी होकर ( इमम् ) इस ( भागम् ) राष्ट्र के भाग को ( ऋतुभिः ) ऋतु ज्ञानी सभा के सदस्यों द्वारा ( तपन्तु ) तपावें और उज्ज्वल करें, परिपक्व करें ।

ऋतव. – सदस्या ऋतवोऽभवन् । तै० ३ । १२ । ७ । ४ ॥ ऋतवः पितरः । कौ० ५ । ७ ॥ ऋतवो वै सोमस्य राज्ञो राजभ्रातरो यथा मनुष्यस्य । ऐ० १ । १३ ॥ ऋतवो वै देवा. । श० ७ । २ । ४ । २६ ॥ सदस्य, पितर, देव, राजा के राजवंशी भ्राता लोग ' ऋतु ' शब्द से कहे जाते हैं । ' ओदन चरु । ' श० ४ । ४ । २ । १ ॥ रेतो वा ओदन. । श० १३ । १ । १ । ४ ॥

शुद्धा पूता योषितो यज्ञिया इमा आपश्चरुमव सर्पन्तु शुभ्राः ।
अदुः प्रजां बहुलान् पशून् नः पक्तौदनस्य सुकृतामेतु लोकम् ॥१७॥

१६–( तृ० ) ' देवाभिगत्य ' इति पैप्प० सं० ।
१७ ( द्वि० ) ' प्रजां बहुलाम् ' इति बहुत्र । ' पक्वौदनस्य ' इति सायणाभिमत पाठः । ( तृ० ) ' ददत्प्रजाम् ' ( च० ) ' सुकृतामेति ' इति पैप्प० सं० । 'अदु प्रजां बहुलाश्च पशून् न पक्वौदनस्य' इति रोथह्विट्नेसम्मतोऽभिमत पाठः ।

भा०—( इमाः ) ये ( शुद्धाः ) शुद्ध, मल रहित निष्पाप ( यज्ञियाः ) यज्ञ के योग्य, पवित्र ( योषितः ) स्त्रियां और उनके समान अनिन्दित और ( आपः ) आप, जलों के समान स्वच्छ हृदय वाली ( शुभ्राः ) सुन्दर गुण, अलंकार और वस्त्रों से सजी प्रजाएं ( चरुम् ) इस चरु रूप राष्ट्र में ( अव-सर्पन्तु ) आवें। और ( नः ) हमें ( प्रजाम् ) उत्तम सन्तान ( बहुलान् पशून् ) बहुतसे पशुओं को ( अदुः ) प्रदान करें। ऐसे ( ओदनस्य पक्ता ) भात रूप राष्ट्र के क्षात्र बल के परिपाक करने वाला राजा ( सुकृताम् ) पुण्य आचारवान् पुरुषों के ( लोकम् ) उत्तम लोक को ( एतु ) प्राप्त हो।

प्रति दृष्टान्त में यज्ञ के निमित्त पकाये भात में शुद्ध जलों को डाले और ओदन तैयार करे। वह पुष्टिकारक, प्रजाप्रद होता है।

**ब्रह्मणा शुद्धा उत पूता घृतेन सोमस्यांशवस्तण्डुला यज्ञिया इमे।**
**अपः प्र विशत प्रति गृह्णातु वश्चरुरिमं पक्त्वा सुकृतामेत लोकम् ॥१८॥**

भा०—( इमे ) ये ( यज्ञियाः ) राष्ट्ररूप यज्ञ के योग्य ( तण्डुलाः ) तण्डुल, पके भात के समान स्वच्छ, परिपक्व, राष्ट्र के निवासी, शिक्षित सैनिक युवक ( सोमस्य ) सब के प्रवर्त्तक राजा के ( अंशवः ) भाग हैं। ये ( ब्रह्मणा ) ब्राह्म बल, वेदज्ञान से ( शुद्धाः ) पवित्र और ( घृतेन ) घृत, तेज, ब्राह्मतेज और क्षात्र-तेज से ( पूताः ) पवित्र हैं। हे ( अपः ) जल के समान स्वच्छ प्रजाओ! तुम ( प्र विशत ) राष्ट्र में प्रवेश करो। ( वः ) तुमको ( चरुः ) यह ओदन का भाण्डरूप राष्ट्र ( प्रति गृह्णातु ) स्वीकार करे। तुम सब ( इमम् ) इसको ( पक्त्वा ) पका कर, परिपक्व, कार्यदक्ष करके ( सुकृताम् ) पुण्यात्माओं के ( लोकम् एत ) लोक को प्राप्त होओ।

---

१८ ( च० ) 'सुकृतामेतु', इति क्वचित्। ( प्र० ) 'शुद्धा उत्पूताः' ( द्वि० ) 'आप प्रविशत' इति पैप्प० सं०।

प्रतिदृष्टान्त में—मन्त्र अर्थात् वेद मन्त्र से शुद्ध और घृत से पवित्र ये यज्ञ के योग्य तण्डुल सोम के ही भाग हैं । हे जलो! उनमें प्रविष्ट होओ और भात को पका कर पुण्य-लोकों को प्राप्त होओ ।

'तण्डुला'—वसूनां वा एतद् रूपं यत्तण्डुलाः । तै० ३ । ८ । ४ । ३ ॥ वसु, शब्द के वाची 'तण्डुल' हैं । तण्डति, ताडयति इति तण्डुलः, इति दयानन्दः । दुष्टों के ताड़न करने द्वारा 'तण्डुल' है । वृज क्षुटि तनिताडिभ्यश्च उलच तण्डश्च [ उणा० ५ । ६ ] राजा को घेरने या पदियों को धारण करने वाले, शत्रुओं को लूटने वाले, धनुष् को तानने और दुष्टों को ताड़ना करने वाले पुरुष 'तण्डुल' कहाते हैं ।

उरुः प्रथस्व महता महिम्ना सहस्रपृष्ठः सुकृतस्य लोके ।
पितामहाः पितरः प्रजोपजाहं पक्ता पञ्चदशस्ते अस्मि ॥ १६ ॥

भा०—हे राजन् ! तू ( उरुः ) सब से बड़ा होकर ( महता महिम्ना ) बड़े भारी ऐश्वर्य से ( प्रथस्व ) बढ़ । तू ( सुकृतस्य लोके ) पुण्य के लोक में ( सहस्रपृष्ठः ) सहस्रों पीठों से युक्त, सहस्रों में बलवान्, सहस्रवीर्य है अर्थात् जैसे एक पीठवाला एक बोझ उठाने में समर्थ है वैसे तू हज़ारों प्रकार के कार्य भार उठाने में समर्थ मानों हज़ारों पीठों वाला होकर विद्यमान है । ( पितामहाः ) पितामह, दादा लोग, ( पितरः ) पिता लोग ( प्रजाः ) सन्तान और ( उपजाः ) सन्तानों की भी सन्तान हों और ( अहम् ) मैं ( पक्ता ) सब का परिपाक करने वाला स्वयं ( पञ्चदशः ) पन्द्रहवां अर्थात् वीर क्षत्रिय पन्द्रहवें स्तोम का भागी होकर ( अस्मि ) रहूं ।

'पञ्चदशः'—क्षत्रं पञ्चदशः । ऐ० ८ । ४ ॥ तस्माद् राजन्यस्य पञ्चदशः स्तोमः । राज्य के १५ विभागों के ऊपर १५ वां राजा है ।

---

१६–( च० ) 'पाता' इति ह्विट्नि, 'पक्वा' इति सायण. ।

सहस्रपृष्ठः शतधारो अक्षितो ब्रह्मौदनो देवयानः स्वर्गः ।
अमूंस्त आ दधामि प्रजया रेषयैनान् बलिहाराय मृडता-
न्मह्यमेव ॥ २० ॥ ( २ )

भा०—( सहस्रपृष्ठः ) सहस्रों पृष्ठों वाला या सहस्रों का पोषक ( शतधारः ) सैकड़ों धारों वाला, शतवीर्य ( अक्षितः ) अविनाशी, अक्षय ( ब्रह्मौदनम् ) ब्रह्म के बल से संयुक्त, प्रजापति अर्थात् क्षत्र बल ही ( स्वर्गः ) सुखमय ( देवयानः ) देवताओं का मार्ग है । (ते) तेरे वश में मैं ( अमून् आ दधामि ) उन शत्रु लोगों को रखता हूं । ( एनान् ) उनको ( प्रजया ) प्रजासहित ( बलिहराय ) कर देने के लिये ( रेषय ) पीड़ित कर, दण्डित कर । ( मह्यम् ) मुझ को ( एव ) ही ( मृडतात् ) सुखी कर ।

उदेहि वेदिं प्रजया वर्धयैनां नुदस्व रक्षः प्रतरं धेह्येनाम् ।
श्रिया समानानति सर्वान्त्स्यामाधस्पदं द्विषतस्पादयामि ॥२१॥

भा०—हे राजन् ! हे गृहपते ! ( वेदिम् उदेहि ) इस पृथ्वी या पत्नी पर उदय को प्राप्त हो । और ( एनां प्रजया वर्धय ) इसको उत्तम प्रजा से बढ़ा । ( रक्षः नुदस्व ) राक्षस लोगों को दूर कर । ( एनां प्रतरं धेहि ) इस पृथ्वी को और इस पत्नी को अपनी नाव समझ। यही तुझको शत्रुओं के बीच और भवसागर में तरावेगी । ( श्रिया समानान् ) लक्ष्मी, सम्पत्ति में समान पद, सत्ता वाले अन्य ( सर्वान् ) सब लोगों से मैं ( अति स्याम् ) बढ़ जाऊं । और ( द्विषतः ) द्वेष करने वालों को ( अधः आ पादयामि ) नीचे गिराऊं ।

२०–( तृ० ) 'रेषयैनान्' इति सायणः । ( प्र० ) 'अक्षतो' इति पैप्प० सं० ।

२१–( द्वि० ) 'प्रतिरंधेह्येनम्', ( तृ० ) 'पद्या समानान्', ( च० ) 'पादयेन' इति पैप्प० सं० ।

अभ्यावर्तस्व पशुभिः सहैनां प्रत्यङेनां देवताभिः सहैधि ।
मा त्वा प्रापच्छपथो माभिचारः स्वे क्षेत्रे अनमीवा वि राज ॥२२॥

भा०—गृहस्थ पक्ष में—( एनाम् ) इस पत्नी के पास ( पशुभिः सह ) पशुओं की सम्पदाओं के साथ ( अभि आवर्त्तस्व ) प्राप्त हो अर्थात् पशुओं के पालन सहित गृहस्थ को पाल । गृहस्थ में गाय भैंस खूब हों । और ( देवताभिः ) दिव्यगुण, देवस्वभाव वाले विद्वान् पुरुषों के सहित ( एनाम् ) इस पत्नी को ( प्रत्यङ् ) साक्षात् ( एधि ) प्राप्त हो । इसके साथ २ विद्वानों का सत्संग कर । ( त्वा शपथः ) तुझे दूसरे की की निन्दाएं ( मा प्रापत् ) प्राप्त न हों और ( अभिचारः मा प्रापत् ) दूसरे के आक्रमण भी तुझ पर न हों । तू ( स्वे क्षेत्रे ) अपने क्षेत्ररूप पत्नी ही में ( अनमीवा ) रोग रहित सुखी होकर ( विराज ) विराजमान रह ।

राजा के पक्ष में—हे राजन् ! ( पशुभिः सह एनाम् अभ्यावर्त्तस्व ) पशु सम्पत्ति सहित इस पृथ्वी को पालन कर । ( देवताभिः सह एनां प्रत्यङ् एधि ) विद्वान्, देवतुल्य पुरुषों सहित इसको स्वतः प्राप्त हो । ( शपथः मा, अभिचारः त्वा मा प्रापत् ) लोक निन्दाएं और शत्रु के गुप्त आक्रमण तुझ तक न पहुंच पावें । तू ( स्वे क्षेत्रे अनमीवाः विराज ) अपने राष्ट्र के अहाते में नीरोग और विना क्लेश के विराजमान रह ।

प्राचीन साहित्य में पृथ्वी को भी राजा की पत्नी के समान जानने के व्यापक भाव के यही मूल मन्त्र हैं । इसी आधार पर विवाह काल में पत्नी को प्राप्त करने के लिये भी वर को राजा के साज करने पड़ते हैं । और

२२–'सहैनाम् प्रत्यङेनाम्' इति सायणाभिमतः पाठः ।
( प्र० ) 'प्रत्यामेनाम्', ( तृ० च० ) स्वर्गो लोकमभिसंविदाना-
मादित्यो देव परमेव्योम [ ? ] इति पैप्प० सं० ।

पत्नी क्षेत्र है, पर क्षेत्र में भोग करने से रोग और कलह, लोक, निन्दा बढ़ती है। इत्यादि बात भी वेद ने स्पष्ट कर दी है।

**ऋतेन॑ तष्टा मन॑सा हि॒तैषा ब्र॑ह्मौद॒नस्य॒ विहि॑ता वे॒दिरग्रे॑।**
**अं॒स॒ध्रीं शु॒द्धामुप॑ धेहि नारि॒ तत्रौ॑द॒नं सा॑दय दै॒वाना॑म् ॥ २३ ॥**

भा०—( ऋतेन तष्टा ) ऋत सत्य ज्ञान से या वेद की व्यवस्था से बनायी गई और ( मनसा ) मन सत्य संकल्प से ( हिता ) स्थापित ( ब्रह्मोदनस्य ) ब्रह्मोदन ब्रह्मवीर्य से युक्त क्षात्र-बल के लिये ( एषा ) यह ( अग्रे ) सब से प्रथम में ( वेदिः ) वेदि, पृथ्वी ( विहिता ) बनायी गयी है। हे नारि! पत्नि! ( शुद्धाम् ) शुद्ध मँजी हुई ( अंसध्रीम् ) थाली को ( उपधेहि ) रख और ( देवानाम् ) देवों विद्वान् पुरुषों के लिये बना ( तत्र ओदनं सादय ) उसमें ओदन=भात रख।

राजपक्ष में—हे नारि राजसभे! ( शुद्धाम् ) शुद्ध, पवित्र निश्छल ( अंसध्रीम्=अंशध्रीम् ) सब के अंशों को धारण करने वाली व्यवस्था को ( उपधेहि ) बना, स्थापित कर ( तत्र ) उस पर, ( देवानाम् ओदनम् ) देवताओं, समस्त राष्ट्रवासी विद्वान् पुरुषों के ( ओदनम् ) वीर्य स्वरूप राजा को ( सादय ) स्थापन कर।

**अदि॑तेर्हस्तां स्रुच॑मे॒तां द्वि॒तीयां॑ सप्तऋ॒षयो॑ भूत॒कृतो॒ याम॑कृण्वन्।**
**सा गात्रा॑णि वि॒दुष्यो॑द॒नस्य॒ दर्वि॒र्वेद्या॒मध्ये॑नं चिनोतु ॥ २४ ॥**

२३-( तृ० ) 'अंसध्रीम्' इति सायणाभिमतः पाठः ( च० ) 'देवानाम्' इति ह्विटनिकामितः पाठः। 'देवानाम्' इत्यपि क्वचित्। ( प्र० ) 'मनसो हि तेषं', ( द्वि० ) 'निहिता' ( तृ० ) 'अनाभिदम्' अथवा 'अनभिदम्' [?] इति पैप्प० सं०।

२४-( प्र० ) 'हस्तं,' 'द्वितीय' इति सायणाभिमतः पाठः। ( द्वि० ) 'सप्तर्षयः' इति पैप्प० सं०।

भा०—( भूतकृत. ) प्राणियों की रचना या व्यवस्था करने वाले प्रजापति रूप ( सप्तऋषय ) सातों ऋषियों ने ( अदिते. ) अदिति, अदीना देवमाता स्वरूप स्त्री के ( हस्ताम् ) हस्त स्वरूप ( एताम् ) इसको ( याम् ) जिसको ( द्वितीया स्रुचम् ) यज्ञ ' स्रुक् ' के अतिरिक्त दूसरी स्रुक् आहुति देने की चमसा ( अकृण्वन् ) बनाया है । ( सा ) वह ( दर्विः ) दर्वि—कड़छी रूप स्त्री ( ओदनस्य ) भात के ( गात्राणि विदुषी ) समस्त अंगों को जानने हारी होकर ( एनम् ) इसको ( वेद्याम् अधि चिनोतु ) वेदी में उत्तम रीति से स्थापित करे ।

राजपक्ष में—( भूतकृतः सप्तऋषय. ) प्राणियों के उत्पादक या व्यवस्थापक सात ऋषियों ने ( अदिते हस्ताम् ) अदिति पृथ्वी के हस्त रूप, हनन साधन, सेना रूप ( याम् ) जिस ( एताम् ) इसको ( द्वितीयां स्रुचम् अकृण्वन् ) दूसरी आहुति का ' स्रुचा ' ही बनाया है । ( सा दर्विः ) वह शत्रुओं को विदारण करने में समर्थ ( ओदनस्य गात्राणि विदुषी ) क्षात्र-बल या राजा के समस्त अंगों को जानने वाली ( एनम् ) इस राजा को ( वेद्याम् अधि ) इस पृथ्वी पर ( अधि चिनोतु ) स्थापित कर दे ।

योषा हि स्रुक् । शत० १ । ४ । ४ । ४ ॥ बाहुवै स्रुचौ । श० ७ । ४ । १ । ३६ ॥ विश्वाची वेदिः । घृताची स्रुक् । श० १ । २ । ३ । १७ ॥

अर्थात्—गृहपत्नी का हाथ भी यज्ञ के स्रुचा के समान पवित्र है। वह स्वयं दर्वी रूप होकर ओदन को जिस प्रकार वेदी में रखती है उसी प्रकार सेना पृथ्वी के हस्तरूप युद्धयज्ञ की स्रुचा है । वह भी राजा के क्षात्र बल के सब अंगों को जानती हुई पृथ्वी पर क्षात्र-बल को प्रतिष्ठित करती है ।

शृतं त्वां हव्यमुप सीदन्तु देवा निः सृप्याग्नेः पुनरेनान् प्र सीद ।
सोमेन पूतो जठरे सीद ब्रह्मणामार्षेयास्ते मा रिषन् प्राशितारः ॥२५॥

भा०—भात के पक्ष में—( त्वा ) तुझ ( शृतम् ) पके हुए ( हव्यम् ) हविरूप अन्न को ( देवाः ) देव, विद्वान् गण ( उप सीदन्तु ) प्राप्त हों। तू ( अग्नेः निः सृप्य ) अग्नि से निकल कर ( पुनः, एनान् प्रसीद ) फिर इन देवगण को प्रसन्न कर । तू, ( सोमेन ) सोम रूप घी, दूध आदि से ( पूतः ) पवित्र होकर ( ब्रह्मणां जठरे सीद ) ब्राह्मणों, विद्वानों के पेट में प्रविष्ट हो । ( ते आर्षेयाः ) वे ऋषि तुल्य, ऋषि सन्तान विद्वान् ( प्राशितारः ) खाने वाले ( मा रिषन् ) कभी पीड़ित न हों ।

राजपक्ष में—( हव्यम् ) पूजनीय ( शृतम् ) परिपक्व ( त्वा ) हे राजन् तुझको ( देवाः ) देव तुल्य, विद्वान्गण ( उप सीदन्तु ) प्राप्त हों तू ( अग्नेः ) अग्नि तुल्य आचार्य के समीप से या उसके सदृश तेज से ( निः सृप्य ) निकल कर ( पुनः ) फिर ( एनान् ) इनको ( प्रसीद ) प्रसन्न कर, तू ( सोमेन पूतः ) सोम रूप राष्ट्र से पवित्र होकर ( ब्रह्मणाम् ) ब्रह्मज्ञानी वेद के विद्वानों के ( जठरे ) गर्भ में, उनकी रक्षा में ( सीद ) रह । ( ते ) वे ( आर्षेयाः ) ऋषियों के सन्तान तेरा ( प्राशितारः ) भोग करने वाले, तेरी शक्ति का लाभ उठाने वाले ( मा रिषन् ) कभी दुष्टों से पीड़ित न हों ।

ब्रह्मौदन के प्रति दृष्टान्त से राजा के कर्त्तव्यों का उपदेश किया गया है ।

सोमं राजन्त्संज्ञानमा वंपैभ्यः सुब्राह्मणा यतमे त्वोपसीदान् ।
ऋषीनार्षेयांस्तपसोऽधि जातान् ब्रह्मौदने सुहवां जोहवीमि ॥२६॥

२५–( प्र० ) 'श्रुतं त्वाहविः' ( द्वि० ) 'अनुनत्याग्ने पुनरेनं प्रसृप्यः' ( तृ० च० ) मागना आर्षेया' 'मार्षन्' इति पैप्प० सं० ।

२६–( द्वि० ) 'एभ्यो मागनाः', ( तृ० ) 'ऋषीनानृषयस्तपसोधिजात' ( च० ) 'मार्हौदने' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे ( सोम राजन् ) सौम्यगुण युक्त राजन् ! ( त्वा ) तेरे समीप ( यतमे सुब्राह्मणाः ) जितने उत्तम ब्रह्म के ज्ञानी ब्राह्मण, विद्वान् ( उपसीदन् ) आवें और बैठें ( एभ्य ) उनके ( संज्ञानम् आ वप ) सत् ज्ञान को तू स्वयं प्राप्त कर । सदा संकल्प कर कि ( ऋषीन् ) ऋषियों को ( आर्षेयान् ) ऋषियों के सन्तानों और शिष्यों को जो ( तपसः ) तप ब्रह्म विद्या के सम्बन्ध से ( जातान् ) विद्वान् रूप में उत्पन्न हुए हैं उनको मैं ( सुहवा ) उत्तम यज्ञ सम्पादन करने द्वारा ( ब्रह्मौदने ) ब्रह्मौदन यज्ञ में ( जोहवीमि ) बुलाऊं । अर्थात् ( सुहवा ) उत्तम राजा अपने राष्ट्र में उन विद्वानों को बुलावे ।

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक् सादयामि ।
यत्काम इदमभिषिञ्चामि वोऽहमिन्द्रो मरुत्वान्त्स ददादिदं मे ॥२७॥

अथर्व० ६ । १२२ । ५ ॥ १० । ९ । २७ ॥

भा०—( इमाः ) ये ( यज्ञियाः ) यज्ञ के कर्म में विराजने योग्य ( शुद्धाः पूताः ) शुद्ध पवित्र ( योषितः ) स्त्रियां हैं इनको ( ब्रह्मणां ) ब्रह्मज्ञानी विद्वान् ब्राह्मणों के ( हस्तेषु ) हाथों में ( पृथक् प्र सादयामि ) पृथक् २ प्रदान करता हूं । ( अहम् ) मैं गृहपति ( यत्कामः ) जिस अभिलाषा से ( वः ) आप विद्वान् पुरुषों को ( इदम् ) इस प्रकार ( अभिषिञ्चामि ) अभिषेक करता, पूजा प्रतिष्ठा करता हूं ( इदं ) उस मनोरथ को ( सः ) वह ( मरुत्वान् ) देवों का स्वामी मरुत् सब के जीवनाधार प्राणों का स्वामी ( इन्द्रः ) परमेश्वर ( मे ददात् ) मुझे प्रदान करे ।

२७–( च० ) 'स ददातु तन्मे ' इति अथर्व० ६ । १२२ । ५ ॥ ( प्र० ) 'असौ दर्वीधृतश्च्युतो' ( च० ) 'तन्मे सर्वं संपद्यतां वयं स्याम पतयो रयीणाम् ' इति अथर्व० १० । ९ । २७ ॥ ( प्र० ) ' इयमापो मधुमती घृतश्च्युता ब्रह्मणा ' ( तृ० ) ' यत्काम ' इति पैप्प० सं० ।

राजपक्ष में—( इमा यज्ञियाः शुद्धाः पूताः योषितः ) ये राष्ट्र यज्ञ में विराजने योग्य शुद्ध पवित्र प्रजाएं हैं । इनको विद्वान् ब्राह्मणों के हाथ सौंपता हूं । ( यत्काम० ) जिस कामना से हे विद्वान् पुरुषो ! मैं आपको अधिकार पदों पर स्थापित करता हूं, वह परमेश्वर मुझे मेरे मनोरथ पूर्ण करे । इस मन्त्र की व्याख्या देखो [ अथर्व० ६ । १२२ । ५ ॥ ]

इदं मे ज्योतिरमृतं हिरण्यं पक्वं क्षेत्रात् कामदुघा म एषा ।
इदं धनं नि दधे ब्राह्मणेषु कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः ॥ २८ ॥

भा०—( इदं हिरण्यम् ) यह मनोहर सुवर्ण ( अमृतं ज्योतिः ) अमृत स्वरूप तेज ( क्षेत्रात् ) मेरे राष्ट्र रूप क्षेत्र से ( पक्वम् ) सुपक्व रूप में ( मे ) मुझे प्राप्त हुआ है । ( एषा ) यह पृथ्वी ( मे कामदुघा ) मेरे समस्त कामनाओं, अभिलाषाओं को पूर्ण करने हारी है । ( इदं धनम् ) यह धन मैं ( ब्राह्मणेषु निदधे ) ब्राह्मणों में रखता हूं उनको प्रदान करता हूं । और ( पितृषु ) पितृजनों में ( यः स्वर्गः पन्थाः ) जो सुख को प्राप्त कराने वाला मार्ग है उसको ( कृण्वे ) मैं भी पालन करता हूं ।

गृहस्थपक्ष में—( क्षेत्रात् पक्वं ) खेत में पके धान के समान मेरे क्षेत्र स्त्री से परिपक्व गर्भ रूप में प्राप्त ( इदम् ) यह ( हिरण्यम् ) सुवर्ण के समान सुन्दर, ( अमृतम् ) अमृत-अन्न के समान मधुर, अमर, चेतन, ( ज्योतिः ) पुत्र रूप तेज ( मे ) मुझे प्राप्त हुआ है । ( एषा मे कामदुघा ) यह स्त्री मेरी समस्त अभिलाषाओं को पूरा करती है । ( इदं धनं ब्राह्मणेषु निदधे ) इस धन को ब्राह्मणों को प्रदान करता हूं । ( पितृषु यः स्वर्गः पन्थाः कृण्वे ) मेरे परिपालक गुरु, पिता, पितामह आदि के अधीन जो मेरा सुख प्राप्त कराने वाला मार्ग, सन्मार्ग, धर्माचरण है उसको मैं पालन करता हूं ।

२८–( प्र० ) 'हिरण्यं' ( च० ) 'यस्स्वर्गः' इति पैप्प० सं० ।

अग्नौ तुषाना वंप जातवेदसि परः कम्बूकाँ अपं मृड्ढि दूरम् ।
एतं शुश्रुम गृहराजस्यं भागमथो विद्म निर्ऋतेर्भागधेयम् ॥ २९ ॥

भा०—हे पुरुष ! ( तुषान् ) तुषों को, तुषों के समान तुच्छ दुष्टों को ( जातवेदसि अग्नौ ) जातवेदा अग्नि में ( आ वप ) डाल दे, भस्म कर दे। और ( कम्बूकान्[1] ) छिलकों को ( दूरम् ) दूर ( अप मृड्ढि ) मार भगा। ( एतं ) इस शेष अन्न को ( गृहराजस्य ) घर के राजा का ( भागं शुश्रुम ) भाग सुनते हैं। ( अथो ) और तुष आदि को ( निर्ऋतेः ) पाप का या मृत्यु का ( भागधेयम् विद्म. ) भाग जानते हैं।

जिस प्रकार छिलकों और तुषों को दूर करके जला दिया जाता है उसी प्रकार दुष्टों को दूर कर दिया जाय। शेष अन्न को जिस प्रकार गृहस्वामी रख लेता है उसी प्रकार राजा उनकी रक्षा करे। तुष को पापभागी समझ कर दण्ड दे।

श्राम्यतः पचतो विद्धि सुन्वतः पन्थां स्वर्गमधि रोहयैनम् ।
येन रोहात् परमापद्य यद् वयं उत्तमं नाकं परमं व्योम ॥३०॥ (३)

भा०—( श्राम्यतः ) श्रम से, तप साधना करने हारे ( पचत. ) ज्ञान और आचार का परिपाक करने वाले और ( सुन्वत· ) ज्ञान का शिष्यों का सम्पादन कराते हुए विद्वानों को हे राजन् ( त्वं विद्धि ) तू भली प्रकार जान। हे ईश्वर ( स्वर्गं पन्थाम् एनम् अधिरोहय ) स्वर्ग, सुखकारी मार्ग पर उस को चढ़ा। ( येन ) जिससे ( परम् ) परम श्रेष्ठ ( वय ) आयु १०० वर्ष

२९-( द्वि० ) 'अप मृड्वयेनाम्'।

१. फलीकरणान् इति सायण।

३०-( द्वि० ) 'रोहयैनान्' इति सायणाभिमतः पाठ.। 'स्वर्गं लोकमधिरोहयैनम्' इति पै० सं०।

के जीवन को ( आपद्य ) प्राप्त होकर ( उत्तमम् ) सब से उत्कृष्ट ( यत् ) जो ( नाकम् ) सुखमय, दुःख से रहित ( परमम् ) परम ( व्योम ) रक्षास्थान, मोक्षधाम है उसको ( रोहात् ) प्राप्त हो ।

बभ्रेरध्वर्यो मुखमेतद् वि मृड्ढ्याज्याय लोकं कृणुहि प्रविद्वान् ।
घृतेन गात्रानु सर्वा वि मृड्ढि कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः ॥३१॥

भा०—हे अध्वर्यो ! ( बभ्रेः ) प्रजा का धारण पोषण करने हारे इस ( एतत् मुखम् ) मुख या मुख्यस्वरूप राजा को ( विमृड्ढि ) साफ़ कर व उज्ज्वल और शुद्ध कर । और तू ( प्रविद्वान् ) प्रकृष्ट, अति अधिक विद्वान् होकर ( आज्याय ) आज्य क्षात्रबल के भोग के लिये इस ( लोकम् ) लोक को ( कृणुहि ) कर दे । और ( घृतेन ) तेज से ( सर्वा गात्रा ) समस्त अंगों को ( विमृड्ढि ) विशेष रूप से परिष्कृत कर । मैं ( पितृषु ) प्रजा के पालक माता, पिता, गुरु, आचार्य, राजा, राजशासक आदि लोगों के आधार पर आश्रित ( यः स्वर्गः पन्थाः ) जो सुखकारी मार्ग को प्राप्त करने का उपाय या मार्ग है मैं ( पन्थां कृण्वे ) उस मार्ग को सरल करूं ।

प्रतिदृष्टान्त में—हे अध्वर्यो ! बभ्रि=पोषक ओदन के मुख को साफ़ कर व आज्य=घीके लिये स्थान कर, उसके सब अंगों को शुद्ध कर ।

बभ्रे रक्षः समदमा वपैभ्यो ब्राह्मणा यतमे त्वोपसीदान् ।
पुरीषिणः प्रथमानाः पुरस्तादार्षेयास्ते मा रिषन् प्राशितारः ॥३२॥

भा०—हे ( बभ्रे ) प्रजा के धारण और पोषण कर्ता राजन् ! ( यतमे ) जो २ श्रेष्ठ (ब्राह्मणाः) ब्रह्मज्ञानी लोग (त्वा) तेरे समीप ( उपसीदान् ) आकर बैठें, तेरी शरण लें । ( एभ्यः ) इनके लिये ( समदम् रक्षः ) दुखदायी

३१-( द्वि० ) 'कृणुहि विद्वान' इति सायणाभिमतः पाठः । 'प्रजाजन' इति पैप्प० सं० ।

आर्षेयेषु नि दध ओदन त्वा नानार्षेयाणामप्यस्त्यत्र ।
अग्निर्मे गोप्ता मरुतश्च सर्वे विश्वे देवा अभि रक्षन्तु पक्वम् ॥३३॥

भा०—हे ( ओदन ) परमेष्ठिन्, राजन् ! ( आर्षेयेषु ) ऋषियों के सन्तानों और शिष्यों के बीच ( त्वा ) तुझे ( निदधे ) मैं स्थापित करता हूं । ( न[1] ) और ( अनार्षेयाणाम् अपि ) ऋषि गोत्र और प्रवरों से रहित साधारण अविद्वान् लोगों का भी ( अत्र ) इस राज्य में ( अस्ति ) भाग है । ( मे ) मुझ राष्ट्र का ( गोप्ता ) रक्षक ( अग्निः ) अग्नि के समान तेजस्वी राजा है । और ( मरुतः च ) वायु के समान प्रबल शीघ्रगामी, तीव्रप्रहारी सैनिक और ( विश्वे च देवाः ) समस्त देव, विद्वान्-गण ( पक्वम् ) पक्व, परिपक्व राजा को ( रक्षन्तु ) रक्षा करें ।

यज्ञं दुहानं सद्मित् प्रपीनं पुमांसं धेनुं सदनं रयीणाम् ।
प्रजामृतत्वमुत दीर्घमायू रायश्च पोषैरुप त्वा सदेम ॥ ३४ ॥

भा०—( यज्ञं दुहानम् ) यज्ञ को पूर्ण करने वाले ( सदम् इत् ) सदैव ( प्रपीनं ) समृद्ध, बड़े चढ़े, ( रयीणाम् सदनम् ) सब ऐश्वर्यों के आश्रय स्थान, ( धेनुम् ) महावृषभ के समान विशाल ( त्वा ) तुझ ( पुमांसम् ) पुंगव, पुरुष को प्राप्त होकर हम प्रजावासी लोग ( पोषैः ) पुष्टिकारक अन्न आदि पदार्थों के साथ २ ( प्रजामृतत्वम् ) अपनी सन्तति द्वारा सदा अमृतत्व=वंश की अमरता, ( उत ) और ( दीर्घम् आयुः ) दीर्घ जीवन और ( रायश्च ) सुवर्णादि धन को ( उप सदेम ) प्राप्त हों ।

प्रजाम् अनु प्रजायसे तदु ते मर्त्य अमृतम् । इति तै० ब्रा० १ । ५ । ५ । ६ ॥ प्रजा रूप में उत्पन्न होना ही मनुष्य का अमृत रहना है ।

---

१. अत्र नशब्दः । यथा-' होतारमग्नोर्न नीथं ' यजु० २८ । ५ ।

३४-( च० ) रायश्च पोषमुप ' इति पैप्प० सं० ।

वृष॒भो॑ऽसि स्व॒र्ग ऋषी॑ना॒र्षे॑यान् गच्छ ।
सु॒कृतां॑ लो॒के सी॑द॒ तत्र॑ नौ संस्कृ॒तम् ॥ ३५ ॥

भा०—हे राजन् ! ( वृषभः असि ) तू समस्त सुखों को राष्ट्र पर वर्षा करने वाला है । तू ही सुख और आनन्द देने वाला होने से ( स्वर्गः असि ) 'स्वर्ग' है । तू ( ऋषीन् ) मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों और ( आर्षेयान् ) उनके सन्तानों एवं शिष्य प्रशिष्यों को भी ( गच्छ ) प्राप्त हो । तू ( सुकृतां लोके ) पुण्य, शुभ आचारी, पुण्यात्मा लोगों के लोक में ( सीद ) विराजमान हो । ( तत्र ) वहां ही ( नौ ) प्रजा और राजा दोनों को ( संस्कृतम् ) समान रूप से पुण्य-फल प्राप्त हो ।

स॒मा॑चिनुष्वानुसं॒प्रया॒ह्यग्ने॑ प॒थः क॑ल्पय देव॒याना॑न् ।
ए॒तैः सु॑कृ॒तैरनु॑ गच्छेम य॒ज्ञं नाके॒ तिष्ठ॑न्त॒मधि॑ स॒प्तर॑श्मौ ॥ ३६ ॥

भा०—हे ( अग्ने ) राजन् ! ( सम् आ चिनुष्व ) सब राष्ट्र के वासियों को या सैनिक वर्गों को संगठित, सुव्यवस्थित कर । ( अनु-संप्रयाहि ) और फिर जिन पर आक्रमण करना हो उन पर आक्रमण कर । ( देवयानान् पथः कल्पय ) देवों, विद्वानों और शासकों के लिये चलने योग्य मार्गों उनके कर्त्तव्यों का निर्माण कर । ( एतैः ) इन ( सुकृतैः ) उत्तम कार्यों से ( सप्तरश्मौ नाके तिष्ठन्तम् ) सप्तरश्मि, सात ज्योतियों से युक्त नाक=स्वर्गमय स्थान में विराजमान ( यज्ञम् ) यजनीय प्रजापति या राष्ट्रपति को हम ( अनु गच्छेम ) अनुगमन करें । अथवा सप्तरश्मि सात प्राणों से युक्त आनन्दमय स्थान

३५—( प्र० ) 'ऋषभोऽसि' ( तृ० ) 'लोके' इति पैप्प० सं० । ( तृ० च० ) 'सुकृतां लोके सीदत तत्रः संस्कृतम्' इति मै० सं०, तै० सं० ।
३६—( प्र० ) 'समाचिनुष्व' ( तृ० ) 'येभिः सुकृतैरनु प्रैष्ठ [ प ] स यज्ञे०' इति पैप्प० सं० ।

मूर्धा में विराजमान ( यज्ञम् ) आत्मा को जिस प्रकार योगी प्राप्त होते हैं उसी प्रकार सात विद्वान् अमात्यों से युक्त राजा को हम प्राप्त हों ।

येन देवा ज्योतिषा द्यामुदायन् ब्रह्मौदनं पक्त्वा सुकृतस्य लोकम् ।
तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं स्व॑रारोहन्तो अभि नाकमुत्तमम् ॥ २७ ॥ (४)

भा०—( येन ज्योतिषा ) जिस परम ज्योति से ( देवाः ) तत्व के द्रष्टा लोग और जिस ज्योति से ( ब्रह्मौदनं ) ब्रह्मरूप परम ओदन रसमय ज्ञान को ( पक्त्वा ) परिपाक करके ( सुकृतस्य लोकम् ) पुण्य कर्मों के फल स्वरूप ( द्याम् ) द्यौः या प्रकाशमय लोक को ( उत् आयन् ) प्राप्त होते हैं ( तेन ) उसी परम ज्योति से हम भी ( स्वः आरोहन्तः ) 'स्वः' परम तेजोमय ( उत्तमम् ) उत्कृष्टतम ( नाकम् ) सुखमय लोक को ( अभि आरोहन्तः ) चढ़ते हुए ( सुकृतस्य लोकं ) सुकृत, पुण्य कर्मों से प्राप्त होने योग्य लोक को ( गेष्म ) प्राप्त हों ।

यह सूक्त 'ब्रह्मरूप ओदन' अर्थात् ब्रह्म ज्ञान को परिपक्व करके मोक्ष प्राप्त करने पर कभी लगता है जिसको विस्तार भय से नहीं दर्शाया है ।



## [ २ ] रुद्र ईश्वर के भव और शर्व रूपों का वर्णन ।

अथर्वा ऋषिः । रुद्रो देवता । १ परातिजागता विराड् जगती, २ अनुष्टुब्गर्भा पञ्चपदा जगती चतुष्पात्स्वराडुष्णिक्, ४, ५, ७ अनुष्टुभः, ६ आर्षी गायत्री, ८ महाबृहती, ९ आर्षी, १० पुरः कृतिस्त्रिपदा विराट्, ११ पञ्चपदा विराड् जगतीगर्भा

२७–( तृ० ) 'तेन गेष्म' इति सायणाभिमतः पाठः । ( प्र० द्वि० ) 'तं हा पचामि ज्योतिषां ज्योतिष्मान् सनत्सुर्वस् सुकृतामु लोके' इति पैप्प० सं० ।

शक्करी, १२ भुरिक्, १३, १५, १६ अनुष्टुभौ, १४, १७-१९, २६, २७ तिस्रो विराड् गायत्र्यः, २० भुरिग्गायत्री, २१ अनुष्टुप्, २२ विषमपादलक्ष्मा त्रिपदा महाबृहती, ३०, २८ जगत्यौ, २५ पञ्चपदा अतिशक्वरी, ३० चतुष्पादुष्णिक्, ३१ त्र्यवसाना विपरीतपादलक्ष्मा षट्पदा जगती, ३, १६, २३, २८ इति त्रिष्टुभः।

एकत्रिंशदृचं सूक्तम् ॥

भवाशर्वौ मृडतं माभि यातं भूतपती पशुपती नमो वाम्।
प्रतिहितामायतां मा वि स्राष्टं मा नो हिंसिष्टं द्विपदो मा चतुष्पदः ॥ १ ॥

भा०—( भवाशर्वौ ) हे भव ! और हे शर्व ! हे सवत्पादक और हे सर्वसंहारक ! आप दोनों ( मृडतम् ) हमें सुखी करो। ( मा [1] अभियातम् ) हम पर चढ़ाई मत करो। आप दोनों ( भूतपती ) समस्त प्राणियों के पालक और ( पशुपती ) समस्त पशुओं, जीवों और मुक्त आत्माओं के पालक हो। ( वाम् नमः ) तुम दोनों को हमारा नमस्कार है। ( प्रतिहिताम् ) धनुष् में रखी हुई और ( आयताम् ) डोरी से तानी हुई बाण को ( मा विस्राष्टं ) हम पर मत छोड़ो। ( नः द्विपदः मा ) हमारे दो पाये भृत्य आदि मनुष्यों को मत मारो और ( चतुष्पदः मा ) हमारे चौपायों को मत मारो।

सर्वोत्पादक होने से ईश्वर भव है। सर्वसंहारक होने से वही शर्व है। राष्ट्र पक्ष में प्रजा की उत्पत्ति और वृद्धि करने और सामर्थ्यवान् होने से राजा भव और दुष्टों का पीड़क होने से वही रूपान्तर में या उसका सेनापति शर्व है। हम यहां ईश्वर पक्ष का अर्थ लिखेंगे।

[ २ ] १-१ मा अभियातम् अत्र। इत्यत्र माधयोन प्रतिपत्त्यर्थे 'वाम्' इत्यस्यार्थे चौःमथवा व्याख्यानम्। तद्रूपार्थे चिन्त्यम्।

शुने क्रोष्ट्रे मा शरीराणि कर्तमलिक्लवेभ्यो गृध्रेभ्यो ये च कृष्णा अविष्यवः । मक्षिकास्ते पशुपते वयांसि ते विघसे मा विदन्त ॥ २ ॥

भा०—हे ( पशुपते ) समस्त जीवों के स्वामिन् ! ( शरीराणि ) हमारे शरीरों को ( शुने ) कुत्ते और ( क्रोष्ट्रे ) गीदड़ों के लिये ( अलिक्लवेभ्यः गृध्रेभ्यः ) अलिक्लव=भयंकर शब्दकारी गीधों के लिये अथवा निर्भय गीधों के लिये और जो ( कृष्णाः ) काटने वाले या काले ( अविष्यवः ) हिंसक जन्तु हैं उनके लिये ( मा कर्तम् ) मत बनाओ । और हे पशुपते ! हे जीवों के स्वामिन् ! ( ते मक्षिकाः ) तेरी बनाई मक्खियां और अन्य ( ते ) तेरे बनाये ( वयांसि ) हिंसक पक्षी भी हमको अपने ( विघसे ) भोजन के निमित्त ( मा विदन्त ) न प्राप्त कर सकें । ईश्वर हमें ऐसा बल और उपाय दे कि उसके बनाये हिंसक जीव हमें न काटें, न खायें ।

क्रन्दाय ते प्राणाय याश्च ते भव रोपयः ।
नमस्ते रुद्र कृण्मः सहस्राक्षायामर्त्य ॥ ३ ॥

भा०—हे ( भव ) सर्वोत्पादक भव ! ईश्वर ! ( क्रन्दाय ) सबको आह्लादित करने और सब को रुलाने वाले और ( प्राणाय ) प्राण के समान सबके प्राणस्वरूप, सब को जीवन देनेहारे ( ते ) तुझको और ( याः च ) जो ( ते ) तेरी ( रोपयः ) मोहनकारिणी मिथ्याज्ञानमय अन्धकारिणी शक्तियां हैं उनको ( नमः ) नमस्कार है । हे रुद्र ! सबको रुलाने हारे और दुःखों के विनाशक ! हे अमर्त्य ! अविनाशिन् ! अमरेश्वर ! ( ते ) तुझ

२—( द्वि० ) 'अलिविक्लवेभ्यः' इति सायणाभिमतः पाठः । 'अलिक्लवेभ्यः' इति पैप्प० सं० ।

३—'सहस्राक्षायामर्त्यः' इति सायणाभिमतः पाठः ।

( सहस्राक्षाय ) सहस्रों आंखों वाले, सर्वद्रष्टा को ( नमः कृण्मः ) हम नमस्कार करते हैं ।

पुरस्तात् ते नमः कृण्म उत्तरादधरादुत ।
अभीवर्गाद् दिवस्पर्यन्तरिक्षाय ते नमः ॥ ४ ॥

भा०—हे परमेश्वर ! ( ते ) तुझे ( पुरस्तात् ) आगे से ( उत्तरात् ) ऊपर से ( अधरात् ) नीचे से ( उत ) भी ( नमः कृण्मः ) नमस्कार करते हैं । ( अभीवर्गात् ) सब तरफ़ से घेरने वाले अन्तरिक्ष और ( दिवः परि ) द्यौलोक से भी परे विद्यमान ( अन्तरिक्षाय ) अन्तर्यामी, सर्वव्यापक तुझको ( नमः ) नमस्कार है ।

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामित विक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥

गीता ११ । ४० ॥

आगे, पीछे और सब ओर से तुझे नमस्कार है । सर्वव्यापक होने से तेरा नाम 'सर्व' है । तेरा अनन्त वीर्य और पराक्रम है ।

मुखाय ते पशुपते यानि चक्षूंषि ते भव ।
त्वचे रूपाय संदृशे प्रतीचीनाय ते नमः ॥ ५ ॥

भा०—हे पशुपते ! जीवों के स्वामिन् ! परमात्मन् ! ( ते मुखाय नमः ) तेरे मुख को नमस्कार है । हे ( भव ) सर्वोत्पादक ईश्वर ! ( ते यानि चक्षूंषि ) तेरी जो चक्षुएं हैं उनको भी नमस्कार है । ( ते त्वचे नमः ) तेरी त्वचा को नमस्कार है । ( ते ) तेरे ( संदृशे ) सम्यग्दर्शन रूप ( प्रतीचीनाय ) प्रत्यक् आत्मस्वरूप ( रूपाय ) रूप, कान्ति, तेज के लिये ( नमः ) नमस्कार है ।

अङ्गेभ्यस्त उदराय जिह्वायां आस्याय ते ।
दद्भ्यो गन्धाय ते नमः ॥ ६ ॥

---

६–' अङ्गेभ्योदराय जिह्वायास्याय ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे परमेश्वर ! ( ते अङ्गेभ्यः ) तेरे अंगों को ( नमः ) नमस्कार है । ( उदराय तेरे उदर भाग को नमस्कार है । ( ते जिह्वायै नमः ) तेरी जीभ को नमस्कार है । ( ते आस्याय ) तेरे आस्य=मुखको नमस्कार है ( ते दद्भ्यः नमः ) तेरे दांतों को नमस्कार है । ( ते गन्धाय नमः ) तेरे गन्ध को नमस्कार है ।

५, ६ मन्त्रों में मुख, चक्षु, त्वचा, रूप, उदर, जिह्वा, आस्य, दांत, गन्ध आदि नाम आने से ईश्वर का कोई शरीर नहीं सिद्ध होता, प्रत्युत वहां आलंकारिक रूप लेना उचित है जो पूर्व कई स्थानों पर दर्शा चुके हैं जैसे [ अथर्व का० ६ । सू० ७ ] । मुख जैसे गीता में—

यथप्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गाः विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥

आंखें जैसे—रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।

रूप जैसे—नभस्पृशं दीप्तमनेकवर्णम् ।

नेत्र जैसे—अनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।

गन्ध और रूप जैसे—पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च-( अ० ७ । ६ ) तेजश्चास्मि विभावसौ ।

दांत और जीभ जैसे—दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि ( ११ । २५ ) लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान् समग्रान् वदनैर्ज्वलद्भिः । आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ॥ ११ । ३० । ३ ॥

अस्त्रा नीलशिखण्डेन सहस्राक्षेण वाजिना ।
रुद्रेणार्धकघातिना तेन मा समरामहि ॥ ७ ॥

७-( तृ० ) 'अर्धकघातिना' इति का० सं० । 'अन्धकघातिना' इति देव० लाइन्सिताम्नुमितः पाठः । 'समरामहि', 'अर्धकघातिना' इति पैप्प० सं० ।

भा०—( नीलशिखण्डेन ) नील केश या कलगी वाले ( वाजिना ) वेगवान् ( अस्त्रा ) बाण आदि फेंकने वाले एक योद्धा के समान भयंकर ( सहस्राक्षेण ) हज़ारों आखों वाले ( अर्धकघातिना ) इस समृद्ध संसार-बन्धन को सहसा मार डालने वाले, अति भयंकर ( रुद्रेण ) रुद्र से हम ( मा ) कभी न ( सम् अरामहि ) जा लगें ।

'सहस्राक्ष' जैसे—'रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं ( ११ । २३ )

'अस्त्रा'—'मयैवैते निहताः पूर्वमेव' ( ११ । ३३ )

'नील शिखण्ड'—'स्थाने हृषीकेश' ( ११ । ३६ )

'रुद्र'—को भवानुग्ररूपः ( ११ । ३१ )

'वाजिन्'—'लेलिह्यसे ग्रसमान' समन्तात्' ।

'अर्धकघातिन्'—कालोऽस्मिलोकक्षयकृत् प्रवृद्धो लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्त ।

स नो भवः परि वृणक्तु विश्वत आप इवाग्निः परि वृणक्तु नो भवः । मा नोभि मांस्त नमो अस्त्वस्मै ॥ ८ ॥

भा०—( सः भव ) वह सर्व संसार का उत्पादक परमेश्वर ( न. ) हमें ( विश्वत. ) सब ओर से ( परिवृणक्तु ) रक्षा करे, हमें अपने संहारकारी कोप से बचाए रक्खे । जैसे ( आपः अग्नि. इव ) अग्नि भड़क कर भी जलों या जलाशय को विना जलाये छोड़ जाता है उसी प्रकार ( नः भव. परिवृणक्तु ) वह सर्व प्रभु अपने संहार से हमें छोड़ दे । समस्त जीवलोक के संहार होते हुए भी हम चिरायु होकर रहें । ( नः ) हमें ( अभि मांस्त ) मत संहार करे ( अस्मै नम अस्तु ) उसको हमारा नमस्कार हो ।

८–( द्वि० ) 'आपेवाग्नि परि' ( तृ० ) 'मनो अभि' इति पैप्प० सं० । 'मन्स्त' इति सायणाभिमत. पाठः ।

च॒तुर्नमो॑ अष्ट॒कृत्वो॑ भ॒वाय॒ दश॒ कृत्वः॑ पशुपते॒ नम॑स्ते ।
तवे॒मे पञ्च॑ प॒शवो॒ विभ॑क्ता॒ गावो॒ अश्वाः॒ पुरु॑षा अजा॒वयः॑ ॥ ९ ॥

भा०—हे ( पशुपते ) जीव संसार के स्वामिन् ! ( भवाय ) संसार के उत्पत्ति स्थान रूप आपको ( चतुः ) चारबार ( अष्टकृत्वः[2] दशकृत्वः ) आठबार और दशबार ( नमः ) नमस्कार हो । ( तव इमे पञ्च पशवः विभक्ताः ) तेरे ही विभाग किये हुए ये पांच जीव हैं। ( १ ) ( गावः ) गौएं ( २ ) ( अश्वाः ) घोड़े ( ३ ) ( पुरुषाः ) पुरुष और ( अजावयः ) ( ४ ) बकरी ( ५ ) और भेंड़े ।

नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥ गी० ११ । ३९ ॥

तव॒ चत॑स्रः प्र॒दिश॒स्तव॒ द्यौस्तव॑ पृथि॒वी तवे॒दमु॑ग्रो॒र्व॑1न्तरि॑क्षम् ।
तवे॒दं सर्व॑मात्म॒न्वद्॒ यत् प्रा॒णत् पृ॑थि॒वीमनु॑ ॥ १० ॥ ( ५ )

भा०—हे ( उग्र ) सर्वशक्तिमन् ! ( चतस्रः प्रदिशः तव ) चारों दिशाएं तेरी हैं । ( द्यौः तव ) यह द्यौ तेरी है । ( पृथिवी तव ) यह पृथ्वी तेरी है । ( इदम् उरु अन्तरिक्षम् ) यह विशाल अन्तरिक्ष भी ( तव ) तेरा ही है । ( इदं सर्वम् ) यह सब ( आत्मन्वत् ) चेतन आत्मा से युक्त ( यत् ) जो ( पृथिवीम् अनु प्राणत् ) पृथिवी पर जीवन धारण कर रहा है यह सब ( तव ) तेरा ही है ।

उ॒रुः कोशो॑ वसु॒धान॒स्तवा॒यं यस्मि॑न्नि॒मा विश्वा॒ भुव॑नान्य॒न्तः ।
स नो॑ मृड पशुपते॒ नम॑स्ते प॒रः क्रो॑ष्टा॒रो अ॑भि॒भाः श्वानः॑ प॒रो
य॑न्त्वघ॒रुदो॑ विके॒श्यः॑ ॥ ११ ॥

९. ( च० ) 'गावोऽश्वाः पुरुषाजावयः' इति पैप्प० सं० ।
२. 'दश' 'कृत्वः' इति पदच्छेदो ह्विटनिसम्मतः ।
१० ( प्र० द्वि० ) 'तव द्यौः सर्वमुग्रो' ( च० ) 'यथेदमभिभूयते' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे ( मृड ) सबको सुखी करने हारे ! हे ( पशुपते ) जीवों के स्वामिन् ! ( अयम् ) यह ( तव ) तेरा ( उरु कोश ) महान् कोश-भुवन कोश ( वसुधान ) धन को रखने के खजाने के समान है अथवा ( वसुधान. ) जिसमें समस्त जीव संसार को अपने भीतर बसानेहारे ये सूर्य पृथिवी आदि 'वसु' लोक भी 'धाना' कण के समान हैं। ( यस्मिन् ) जिसमें ( इमा ) ये ( विश्वा भुवनानि ) समस्त भुवन लोक ( अन्त. ) भीतर प्रविष्ट हैं। ( नमः ते ) तुझे नमस्कार हो। ( क्रोष्टार ) सियार, ( अभिभा ) गीदड़ियां ( श्वान ) और कुत्ते ( परः ) हम से परे रहें। और ( अघरुद ) पापों के कारण रोने चीखने वाली ( विकेश्य ) बाल खिला २ कर भयकर रूप में विचरने वाली दुष्ट स्त्रियां भी ( परः ) हम से दूर रहें।

'उरु कोशो वसुधान '- त्वमक्षर परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ॥ गी० ॥

धनुर्बिभर्षि हरितं हिरण्ययं सहस्रघ्नि शतवधं शिखण्डिन्।
रुद्रस्येषुश्चरति देवहेतिस्तस्यै नमो यतमस्यां दिशीतः ॥ १२ ॥

भा०—हे ( शिखण्डिन् ) हे शिखण्ड धारण करने वाले, पर-संहारक सेनापति के समान परमात्मन् ! तू ( सहस्रघ्नि ) सहस्रों के नाशक और ( शतवधं ) सैकड़ों के मारने वाले (हिरण्ययं) सुवर्ण के समान कान्तिमान ( हरितम् ) तेजस्वी, सर्वसंहारक ( धनु बिभर्षि ) धनुष् को धारण करता है। ( रुद्रस्य ) सब पापियों को रुलाने वाले उस परमात्मा का ( इषु ) प्रेरित यह बाण ही ( चरति ) सर्वत्र चलता है जिसको ( देवहेतिः ) जो देव परमात्मा का आयुध है। ( इत ) यहां ( यतमस्यां ) जिस ( दिशि ) दिशा में भी वह उसका बाण है ( तस्यै ) उसको नमस्कार है। 'शिखण्डि' शब्द से ही 'केशव' और 'किरीटि' की कल्पना की गई है।

१२-( द्वि० ) सहस्राघ्न्यं ' इति क्वचित्।

योऽभियातो निलयते त्वां रुद्र निचिकीर्षति ।
पश्चादनुप्रयुङ्क्षे तं विद्धस्य पदनीरिव ॥ १३ ॥

भा०— सेनापति योद्धा के समान काल रूप परमेश्वर का वर्णन पूर्व किया गया है । यहां पुनः उसीको खोलते हैं । जिस प्रकार प्रबल सेनापति के चढ़ आने पर निर्बल शत्रु छिप जाता है और पुनः अपने प्रबल आक्रामक को पीछे से दबोचना चाहता है, उसको प्रबल सेनानायक उसके चरण-चिह्नों को देख २ कर खोज लेता है, और जैसे शिकारी घायल जानवर के चरण-चिह्न और खून के निशान देख कर खोज कर मारता है उसी प्रकार, हे (रुद्र) दुष्टों को रुलाने वाले (यः अभियातः) जो आक्रान्त होकर (निलयते) छिप जाता है और (त्वां निचिकीर्षति) तुझे नीचे दिखाना चाहता है तू (तम्) उसके (पश्चात्) पीछे २ पुनः (विद्धस्य पदनीः इव) घायल जानवर की चरण-पंक्तियों के समान तू उसको (अनु प्रयुङ्क्षे) खोजता है और उसे दण्ड देता है । पापी को परमात्मा कभी दण्ड दिये विना नहीं छोड़ता। उसी प्रकार राजा को भी अपने शत्रु को न छोड़ना चाहिये प्रत्युत उसकी खोज लगा कर दण्ड देना चाहिये ।

भवारुद्रौ सयुजा संविदानावुभावुग्रौ चरतो वीर्याय ।
ताभ्यां नमो यतमस्यां दिशीतः ॥ १४ ॥

भा०—परमात्मा के दो स्वरूप हैं एक भव जो सर्वत्र जीवों को उत्पन्न करता है दूसरा शर्व जो उनको नाना प्रकार से संहार करता है वे ही दोनों (भवारुद्रौ) भव और रुद्र (सयुजा) सदा एक दूसरे के साथ संयुक्त और (संविदानौ) एक दूसरे के साथ मानो सलाह करके रहते हैं । (उभौ) वे दोनों (उग्रौ) बलवान् (वीर्याय चरतः) अपने वीर्य से सर्वत्र व्यापक हैं। (इतः

१३-(द्वि०) 'स्यानुप्र नि०' इति पैप्प० सं० ।

१४—'यतोभूमिरन्तरिक्षं स्वर्गस्ताभ्यां नमो भवशर्वाभ्यां कृण्व।' इति पैप्प० सं० ।

यतमस्यां दिशि ) यहां से जिस दिशा में भी वे दोनों विद्यमान हों ( ताभ्यां ) हम उन दोनों को ( नमः ) आदरपूर्वक नमस्कार करते हैं ।

नमस्ते अस्त्वायते नमो अस्तु परायते ।
नमस्ते रुद्र तिष्ठत आसीनायोत ते नमः ॥ १५ ॥

अथर्व० ११ । ४ । ७ ॥

भा०—( आयते ते नमः अस्तु ) हमारी ओर आते हुए, साक्षात् होते हुए तुझको नमस्कार है । ( परायते नमः अस्तु ) परे जाते हुए हम से बिछुड़ते हुए तुझे नमस्कार है । हे रुद्र ! ( तिष्ठते ते नमः ) खड़े हुए तुझको नमस्कार है । ( आसीनाय उत ते नमः ) और बैठे हुए तुझे नमस्कार है । ईश्वर के नमस्कार के साथ ही साथ पूजनीय विद्वान् गुरु आचार्य माता पिता और राजा आदि को भी इसी प्रकार नमस्कार करना चाहिये । जब आवें तब जब जावें तब बैठे हों या खड़े हों तब भी पूजनीयों को नमस्कार करना चाहिये यही वेद ने शिक्षा दी है ।

नमः सायं नमः प्रातर्नमो रात्र्या नमो दिवा ।
भवाय च शर्वाय चोभाभ्यामकरं नमः ॥ १६ ॥

भा०—( सायं नमः ) परमात्मा को सायंकाल नमस्कार हो । ( प्रातः नमः ) प्रातःकाल नमस्कार हो । ( रात्र्या नमः ) रात्रिकाल में नमस्कार हो । ( दिवा नमः ) दिन को नमस्कार हो । ( भवाय च शर्वाय च ) भव, सर्व उत्पादक और सर्वसंहारक ईश्वर के ( उभाभ्याम् ) दोनों स्वरूपों को ( नमः अकरम् ) मैं नमस्कार करता हूं ।

सहस्राक्षमतिपश्यं पुरस्ताद् रुद्रमस्यन्तं बहुधा विपश्चितम् ।
मोपाराम जिह्वयेयमानम् ॥ १७ ॥

१६–( तृ० ) 'नमस्ते भगवन्निस्तु' इति अथर्व० ११ । ४ । ७ ॥
पैप्प० सं० ।

भा०—मैं साक्षाद् द्रष्टा ( पुरस्तात् ) अपने समक्ष ( सहस्राक्षम् रुद्रम् ) सहस्रों आंखों से सम्पन्न अति भयंकर दुष्टों को रुलाने हारे काल रूप ( विपश्चितम् ) समस्त कार्यों और ज्ञानों को जानने हारे ( बहुधा अस्यन्तम् ) प्रभु को नाना प्रकार से अपने बाण प्रहार करते हुए ( अतिपश्यम् ) अति क्रान्तदर्शिनी दृष्टि से देख रहा हूं। ( जिह्वया ईयमानं ) अपनी काल जिह्वा से सर्वत्र व्यापक उसको हम ( मा उपाराम ) ग्रास न हों। हम उस काल के ग्रास न हों।

'सहस्राक्षम्'—सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। यजु०।

'जिह्वया ईयमानम्'—पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्तात् दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्। ( गी० ११ । १७ ) पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्। ११ । २०॥ लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्तात् लोकान् समग्रान् वदनैर्ज्वलद्भिः। तेजोभिरापूर्य जगत् समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो॥ ११ । ३०॥

श्यावाश्वं कृष्णमसितं मृणन्तं भीमं रथं केशिनः पादयन्तम्।
पूर्वे प्रतीमो नमो अस्त्वस्मै॥ १८॥

भा०—( श्यावाश्वं ) श्याव अर्थात् दिन और रात्रिरूप दो अश्वों वाले ( कृष्णाम् ) आकर्षणशील ( असिते, बन्धन रहित ( मृणन्तम् ) इस संसार को मटिया-मेट करने वाले ( भीमम् ) अति भयानक और ( केशिनः ) केश रूप किरणों से युक्त सूर्य के भी ( रथम् ) रथ, रमणीय गोले को ( पादयन्तम् ) उदयास्त करते और चलाते हुए उस परमात्मा को हम ( पूर्वे ) पूर्ण होकर ही ( प्रति-इमः ) प्राप्त करते एवं साक्षात् करते हैं। ( अस्मै नमः अस्तु ) उसको हमारा नमस्कार हो।

---

... १८० ) 'श्यावाश्वं' ( द्वि० ) 'भीमो', 'पारयन्तं' इति पैप्प० सं०।

मा नो॒ऽभि स्रा॑ म॒त्यं॑ दे॒वहे॑तिं॒ मा नः॑ क्रुधः पशुपते॒ नम॑स्ते ।
अ॒न्यत्रा॒स्मद् दि॒व्यां शाखां॒ वि धू॑नु ॥ १९ ॥

भा०—हे ( पशुपते ) समस्त प्राणियों के पालक ! ( मत्य ) स्तम्भन करने वाले ( देवहेतिं ) दिव्य शस्त्र को ( नः ) हम पर ( मा अभि स्राः ) मत चला । ( नः ) हम पर ( मा क्रुधः ) क्रोध मत कर । ( नमः ते ) तुझे नमस्कार है । ( दिव्याम् ) दिव्य तेजस्विनी, विजयशालिनी अथवा घन-घोर गर्जना करने वाली या मर्दनकारिणी ( शाखाम् , आकाशचारिणी शक्तिमती विद्युत्लता को ( अस्मत् अन्यत्र ) हम से परे ( वि धूनु ) चला ।

'दिव्या' दिवु परिकूजने, दिवु मर्दने ( इति चुरादिः ), दिवुक्रीडावि- जिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु ( दिवादिः ) । शाखा— खे शेते इति शाखा । शक्नोतेर्वा शाखा । [ नि० ६ । ६ । ४ ]

मा नो॑ हिंसी॒रधि॑ नो ब्रूहि॒ परि॑ णो वृङ्ग्धि॒ मा क्रु॑धः ।
मा त्वया॒ सम॑रामहि ॥ २० ॥ ( ६ )

भा०—( नः ) हमें ( मा हिंसीः )विनाश मत कर । ( नः अधिब्रूहि ) हमें शिक्षित कर । ( नः परि वृङ्ग्धि ) हमारी सब ओर से रक्षा कर । ( मा क्रुधः ) हम पर कोप मत कर । ( त्वया ) तुझ से हम ( मा सम् अरामहि ) युद्ध न करें, तेरे विपरीत न जावें ।

मा नो॒ गोषु॒ पुरु॑षेषु॒ मा गृ॑धो नो अ॒जावि॑षु ।
अ॒न्यत्रो॑ग्र॒ वि व॑र्तय॒ पिया॑रूणां प्र॒जां ज॑हि ॥ २१ ॥

१९-( प्र० ) 'मर्त्यं' इति सायणाभिमतः पाठः । 'मत्य देवहेतिम्' इति पैप्प० सं० ।

२०-( प्र० ) '-रधिब्रूहि' ( च० ) '-रामसि' इति पैप्प० सं० ।

२१-'मानोधेनु गोषु' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे ( उग्र ) शक्तिमन् ! ( नः ) हमारे ( गोषु ) गौत्रों ( पुरुषेषु ) पुरुषों और ( अजाविषु ) बकरी और भेड़ों पर ( मा गृधः ) लालच मत कर । तू ( अन्यत्र ) दूसरे स्थान पर ( विवर्तय ) लौट जा । ( पियारूणां प्रजां जहि ) हिंसकों की प्रजा को विनाश कर ।

यस्यं तुक्मा कासिका हेतिरेकुमश्वंस्येव् वृषणः क्रन्द एति ।
अभिपूर्वं निर्णयते नमो अस्त्वस्मै ॥ २२ ॥

भा०—रुद्र के हथियारों का वर्णन करते हैं । ( यस्य ) जिस रुद्र के ( तक्मा ) कष्टदायी ज्वर और ( कासिका ) खांसी ( हेतिः ) हथियार हैं । वे ( वृषणः ) बलवान् ( अश्वस्य ) घोड़े के ( क्रन्द इव ) हिन-हिनाने के समान ( एकम् एति ) किसी भी पुरुष पर आक्रमण करते हैं । ( अभिपूर्वम् ) पूर्व कर्मों के अनुसार उसको ( निर्णयते ) दण्ड निर्धारण करने वाले ( अस्मै नमः अस्तु ) उस रुद्र को नमस्कार है ।

यो३ऽन्तरिक्षे तिष्ठति विष्टंभितोयंज्वनः प्रमृणन् देवपीयून् ।
तस्मै नमो दुशभिः शक्वरीभिः ॥ २३ ॥

भा०—( यः ) जो रुद्र ! ( अयज्वनः ) यज्ञ न करने हारे ( देवपीयून् ) देवों, सत्पुरुषों के घातक पुरुषों को ( प्रमृणन् ) नाश करता हुआ ( अन्तरिक्षे ) अन्तरिक्ष में ( विष्टभितः ) स्थिर होकर ( तिष्ठति ) खड़ा है ( तस्मै ) उसको ( दशभिः शक्वरीभिः ) दसों शक्तियों सहित ( नमः ) नमस्कार है । अथवा—( तस्मै दशभिः शक्वरीभिः नमः ) उसको हमारा दसों अंगुलियां जोड़ कर नमस्कार है ।

---

२२–( द्वि० ) ' एकाश्वस्य ' इति पैप्प० सं० ।

२३–( प्र० ) 'यस्तिष्ठति विभ्रतो अन्तरिक्षे यज्वनः प्र०' इति पैप्प० सं० ।

तुभ्यंमारण्याः पशवो मृगा वने हिता हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांसि।
तव यक्षं पशुपते अप्स्व१न्तस्तुभ्यं क्षरन्ति दिव्या आपो वृधे ॥२४॥

भा०—हे रुद्र ! ( तुभ्यम्-तव ) तेरे ही ये ( आरण्याः ) जंगल के ( पशवः ) पशु ( मृगाः ) हरिण, सिंह, हाथी आदि ( वने हिताः ) जंगल में रखे हैं। और ( हंसाः ) हंस आदि ( सुपर्णाः ) सुन्दर परों वाले और ( शकुनाः ) अति शक्तिशाली ( वयांसि ) गृद्ध आदि पक्षी ये सब भी तेरे ही हैं। हे ( पशुपते ) समस्त जीवों के स्वामिन् ! ( तव यक्षम् ) तेरी ही पूज्यतम आत्मा ( अप्सु अन्तः ) जलों या प्रजाओं के भीतर है। ( तुभ्यं वृधे ) तेरी महिमा को बढ़ाने के लिये ( दिव्याः आपः क्षरन्ति ) ये दिव्य-आकाशस्थ जल मेघ से वर्षा रूप में बरसते हैं।

शिंशुमारा अजगराः पुरीकया जषा मत्स्यां रजसा येभ्यो अस्यसि।
न ते दूरं न परिष्ठास्ति ते भव सद्यः सर्वान् परि पश्यसि भूमिं
पूर्वस्माद्धंस्युत्तरस्मिन् समुद्रे ॥ २५ ॥

भा०—हे पशुपते ! ( शिंशुमाराः ) घड़ियाल, ( अजगराः ) अजगर, ( पुरीकया =पुरीचया =पुरीपया ) बड़े २ विशाल कछुए की कठोर त्वचा वाले जानवर, ( जषा =झषा ) महामत्स्य, ( मत्स्याः ) साधारण मच्छ, और ( रजसा ) 'रजस' नाम के प्राणी ये सब तेरे वश हैं। ( येभ्यः ) जिन पर तू अपना काल रूप जाल ( अस्यसि ) फेंका करता है। ( न ते

२४-( द्वि० ) 'तुभ्य वयांसि शकुनाः पतत्रिणः' 'आपो वृधे' इति पैप्प० सं०।

२५-( प्र० ) 'शिंशुमारा अजगराः पुरीकया जषा मत्स्याः' इति पैप्प० सं०। ( प्र० ) 'पुलीकया' इति सायणाभिमतः पाठः। 'ज्षाः', 'झषा' इति च क्वचित्। ( च० ) 'सर्वान् परि' इति सायणाभिमतः, क्वचित्।

दूरम् ) तुझ से कोई दूर नहीं । हे भव ! ( न ते परिष्ठाः ) और तुझे कोई छोड़कर, या परे भी नहीं रहता । तू ( सद्यः सर्वान् परि पश्यसि ) सदा ही सब को देखता रहता है । ( पूर्वस्मात् ) और पूर्व समुद्र से ( उत्तरस्मिन् समुद्रे ) उत्तर समुद्र तक ( भूमिम् ) समस्त भूमि को ( हंसि ) व्याप्त रहता है । अथवा—( सद्यः सर्वान् भूमिं पश्यसि ) क्षण भर में समस्त भूमि-जगत् को देख लेता है और पूर्व समुद्र से उत्तर समुद्र तक व्याप जाता है ।

' सर्वाम् परिपश्यसि ' इति पाठभेदः ।

मा नो रुद्र तक्मना मा विषेण मा नः सं स्रा दिव्येनाग्निना ।
अन्यत्रास्मद् विद्युतं पातयैताम् ॥ २६ ॥

भा०—हे रुद्र ! ( नः तक्मना मा सं स्राः ) हमें ज्वर के समान कष्टदायी रोग से पीड़ित मत कर । ( विषेण मा ) विष से भी हमें पीड़ित मत कर ( अस्मद् अन्यत्र एताम् विद्युतं पातय ) हम से अन्य स्थान पर इस बिजुली को डाल ।

भवो दिवो भव ईशे पृथिव्या भव आ पप्र उर्वन्तरिक्षम् ।
तस्मै नमो यतमस्यां दिशीतः ॥ २७ ॥

भा०—( भवः ) सर्वोत्पादक परमात्मा ( दिवः ईशे ) द्यौलोक को वश करता है और वही सर्वोत्पादक ( भवः ) भव ( पृथिव्याः ईशे ) पृथिवी पर भी वश कर रहा है । और वही सर्वस्रष्टा ( भवः ) परमेश्वर ( उरु अन्तरिक्षम् आ पप्रे ) विशाल अन्तरिक्ष को व्याप्त किये हुए है । ( इतः यतमस्यां दिशि ) इधर से वह जिस दिशा में भी है ( तस्मै नमः ) उसको नमस्कार है ।

---

२७-( तृ० ) ' तस्यै ' इति मन्त्र । ' तस्य वा पापात् दुन्दुना कामनेश ' इति पैप्प० सं० ।

भव राजन् यजमानाय मृड पशूनां हि पशुपतिर्बभूथ ।
यः श्रद्दधाति सन्ति देवा इति चतुष्पदे द्विपदेऽस्य मृड ॥२८॥

भा०—हे ( राजन् ) राजमान, प्रकाशमान ! हे ( भव ) सर्वस्रष्टः ! हे ( मृड ) सर्व लोकसुखकारक ! आप ( यजमानाय ) यजमान, यज्ञ करने हारे गृहस्थ के ( पशूनाम् ) पशुओं के ( पशुपतिः ) पशु पालक ( बभूथ ) हो । ( यः ) जो पुरुष ( श्रद्दधाति ) इस बात को सत्य जानता है कि ( देवाः सन्ति इति ) देवगण, दिव्य पदार्थ तेजस्वी पदार्थ शक्तिशाली होते हैं ( अस्य ) उसके ( द्विपदे चतुष्पदे मृड ) मनुष्यों और पशुओं सब को सुखी कर ।

मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकं मा नो वहन्तमुत मा नो वक्ष्यतः ।
मा नो हिंसीः पितरं मातरं च स्वां तन्वं रुद्र मा रीरिषो नः ॥२९॥
ऋ० १ । ११४ । ७ ॥ यजु० १६ । १५ ॥

भा०—हे रुद्र ! ( नः महान्तं मा हिंसीः ) हमारे महान्, वृद्ध पुरुष को मत मार, पीड़ा मत दे । ( नः अर्भकं मा ) हमारे बच्चे को भी पीड़ा मत दे । ( नः वहन्तम् मा ) हमारे कुटुम्ब का भार उठाने वाले को पीड़ा मत दे । ( उत नः वक्ष्यतः मा ) हमारे भविष्यत् में भार अपने ऊपर लेने हारे नवयुवकों को भी पीड़ा मत दे । ( नः पितरं मातरं च मा हिंसीः ) हमारे पिता और माता को भी मत मार । हे रुद्र ! ( नः स्वां तन्वं मा रीरिषः ) हमारी अपनी देह को भी विनाश न कर, पीड़ित न कर ।

रुद्रस्यैलबकारेभ्यो ऽसंसूक्तगिलेभ्यः ।
इदं महास्येभ्यः श्वभ्यो अकरं नमः ॥ ३० ॥

---

२९-( द्वि० ) 'मा नो वहन्तमुत मा न उक्षितम्' ( तृ० ) 'मा नो वधीः' 'पितरं मोत मातरं' इति ऋ०, यजु० ।

३०-( द्वि० ) 'असंसूक्तगिल्भ्यः' इति पैप्प० लाथुगिफलाभिमत पाठः ।

भा०—( रुद्रस्य ) रुद्र के ( ऐलबकारेभ्यः ) भेड़ के समान शब्द करने वाले और ( असंसूक्त-गिलेभ्यः ) भली प्रकार न उच्चारण करने योग्य विकृत शब्दों को उच्चारण करने वाले ( महास्येभ्यः ) बड़े मुख वाले ( श्वभ्यः ) कुत्तों को भी ( इदं नमः अकरम् ) यह ( नमः ) अन्न हम प्रदान करते हैं। 'ऐलबकार' ऐलबानि प्रेरणयुक्तानि कर्माणि कुर्वन्ति ऐलबकाराः कर्मकराः प्रथमगणाः इति सायणः। ऐलबकाराः='ऐड-रवकारा' इति शकन्ध्वादित्वात् साधुः।

'असंसूक्त-गिलाः' अ-सं-सूक्त-गिलाः। 'असंसूक्तगिराः' समीचीनं शोभनं सूक्तं वेदमन्त्रादि, सद्भाषितं वा न गिरन्ति भाषन्ते इति असंसूक्तगिराः। "संसूक्तेन गिलन्ति भक्षयन्ति इति ह्रिटनिः।

नमस्ते घोषिणीभ्यो नमस्ते केशिनीभ्यः।
नमो नमस्कृताभ्यो नमः सम्भुञ्जतीभ्यः।
नमस्ते देव सेनाभ्यः स्वस्ति नो अभयं च नः ॥ ३१ ॥ (७)

भा०—हे ( देव ) देव राजन् ! ( ते सेनाभ्यः नमः ) तेरी सेनाओं को नमस्कार है। ( ते घोषिणीभ्यः नमः ) तेरी घोष=शब्दकारिणी सेनाओं को नमस्कार है। ( ते केशिनीभ्यः ) तेरी केशों वाली सेनाओं को नमस्कार है। ( नमस्कृताभ्यः ) शस्त्र आदि से सत्कृत सेनाओं को भी ( नमः ) नमस्कार है ( सम्-भुञ्जतीभ्यः नमः ) अच्छी प्रकार अन्न का भोग करती एवं राष्ट्र का पालन करती हुई सेनाओं को भी नमस्कार है।

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

[ तत्र सूक्तम्, ऋचश्चैकत्रिंशत् । ]



३१–( च० ) 'अभयं च न' इति सायणाभिमतः पाठः।

## [३ (१)] विराट् प्रजापति का बार्हस्पत्य ओदन रूप से वर्णन।

अथर्वा ऋषिः। बार्हस्पत्यौदनो देवता। १, १४ आसुरीगायत्र्यौ, २ त्रिपदासमविषमा गायत्री, ३, ६, १० आसुरीपङ्क्तयः, ४, ८ साम्न्यनुष्टुभौ, ५, १३, १५ साम्न्युष्णिहः, ७, १९–२२ अनुष्टुभः, ९, १७, १८ अनुष्टुभः, ११ भुरिक् आर्ची-अनुष्टुप्, १२ याजुषीजगती, १६, २३ आसुरीबृहत्यौ, २४ त्रिपदा प्राजापत्याबृहती, २६ आर्ची उष्णिक्, २७, २८ साम्नीबृहती, २९ भुरिक्, ३० याजुषी त्रिष्टुप्, ३१ अल्पशः पङ्क्तिरूक्त याजुषी। एकत्रिंशदृच सूक्तम्॥

तस्यौद॒नस्य॒ बृह॒स्पति॒: शिरो॒ ब्रह्म॒ मुख॑म् ॥१॥ द्यावा॑पृथि॒वी श्रोत्रे॑ सूर्या॑चन्द्र॒मसा॒वक्षि॑णी सप्तऋ॒षय॑: प्राणापा॒नाः ॥ २ ॥ चक्षु॒र्मुस॑लं॒ काम॒ उलूख॑लम् ॥ ३ ॥ दिति॒: शूर्प॒मदि॑तिः शूर्पग्रा॒ही वातोऽपा॑विनक् ॥ ४ ॥ अश्वा॒: कणा॒ गाव॑स्तण्डु॒ला म॒शका॒स्तुषा॑: ॥ ५ ॥ कब्रु॑ फलीक॒रणा॒: शरो॒ऽभ्रम् ॥ ६ ॥ श्या॒मम॒यो॑ऽस्य मां॒सानि॒ लोहि॑तमस्य॒ लोहि॑तम् ॥ ७ ॥ त्रपु॒ भस्म॒ हरि॑तं॒ वर्ण॒: पुष्क॑रमस्य ग॒न्धः ॥ ८ ॥ खल॒: पात्रं॒ स्फ्यावंसा॑वी॒षे अ॑नू॒क्ये॑ ॥ ९ ॥ आ॒न्त्राणि॑ ज॒त्रवो॒ गुदा॑ वर॒त्राः ॥ १० ॥

भा०—( १ ) विराट्रूप ओदन के अंगों की यज्ञमय कल्पना का प्रकार दर्शाते हैं। ( तस्य ) उस ( ओदनस्य ) परमेष्ठी प्रजापति रूप विराट् का ( बृहस्पतिः शिरः ) बृहस्पति शिर है, ( ब्रह्ममुखम् ) ब्रह्म—ब्रह्मज्ञान या वेद उसका ज्ञानप्रवक्ता मुख है। ( २ ) ( द्यावा पृथिवी श्रोत्रे ) द्यौ और पृथिवी अर्थात् समस्त दिशाएं उसके कान हैं। ( सूर्याचन्द्रमौ अक्षिणी ) सूर्य और चन्द्रमा उसकी दो आंखें हैं। ( सप्त ऋषयः ) सात ऋषि उसके प्राण अपान आदि शरीरगत वायु हैं। ( ३ ) ( चक्षुः मुसलं काम उलूखलम् )

[ ३ ] ६–' कब्रु ', ' शिरोऽभ्रम ' इति सायणाभिमतः पाठः।
९–' स्फ्यासौ ' सायणाभिमतः।

यज्ञ रूप प्रजापति के अंगों में विद्यमान मुसल आंख है और उलूखल या ओखली 'काम' संकल्प है। (४) (दितिः) खण्डन-कारिणी विभाग शक्ति (शूर्पम्) शूप या छाज है। (शूर्पग्राही) उस शूप को लेने वाली 'अदिति' अर्थात् 'पृथ्वी' है (वातः अप-अविनक्) वायु पूर्वोक्त ब्रह्मौदन के चावलों के तुषों से पृथक् करने वाला है (५) (अश्वाः कणाः) अश्व कण हैं। (गावः तण्डुलाः) गौएं अर्थात् तण्डुल निखरे चावल हैं। (मशकाः तुषाः) मशक आदि क्षुद्र जन्तु तुष हैं। (६) (कब्रु फलीकरणाः) कब्रु ये नाना रंग वाले दृश्य उसके ऊपर के छिलके हैं। (शरः अभ्रम्) ऊपर की पीपड़ी मेघ हैं (७) (श्यामम् अयः अस्य मांसानि) श्याम=काला लोहा इसके मांस हैं और (लोहितम् अयः अस्य लोहितम्) लाल लोहे, ताम्बा आदि धातु इसके रुधिर हैं। (८) (त्रपु=भस्म) टीन, सीसा आदि इसका 'भस्म' है। (हरितम् वर्णः) पीला सुवर्ण आदि धातु इसका (वर्णः) उत्तम वर्ण है। (पुष्करम् गन्धः) इसका गन्ध द्रव्य हैं। (९) (खलः पात्रम्) खल=खलिहान इसका पात्र है। (स्फ्यौ अंसौ) 'स्फ्य' नाम शकट के स्थान उसके कंधे हैं। (ईषे अनूक्ये) 'ईषा' नामक शकट के दो दण्ड उसके अनूक हंसली की हड्डी के समान हैं। (१०) (आन्त्राणि जत्रवः गुदाः वरत्राः) शकट में बैल जोड़ने की रस्सियां आंतें हैं और 'वरत्र' बैल को शकट में जोड़ने की चमड़े की पट्टियां गुदाएं हैं।

इयमेव पृथिवी कुम्भी भवति राध्यमानस्यौदनस्य द्यौरपिधानम् ॥११
सीताः पर्शवः सिकता ऊबध्यम् ॥ १२ ॥
ऋतं हस्तावनेजनं कुल्योपसेचनम् ॥ १३ ॥

भा०—(११) (राध्यमानस्य ओदनस्य) रांधे जाने वाले ओदनरूप प्रजापति के लिये (इयम् एव पृथिवी) यह पृथिवी ही (कुम्भी भवति) बड़ी भारी डेगची है। और (द्यौः अपिधानम्) द्यौलोक ऊपर का ढक्कन

है। ( १२ ) ( सीता पर्शव ) हल कृषि आदि उसकी पसुलियां हैं ( सिकता ) वालुएं रगिस्तान आदि प्रदेश उसके पेट में पड़े मल के समान है। ( १३ ) ( ऋतम् ) सत्य ज्ञान या समस्त जल उसका ( हस्तावनेजनम् ) हाथ धोने का जल है और ( कुल्या उपसेचनम् ) बड़ी नदियें सब उसके सेचन का जल है।

ऋचा कुम्भ्यधिहितार्त्विज्येन प्रेषिता ॥ १४ ॥
ब्रह्मणा परिगृहीता साम्ना पर्यूढा ॥ १५ ॥
बृहदायवनं रथन्तरं दर्विः ॥ १६ ॥
ऋतवः पक्तार आर्तवाः समिन्धते ॥ १७ ॥
चरुं पञ्चबिलमुखं घर्मो३ऽभीन्धे ॥ १८ ॥
ओदनेन यज्ञवचः सर्वे लोकाः समाप्याः ॥ १९ ॥

भा०—( १४ ) ( ऋचा कुम्भी अधिहिता ) ऋग्वेद द्वारा पूर्वोक्त देगची, आग पर रक्खी गई और ( आर्त्विज्येन प्रेषिता ) यजुर्वेद द्वारा आग से गरम की। ( १५ ) ( ब्रह्मणा ) ब्रह्म वेद अथर्व वेद से ( परिगृहीता ) धारण की गई और ( साम्ना पर्यूढा ) सामवेद से परिवाहित है। ( १६ ) ( बृहत् आयवनं ) 'बृहत्' 'आयवन' जल चावलों को मिलाने वाला दण्ड के समान है। ( रथन्तरं दर्विः ) 'रथन्तर' 'दर्वि' या कड़छी के समान है। ( १७ ) प्रेम 'ओदन' के ( पक्तारः ) पकाने वाले ( ऋतवः ) ऋतुगण है। ( आर्तवाः समिन्धते ) ऋतु सम्बन्धी व काल के अंश अथवा उनमें उत्पन्न वायुएं ओदन के पाककारी अग्नि को प्रदीप्त करते हैं। ( १८ ) ( पञ्चबिलं चरुम् उखम् ) पांच मुख वाले उस ओदन से भरे 'चरु' रूप 'उखा' अर्थात् देगची को ( घर्मः अभि इन्धे ) घर्म या घाम सूर्य और भी प्रदीप्त करता है। ( १९ ) एवं ( ओदनेन ) 'ओदन' से ( यज्ञवचः ) यज्ञों के फलस्वरूप कहे गये अथवा ( यज्ञवचः ) यज्ञकर्त्ता को प्राप्त होने योग्य

१९—'यज्ञवचः सर्वे' इति पद० सं०।

( सर्वे लोकाः ) समस्त लोक ( सम आप्याः ) भली प्रकार प्राप्त हो जाते हैं। 'यज्ञवचः' इसके स्थान में पैप्पलाद संहिता का 'यज्ञवतः' पाठ अधिक शुद्ध और उचित जान पड़ता है।

यस्मिन्त्समुद्रो द्यौर्भूमिस्त्रयोऽवरपरं श्रिताः ॥ २० ॥

यस्य देवा अकल्पन्तोच्छिष्टे षडशीतयः ॥ २१ ॥

तं त्वौदनस्य पृच्छामि यो अस्य महिमा महान् ॥ २२ ॥

भा०—( २० ) ( यस्मिन् ) जिस ओदन में ( समुद्रः द्यौः भूमिः ) समुद्र, द्यौ और भूमि ( त्रयः ) तीनों ( अवरपरं श्रिताः ) एक दूसरे के ऊपर नीचे और उरे परे आश्रित हैं। ( २१ ) ( यस्य उच्छिष्टे ) जिसके उच्छिष्ट=स्थूल जगत् के बनने से बचे अतिरिक्त अंश में ( षट् अशीतयः देवाः ) छः गुणा अस्सी=४८० [ चारसौ अस्सी ] देव, दिव्यगुण पदार्थ ( अकल्पन्त ) सामर्थ्यवान् विद्यमान हैं। ( २२ ) ( तम् ओदनं त्वा पृच्छामि ) हे विद्वन् गुरो ! मैं तुझ से उस 'ओदन' के विषय में प्रश्न करता हूं ( यः अस्य महिमा महान् ) और उसकी जो बड़ी भारी महिमा है वह भी बतला।

सः य ओदनस्य महिमानं विद्यात् ॥ २३ ॥

नाल्प इति ब्रूयान्नानुपसेचन इति नेदं च किं चेति ॥२४॥

भा०—( २३-२४ ) ( यः ) जो ( ओदनस्य महिमानं विद्यात् ) 'ओदन' रूप प्रजापति की महिमा को जान ले ( सः ) वह ( अल्प इति न ब्रूयात् ) 'थोड़ा' ऐसा न कहे। ( अनुपसेचन इति न ) विना उपसेचन या व्यंजन द्रव्य के है ऐसा भी न कहे। ( इदम्, न ) साक्षात् यह दो इस प्रकार निर्देश करके कभी न कहे। ( किंच इति न ) और कुछ थोड़ा सा और दो ऐसा भी न कहे। अर्थात् ब्रह्मज्ञान को प्रवक्ता के पास जाकर सन्तोष से ग्रहण करे।

यावद् दातामिमनस्येत तन्नातिं वदेत् ॥ २५ ॥

भा०—( दाता ) ब्रह्मौदन' प्रदान करने वाला ( यावत् अभिमनस्येत ) जितने का सङ्कल्प करे या परस दे ( तत् न अतिवदेत् ) उससे अधिक न कहे।

ब्रह्मवादिनो वदन्ति पराञ्चमोदनं प्राशी३ प्रत्यञ्चा३मिति ॥२६॥
त्वमोदनं प्राशी३स्त्वामोदना३ इति ॥ २७ ॥

भा०—( २६ ) ( ब्रह्मवादिन वदन्ति ) ब्रह्म का विचार करने वाले ब्रह्म ज्ञानी लोग इस प्रकार परस्पर प्रश्न करते हैं, हे पुरुष ! ( पराञ्चम् ओदन प्राशी ३ ) क्या तू अपने से पराङ्मुख, अपनी आंखों से अदृश्य 'ओदन' का भोग करता है या ( प्रत्यञ्च३म् इति ) अभिमुख, साक्षात् प्रत्यक्ष ओदन का भोग करता है । ( २७ ) ( त्वम् ओदन प्राशी ३ ) तू स्वयं 'ओदन' का भोग करता है या ( त्वाम् ओदन ३ इति ) तुझको वह 'ओदन' भोगता है ?

पराञ्चं चैनं प्राशीः प्राणास्त्वा हास्यन्तीत्येनमाह ॥ २८ ॥
प्रत्यञ्चं चैनं प्राशीरपानास्त्वा हास्यन्तीत्येनमाह ॥ २९ ॥

भा०—(२८) (एन च पराञ्च प्राशी )हे पुरुष ! यदि तू इस 'ओदन' को ( पराञ्च ) अपने से पराङ्मुख, परोक्ष में रख कर भोग करता है। तो विद्वान् ( एनम् आह ) इस भोक्ता के प्रति कहता है कि ( त्वा प्राणा हास्यन्ति ) तुझे प्राण छोड़ देंगे । (२९) (प्रत्यञ्च च एन प्राशी ) और यदि उसको अपने अभिमुख साक्षात् रूप में भोग करता है तो ( एनम् आह ) तो विद्वान् उस भोक्ता के प्रति कहा करता है कि ( अपाना त्वा हास्यन्ति इति ) तुझ साक्षात् ओदन के भोक्ता को अपान परित्याग कर देंगे।

नैवाहमोदनं न मामोदनः ॥ ३० ॥
ओदन एवौदनं प्राशीत् ॥ ३१ ॥ ( ८ )

भा०—( ३० ) ( नैव अहम् ओदनम्, न माम् ओदनः ) और यदि कहे न मैं ओदन का भोग करता हूं और न ओदन मुझे भोग करता है। ( ३१ ) तो तत्व यह है कि ( ओदनः एव ओदनं प्राशीत् ) ओदन ही ओदन को भोग करता है। अर्थात् आत्मारूप देहस्थ प्रजापति ही विराट् प्रजापति का आनन्द प्राप्त करता है।

भोक्तृभोक्तव्यप्रपञ्चात्मक ओदन इति सायणः।

## ( २ ) ब्रह्मौदन के उपभोग का प्रकार।

अथर्वा ऋषिः। मन्त्रोक्तो ब्रह्मौदनो देवता। ३२, ३८, ४१ एतासां ( प्र० ), ३२–३९ एतासां ( स० ) साम्नीत्रिष्टुभः, ३२, ३५, ४२ आसां ( द्वि० ) ३२–४९ आसां ( तृ० ) ३३, ३४, ४४–४८ आसां ( पं० ) एकपदा आसुरी गायत्री, ३२, ४१, ४३, ४७ आसां ( च० ) दैवीजगती, ३८, ४४, ४६ ( द्वि० ) ३२, ३५–४३, ४६ आसां ( पं० ) आसुरी अनुष्टुभः, ३२–४९ आसां ( पं० ) साम्न्यनुष्टुभः, ३३–४९ आसां ( प्र० ) आर्च्य अनुष्टुभः, ३७ ( प्र० ) साम्नी पंक्तिः, ३३, ३६, ४०, ४७, ४८ आसां ( द्वि० ) आसुरीजगती, ३४, ३७, ४१, ४३, ४५ आसां ( द्वि० ) आसुरी पंक्तयः, ३४ ( च० ) आसुरी त्रिष्टुप्, ४५, ४६, ४८ आसां ( च० ) याजुष्योगायत्र्यः, ३६, ४०, ३७ आसां (च०) दैवीपंक्तयः, ३८, ३९ एतयोः ( च० ) प्राजापत्यागायत्र्यौ, ३९ ( द्वि० ) आसुरी उष्णिक्, ४२, ४५, ४९ आसां ( च० ) दैवी त्रिष्टुभः, ४६ ( द्वि० ) एकपदा भुरिक् साम्नीबृहती। अष्टादशर्चं द्वितीयं पर्यायसूक्तम्॥

ततश्चैनमन्येन शीर्ष्णा प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
ज्येष्ठतस्ते प्रजा मरिष्यतीत्येनमाह।
तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्।
बृहस्पतिना शीर्ष्णा। तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम्।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद॥ ३२॥

भा०—विद्वान् पुरुष को उपदेश करे कि हे पुरुष ! ( येन च ) जिस ( शीर्ष्णा ) शिर से ( पूर्व ऋषय एत प्राश्नन् ) पूर्व मन्त्रद्रष्टा ऋषि लोग इसका उपभोग करते रहे ( तम् च[1] अन्येन ) उससे दूसरे ( शीर्ष्णा ) शिर से यदि ( प्राशी ) तू भोग करता है तो ( ते प्रजा ) तेरी सन्तति ( ज्येष्ठतः मरिष्यति ) ज्येष्ठ क्रम से मरेगी, प्रथम जेठा फिर उससे छोटा फिर उससे छोटा इस प्रकार तेरी सन्तान मर जायगी। ( इति एतम् आह ) इस प्रकार ब्रह्मौदन का तत्वज्ञानी विद्वान् दूसरे पुरुषों को उपदेश करे। तो फिर ( अहम् ) मैं ( तं ) उस ओदन को ( न अर्वाञ्चं न पराञ्चं ) न नीचे के न पराङ्मुख अर्थात् परली तरफ़ के और ( न प्रत्यञ्चम् ) न अपनी तरफ़ को उपभोग करूं, खाऊं। प्रत्युत ( बृहस्पतिना शीर्ष्णा ) बृहस्पति रूप शिर से इस ओदन का भोग करूं। ( तेन एतं प्राशिषम् ) उस शिर से ही इसको मैं भोगूं और ( तेन एनम् अजीगमम् ) उसी शिर से उसको अन्यों को प्राप्त कराऊं। ( एष वा ओदनः ) यह ओदन सर्वाङ्ग समस्त अङ्गों में व्याप्त है ( सर्वपरुः ) सब पोरुओं में व्याप्त है ( सर्वतनुः ) समस्त शरीर में व्याप्त है। ( य एवं वेद ) जो इस रहस्य को जानता है वह स्वयं भी ( सर्वाङ्ग सर्वपरुः सर्वतनुः सम्भवति ) सर्वाङ्ग पूर्ण सब पोरुओं वाला सब शरीर में हृष्ट पुष्ट होता है।

ततश्चैनमन्याभ्यां श्रोत्राभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्। बधिरो भविष्यसीत्येनमाह। तं वा०। द्यावापृथिवीभ्यां श्रोत्राभ्याम्। ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम्। एष वा०। ०॥ २३॥

भा०—( एतम् आह ) विद्वान् पुरुष सामान्य पुरुष को जो 'ब्रह्मौदन' की उपासना करना चाहता है कहे कि ( याभ्यां चैत पूर्व ऋषयः प्राश्नन् ) जिन किरणों से पूर्व ऋषियों ने इस 'ओदन' का भोग किया ( तत च

[1] १. यस्तेथ।

अन्याभ्याम् श्रोत्राभ्यां एनं प्राशीः ) यदि उनसे दूसरे श्रोत्र, कानों से तू उपभोग करेगा तो ( बधिरः भविष्यसि ) तू बहरा हो जायगा । ( तं वा अहं० इत्यादि ) तो फिर मैं उस ओदन को न नीचे के को, न परली तरफ़ के को, न अपनी तरफ़ के को उपभोग करूं । प्रत्युत ( द्यावा पृथिवीभ्यां श्रोत्राभ्याम् ) द्यौः और पृथिवी इन दोनों श्रोत्रों से उसका उपभोग करूं, ( ताभ्याम् एनं प्राशिषम् ) उन दोनों से उसका उपभोग करूं ( ताभ्याम् एनम् अजीगमम् ) उन दोनों के द्वारा उसको अन्यों को प्राप्त कराऊं । ( एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः० इत्यादि ) यह ओदन सब अंगों, सब पोरुओं समस्त शरीर में व्याप्त है । जो यह तत्त्व जान लेता है वह सर्वाङ्ग पूर्ण सब पोरुओं से युक्त और पूर्ण शरीर में हृष्ट पुष्ट रहता है ।

ततश्चैनमन्याभ्यामक्षीभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् ।
अन्धो भविष्यसीत्येनमाह । तं वा० । सूर्याचन्द्रमसाभ्यामक्षीभ्याम् ।
ताभ्यामेनं० । ० । ० ॥ ३४ ॥

भा०—( याभ्याम् च एतं पूर्वे ऋषयः प्राश्नन्, ततः अन्याभ्याम् च एनं अक्षीभ्याम् प्राशीः, अन्धः भविष्यसि इति एनम् आह ) विद्वान् पुरुष जिज्ञासु को उपदेश करे कि जिन आंखों से पूर्व के ऋषियों ने इसका उपभोग किया उनसे अतिरिक्त दूसरी आंखों से हे पुरुष यदि तू उपभोग करेगा तो तू अन्धा हो जायगा । ( अहं तं वा न अर्वाञ्चं० इत्यादि ) पूर्ववत् । ( सूर्याचन्द्रमसाभ्याम् अक्षीभ्याम् ताभ्याम् एनं प्राशिषम् ताभ्यामेनम् अजीगमम् ) सूर्य और चन्द्रमा इन दो आंखों से उस ओदन का उपभोग करूं और उन दोनों से उसको अन्यों को पहुंचाऊं । ( एष वा० इत्यादि पूर्ववत )

ततश्चैनमन्येन मुखेन प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् ।
मुखतस्ते प्रजा मरिष्यन्तीत्येनमाह । तं वा० । ब्रह्मणा मुखेन ।
तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम् । एष वा० ॥ ३५ ॥

भा०—( एनम् आह । येन च एतं पूर्वे ऋषयः प्राश्नन् ततः च एनम् अन्येन मुखेन प्राशी , मुखतः ते प्रजा मरिष्यति इति ) गुरु विद्वान् जिज्ञासु को उपदेश करे कि जिस मुख से इस ओदन को पूर्व काल के ऋषि भोग करते थे उससे अतिरिक्त मुख से यदि तू भोग करेगा तो तेरी प्रजा मुख से मरेगी। ( तं वा० ) इत्यादि पूर्ववत्। ( ब्रह्मणा मुखेन। तेन एनं प्राशिषं तेन एनम् अजीगमम् ) ब्रह्म रूप मुख से उस ओदन को भोग करूं और उससे ही उसको अन्यों को प्राप्त कराऊं। ( एष वा० ) इत्यादि पूर्ववत्।

ततश्चैनमन्यया जिह्वया प्राशीर्यया चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
जिह्वा ते मरिष्यतीत्येनमाह। तं वा०। अग्नेर्जिह्वया।
तयैनं प्राशिषं तयैनमजीगमम्। एष वा० । ० ॥ ३६ ॥

भा०—( एनम् आह। एनं यथा पूर्वे ऋषयः प्राश्नन्। ततः अन्यया एनं जिह्वया प्राशी जिह्वा ते मरिष्यति इति एनम् आह ) गुरु विद्वान् जिज्ञासु को उपदेश करे कि जिस जिह्वा से इस ओदन को पूर्व काल के ऋषियों ने भोग किया उसके अतिरिक्त जिह्वा से यदि तू भोग करेगा तो तेरी जिह्वा मरेगी। ( तं वा० ) इत्यादि पूर्ववत्। ( अग्नेर्जिह्वया। तया एनं प्राशिषम् तया एनम् अजीगमम् ) अग्नि की जिह्वा से इस ओदन का भोग करूं उससे ही इस ओदन को अन्यों को प्राप्त कराऊं। ( एषः वा इत्यादि ) पूर्ववत्।

ततश्चैनमन्यैर्दन्तैः प्राशीर्यैश्चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
दन्तास्ते शत्स्यन्तीत्येनमाह। तं वा०। ऋतुभिर्दन्तैः।
तैरेनं प्राशिषं तैरेनमजीगमम्। एष वा० । ० ॥ ३७ ॥

भा०—( एनम् आह। यै च एनं पूर्वे ऋषयः प्राश्नन् , ततः च एनम् अन्यैः दन्तैः प्राशीः। दन्ता ते शत्स्यन्ति इति ) गुरु जिज्ञासु को उपदेश करे कि जिन दांतों से पूर्व ऋषियों ने उस ओदन को भोग किया यदि तू उनसे

अतिरिक्त दूसरे दांतों से भोग करता है तो तेरे दांत झड़ जायेंगे। (तं वा० इत्यादि) पूर्ववत्। पूर्व ऋषियों ने इसका भोग (ऋतुभिर्दन्तैः) ऋतु रूप दांतों से भोग किया है। (तैः एनं प्राशिपम्) उनसे ही मैं भोग करूं और (तैः एनम् अजीगमम्) और उन ही से अन्यों को भी प्राप्त कराऊं। (एष वा० इत्यादि पूर्ववत्)

ततश्चैनमन्यैः प्राणापानैः प्राशीर्यैश्चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
प्राणापानास्त्वा हास्यन्तीत्येनमाह। तं वा०।
सप्तर्षिभिः प्राणापानैः। तैरेनं०। ०। ०॥ ३८॥

भा०—(एनम् आह यैः च एतं पूर्वे ऋषयः प्राश्नन्, ततः च एनम् अन्यैः प्राणापानैः प्राशीः प्राणापानाः त्वा हास्यन्ति इति) गुरु जिज्ञासु को उपदेश करता है कि जिन प्राणों और अपानों से पूर्व ऋषियों ने इसका भोग किया यदि तू उनसे अतिरिक्त दूसरे प्राणों और अपानों से भोग करता है तो प्राण और अपान तुझ को छोड़ देंगे। (तं वा०) इत्यादि पूर्ववत्। पूर्व ऋषियों ने (सप्तर्षिभिः प्राणापानैः) सप्त ऋषि, सात शीर्षगत प्राणों रूप प्राणों और अपानों द्वारा उसका भोग किया है। (तैः एनं प्राशिपम्) उनसे ही मैं भोग करूं (तैः एनम् अजीगमम्) उनसे ही उसको अन्यों को प्राप्त कराया है। (एष वा०) इत्यादि पूर्ववत्।

ततश्चैनमन्येन व्यचसा प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
राजयक्ष्मस्त्वा हनिष्यतीत्येनमाह। तं वा०। अन्तरिक्षेण व्यचसा।
तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम्। एष वा०। ०॥ ३९॥

भा०—(एनम् आह) गुरु जिज्ञासु को उपदेश करता है (येन च एतं पूर्वे ऋषयः प्राश्नन्) जिस 'व्यचस्' अन्तराकाश भाग से पूर्व ऋषियों ने इस ओदन का भोग किया (ततः च एनम् अन्येन व्यचसा प्राशीः) यदि तू उससे अतिरिक्त दूसरे अन्तराकाश भाग से भोग करेगा तो (राज

यक्ष्मा त्वा हनिष्यती इति ) राजयक्ष्मा तुझे मार देगा। ( त वा० इत्यादि ) पूर्ववत्। पूर्व ऋषियों ने अन्तरिक्ष रूप 'व्यचस्' अन्तराकाश से भोग किया। मैं भी ( तेन एन प्राशिषं ) उससे ही भोग करता हूं दूसरों को भी ( तेन एनम् अजीगमम् ) उससे ही इसका प्राप्त कराता हूं। ( एष वा० ) इत्यादि पूर्ववत्।

ततश्चैनमन्येन पृष्ठेन प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
विद्युत् त्वा हनिष्यतीत्येनमाह। तं वा०। दिवा पृष्ठेन।
तेनैनं०। ०। ०॥ ४०॥

भा०—( एनम् आह ) गुरु जिज्ञासु को उपदेश करता है कि ( येन च एतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् ) जिस पृष्ठ भाग से पूर्व ऋषियों ने इस ओदन का भोग किया ( ततः च एनम् अन्येन पृष्ठेन प्राशीः ) यदि तू उसके सिवाय दूसरे पीठ से भोग करेगा तो ( विद्युत् त्वा हनिष्यति इति ) बिजुली तुझे मार जायगी। ( त वा० ) इत्यादि पूर्ववत्। पूर्व ऋषियों ने इसका ( दिवा पृष्ठेन ) द्यौ रूप पीठ से भोग किया। ( तेन एनं प्राशिषं० इत्यादि ) पूर्ववत्। ( एष वा० ) इत्यादि पूर्ववत्।

ततश्चैनमन्येनोरसा प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
कृष्या न रात्स्यसीत्येनमाह। तं वा०। पृथिव्योरसा।
तेनैनं०। ०। ०॥ ४१॥

भा०—( एनम् आह, येन चैतं०, ततः च एनम् अन्येन उरसा प्राशीः, कृष्या न रात्स्यसि इति ) गुरु जिज्ञासु को उपदेश करता है कि जिस उर स्थल से पूर्व ऋषियों ने उसका भोग किया। यदि तू उसके सिवाय दूसरे वक्ष स्थल से भोग करेगा तो कृषि=खेती के यत्न से समृद्ध न होगा। ( तं वा० ) इत्यादि पूर्ववत्। ऋषियों ने ( पृथिव्या उरसा ) पृथिवी रूप उर-स्थल से इस ओदन का भोग किया है। ( तेन एनं० इत्यादि ) पूर्ववत्। ( एष वा० ) इत्यादि पूर्ववत्।

ततश्चैनमन्येनोदरेण प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् ।
उदरदारस्त्वा हनिष्यतीत्येनमाह । तं वा० । सत्येनोदरेण ।
तेनैनं० । ० । ० ॥ ४२ ॥

भा०—( एनम् आह ) गुरु जिज्ञासु को उपदेश करता है कि ( येन चैतं० ) जिस उदर भाग से ऋषियों ने इस ओदन का भोग किया है । ( ततः च एनम् अन्येन उदरेण प्राशीः ) यदि तू उसके सिवाय दूसरे उदर भाग से भोग करेगा तो ( उदरदारः त्वा हनिष्यति इति ) उदरदार=अतिसार नामक रोग तुझे मार देगा । ( तं वा० इत्यादि ) पूर्ववत् । ऋषियों ने ( सत्येन उदरेण ) सत्य रूप उदर से इसका भोग किया था । ( तेन एनं, प्रा० इत्यादि ) पूर्ववत् ।

ततश्चैनमन्येन वस्तिना प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् ।
अप्सु मरिष्यसीत्येनमाह । तं वा० । समुद्रेण वस्तिना ।
तेनैनं० । ० । ० ॥ ४३ ॥

भा०—( एनम् आह ) गुरु जिज्ञासु को उपदेश करता है ( येन च एतं ) जिस वस्ति भाग से पूर्व ऋषियों ने इस ओदन का भोग किया ( ततः च एनम् अन्येन वस्तिना प्राशीः ) यदि उसके अतिरिक्त दूसरे वस्ति से भोग करेगा तो तू ( अप्सु मरिष्यसि ) जलों में मरेगा । ( तं वा० ) इत्यादि पूर्ववत् । ( समुद्रेण वस्तिना ) ऋषियों ने उसका समुद्र रूप वस्ति से उपभोग किया था ( तेन एनं० ) इत्यादि पूर्ववत् ।

ततश्चैनमन्याभ्यामूरुभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् ।
ऊरू ते मरिष्यत इत्येनमाह । तं वा० । मित्रावरुणयोरूरुभ्याम् ।
ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम् । एष वा० । ० ॥ ४४ ॥

भा०—( एनम् आह ) गुरु जिज्ञासु को उपदेश करता है ( याभ्यां च एतं० ) जिन ऊरु=जांघों से पूर्व ऋषियों ने इसका भोग किया ( ततः

च एनं अन्याभ्या ऊरुभ्यां प्राशीः ) यदि उनके अतिरिक्त जंघाओं से तू भोग करेगा तो ( ते ऊरू मरिष्यतः इति ) तेरी जांघें मारी जाएंगी । ( त वा० ) इत्यादि पूर्ववत् । ( मित्रावरुणयोः ऊरुभ्याम् ) मित्र और वरुण की बनी जांघों से पूर्व ऋषियों ने भोग किया था । ( ताभ्याम् एनं प्राशिषं ताभ्याम् एनम् अजीगमम् ) उन दोनों से मैं उसका भोग करूं और उन दोनों से अन्यों को प्राप्त कराऊं । ( एष वा० ) इत्यादि पूर्ववत् ।

ततश्चैनमन्याभ्यामष्ठीवद्भ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्। स्रामो भविष्यसीत्येनमाह । तं वा० । त्वष्टुरष्ठीवद्भ्याम् । ताभ्यामेनं० । ०। ० ॥ ४५ ॥

भा०—( एनम् आह ) गुरु जिज्ञासु को उपदेश करता है ( याभ्यां च एतं० ) जिन जानुओं से पूर्व ऋषियों ने इस ओदन का भोग किया है ( एतं ततः च अन्याभ्याम् अष्ठीवद्भ्याम् प्राशीः ) यदि उस ओदन को तू उनसे दूसरे जानुओं से भोग करेगा तो ( स्रामः भविष्यति इति ) लंगड़ा हो जायगा । ( तं वा० ) इत्यादि पूर्ववत् । ( त्वष्टुः अष्ठीवद्भ्याम् ) पूर्व ऋषियों ने त्वष्टा के बने जानुओं से ओदन का भोग किया था । ( ताभ्यामेनं० इत्यादि ) पूर्ववत् । ( एष वा० इत्यादि ) पूर्ववत् ।

ततश्चैनमन्याभ्यां पादाभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । बहुचारी भविष्यसीत्येनमाह । तं वा० । अश्विनोः पादाभ्याम् । ताभ्यामेनं० । ० । ० ॥ ४६ ॥

भा०—( एनम् आह । गुरु जिज्ञासु को उपदेश करता है—( याभ्यां चैतं० ) जिन पैरों से पूर्व ऋषियों ने ओदन का भोग किया ( ततः च एनम् अन्याभ्यां पादाभ्यां प्राशीः ) यदि उनके सिवाय दूसरे पैरों से तू भोग करेगा तो ( बहुचारी भविष्यसि इति ) बहुचारी होगा । तुझे पैरों से बहुत चलना पड़ेगा । ( तं वा० इत्यादि ) पूर्ववत् । ( अश्विनोः पादाभ्याम् ) पूर्व ऋषियों

ने ऋषियों के घने चरणों से उस ओदन का भोग किया था ( ताभ्याम् एनं० ) इत्यादि पूर्ववत् ( एव वा० इत्यादि ) पूर्ववत्।

ततश्चैनमन्याभ्यां प्रपदाभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्। सर्पस्त्वा हनिष्यतीत्येनमाह। तं वा०। सवितुः प्रपदाभ्याम्। ताभ्यामेनं० । ० । ० ॥ ४७ ॥

भा०—( एनम् आह ) गुरु जिज्ञासु को उपदेश करता है कि ( याभ्यां चैतं० ) जिन पंजों से पूर्व ऋषियों ने इस ओदन का भोग किया था यदि तू ( ततः च एनम् अन्याभ्यां प्रपदाभ्यां प्राशीः ) उनसे अतिरिक्त दूसरे पंजों से भोग करेगा तो ( सर्पः त्वा हनिष्यति इति ) सांप तुझे मार देगा। ( तं वा० इत्यादि ) पूर्ववत्। ( सवितुः प्रपदाभ्याम् ) पूर्व ऋषियों ने सविता के घने पंजों से ओदन का भोग किया था ( ताभ्याम् एनम्० एवः वा० ) इत्यादि पूर्ववत्।

ततश्चैनमन्याभ्यां हस्ताभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्। ब्राह्मणं हनिष्यसीत्येनमाह। तं वा०। ऋतस्य हस्ताभ्याम्। ताभ्यामेनं० । ० । ० ॥ ४८ ॥

भा०—( एनम् आह ) गुरु जिज्ञासु को उपदेश करता है कि ( याभ्याम् च एनं० ) जिन हाथों से पूर्व ऋषियों ने इस ओदन का भोग किया था ( ततः च एनम् अन्याभ्यां हस्ताभ्यां प्राशीः ) यदि तू उनसे दूसरे हाथों से भोग करेगा तो तू ( ब्राह्मणं हनिष्यसि ) ब्राह्मण का घात करेगा। ब्रह्म-हत्या का भागी होगा। ( तं वा० इत्यादि ) पूर्ववत् ( ऋतस्य हस्ताभ्याम् ) ऋत=सत्य परम तप के हाथों से ऋषियों ने उसका भोग किया। ( ताभ्याम् एनं एवः वा० इत्यादि ) पूर्ववत्।

ततश्चैनमन्यया प्रतिष्ठया प्राशीर्यया चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्। अप्रतिष्ठानोऽनायतनो मरिष्यसीत्येनमाह।

तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम् ।
सत्ये प्रतिष्ठायं । तयैनं प्राशिषं तयैनमजीगमम् ।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः ।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥४९॥ ( ६ )

भा०—( एतम् आह ) गुरु जिज्ञासु को उपदेश करता है कि ( यथा च एत पूर्वे ऋषय. प्राश्नन् ) जिस प्रकार के ' प्रतिष्ठा ' भाग से पूर्व ऋषियों ने इसका भोग किया ( ततः च एनम् अन्यया प्रतिष्ठया प्राशीः ) यदि तू उससे दूसरी प्रतिष्ठा भाग से इस ओदन को भोग करेगा तो तू ( अप्रतिष्ठान' अनायतन. मरिष्यसि इति ) विना घर के और विना आश्रय के मरेगा। ( तं वा अहं० इत्यादि ) पूर्ववत् । पूर्व ऋषियों ने ( सत्ये प्रतिष्ठाय ) सत्य पर आश्रित होकर उस ओदन का भोग किया था । ( तया एनं० ) उसी प्रतिष्ठा से मैं उस ओदन का भोग करता हूं और ( तया एनम् अजीगमम् एष वा० इत्यादि ) पूर्ववत् ।

संक्षेप में—मनुष्य यदि चाहे कि मैं अपनी स्वल्प शक्ति से ही परमेश्वर के रचे समस्त ऐश्वर्यों का भोग करलूं तो यह उसकी शक्ति से बाहर है। वह अपने जिस २ अंग से भी भोगने की चेष्टा करेगा वह ही उसका शीघ्र जीर्ण हो जायगा और विपत्तिग्रस्त हो जायगा । इसलिए उसको ब्रह्म का महान् ऐश्वर्य महान् शक्तियों के द्वारा ही भोगना चाहिये । उसके विराट् रूप का बृहस्पति शिर है, द्यौ पृथिवी दो कान हैं, सूर्य और चन्द्रमा दो आँखें हैं, ब्रह्म अर्थात् वेद उसका मुख है, अग्नि या विद्युत् उसकी जिह्वा है, ऋतु दांत हैं, सप्तऋषि सात प्राण हैं, अन्तरिक्ष फुप्फुस हैं, द्यौः पृष्ठ है, पृथिवी छाती है, सत्य उदर है समुद्र वस्तिस्थान है मित्रावरुण उसकी जांघें हैं, त्वष्टा उसकी जानु या गोड़े हैं, अश्वि, दोनों दिन रात पाद हैं, सविता उसके

४९–' सत्ये प्रतिष्ठया ' इति क्वचित् ।

पंजे हैं, ऋत हाथ हैं, सत्य प्रतिष्ठा है। इनके द्वारा परमेश्वर के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान करना चाहिये।

इसकी तुलना छान्दोग्य उपनिषद् में आये केकय देश के राजा अश्वपति द्वारा बतलाये वैश्वानर प्रकरण से करनी चाहिये।

## ( ३ ) ब्रह्मज्ञ विद्वान् की निन्दा का बुरा परिणाम।

अथर्वा ऋषिः। ओदनो देवता। ५० आसुरी अनुष्टुप, ५१ आर्ची उष्णिक्, ५२ त्रिपदा भुरिक् साम्नी त्रिष्टुप्, ५३ आसुरीबृहती, ५४ द्विपदाभुरिक् साम्नी बृहती, ५५ साम्नी उष्णिक्, ५६ प्राजापत्या बृहती। सप्तर्चं तृतीयं पर्यायसूक्तम्॥

एतद् वै ब्रध्नस्य॑ वि॒ष्टपं॒ यदो॑द॒नः॥ ५०॥

ब्रध्नलो॑को भवति ब्रध्नस्य॑ वि॒ष्टपि॑ श्रयते॒ य ए॒वं वेद॑॥ ५१॥

भा०—( ५० ) ( यत् ओदनः ) जो पूर्व सूक्तों में 'ओदन' कहा गया है ( एतत् वै ) वह ( ब्रध्नस्य विष्टपम् ) सकल संसार को अपने भीतर बांधने वाला विष्टप=लोक, सबका आश्रय, विशेष रूप से तपनेहारा परम तेज है। ( ५१ ) ( यः एवं वेद ) जो इस प्रकार जान लेता है वह ( ब्रध्नस्य ) उस सबको बांधने वाले परम बन्धुरूप सूर्य के समान ( विष्टपि ) परम तेजोमय लोक में ( श्रयते ) आश्रय पाता है। ( ब्रध्नलोकः भवति ) और स्वयं भी इसी प्रकार अन्यों को अपने आश्रय में बांधने वाला आश्रय-भूत 'लोक' सा हो जाता है।

ए॒तस्मा॒द् वा ओ॑द॒नात् त्रय॑स्त्रिंशतं लो॒कान् निर॑मिमीत प्र॒जाप॑तिः ५२

तेषां॑ प्र॒ज्ञाना॑य य॒ज्ञम॑सृजत॥ ५३॥

भा०—( एतस्मात् वा ओदनात् ) इस 'ओदन' से ( त्रयः त्रिंशतं लोकान् ) ३३ लोकों=देवों को ( प्रजापतिः ) प्रजापति ने ( निः अमिमीत ) बनाया है ( तेषां प्रज्ञानाय ) उनके उत्तम रीति से ज्ञान करने के लिये

( यज्ञम् असृजत ) प्रजापति ने यज्ञ को रचा। अर्थात् यज्ञ की रचना के ज्ञान से ही जगत् की रचना का भी ज्ञान हो जायगा।

स य एवं विदुष उपद्रष्टा भवति प्राणं रुणद्धि ॥ ५४ ॥

न च प्राणं रुणद्धि सर्वज्यानिं जीयते ॥ ५५ ॥

न च सर्वज्यानिं जीयते पुरैनं जरसः प्राणो जहाति ॥ ५६ ॥ (१०)

भा०—( यः ) जो ( एवं ) पूर्वोक्त प्रकार के ( विदुषः ) यज्ञरूप ओदन के रहस्य जानने वाले विद्वान् का ( उपद्रष्टा ) दोषदर्शी, निन्दक ( भवति ) होता है ( सः ) वह अपने ही ( प्राणं ) प्राण-बल का ( रुणद्धि ) विच्छेद करता है। अर्थात् अपने प्राण-बल का अन्त कर लेता है। ( न च ) और न केवल ( प्राणं रुणद्धि ) प्राण-बल का अन्त कर लेता है बल्कि ( सर्वज्यानिम् जीयते ) उसका सर्वनाश हो जाता है। ( न च ) और न केवल ( सर्वज्यानिं जीयते ) सर्वनाश हो जाता है बल्कि ( एनं ) उसको ( जरसः पुरा ) बुढ़ापे के पहले ही ( प्राणः जहाति ) प्राण छोड़ देता है।

---

## [ ४ ] प्राणरूप परमेश्वर का वर्णन।

भार्गवो वैदर्भिऋषिः। प्राणो देवता। १ शङ्कुमती, ८ पथ्यापङ्क्तिः, १४ निचृत्, १५ भुरिक्, २० अनुष्टुब्गर्भा त्रिष्टुप्, २१ मध्येज्योतिर्जगती, २२ त्रिष्टुप्, २६ बृहतीगर्भा, २-७-९ १३ १६ १६-२३-२५ अनुष्टुभः। षड्विंशर्चं सूक्तम् ॥

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ १ ॥

भा०—( प्राणाय ) समस्त प्राणियों के प्राणस्वरूप परमेश्वर को ( नमः ) नमस्कार है ( यस्य ) जिसके ( वशे ) वश में ( इदं सर्वम् ) यह सर्व=समस्त संसार है। ( यः ) जो ( भूतः ) महान्, सत्तावान्, स्वयम्

( सर्वस्य ईश्वरः ) सबका ईश्वर है और ( यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम् ) जिस पर समस्त संसार आश्रित है ।

नमस्ते प्राण क्रन्दाय नमस्ते स्तनयित्नवे ।
नमस्ते प्राण विद्युते नमस्ते प्राण वर्षते ॥ २ ॥

भा०—हे ( प्राण ) समस्त संसार के प्राणस्वरूप परमेश्वर ! ( क्रन्दाय ते नमः ) सबको आह्लादित करनेहारे, परम आनंदस्वरूप तुझको नमस्कार है । ( स्तनयित्नवे ते नमः ) समस्त संसार पर मेघ के समान सुखों, अन्नों, जलों और जीवनों की वर्षा करनेहारे पर्जन्यरूप तुझ प्रजापति को नमस्कार है । हे ( प्राण ) प्राण ! ( ते विद्युते नमः ) विद्युत् के समान प्रखर कान्ति से चमकने वाले प्रकाशस्वरूप तुझको नमस्कार है । हे प्राण ! ( वर्षते ते नमः ) आनंदधाराओं को वर्षण करते हुए तुझे नमस्कार है ।

यदा त्वमथ वर्षस्यथेमाः प्राण ते प्रजाः ।
आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायान्नं भविष्यति ॥ प्रश्नोप० २ । १० ॥

हे प्राण जब तू बरसता है तब ये समस्त तेरी प्रजाएं आनन्द प्रसन्न होती हैं कि खूब अन्न होगा ।

यत् प्राण स्तनयित्नुनाभिक्रन्दत्योषधीः ।
प्र वीयन्ते गर्भान् दधतेऽथो बह्वीर्वि जायन्ते ॥ ३ ॥

भा०—हे ( प्राण ) समस्त संसार के प्राणस्वरूप ! ( यत् ) जब ( स्तनयित्नुना ) स्तनयित्नु अर्थात् मेघ द्वारा ( ओषधीः अभिक्रन्दति ) ओषधियों के प्रति गर्जते हो । ( तदा ) तब वे ओषधियां ( प्र वीयन्ते ) विशेष रूप से प्रजनन का कार्य करती हैं अर्थात् नर, मादा, वनस्पतियां परस्पर के

[ ४ ] २-( तृ० ) ' नमस्तेस्तु विद्युते ' इति पैप्प० सं० ।
३-' प्र वीयन्ते गर्भं ' ( च० ) ' विजायते ' इति पैप्प० सं० ।

कुसुम परागों द्वारा सग करती हैं और फिर ( गर्भान् दधते ) गर्भ धारण करती हैं । ( अथ ) और बाद में ( बह्वी ) नानाविधि होकर ( वि जायन्ते ) विविध प्रकारों से उत्पन्न होती हैं । मेघ का गर्जन, वर्षण और उस द्वारा ओषधियों का परस्पर प्रजनन, गर्भ ग्रहण और उत्पन्न होना यह प्राणमय प्रजापति परमेश्वर की शक्ति का एक रूप है ।

यत् प्राण ऋतावागतेऽभिक्रन्दत्योषधीः ।
सर्वं तदा प्र मोदते यत् किं च भूम्यामधि ॥ ४ ॥

ऋ० ५ । ८३ । ९ । उत्तरार्धेनोत्तरार्धः सम० ॥

भा०—और हे ( प्राण ) सब के प्राणप्रद प्राणेश्वर प्रभो ! ( ऋतौ आगते ) ऋतु, मौसम आजाने पर ( यत् ) जब ( ओषधीः अभिक्रन्दति ) ओषधियों और प्रजाओं के प्रति आप मेघ रूप में गर्जते हो ( तदा सर्वं ) तब समस्त संसार ( यत् किं च ) जो कुछ भी ( अधि भूम्याम् ) इस भूमि में है ( प्र मोदते ) प्रमुदित हो जाता है, आनंद प्रसन्न हो जाता है ।

यदा प्राणो अभ्यवर्षीद् वर्षेण पृथिवीं महीम् ।
पशवस्तत् प्र मोदन्ते महो वै नो भविष्यति ॥ ५ ॥

भा०—( यदा ) जब ( प्राणः ) प्राणस्वरूप, सबका प्राणप्रद मेघ रूप होकर प्रजापति ( वर्षेण ) वर्षा द्वारा ( महीम् पृथिवीम् ) विशाल पृथ्वी पर ( अभि अवर्षीत् ) बरसता है ( तत् ) तब ( पशवः प्र मोदन्ते ) पशु प्रसन्न होते हैं कि ( नः ) हमारे लिये ( महः वै भविष्यति ) बड़ा भारी जीवनाधार अन्न उत्पन्न होगा ।

४–( द्वि० ) 'मदीन्द्र वि चिं मोदते' इति ऋ० ।
५–( प्र० द्वि० ) 'यदा प्राणोऽभ्यक्रन्दी वर्षेणानुपरयिन्तुना' इति पैप्प० सं० ।

अभिवृष्टा ओषधयः प्राणेन समवादिरन्।
आयुर्वै नः प्रातीतरः सर्वा नः सुरभीरकः ॥ ६ ॥

भा०—( अभिवृष्टाः ओषधयः ) वर्षा के जल से सिंची हुई ओषधियां ( प्राणेन सम् अवादिरन् ) प्राणरूप प्रजापति के साथ सम्वाद करती हैं कि हे प्रजापते ! ( नः ) हमें तू ( वै ) निश्चय से ( आयुः प्रातीतरः ) जीवन प्रदान करता है। ( नः सर्वाः ) हम सबको तू ( सुरभीः अकः ) सुरभि, सुगन्धित अथवा सुरभि, कामधेनु के समान फल, रस आदि उत्पन्न करने में समर्थ बना देता है।

नमस्ते अस्त्वायते नमो अस्तु परायते।
नमस्ते प्राण तिष्ठत आसीनायोत ते नमः ॥ ७ ॥

अथर्व० ११ । २ । १५ ॥

भा०—हे प्राण ! ( आयते ) आते हुए ( ते नमः अस्तु ) तुझे नमस्कार हो। ( परायते ) जाते समय तुझे ( नमः अस्तु ) नमस्कार हो। हे प्राण ( तिष्ठते ते नमः ) स्थिर होते हुए तुझे नमस्कार है। ( आसीनाय उत ते नमः ) बैठे हुए तुझे नमस्कार है। समस्त पदार्थों और जीवों में ये क्रियाएं उसी प्राण के बल पर हैं अतः उनकी ये २ दशायें 'प्राण' की ही हैं। उन २ दशाओं में वर्त्तमान 'प्राण' का हम आदर करते हैं।

नमस्ते प्राण प्राणते नमो अस्त्वपानते।
पराचीनाय ते नमः प्रतीचीनाय ते नमः सर्वस्मै त इदं नमः ॥८॥

६–( द्वि० ) 'समवासिरन्', (तृ०) 'नः प्रातीतरत्' इति पैप्प० सं०।
७–'तेऽस्तु', 'नमोऽस्तु' इति पैप्प० सं०।
८–( द्वि० ) 'नमोऽस्तु' ( तृ० ) 'अर्वाचीनाय ते नमः पराचीनाय' इति पैप्प० सं०।

भा० — ( प्राण प्राणते ते नमः ) प्राण ! प्राण क्रिया करते, श्वास लेते हुए तुझे नमस्कार है । ( अपानते नमः अस्तु ) श्वास छोड़ते हुए तुझे नमस्कार है । ( पराचीनाय ते नमः ) पराङ्मुख देह से बाहर जाते हुए तुझे नमस्कार है । और ( प्रतीचीनाय ) अपनी तरफ आते हुए, देह के भीतर वर्तमान ( ते नमः ) तुझे नमस्कार है । ( सर्वस्मै ते ) सर्व संसार के प्राणियों और समस्त चेतन चराचर पदार्थों के स्वरूप में विद्यमान तुझको ( इदं नमः ) हमारा यह नमस्कार, आदरभाव है ।

या ते प्राण प्रिया तनूर्यो ते प्राण प्रेयसी ।
अथो यद् भेषजं तव तस्य नो धेहि जीवसे ॥ ९ ॥

भा०—हे प्राण ! ( या ते प्रिया तनूः ) जो तेरी प्रिय तनु=शरीर या स्वरूप है और हे प्राण ( यो ) जो ( ते ) तेरी ( प्रेयसी ) सब से अति प्यारी प्रियतम आत्मरूप ( तनूः ) 'तनु' है ( अथो यद् तव भेषजं ) और जो तेरा समस्त रोग, कष्टों को दूर करने और आत्मा को शान्ति देने हारा अमृतमय स्वरूप है ( तस्य नः जीवसे धेहि ) उसको हमारे जीवन के लिये प्रदान कर ।

प्राणः प्रजा अनु वस्ते पिता पुत्रमिव प्रियम् ।
प्राणो ह सर्वस्येश्वरो यच्च प्राणति यच्च न ॥ १० ॥ ( ११ )

भा०—( पिता प्रियम् पुत्रम् इव ) पिता जिस प्रकार प्रिय पुत्र के प्रति उत्पादक, जीवनप्रद, पालक पोषक है उसी प्रकार ( प्राणः प्रजाः अनु वस्ते ) प्राणस्वरूप परमेश्वर समस्त प्रजाओं के प्रति उनका उत्पादक, जीवनप्रद, पालक और पोषक है । वह ( प्राणः ) प्राण ( यत् च प्राणति

९-( द्वि० ) 'तनूर्या ते' इति सायणाभिमतः पाठः । 'यो । इति' इति पदपाठः । 'या । उ' इति ह्विटनिकामितः पाठः ।
१०-( प्र० ) 'प्रजानु' ( च० ) 'यच्च प्राणति यच्च न' इति पैप० सं० ।

यत् च न ) जो प्राण लेता है और जो प्राण नहीं भी लेता है ( सर्वस्य ईश्वरः ) उस सबका ईश्वर अर्थात् स्वामी है । यह सब उसी का ऐश्वर्य या विभूति है । वह उसका कर्त्ता, धर्त्ता, हर्त्ता, संहर्त्ता है ।

प्राणो मृत्युः प्राणस्तक्मा प्राणं देवा उपासते ।
प्राणो ह सत्यवादिनमुत्तमे लोक आ दधत् ॥ ११ ॥

भा०—( प्राणः मृत्युः ) प्राण ही मृत्यु अर्थात् शरीर के आत्मा से वियुक्त होने का कारण है । ( प्राणः तक्मा ) जीवन में ज्वर आदि होने का मूलकारण भी वही प्राण है । ( देवाः ) समस्त देवगण पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र आदि लोक और वाग्, चक्षु आदि इन्द्रिय गण और विद्वान् पुरुष सब ( प्राणम् उपासते ) प्राण की ही उपासना करते हैं । ( प्राणः ह ) निश्चय से सर्वप्राणेश्वर प्राण ही ( सत्यवादिनम् ) सत्यवादी पुरुष को ( उत्तमे लोके आ दधत् ) उत्तम लोक में स्थापित करता है ।

प्राणो विराट् प्राणो देष्ट्री प्राणं सर्वं उपासते ।
प्राणो ह सूर्यश्चन्द्रमाः प्राणमाहुः प्रजापतिम् ॥ १२ ॥

भा०—( प्राणः विराट् ) प्राण ही 'विराट्', हिरण्यगर्भ रूप है ( प्राणः देष्ट्री ) प्राण ही सबका उपदेष्टा ज्ञानप्रद, सर्वप्रेरक है ( सर्वे ) समस्त विद्वान् ( प्राणम् ) प्राण की ही उपासना करते हैं । ( प्राणः ह सूर्यः ) वह प्राण ही 'सूर्य' शब्द से कहा जाता है ( चन्द्रमाः ) वही 'चन्द्रमा' शब्द से कहा जाता है । ( प्राणम् प्रजापतिम् आहुः ) उस सब के प्राणेश्वर प्राण को ही 'प्रजापति' नाम से विद्वान् पुकारते हैं ।

प्राणापानौ व्रीहियवावनड्वान् प्राण उच्यते ।
यवे ह प्राण आहितोऽपानो व्रीहिरुच्यते ॥ १३ ॥

११–( प्र० ) 'प्राणो मृत्युः प्राणोऽमृतम्' इति पैप्प० सं० ।
१२–(द्वि०) 'प्राणः सर्वम्', (तृ०) 'प्राणोग्निश्चन्द्रमाः सूर्य' इति पैप्प० सं० ।
१३–( तृ० ) 'यवेन प्राण' इति क्वचित् ।

भा०—( प्राणापानौ व्रीहियवौ ) प्राण और अपान इन दोनों को वेद के शब्दों में ' व्रीहि ' और ' यव ' नाम से कहा जाता है । ( प्राणः अनड्वान् उच्यते ) वह पूर्वोक्त सर्व जीवनप्रद प्राण ' अनड्वान् ' शब्द से कहा जाता है । ( यवे ह प्राणः आहितः ) ' यव ' में प्राण स्थित है । और ( अपानः व्रीहिः उच्यते ) अपान ' व्रीहि ' कहाता है । और ' यव ' शब्द से कहने योग्य वह शक्ति जो संसार में पञ्चभूतों को परस्पर मिलाता है वह प्राण है और जो पुष्ट करता है वह व्रीहि अपान है । और शरीर में भी प्राण यव है और अपान व्रीहि है ।

अपानति प्राणति पुरुषो गर्भे अन्तरा ।
यदा त्वं प्राण जिन्वस्यथ स जायते पुनः ॥ १४ ॥

भा०—( गर्भे अन्तरा ) गर्भ और विराट्, हिरण्यगर्भ दोनों में ( पुरुषः ) पुरुष आत्मा ( अपानति प्राणति ) श्वास छोड़ता और श्वास लेता है । अर्थात् वही प्राण और अपान दोनों वायुओं का व्यापार करता है । हे ( प्राण ) प्राण ! ( यदा त्वं जिन्वसि ) जब तू उस गर्भस्थ बालक को परितृप्त और परिपुष्ट कर देता है ( अथ ) तब ( सः पुनः ) वह फिर ( जायते ) बालक रूप में उत्पन्न होता है । हिरण्यगर्भ में वह महान् पुरुष प्राण डालता है और तब इसमें नाना लोक उत्पन्न होते हैं ।

प्राणमाहुर्मातरिश्वानं वातो ह प्राण उच्यते ।
प्राणे ह भूतं भव्यं च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

भा०—सर्व प्राणस्वरूप उस ( प्राणम् मातरिश्वानम् आहुः ) प्राण को ही ' मातरिश्वा ' नाम से विद्वान् पुकारते हैं । ( वातः ह प्राणः उच्यते )

---

१४–( द्वि० तृ० च० ) ' गर्भे अन्तः । यदा यदा त्वं प्राणजीव सदम्ब वायसं स्वेनु ' इति पैप्प० सं० ।

१५–( च० ) ' समाहिता ' इति पैप्प० सं० ।

यह ' प्राण ' ' वात ' या वायु शब्द से कहा जाता है। ( प्राणे ह भूतं भव्यं च ) भूत और भविष्यत् दोनों प्राण में प्रतिष्ठित हैं । ( प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ) प्राण में सर्व संसार आश्रित है।

आथर्वणीराङ्गिरसीर्दैवीर्मनुष्यजा उत।
ओषधयः प्रजायन्ते यदा त्वं प्राण जिन्वसि ॥ १६ ॥

भा०—( आथर्वणीः आङ्गिरसीः ) आथर्वणी, आङ्गिरसी ( दैवीः मनुष्यजाः ) दैवी और मानुषी ( उत ) भी ( ओषधयः ) ओषधियां ( प्रजायन्ते ) तब उत्पन्न होती हैं ( यदा ) जब हे ( प्राण ) प्राण ( त्वं जिन्वसि ) तू उनको तृप्त करता है।

इस मन्त्र में—' आथर्वणी ', ' आङ्गिरसी ', 'दैवी' और 'मनुष्यजा' इन चार प्रकार की ओषधियों का वर्णन है। सायण के मत में अथर्व ऋषि की बनाई ओषधियां, आथर्वणी अङ्गिरा ऋषियों द्वारा रची ओषधियां आङ्गिरसी और देवों द्वारा रची दैवी और मनुष्यों से उत्पन्न मनुष्यजा हैं। वैदिक ओषधि शास्त्र में ये चार विभाग उनके विशेष २ उपचारों के कारण प्रतीत होते हैं।

यदा प्राणो अभ्यवर्षीद् वर्षेण पृथिवीं महीम्।
ओषधयः प्र जायन्तेऽथो याः काश्च वीरुधः ॥ १७ ॥

भा०—( यदा ) जब ( प्राणः ) प्राण ( वर्षेण ) वर्षा के रूप में ( महीम् पृथिवीम् ) इस विशाल पृथ्वी पर ( अभि अवर्षीत् ) बरसता है ( अथो ) तब भी ( ओषधयः ) ओषधियां और ( याः च काः च ) जो कोई

१६-( द्वि० ) ' मनुष्यजाश्च य ' ( तृ० ) ' सर्वाः प्रजोदन्त्योषधी ' इति पैप्प० सं० ।
१७-( तृ० ) ' प्रजोदन्ते ' इति पैप्प० सं० ।

भी ( वीरुधः ) नाना प्रकार से उत्पन्न होने वाली लताएं हैं वे सब ( प्र आयन्त ) खूब पैदा होता है ।

यस्ते प्राणेदं वेद यस्मिंश्चासि प्रतिष्ठितः ।
सर्वे तस्मै बलिं हरानमुष्मिँल्लोक उत्तमे ॥ १८ ॥

भा०—हे ( प्राण ) प्राण 'परमेश्वर' ( यः ते इदं वेद ) जो तेरे इस तत्व का साक्षात् ज्ञान लेता है और ( यस्मिन् च ) जिस परम रूप में, ज्ञान रूप में ( प्रतिष्ठितः, असि ) तू प्रतिष्ठित होकर रहता है ( तस्मै ) उसको ( सर्वे ) सब ( अमुष्मिन् उत्तमे लोके ) उस परम उत्तम लोक में भी ( बलिं हरान्ति ) बलि, पूजोपहारादि द्रव्य ( हरान् ) उपस्थित करते हैं । उसका आदर सत्कार करते हैं ।

यथा प्राण बलिहृतस्तुभ्यं सर्वाः प्रजा इमाः ।
एवा तस्मै बलिं हरान् यस्त्वा शृणवत् सुश्रवः ॥ १९ ॥

भा०—हे ( प्राण ) प्राण ! ( यथा ) जिस प्रकार ( तुभ्य ) तुम्हारे लिये ( इमाः सर्वाः प्रजाः ) ये समस्त प्रजाएं ( बलिहृतः ) बलि अन्नरूप भेट करती हैं और तुम्हारी उपासना करती हैं ( एवा ) उसी प्रकार ( यः त्वा ) जो तेरे विषयक ज्ञान को ( सुश्रवः ) उत्तम श्रवण धारणशक्ति युक्त होकर ( शृणवत् ) सुनता है ( तस्मै बलिं हरान् ) समस्त प्राणी उसके लिये भी बलि भेंट पूजा की सामग्री उपस्थित करते, उसका आदर करते हैं ।

तुभ्यं प्राण प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि ।
प्रश्न० उ० २ । ७ ॥

---

१८ ( प्र० ) 'इमा प्राण इ.' इति पैप्प० सं० ।

१९ ( च० ) 'यस्त्वा शुश्राव सुश्रुः' इति पैप्प० सं० । 'सुश्रुः' इति सायणाभिमत पाठः ।

अन्तर्गर्भश्चरति देवतास्वाभूतो भूतः स उ जायते पुनः ।
स भूतो भव्यं भविष्यत पिता पुत्रं प्र विवेशा शचीभिः ॥२०॥ (१२)

भा०—( देवतासु ) समस्त दिव्य पदार्थों में, पञ्चभूत पृथिवी, अप् तेज=वायु आकाश आदि में वह 'प्राण' ही ( गर्भः ) ग्रहणशक्ति, धारणशक्ति होकर ( अन्तः चरति ) उनके भीतर व्यापक होकर समस्त क्रिया करता है। ( सः ) वही ( आभूतः ) सर्वव्यापक होकर ( भूतः ) उत्पन्न जगत् रूप में प्रकट होकर ( पुनः जायते ) फिर सृष्टिरूप में उत्पन्न होता है। वह ( भूतः ) सत्तावान्, नित्य प्राण वर्त्तमान ( भव्यं भविष्यत् ) 'भव्य' आगे उत्पन्न होने योग्य, भविष्यत् रूप में अपनी ( शचीभिः ) शक्तियों द्वारा इस प्रकार ( प्र विवेश ) प्रविष्ट रहता है जिस प्रकार ( पिता पुत्रम् ) पिता अपने सूक्ष्म अवयवों और संस्कारों से युक्त बीज द्वारा पुत्र में प्रविष्ट रहता है।

एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन् ।
यदुङ्ग स तमुत्खिदेन्नैवाद्य न श्वः स्यान्न रात्री नाहः स्यान्न व्युच्छेत् कदा चन ॥ २१ ॥

भा०—( हंसः ) वह परम पुरुष प्राण ( सलिलात् ) जिस प्रकार हंस नाम जलजीव एक पैर उठा कर भी दूसरा पैर पानी में ही स्थिर रखता है उसी प्रकार इस ( सलिलात् ) महान् संसार से ( उच्चरत् ) ऊपर मोक्षरूप में असङ्ग रह कर भी ( एकं पादं ) अपना एक पाद=चरण ( न उत्खिदति ) नहीं उठाता। इसी से यह संसार चलता है। ( अङ्ग ) हे जिज्ञासो! ( यत् ) यदि ( सः ) वह परमेश्वर ( तम् उत् खिदेत् ) उस चरण को भी ऊपर उठाले तब ( नैव अद्य न श्वः स्यात् ) तो न आज और न कल हुआ

२०–( तृ० ) ' स भूतो भूतं भविष्यत् ' इति सायणाभिमतः पाठः ।
२१–' हंस उत्पतन् । इमं सतमुत्खिदे अन्ते वा चनः स्योन रात्री नाह स्यादनः प्रभा नु किं चन[ ? ]' इति पैप्प० सं० ।

करे अर्थात् ( न रात्री न अहः स्यात् ) न रात और न दिन हुआ करे क्योंकि कभी ( न व्युच्छेत् ) उषाकाल ही न हो । क्योंकि उसका सर्व प्रवर्तक चरण, चालक शक्ति समाप्त में उठ जाने से समस्त संसार जड़ हो जाय और न चले । न सूर्य चले न फिर उदित हो ।

अष्टाचक्रं वर्तत एकनेमि सहस्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चा ।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं कतमः स केतुः ॥ २२ ॥

अथर्व० १० । ८ । ७ । १३ ॥

भा०—( अष्टाचक्रम् ) आठ चक्रों और ( एकनेमि ) एक नेमि अर्थात् चक्रधारा से युक्त है, ( सहस्राक्षरम् ) उसमें सहस्रों अक्ष अर्थात् धुरे हैं । ( प्र पुरः नि पश्चा ) वह आगे जाता और पीछे को भी लौट आता है । वह प्राण-रूप प्रजापति ( अर्धेन विश्वं भुवनं जजान ) अर्ध भाग से समस्त विश्व को उत्पन्न करता है । और ( यद् अस्य अर्धम् ) इसका जो अर्ध है ( सः केतुः ) वह ज्ञानमय ( कतमः ) कौनसा है ?

शरीर का प्राण उस महाप्राण का एक प्रतिदृष्टान्त है । इस शरीर में त्वचा रुधिर आदि सात और ओज आठवीं धातु आठ 'चक्र' हैं, ये शरीर को बनाती हैं, उन पर 'प्राण' ही 'एक नेमि' अर्थात् हाल चढ़ा है । मन के सङ्कल्प विकल्प रूप सहस्रों उसमें अक्ष हैं । वह प्राण बाहर और भीतर जाता है । आधे से इस शरीर को थामता और आधे से वह स्वयं आत्म-रूप है । अर्थात् एकांश से कर्ता और एकांश से भोक्ता है । इसी प्रकार ब्रह्माण्ड में पृथिव्यादि पञ्चभूत काल दिशा और मन अथवा प्रकृति, महत् और अहङ्कार ये आठ संसार के प्रवर्त्तक 'चक्र' हैं । उन पर एक 'नेमि' उनका वशयिता 'प्राण' परमेश्वर है । वह ( प्र पुरो नि पश्चा ) इस संसार को आगे ढकेलता और पीछे प्रलय में ले जाता है । उसका अर्ध=विभूति-

२२–' एकचक्रं वर्तत एकनेमि ' इति अथर्व० १० । ८ । ७ ॥

मन् अंश समस्त विश्व को उत्पन्न करता है और दूसरा 'अर्द्ध' विभूतिमान् स्वरूप ज्ञानमय है जो कतमः' अज्ञेय है। न जाने कौनसा और कैसा है? अथवा 'कतमः' अतिशय सुख स्वरूप, 'परमानन्द' है।

यो अस्य विश्वजन्मन ईशे विश्वस्य चेष्टतः।
अन्येषु क्षिप्रधन्वने तस्मै प्राण नमोऽस्तु ते ॥ २३ ॥

भा०—( यः ) जो ( अस्य ) इस ( चेष्टतः विश्वस्य ) विश्व, समस्त इस क्रियाशील विश्व के ( विश्वजन्मनः ) नाना प्रकार की उत्पत्ति पर ( ईशे ) सामर्थ्यवान् है, अथवा नाना प्रकार से उत्पन्न होने वाले इस क्रियाशील विश्व पर वश कर रहा है और ( अन्येषु ) अन्य प्राणियों में भी ( क्षिप्र-धन्वने ) अति शीघ्रता से गति दे रहा है। हे ( प्राण ) हे महान् चैतन्य ! महा प्रभो ( तस्मै ते नमः अस्तु ) उस तेरे लिये हम नमस्कार करते हैं।

'क्षिप्रधन्वने' शब्द से भव शर्वसूक्त अथर्व० ११। २। ७ में आये 'अस्त्रा' शब्द पर प्रकाश पड़ता है। 'क्षिप्रं गच्छते, व्याप्नुवते' इति सायणः।

यो अस्य सर्वजन्मन ईशे सर्वस्य चेष्टतः।
अतन्द्रो ब्रह्मणा धीरः प्राणो मानु तिष्ठतु ॥ २४ ॥

भा०—( यः ) जो ( अस्य सर्वजन्मनः ) सब प्रकारों से उत्पन्न होने वाले ( चेष्टतः सर्वस्य ) और क्रियाशील 'सर्व'-समस्त संसार के ऊपर ( ईशे ) वश किये हुए है ( सः ) वह जगदीश्वर ( प्राणः ) प्राण-सबके प्राणों का प्राण, ( अतन्द्रः ) आलस्य और निद्रा रहित ( धीरः ) प्रज्ञावान् ( ब्रह्मणा ) अपने ब्रह्म=ब्रह्मरूप शक्ति से ( मा अनु तिष्ठतु ) मुझे प्राप्त हो। अथवा—( ब्रह्मणा ) ब्रह्म ज्ञान के रूप में प्राप्त हो।

२४–' मानोनामभितिष्ठतु ' इति पैप्प० सं० ।

ऊर्ध्वः सुप्तेषु जागार ननु तिर्यङ् नि पद्यते ।
न सुप्तमस्य सुप्तेष्वनु शुश्राव कश्चन ॥ २५ ॥

भा०—हे प्राण ! तू ( ऊर्ध्वः ) सब के ऊपर विराजमान शासक होकर ( सुप्तेषु ) सब के सो जाने पर भी ( जागार ) जागता रहता है । ( ननु ) साधारण लोग तो ( तिर्यङ् ) तिरछा होकर ( नि पद्यते ) नीचे निद्रा में गिर पड़ता है पर तब भी तू नहीं सोता । ( सुप्तेषु ) सोते हुए प्राणियों में भी ( अस्य ) इस प्राण के ( सुप्तम् ) सो जाने के विषय की बात को ( कश्चन ) किसी ने भी ( न ) नहीं ( अनु शुश्राव ) सुना । सब सो जाते हैं पर प्राण नहीं सोता । इसी प्रकार सब के प्रलय-काल में सब जाने पर भी वह महाप्राण प्रभु जागता है ।

प्राण मा मत् पर्यावृतो न मदन्यो भविष्यसि ।
अपां गर्भमिव जीवसे प्राण बध्नामि त्वा मयि ॥ २६ ॥ (१३)

भा०—हे ( प्राण ) प्राण ! ( मत् ) मुझ से ( मा परि आवृतः ) दूर पराङ्मुख मत हो । तू ( मद् अन्यः ) मुझ आत्मा से पृथक् ( न भविष्यसि ) नहीं हो सकता । हे ( प्राण ) प्राण ( अपां ) समस्त कार्यों और विज्ञानों को ( गर्भम् इव ) ग्रहण करने हारे, परम सामर्थ्यवान् के समान ( त्वा ) तुझ को ही ( जीवसे ) जीवन धारण के लिये ( मयि ) अपने में मैं ( बध्नामि ) बांधता हूं ।

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

[ तत्र सूक्तद्वयम् , ऋचः षड्विंशतिश्च । ]

---

२१–( प्र० ) ' जागर ' इति सायणाभिमतः पाठः ।

## [ ५ (७) ] ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य ।

ब्रह्मा ऋषिः । ब्रह्मचारी देवता । १ पुरोतिजागतविराड् गर्भा, २ पञ्चपदा बृहतीगर्भा विराट् शक्वरी, ६ शाक्वरगर्भा चतुष्पदाजगती, ७ विराड्गर्भा, ८ पुरोतिजागताविराड् जगती, ९ बार्हतगर्भा, १० भुरिक्, ११ जगती, १२ शाक्वरगर्भा चतुष्पदा विराड् अतिजगती, १३ जगती, १५ पुरस्ताज्ज्योतिः, १४, १६—२२ अनुष्टुप्, २३ पुरो बार्हतातिजागतगर्भा, २५ आर्ची उष्णिग्, २६ मध्ये ज्योतिरुष्णिग्गर्भा। षड्विंशर्चं सूक्तम् ॥

**ब्र॒ह्म॒चा॒रीष्णंश्च॑रति॒ रोद॑सी उ॒भे तस्मि॑न् दे॒वाः संम॑नसो भवन्ति ।**
**स दा॑धार पृथि॒वीं दिवं॑ च॒ स आ॑चा॒र्यं॑१ तप॑सा पिपर्ति ॥ १ ॥**

भा०—( ब्रह्मचारी ) ब्रह्म, वेद के अध्ययन में दृढ़ ब्रह्मचर्य का पालन करनेहारा, ब्रह्मचारी ( उभे रोदसी ) द्यौः और पृथिवी, माता और पिता दोनों का ( इष्णन् ) अनुकरण करता हुआ या दोनों को प्रेम करता हुआ या दोनों का प्रेमपात्र होता हुआ ( चरति ) पृथ्वी पर विचरण करता है। ( तस्मिन् ) उसमें ( देवाः ) समस्त देव, विद्वान् और राजा लोग ( संमनसः ) एक चित्त ( भवन्ति ) हो जाते हैं। ( सः ) वह ( पृथिवीं दिवं च दाधार ) पृथिवी और द्यौः=सूर्य, माता और पिता, विद्या और गुरु दोनों का धारण करता है। ( सः ) वह ( आचार्यं ) अपने आचार्य को ( तपसा ) तप से ( पिपर्त्ति ) पालन और पूर्ण करता है। अर्थात् वह आचार्य की त्रुटियों को भी पूर्ण करता है।

**ब्र॒ह्म॒चा॒रिणं॑ पि॒तरो॑ देवज॒नाः पृथ॑ग् दे॒वा अ॑नु॒संय॑न्ति॒ सर्वे॑ ।**
**ग॒न्ध॒र्वा ए॑न॒मन्वा॑यन् त्रय॑स्त्रिंशत् त्रिश॒ताः ष॑ट्सह॒स्राः सर्वा॒न्त्स दे॒वांस्तप॑सा पिपर्ति ॥ २ ॥**

---

[ ५ ] १—( द्वि० ) 'यस्मिन् देवाः' ( तृ० ) 'पृथिवीमुतद्याम्' ( च० ) 'साचार्यं' इति पैप्प० सं० ।

२—'पितरो मनुष्या देवजना गन्धर्वा अनुसंयन्ति सर्वे । त्रयस्त्रिंशतम् त्रिशतम् शतसहस्रान् सर्वान् स देवांस्तपसा बिभर्ति' इति पैप्प० सं० ।

भा०—( ब्रह्मचारिणम् ) ब्रह्मचारी को देखकर ( पितरः ) पितृ लोग ( देवजनाः ) दान-शील पुण्यात्मा लोग और ( देवाः ) तत्व-दर्शी विद्वान् राज० लोग भी ( पृथक् ) अलग ( सर्वे ) सब ( अनु संयन्ति ) उसके पीछे चलते है, उसकी आज्ञा का पालन करते हैं। ( गन्धर्वाः ) गन्धर्व, सामान्य पुरुष ( एनम् अनु आयन् ) उसके पीछे चलते हैं, उसका अनुकरण करते और आज्ञा पालन करते हैं। ( षट्सहस्राः त्रिशताः त्रय त्रिंशत ) ६३३३ प्रकार के अथवा ३३ और ३०३ और ६००० देव हैं ( स-सर्वान् देवान् ) वह उन समस्त देवों को ( तपसा पिपर्ति ) अपने तप से पालन करता है अर्थात् ब्रह्मचर्य के बल से सबको धारण करता है।

आचार्यं उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः ॥३॥

भा०—( उपनयमानः आचार्यः ) उपनयन संस्कार करता हुआ आचार्य ( ब्रह्मचारिणम् ) ब्रह्मचारी को ( अन्तः गर्भम् ) अपने भीतर, गर्भ को माता के समान ( कृणुते ) धारण करता है ( तं ) उसको ( तिस्रः रात्रीः ) तीन रातों तक अर्थात् तीन दिन अपने ( उदरे बिभर्ति ) माता के समान अपने में धारण करता है। ( तम् ) उसको ( जातम् ) ब्रह्मचारी बनने हुए को ( द्रष्टुम् ) देखने के लिये ( देवाः ) धन और विद्या के दानशील, दूसरों को विद्या का दर्शन करानेहारे विद्वान् लोग भी ( अभि-संयन्ति ) चारों ओर से आते हैं। स हि विद्यातस्तं जनयति। तच्छ्रेष्ठं जन्म जनयत.। शरीरमेव मातापितरौ इति ( आप० ध० १। १। १४-१ )

इयं समित् पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति।
ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति ॥ ४ ॥

४–( द्वि० ) 'मेदस्वती' ( च० ) 'बिभर्ति' इति पैप० सं०।

भा०—( इयं पृथिवी ) यह पृथिवी ( समित् ) ब्रह्मचारी की प्रथम समिधा है । ( द्यौः द्वितीया ) यह द्यौ दूसरी समिधा है । ( उत अन्तरिक्षं ) और अन्तरिक्ष तीसरी समित् है । इन तीनों को ब्रह्मचारी ( समिधा ) अपने अग्नि में आहुति की गयी समिधा अर्थात् आचार्य रूप अग्नि से प्रज्वालित अपने ज्ञानवान् आत्मा से ( पृणाति ) पालन करता और पूर्ण करता है । ( ब्रह्मचारी ) ब्रह्म ज्ञान में दीक्षित ब्रह्मचारी ( समिधा ) समित् आधान द्वारा और ( मेखलया ) मेखला से ( श्रमेण ) श्रम से और ( तपसा ) तप से ( लोकान् ) समस्त लोकों, मनुष्यों का ( पिपर्त्ति ) पालन करता है ।

समिद्-आधान में—ब्रह्मचारी नियम से आचार्य की अग्नि में तीन समिधा या पलाशकाष्ठ मन्त्र पाठपूर्वक आहुति करता है । उसका तात्पर्य यह होता है कि ( यथा त्वमग्ने समिधा समिध्यसे एवमहम् आयुषा मेधया वर्चसा प्रजया पशुभिः ब्रह्मवर्चसेन समिन्धे । ) जिस प्रकार अग्नि काष्ठ से प्रज्वालित होकर तेज से चमकती है उसी प्रकार मैं भी आचार्य के समीप रह कर दीर्घ आयु, ज्ञानमय बुद्धि तेज, प्रजा, पशु और ब्रह्मचर्य से चमकूं । वह तीन समिधों को अग्नि में रखता है अर्थात् तीनों लोकों में विद्यमान अग्नियों के समान स्वयं तेजस्वी होने का दृढ़ संकल्प करता है । भूलोक में अग्नि, मध्यम लोक में विद्युत् और द्यौ लोक में सूर्य ये तीन अग्नियें हैं, उनके समान तेजस्वी होकर वह तीनों लोकों की रक्षा करने में समर्थ होता है अर्थात् जिस प्रकार तीनों लोक जगत् के प्राणियों की रक्षा करते हैं उनके समान वह भी रक्षा करने में समर्थ होता है ।

पूर्वो जातो ब्रह्मणो ब्रह्मचारी घर्मं वसानस्तपसोदतिष्ठत् ।
तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम् ॥५॥

५–( द्वि० ) 'तपसोऽधितिष्ठत्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—( ब्रह्मणः ) ब्रह्म, जगत् के आदिकारण परमेश्वर से ( ब्रह्मचारी ) ब्रह्मचारी ब्रह्म की शक्ति से विचरण करने वाला सूर्य ( पूर्वः जातः ) सब से प्रथम उत्पन्न हुआ । वह ( घर्मं वसानः ) तेजोमय रूप धारण करता हुआ ( तपसा उद् अतिष्ठत् ) तप से ऊपर उठा और उस ब्रह्मचारी से ( ब्राह्मणम् ) ब्रह्म का अपना स्वरूप ( ज्येष्ठम् ) सब से उत्कृष्ट ( ब्रह्म ) ब्रह्मज्ञान और ( अमृतेन साकम् ) उस अमृत, दीर्घ जीवन के साथ २ ( सर्वे च देवाः ) समस्त दिव्य बलों को धारण करने वाले देव प्राणगण और विद्वान् ( जातम् ) उत्पन्न हुए ।

ब्रह्मचार्यैति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः ।
स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्त्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत् ॥६॥

भा०—( ब्रह्मचारी ) ब्रह्मचारी ( समिधा ) प्रज्वलित काष्ठ के समान देदीप्यमान तेज से ( समिद्धः ) भली प्रकार तेजस्वी होकर ( कार्ष्णं वसानः ) कृष्ण मृग का चर्म धारण करता हुआ ( दीक्षितः ) व्रत में दीक्षित होकर ( दीर्घश्मश्रुः ) दाढ़ी, मोंछ के लम्बे केशों को रखे हुए । एति ) जब गुरु गृह से आता है तब ( सः ) वह ( सद्य ) शीघ्र ही ( पूर्वस्मात् समुद्रात् उत्तरं समुद्रम् ) जिस प्रकार तेजस्वी सूर्य पूर्व के समुद्र या आकाशभाग को पार करता हुआ उत्तर समुद्र में या आगे के आकाश भाग में प्रवेश करता है उसी प्रकार वह भी पूर्व समुद्र अर्थात् ब्रह्मचर्य को पार कर ( उत्तरं समुद्रम् ) उसके उपरान्त पालन करने योग्य गृहस्थ आश्रम में ( एति ) प्रवेश करता है । और वह ( लोकान् संगृभ्य ) अपने साथ के लोगों को अपने साथ मिला कर ( मुहुः ) बराबर ( आचरिक्रत् ) अपने वश करता है ।

---

६–( द्वि० ) 'कार्ष्णि' ( तृ० ) 'सद्येन् पूर्वात्' ( च० ) 'समुद्र' इति पैप्प० सं० ।

ब्रह्मचारी जनयन् ब्रह्मापो लोकं प्रजापतिं परमेष्ठिनं विराजम् ।
गर्भो भूत्वामृतस्य योनाविन्द्रो ह भूत्वासुरांस्ततर्ह ॥ ७ ॥

भा०—( ब्रह्मचारी ) ब्रह्मचारी ही ( ब्रह्म ) ब्राह्मण वर्ण को, ( अपः ) आप्त पुरुषों को, ( लोकम् ) इस भूलोक को, ( प्रजापतिम् ) प्रजा के पालक ( परमेष्ठिनम् ) परम सर्वोच्चस्थान पर स्थित सम्राट् को और ( विराजम् ) विराट् को भी ( जनयन् ) उत्पन्न करता हुआ और ( अमृतस्य योनौ ) अमृत, मोक्ष के परम स्थान में ( गर्भः भूत्वा ) सर्वग्रहण समर्थ होकर ऐश्वर्य और बल में ( इन्द्रः ह ) साक्षात् इन्द्र होकर ( असुरान् ) असुरों का ( ततर्ह ) विनाश करता है । प्रजापति, परमेष्ठी, विराट् और इन्द्र ये उत्तरोत्तर विभूतिमान् पद हैं जिनको ब्रह्मचारी ही प्राप्त हो सकता है और वही असुरों का संहार करता है ।

आचार्यस्ततक्ष नभसी उभे इमे उर्वी गम्भीरे पृथिवीं दिवं च ।
ते रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति ॥८॥

भा०—( आचार्यः ) जिस प्रकार सब का परम आचार्य परमेश्वर ( इमे ) इन दोनों ( उर्वी ) विशाल, ( गम्भीरे ) गम्भीर, ( नभसी ) सब को अपने भीतर बांधने वाले ( पृथिवीं दिवं च ) पृथिवी और द्यौलोक को ( ततक्ष ) बनाता है उसी प्रकार ब्रह्मचारी का आचार्य ही माता और पिता को, प्रजा और राजा को भी विशाल गम्भीर और यशस्वी बना देता है । ( ब्रह्मचारी ) ब्रह्मचारी ( तपसा ) अपने तप से ( ते ) उन दोनों की

७-( च० ) 'असुराँ स्ततर्ह' इति पैप्प० सं० । ( द्वि० ) 'भूत्वा अमृतस्य' इति च क्वचित् ।

८-( तृ० च० ) 'तौ ब्रह्मचारी तपसाभिरक्षति सर्वोदेवाः स्वमादं गच्छन्ति', ( द्वि० ) 'उभे उर्वी' इति पैप्प० सं० ।

( रक्षति ) रक्षा करता है । ( तस्मिन् ) ऐसे ब्रह्मचारी में ( देवा ) समस्त देव, विद्वान्गण ( समनस भवन्ति ) एकचित्त होकर रहते हैं ।

इमां भूमिं पृथिवीं ब्रह्मचारी भिक्षामा जभार प्रथमो दिवं च ।
ते कृत्वा समिधावुपास्ते तयोरार्पिता भुवनानि विश्वा ॥ ९ ॥

भा०—( प्रथम ) सब से प्रथम ( ब्रह्मचारी ) ब्रह्मचारी ( इमां पृथिवीं भूमिम् ) इस विशाल पृथिवी को ( भिक्षाम् ) भिक्षा स्वरूप से ग्रहण करता है । और ( दिवं च ) और द्यौलोक को भी भिक्षा रूप में ग्रहण करता है। और ( ते ) उन दोनों को ( समिधौ कृत्वा ) समिधा बनाकर ( उपास्ते ) उपासना करता है, अग्नि और आचार्य की उपासना करता है । ( तयोः ) उन दोनों में ही ( विश्वा भुवनानि आर्पिता ) समस्त भुवन, प्राणि, आश्रित हैं ।

अर्वागन्यः परो अन्यो दिवस्पृष्ठाद् गुहा निधी निहितौ ब्राह्मणस्य ।
तौ रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तत् केवलं कृणुते ब्रह्म विद्वान् ॥१०॥ (१४)

भा० –( अन्य ) एक ( अर्वाक् ) यहां, समीप ही और ( अन्यः ) दूसरा ( दिवः पृष्ठात् परः ) द्यौलोक से भी परे ( ब्राह्मणस्य ) ब्राह्मण, ब्रह्मशक्ति से सम्पन्न पुरुषों के ( निधी ) दो खज़ाने ( गुहा निहितौ ) गुहा में स्थित हैं । ( तौ ) उन दोनों की ( ब्रह्मचारी ) ब्रह्मचारी ( तपसा ) अपने तपो बल से ( रक्षति ) रक्षा करता है । ( विद्वान् ) विद्या सम्पन्न वह ब्रह्मचारी होकर ( तत् ) उस ( केवलम् ) केवल मोक्ष रूप परम ( ब्रह्म ) ब्रह्म को ( कृणुते ) प्राप्त करता है ।

---

९–( द्वि० ) 'भिक्षा जभार' ( तृ० ) 'ते ब्रह्म कृत्वा समिधा उपास्ते' इति पैप्प० सं० ।

१०–( तृ० ) 'तौ ब्रह्मचारी तपसाभिरक्षति' ( प्र० ) 'परान्यो' इति पैप्प० सं० ।

निधि=प्रज्ञाने—एक तो यह ब्रह्मकोश है वेद का विज्ञान, दूसरा स्वयं ब्रह्मपद । ये दोनों उसके गुरु या आचार्य के हृदय के भीतर विराजमान हैं । वह तप से दोनों को धारण करता है और ब्रह्मज्ञान के बल पर, केवल, परम-पद प्राप्त करता है । 'आचार्यो ब्रह्मणो मूर्त्तिः' मनु० ॥

**अर्वागुन्य इतो अन्यः पृथिव्या अग्नी समेतो नभसी अन्तरेमे ।**
**तयोः श्रयन्ते रश्मयोऽधि दृढास्ताना तिष्ठति तपसा ब्रह्मचारी ॥११॥**

भा०—( इतः पृथिव्याः ) इस पृथिवी के भी ( अर्वाक् ) नीचे (अन्यः) एक और्वानल नामक अग्नि है और ( अन्यः ) दूसरा ( पृथिव्याः ) इस पृथिवी का पार्थिव अग्नि है, ये दोनों ( अग्नी ) अग्नियें ( इमे नभसी अन्तः ) इन दोनों लोकों के बीच में ( सम् एतः ) परस्पर संगत होते हैं । ( तयोः ) उन दोनों में ( अधि दृढाः ) अत्यन्त दृढ़ ( रश्मयः ) रश्मियें, किरण ( श्रयन्ते ) आश्रित हैं । ( तान् ) उनको ब्रह्मचारी ( तपसा ) अपने तपोबल से ( आ तिष्ठति ) प्राप्त होता है ।

पृथ्वी के भीतर और्वानल जो भूकम्पादि का कारण है और पृथ्वी पर अग्नि जो वनों को जला डालता है दोनों के समान तेज और सामर्थ्य को ब्रह्मचारी अपने तप से प्राप्त करता है । अर्थात् वह तपोबल से और्वानल के समान कम्पकारी और अग्नि के समान भीषण दाहकारी हो जाता है ।

**अभिक्रन्दन् स्तनयन्नरुणः शितिङ्गो बृहच्छेपोऽनु भूमौ जभार ।**
**ब्रह्मचारी सिञ्चति सानौ रेतः पृथिव्यां तेन जीवन्ति प्रदिशश्च-तस्रः ॥ १२ ॥**

---

११–( प्र० ) 'अर्वागन्यो दिवः पृष्ठादितोऽन्यः पृथिव्याः' ( द्वि० ) 'रश्मयोदृढा' इति पैप्प० सं०, सायणाभिमतश्च ।

१२–( प्र० ) 'अभिक्रन्दन्स्तनयन्नरुणशितिङ्गो' इति पैप्प० सं० । 'अरुणः श्यितिङ्गो' इति सायणाभिमतः ।

भा०—( अभिक्रन्दन् ) सबको आह्लादित करता हुआ ( स्तनयन् ) गर्जना करता हुआ ( शितिङ्गः ) श्यामवर्ण, ( अरुणः ) जलपूर्ण, मेघ ( बृहत्-शेपः ) बड़े भारी वीर्य रूप जल को ( भूमौ अनु जभार ) पृथ्वी पर ला बरसाता है । और ( सानौ ) पर्वतों पर और ( पृथिव्याम् ) पृथिवी पर ( रेतः सिञ्चति ) जल सेचन करता है । ( चतस्रः प्रदिशः तेन जीवन्ति ) उससे चारों दिशाओं के प्राणी जीवन धारण करते हैं । वह मेघ स्वयं ( ब्रह्म-चारी ) ब्रह्मचारी है, ब्रह्मचारी के समान ऊर्ध्वरेता है । उस ब्रह्म की शक्ति मेघ के समान ही ब्रह्मचारी भी ( अभिक्रन्दन् स्तनयन् ) सब को प्रसन्न करता हुआ, गर्जता हुआ ( अरुणः ) सूर्य के समान तेजस्वी ( शितिङ्गः= श्वितिङ्गः ) प्रदीप्ताङ्ग या पृथिवी पर निर्भय होकर विचरने वाला ( बृहत्शेपः भूमौ अनु जभार ) भूमि पर बड़ा भारी वीर्य धारण किये रहता है । वह ( सानौ ) पर्वत के शिखर के समान महान् उच्च कार्य में या ( पृथिव्यां ) पृथिवी के समान उपकार के विशाल भूमि में अपना ( रेतः सिञ्चति ) वीर्य और सामर्थ्य लगाता है । ( तेन जीवन्ति प्रदिशः चतस्रः ) उससे चारों दिशाओं के प्राणी प्राण धारण करते और सुखी होते हैं ।

अ॒ग्नौ सूर्ये॑ च॒न्द्रम॑सि मात॒रिश्व॑न् ब्रह्मचा॒र्य॑प्सु स॒मिध॒मा द॑धाति ।
तासा॑म॒र्चींषि॒ पृथ॑ग॒भ्रे च॑रन्ति॒ तासा॒माज्यं॒ पुरु॑षो व॒र्षमापः॑ ॥१३॥

भा०—( ब्रह्मचारी ) ब्रह्मचारी ( अग्नौ सूर्ये चन्द्रमसि मातरिश्वन् अप्सु ) अग्नि में, सूर्य में, चन्द्रमा में वायु में और जलों में ( समिधम् ) अपने देदीप्यमान तेज को ( आ दधाति ) धारण करता है । ( तासाम् ) अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, वायु और जल इनके ( अर्चींषि ) अपने २ तेज ( पृथक् ) अलग २ ( अभ्रे ) आकाश में ( चरन्ति ) दृष्टिगोचर होते हैं । ( तासाम् ) उनके ही सामर्थ्य से ( आज्यम् ) दूध, घी, अन्न आदि पदार्थ

१३–( च० ) 'आज्यं पुरीषम् वर्षमापः' इति ह्विटनिकामितः पाठः ।

उत्पन्न होते हैं और ( पुरुषः ) पुरुष आदि जीव उत्पन्न होते हैं ( वर्षम् ) काल पर वर्षा होती और ( आपः ) यथेष्ट कूप तड़ागादि जल की सुविधा होती है।

जिस प्रकार परमेश्वर अपने तेज को अग्नि, सूर्य, चन्द्र, वायु, जल आदि में डालता है और उससे नाना सृष्टि के पदार्थ उत्पन्न होते हैं इसी प्रकार ब्रह्मचारी पुरुष भी अपना सामर्थ्य इन तेजस्वी पदार्थों पर प्रयोग करे तो उनके प्रयोग से देश में अन्न, दुग्ध, पशु पुरुष और वर्षा जल आदि का सब सुख उत्पन्न हो। अर्थात् इन सब तत्वों को उत्पादक फलप्रद बनाने के लिये तपस्वी ब्रह्मचारी की आवश्यकता है।

आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः।
जीमूता आसन्त्सत्वानस्तैरिदं स्वराभृतम् ॥ १४ ॥

भा०—( आचार्यः ) आचार्य, ( मृत्युः ) मृत्यु, ( वरुणः ) वरुण, ( सोमः ) सोम, ( ओषधयः ) ओषधियें और ( पयः ) जल, ( जीमूताः ) मेघ ये सब पदार्थ ( सत्वानः ) बल सम्पन्न हैं। ( तैः ) इन्होंने ही ( इदं स्वः ) यह तेजोमय स्वः ब्रह्माण्ड लोक ( आभृतम् ) धारण किया है।

अमा घृतं कृणुते केवलमाचार्यो भूत्वा वरुणो यद्यदैच्छत् प्रजापतौ।
तद् ब्रह्मचारी प्रायच्छत् स्वान् मित्रो अध्यात्मनः ॥ १५ ॥

भा०—( वरुणः ) वरुण, सर्वश्रेष्ठ पुरुष ( आचार्यः भूत्वा ) आचार्य होकर ( केवलम् ) स्वयं ( घृतम् ) अति दीप्त ज्ञानमय ( अमा ) अपरिमित

---

१४–( प्र० ) 'पर्जन्यो' ( तृ० ) 'जीमूतासन्' ( च० ) 'स्वराभरन्' इति पैप्प० सं०।

१५–'अमान् इदं कृणुते' इति पैप्प० सं०। ( च० ) 'स्वान् मित्रो' इति सायणाभिमतः।

तेज को ( कृणुते ) साधता है । इसलिये वह ( यत् यत् ऐच्छत् ) वह जो २ पदार्थ गुरुदक्षिणा रूप से चाहता है ( ब्रह्मचारी ) ब्रह्मचारी ( मित्रः ) आचार्य का मित्र होकर ( आत्मनः स्वात् ) अपने धन आदि पदार्थों को ( प्रजापतौ ) प्रजापति, गुरु में ही ( प्रायच्छत् ) अर्पण करता है ।

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः ।
प्रजापतिर्वि राजति विराडिन्द्रोऽभवद् वशी ॥ १६ ॥

भा०—( आचार्यः ब्रह्मचारी ) आचार्य स्वयं प्रथम ब्रह्मचारी होता है । ( ब्रह्मचारी प्रजापतिः ) ब्रह्मचारी पुरुष ही बाद में प्रजापति, प्रजा का पालक उत्तम गृहाश्रमी होता है । ( प्रजापतिः ) प्रजा का पालक गृहस्वामी ही ( वि राजति ) नाना प्रकार से शोभा पाता है । ( वशी ) वशी पुरुष ही ( विराट् इन्द्रः अभवत् ) विराट्, नाना प्रकार से शोभा देने वाला साक्षात् इन्द्र, आचार्य हो जाता है, अथवा विराट् ही सर्ववशकारी इन्द्र है ।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति ।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥ १७ ॥

भा०—( ब्रह्मचर्येण तपसा ) ब्रह्मचर्य रूप तप से ( राजा राष्ट्रम् ) राजा राष्ट्र को ( वि रक्षति ) नाना प्रकार से रक्षा करता है । ( आचार्यः ) आचार्य भी ( ब्रह्मचर्येण ) ब्रह्मचर्य के बल से ( ब्रह्मचारिणम् ) ब्रह्मचारी को ( इच्छते ) अपने अधीन व्रत पालन कराना चाहता है ।

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ।
अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीर्षति ॥ १८ ॥

---

१७-( द्वि० ) 'वि रक्षते' ( च० ) 'इच्छति' इति पैप्प० सं० ।
१८-( च० ) 'घासं जिगीषति' इति बहुत्र । 'जिहीर्षति' इति पैप्प० सं० । 'जिगीषति' इति ह्विटनिकामितः । 'जिगीर्षति' इति सायणाभिमतः ।

भा०—( ब्रह्मचर्येण ) ब्रह्मचर्य के पालन से ( कन्या ) कन्या ( युवानं पतिम् विन्दते ) युवा पति को प्राप्त करती है। और ( ब्रह्मचर्येण ) ब्रह्मचर्य रूप इन्द्रिय संयम द्वारा ही ( अनड्वान्, अश्वः ) गाड़ी का भार उठाने वाले बैल और घोड़ा ( घासं जिगीर्षति ) घास खाने में समर्थ होता है। 'अनड्वान् पतिं विन्दते' इति सायणाभिमतोऽन्वयश्चिन्त्यः।

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत्॥ १९॥

भा०—( ब्रह्मचर्येण तपसा ) ब्रह्मचर्य के तपोबल से ( देवाः मृत्युम् अप अघ्नत ) देव, विद्वान् पुरुष मृत्यु को भी विनाश कर देते हैं, मृत्युंजय हो जाते हैं। ( इन्द्रः ह ) निश्चय से इन्द्र, ऐश्वर्यवान् राजा ( ब्रह्मचर्येण ) ब्रह्मचर्य के बल पर ( देवेभ्यः ) विद्वान् प्रजा-वासियों को अपने राष्ट्र में ( स्वः आभरत् ) स्वर्ग के समान सुख प्राप्त कराता है। अथवा—( इन्द्रो ह देवेभ्यः स्वः आभरत् ) इन्द्र आत्मा अपने इन्द्रिय गण प्राणों को भी मोक्षमय सुख प्राप्त कराता है। अथवा—इन्द्र, परमेश्वर देव, विद्वानों को अपने ब्रह्मचर्य के बल से ( स्वः आभरत् ) मोक्ष प्राप्त कराता है। अथवा- इन्द्रः सूर्य ब्रह्मचर्य के बल से दिव्य पदार्थों को प्रकाश देता है।

ओषधयो भूतभव्यमहोरात्रे वनस्पतिः।
संवत्सरः सहर्तुभिस्ते जाता ब्रह्मचारिणः॥ २०॥ ( १५ )

भा०—( ओषधयः ) ओषधियें, ( भूतभव्यम् ) भूत काल और भविष्यत् काल, ( अहोरात्रे ) दिन और रात्रि, ( संवत्सरः सह ऋतुभिः ) ऋतुओं सहित वर्ष ( ते ) वे सब ( ब्रह्मचारिणः जाताः ) ब्रह्मचारी सूर्य के तप से उत्पन्न हुए हैं।

---

१९–( द्वि० ) 'मृत्युमाघ्नत' ( च० ) 'अमृतं स्वराभरत्' इति पैप्प० सं०।
२०–( प्र० ) 'भूतभव्य' ( च० ) 'ब्रह्मचारिणा' इति पैप्प० सं०।

पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या ग्राम्याश्च ये ।
अपक्षाः पक्षिणश्च ये ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥ २१ ॥

भा०—( पार्थिवाः ) पृथिवी के और ( दिव्याः ) द्यौलोक के समस्त लोक ( पशवः ) पशु जो ( आरण्याः ) जंगली और ( ग्राम्याश्च ये ) जो गांव के हैं और ( अपक्षाः ) बिना पंख के प्राणी और ( ये पक्षिणः च ) जो पंख वाले भी हैं ( ते ब्रह्मचारिणः जाताः ) वे ब्रह्मचारी के ही तप से या वीर्य से उत्पन्न होते हैं ।

पृथक् सर्वे प्राजापत्याः प्राणानात्मसु बिभ्रति ।
तान्त्सर्वान् ब्रह्म रक्षति ब्रह्मचारिण्याभृतम् ॥ २२ ॥

भा०—( सर्वे ) सब ( प्राजापत्याः ) प्रजापति परमात्मा की सन्तानें जो ( आत्मसु ) अपने देहों में ( प्राणान् बिभ्रति ) प्राणों को धारण करते हैं ( तान् सर्वान् ) उन सबकी ( ब्रह्मचारिणि ) ब्रह्मचारी में ( आभृतं ) सुरक्षित ( ब्रह्म ) वीर्य ही ( रक्षति ) रक्षा करता है । अब्रह्मचारी की सन्तानें प्राण धारण नहीं करतीं, प्रत्युत मर जाती हैं ।

देवानामेतत् परिषूतमनभ्यारूढं चरति रोचमानम् ।
तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम् ॥२३॥

भा०—( देवानाम् एतत् परिषूतम् ) देवों को भी यह ब्रह्म रूप वीर्य सब प्रकार से प्रेरणा करने वाला, उनका संचालक ( अनभ्यारूढम् ) किसी के भी

२१–( च० ) 'ब्रह्मचारिणा' इति पैप्प० सं० ।
२२–( द्वि० ) 'बिभ्रते' ( तृ० ) 'सर्वांस्तान्' इति पैप्प० सं० । 'बिभ्रत' इति ह्विटनिकामितः ।
२३–( प्र० ) 'देवानामेतत् पुरुहूतम्' ( तृ० च० ) 'तस्मिन् सर्वे पशवस्तत्र यज्ञास्तस्मिन्नन्नं सह देवताभिः' इति पैप्प० सं० ।

वश न होकर सर्वोपरि विराजमान ( रोचमानम् ) अति प्रकाशमान होकर (चरति) व्याप्त है । ( तस्मात् ) उससे ( ब्राह्मणम् ) ब्रह्म से उत्पन्न ( ज्येष्ठम् ) सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म वेदज्ञान और ( अमृतेन साकम् ) अमृत मोक्ष के साथ ( सर्वे देवाः च ) समस्त देवगण दिव्य सूर्यादिलोक और विद्वान् गण भी ( जातम् ) उत्पन्न हुए ।

ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्ति तस्मिन् देवा अधि विश्वे समोताः ।
प्राणापानौ जनयन्नाद् व्यानं वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम् ॥२४॥

भा०—( ब्रह्मचारी ) ब्रह्मचारी पुरुष ( भ्राजद् ब्रह्म बिभर्ति ) अति प्रकाशमान ब्रह्म अर्थात् वीर्य और वेद को धारण करता है । ( तस्मिन् ) उसमें ही ( विश्वेदेवाः ) समस्त देवगण, इन्द्रिय ( अधि सम् ओताः ) समाये हुए हैं । वह ( प्राणापानौ ) प्राण और अपान को और फिर ( व्यानं वाचं मनः हृदयं ब्रह्म मेधाम् ) व्यान, वाणी, मन, हृदय, ब्रह्म और मेधा बुद्धि को ( जनयन् ) स्वयं अपने भीतर उत्पन्न कर के धारण करता है ।

चक्षुः श्रोत्रं यशो अस्मासु धेह्यन्नं रेतो लोहितमुदरम् ॥ २५ ॥

भा०—हे ब्रह्मचारिन् ! ( अस्मासु ) हम प्रजाओं में आप ( चक्षुः श्रोत्रं यशः ) चक्षु, श्रोत्र, यश और ( अन्नं रेतः लोहितम् उदरं ) अन्न, वीर्य, रक्त और उत्तम जाठर अग्नि से युक्त पेट को भी ( धेहि ) धारण कराओ ।

तानि कल्पंद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपोऽतिष्ठत् तप्यमानः समुद्रे ।
स स्नातो बभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्यां बहु रोचते ॥ २६ ॥ ( १६ )

---

२४-( द्वि० ) 'अस्मिन् देवाः' ( च० ) 'चक्षुः श्रोत्रं जनयन् ब्रह्ममेधाम्' इति पैप्प० सं० ।

२५-'वाचं मेधां यशोऽस्मासु' इति पैप्प० सं० ।

२६-'तानि कल्पन्' इति ह्विटनिकामितः पाठः ।

भा०—( तानि ) पूर्वोक्त प्राण, अपान, व्यान, वाणी, मन, हृदय, चक्षु, श्रोत्र ब्रह्म, मेधा, यश, अन्न, वीर्य आदि समस्त धातुओं को ( कल्पत् ) धारण करता हुआ ( ब्रह्मचारी ) ब्रह्मचारी ( समुद्रे ) समुद्र के समान ज्ञान और सामर्थ्य में गम्भीर परमेश्वर के आधार पर ( सलिलस्य पृष्ठे ) सलिल के समान सर्व जीवनाधार परमेश्वर के आनन्द रस के ( पृष्ठे ) पृष्ठ पर समुद्र के जल के ऊपर तपते हुए सूर्य के समान ( तप तप्यमान ) तप करता हुआ ( अतिष्ठत् ) विराजता है । ( स ) वह ( स्नात ) विद्या और व्रत में स्नात, निष्णात होकर ( बभ्रु ) ज्ञान धारण म समर्थ प्रकाशमान ( पिङ्गल ) तेजस्वी हो कर ( बहु रोचते ) अत्यन्त अधिक शोभा देता है ।

---

## [ ६ (८) ] पाप से मुक्त होने का उपाय ।

शन्तातिर्ऋषि । चन्द्रमा उत मन्त्रोक्ता देवता । २३ बृहतीगर्भा अनुष्टुप् , १–१७, १९–२२ अनुष्टुभ , १८ पथ्यापङ्क्ति । त्रयोविंशर्च सूक्तम् ॥

अ॒ग्निं ब्रू॑मो॒ वन॒स्पती॒नोष॑धीरु॒त वी॒रुधः॑ ।
इन्द्रं॒ बृह॒स्पतिं॒ सूर्यं॒ ते नो॑ मुञ्च॒न्त्वंह॑सः ॥ १ ॥

भा०—( अग्निम् ) ज्ञानवान् तेजस्वी, पवित्र, परमेश्वर ( वनस्पतीन् ) वनस्पतियों, ( ओषधीः वीरुधः ) ओषधिरूप लताओं, ( इन्द्रम् ) ज्ञानैश्वर्यवान् आचार्य और ( बृहस्पतिं ) वेदवाणी के पालक और ( सूर्यम् ) सर्वप्रेरक, उत्पादक सूर्य के समान ज्ञानी प्रभु के ( ब्रूम[१] ) गुणों का वर्णन करें कि जिससे ( ते ) वे सब ( नः अहसः ) हमें पाप से ( मुञ्चन्तु ) मुक्त करें अर्थात् उनके निष्पाप गुण चिन्तन से हमारे हृदय स्वच्छ हों ।

---

[ ६ ] १–१. ब्रूम वद्य स्तुमः याचामहे इति सायण ।

ब्रूमो राजानं वरुणं मित्रं विष्णुमथो भगम् ।
अंशं विवस्वन्तं ब्रूमस्ते नो० ॥ २ ॥

भा०—( राजानम् ) सब के राजा, प्रकाशमान ( वरुणम् ) सर्वश्रेष्ठ, ( विष्णुम् ) सर्वव्यापक, ( मित्रम् ) सब के स्नेही मृत्यु से भी त्राणकारी ( अथो भगम् ) और ऐश्वर्यवान् ( अंशम् ) सर्वान्तर्यामी ( विवस्वन्तम् ) सब लोकों को बसाने हारे, सब के हृदयों में नानारूपों से बसने वाले परमात्मा का या इन गुणों के धारण करने वाले महात्माओं का हम ( ब्रूमः ) वर्णन करें कि ( ते नः अंहसः मुञ्चन्तु ) वे हमें अपने गुणों के प्रभाव से पाप से मुक्त करें ।

ब्रूमो देवं सवितारं धातारमुत पूषणम् ।
त्वष्टारमग्रियं ब्रूमस्ते नो० ॥ ३ ॥

भा०—( देवं सवितारम् ) सर्वदाता, सर्वप्रेरक ( धातारं पूषणम् ) सर्वधारक, सर्वपोषक ( त्वष्टारम् ) सर्वजगदुत्पादक ( अग्रियं ) सब के आदि मूलकारण प्रभु परमेश्वर का (ब्रूमः ) वर्णन करें कि ( ते नः अंहसः मुञ्चन्तु ) वे परमात्मा के समस्त गुण हमें पाप से बचावें ।

गन्धर्वाप्सरसो ब्रूमो अश्विना ब्रह्मणस्पतिम् ।
अर्यमा नाम यो देवस्ते नो० ॥ ४ ॥

भा०—( गन्धर्वाप्सरसः ) सच्चरित्र नवयुवक पुरुष और सती स्त्रियां ( अश्विना ) अश्विगण, माता और पिता ( ब्रह्मणस्पतिम् ) ब्रह्म वेद के पालक, विद्वान् आचार्य और ( अर्यमा ) सर्वश्रेष्ठ, न्यायकारी ( यः देवः ) जो सब देवों का देव राजा है ( ते ) वे ( नः ) हमें ( अंहसः मुञ्चन्तु ) पापों से मुक्त करें ।

अहोरात्रे इदं ब्रूमः सूर्याचन्द्रमसावुभा ।
विश्वानादित्यान् ब्रूमस्ते नो० ॥ ५ ॥

५-(प्र०) 'चन्द्रमसा उभा' (तृ०) 'आदित्यान् सर्वान्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—( अहोरात्रे ) दिन और रात ( सूर्याचन्द्रमसौ उभौ ) दोनों सूर्य और चन्द्रमा ( विश्वान् आदित्यान् ) समस्त आदित्यों, १२ मासों का ( इदम् ब्रूमः ) इस प्रकार से हम वर्णन करें, कि ( ते नः अंहसः मुञ्चन्तु ) वे हमें अपने सत्य प्रभाव से पाप से मुक्त करें।

वातं ब्रूमः पर्जन्यमन्तरिक्षमथो दिशः।
आशाश्च सर्वा ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ६ ॥

भा०—(वातं पर्जन्यम् अन्तरिक्षम्, अथो दिशः आशाः च सर्वाः ब्रूमः) वायु, पर्जन्य=मेघ, अन्तरिक्ष और दिशाएं इन समस्त ईश्वर की शक्तियों का हम ( ब्रूमः ) वर्णन करें कि ( ते नः अंहसः मुञ्चन्तु ) वे अपने प्रभावों से हमें पाप से मुक्त करें।

मुञ्चन्तु मा शपथ्याऽदहोरात्रे अथो उषाः।
सोमो मा देवो मुञ्चतु यमाहुश्चन्द्रमा इति ॥ ७ ॥

भा०—( शपथ्यात् ) शपथ्य-पर-निन्दा या दूसरे के विषय में कठोर दुःखदायी वचनों के कहने से उत्पन्न होने वाले पाप से ( अहोरात्रे ) दिन और रात ( अथो उषाः ) और उषा ( मा मुञ्चन्तु ) मुझे मुक्त करें। ( सोमः देवः ) सोम देव ( यम् चन्द्रमा आहुः ) जिसको विद्वान् चन्द्रमा कहते हैं वह भी ( मा मुञ्चतु ) मुझे पाप से मुक्त करे। अर्थात् दिन रात्रि और उषा काल और चन्द्र का पवित्र और शान्तिकारक मनन करके हम अपने चित्त को परनिन्दा और क्रोध से बचावें।

पार्थिवा दिव्याः पुशव आरण्या उत ये मृगाः।
शकुन्तान् पक्षिणो ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ८ ॥

---

७-( द्वि० ) 'अथो मृगाः' ( तृ० ) 'आदित्यो' इति पैप्प० सं०।
८-( प्र० ) 'ये ग्राम्याः पशवः' इति पैप्प० सं०।

भा०—( पार्थिवाः ) पृथिवी के पर्वत नदी आदि उत्तम पदार्थ और ( दिव्याः ) द्यौः, आकाश के सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, मेघ आदि दिव्य पदार्थ ( आरण्याः पशवः ) अरण्य के रहने वाले सिंह, हाथी आदि पशु ( उत ) और ( ये मृगाः ) जो मृग नाना पशु और ( शकुन्तान् पक्षिणः ) शक्तिशाली पक्षिगण हैं ( ब्रूमः ) हम उनका वर्णन करें। ( ते ) वे सब अपने २ उत्तम गुणों के प्रभाव से ( नः ) हमें ( अंहसः मुञ्चन्तु ) पाप की प्रवृत्तियों से दूर करें।

भवाशर्वाविदं ब्रूमो रुद्रं पशुपतिश्च यः।
इषूर्या एषां संविद्म ता नः सन्तु सदा शिवाः ॥ ९ ॥

भा०—( भवाशर्वौ ) भव और शर्व ( रुद्रं ) रुद्र और ( यः पशुपतिः च ) जो पशुपति हैं उन ईश्वर के विशेष गुणों से युक्त स्वरूपों की ( ब्रूमः ) हम स्तुति करें। और ( याः एषां इषूः संविद्मः ) और जो इनके इषु, प्रेरक शक्तियां या बाण हैं जिन से जीव प्रेरित होते हैं या जिनकी कामना करके प्रयत्न करते हैं हम उनको भी जानें। ( ताः नः सदा शिवाः सन्तु ) वे हमारे लिये सदा सुखकारी हों।

दिवं ब्रूमो नक्षत्राणि भूमिं यक्षाणि पर्वतान्।
समुद्रा नद्यो वेशन्तास्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १० ॥ ( १७ )

भा०—( दिवं ) सूर्य ( नक्षत्राणि ) नक्षत्र ( यक्षाणि ) पूज्य स्थान, ( पर्वतान् ) पर्वत, ( समुद्राः ) समुद्र, ( नद्यः ) नदियें ( वेशन्ताः ) जलाशय आदि के ( ब्रूमः ) नाना उत्तम गुण वर्णन करते हैं। ( ते नः ) वे हमें ( अंहसः ) पाप प्रवृत्तियों और भावों से ( मुञ्चन्तु ) मुक्त करें।

---

९–( प्र० ) 'ब्रूमः पशु' इति पैप्प० सं०। ( तृ० ) 'संविद्मः' इति सायणाभिमतः पाठः।

१०–( द्वि० ) 'भौमं' इति पैप्प० सं०। 'समुद्रान् नद्यो वेशन्तान्' इति मै० सं०।

सप्तर्षीन् वा इदं ब्रूमोऽपो देवीः प्रजापतिम् ।
पितॄन् यमश्रेष्ठान् ब्रूमस्ते नो० ॥ ११ ॥

भा०—हम ( सप्तर्षीन् ) सात ऋषियों को, ( देवीः अपः ) दिव्य जलों और विचारों के और ( प्रजापतिम् ब्रूमः ) प्रजा पालक परमेश्वर और आत्मा के उत्तम गुणों का वर्णन करते हैं । हम लोग ( यमश्रेष्ठान् ) यम नियम के पालक ब्रह्मचारियों में भी श्रेष्ठ ( पितॄन् ) पालक, अपने पूर्वजों और आचार्यों के ( ब्रूम ) गुण वर्णन एवं पुण्य कथा करते हैं । ( ते नः अंहसः मुञ्चन्तु ) वे हमें पाप भावों से मुक्त करें ।

ये देवा दिविषदो अन्तरिक्षसदश्च ये ।
पृथिव्यां शुक्रा ये श्रितास्ते नो० ॥ १२ ॥

पूर्वार्धं अथ० १० । ९ । १२ ॥

भा०—( ये देवाः ) जो देव, विद्वान्गण ( दिविषदः ) द्यौलोक में सूर्य आदि रूप से स्थित हैं ( ये अन्तरिक्षसदश्च ) और जो वायु, मेघ आदि अन्तरिक्ष, मध्य आकाश में विराजमान हैं और ( ये ) जो ( शक्राः ) शक्तिमान दिव्य पदार्थ और शक्तिमान, राजर्षि, ब्रह्मर्षि लोग और शक्तिशाली, महापुरुष ( पृथिव्याम् ) इस पृथिवी पर ( श्रिताः ) विराजमान हैं ( ते नः अंहसः मुञ्चन्तु ) वे हमें पाप के भावों से मुक्त करें ।

आदित्या रुद्रा वसवो दिवि देवा अथर्वाणः ।
अङ्गिरसो मनीषिणस्ते नो० ॥ १३ ॥

भा०—( आदित्याः रुद्राः वसवः ) आदित्य के समान ४८ वर्ष के ब्रह्मचारी, ( रुद्राः ) रुद्र, नैष्ठिक ब्रह्मचारी, ( वसवः ) वसु २४ वर्ष के ब्रह्मचारी, अथवा—आदित्य १२ मास, रुद्र ११ प्राण और आत्मा, वसु, पृथिवी आदि लोक, ( दिवि ) जो द्यौ लोक में स्थित या सात्विक स्थिति

१३–' वसवो देवा देवा अथर्वाणः ' इति पैप्प० सं० ।

में विराजमान ( देवाः ) देवगण, ( अथर्वाणः ) जगत् के रक्षक विद्वान् गण, ( अङ्गिरसः ) ज्ञानी, ( मनीषिणः ) मनस्वी, विचारक लोग हैं ( ते ) वे सब ( नः ) हमें ( अंहसः ) पाप के भावों से ( मुञ्चन्तु ) मुक्त करें ।

यज्ञं ब्रूमो यजमानमृचः सामानि भेषजा ।
यजूंषि होत्रा ब्रूमस्ते नो० ॥ १४ ॥

भा०—हम ( यज्ञं ) यज्ञ, ( यजमानं ) यजमान, ( सामानि ) साम-वेद के पवित्र गायनों ( भेषजा ) अथर्व-वेद के रोगहारी उपायों और ( यजूंषि ) यजुर्वेद के कर्म-काण्डों और ( होत्रा ) आहुति या होम आदि कार्यों का ( ब्रूमः ) वर्णन करते हैं । ( ते नः अंहसः मुञ्चन्तु ) वे हमें पापों से मुक्त करें ।

पञ्च राज्यानि वीरुधां सोमश्रेष्ठानि ब्रूमः ।
दर्भो भङ्गो यवः सहस्ते नो० ॥ १५ ॥

भा०—( वीरुधाम् ) लताओं के ( पञ्च ) पांच ( राज्यानि ) राज्यों या श्रेणियों का हम ( ब्रूमः ) वर्णन करते हैं । ( सोमश्रेष्ठानि ) जिनमें सबसे श्रेष्ठ सोम है और शेष चार ( दर्भः भङ्गः यवः सहः ) दर्भ, भङ्ग=पत्र, यव और सहस्=सहमान ओषधि हैं । अथवा—( वीरुधां ) नाना प्रकार से शत्रुओं को रोकने वालों के पांच राज्यों का वर्णन करते हैं जिनमें ( सोमश्रेष्ठानि ) सोम अर्थात् राजा ही सर्वश्रेष्ठ है । और शेष चार ( दर्भः ) शत्रुघाती, ( भङ्गः ) शत्रु के नगर तोड़ने वाले, (यवः) परे हटाने वाले और (सहः) उनको दबाने वाले पुरुष विराजमान होते हैं । अथवा—लताओं के ( पञ्च राज्यानि ) राजा-वैद्य द्वारा प्रयुक्त पत्र, काण्ड, पुष्प, फल और मूल पांच अंगों का वर्णन करते हैं उन में सोम श्रेष्ठ है, दर्भ, भङ्ग, यव और सहस् ये ओषधियां उससे उतर कर हैं । ( ते नः अंहसः मुञ्चन्तु ) वे हमें पाप से मुक्त करें ।

---

१५–( द्वि० ) ' सूमहि ' ( तृ० ) ' सहसो दर्भो '

अरायांन् ब्रूमो रक्षांसि सर्पान् पुंण्यजनान् पितॄन् ।
मृत्यूनेकंशतं ब्रूमस्ते नों० ॥ १६ ॥

भा०—( अरायान् ) धन सम्पत्ति से रहित दरिद्रों, ( राक्षसान् ) दुष्ट पुरुषों, ( सर्पान् ) सांपों, ( पुण्यजनान् ) प्रजापीड़क मायावी लोगों और ( पितॄन् ) उनसे बचाने वाले पालकों का ( ब्रूमः ) हम नाना प्रकार से वर्णन करते हैं और ( एकशतं मृत्यून् ब्रूम ) एक सौ एक या सौ प्रकार की मृत्युओं, देह से प्राणों के छूटने के प्रकारों का वर्णन करते हैं। ( ते ) वे सब ( नः ) हमें ( अंहस ) पाप कर्म से ( मुञ्चन्तु ) छुड़ा देवें।

ऋतून् ब्रूम ऋतुपतींनार्त्तवानुत हांयुनान् ।
समाः संवत्सुरान् मासांस्ते नों० ॥ १७ ॥

भा०—( ऋतून् ) ऋतुओं, ( ऋतुपतीन् ) ऋतुपतियों, ( आर्त्तवान् ) ऋतु पर होने वाले विशेष वृक्ष आदि पदार्थों और घटनाओं और उन ( हायनान् ) हायनों, अयन के परिवर्तन कालों का, ( समाः ) समान दिन रात्रि वाले कालों का और समाओं और ( संवत्सरान् ) सवत्सरों का ( ब्रूमः ) वर्णन करते हैं ( ते नः ) वे हमें ( अंहस मुञ्चन्तु ) पाप से मुक्त करें।

'हायन, समा, संवत्सर'—ये वर्ष के ही पर्याय हैं। परन्तु इन शब्दों का प्रयोग चान्द्र, सौर और प्रायः सावन भेद से किया जाता है। अतः उन तीनों का एक साथ ग्रहण किया गया है।

'ऋतुपति'—वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद् और हेमन्त, शिशिर इनके क्रम से वसु, रुद्र, आदित्य, ऋभु और मरुद् गण ऋतुपति हैं।

एतं देवा दक्षिणतः पुश्चात् प्राञ्च उदेतं ।
पुरस्तांदुत्तुराच्छुक्रा विश्वे देवाः सुमेत्य ते नों० ॥ १८ ॥

१८ ( द्वि० ) 'उदेतन' इति पैप्प० स० ।

भा०—हे ( देवाः ) देव गण, राजाओ और विद्वान् पुरुषो ! आप लोग ( दक्षिणतः एत ) दक्षिण दिशा से आओ, ( पश्चात् विश्वे देवाः ) हे शक्तिशाली समस्त राजाओ ! और विद्वान् पुरुषो ! ( उत्तरात् ) उत्तर दिशा से भी आप लोग ( पुरस्तात् ) हम लोगों के समक्ष ( समेत्य ) आकर उपस्थित होओ। और अपने आदर्श जीवनों से ( ते ) वे सब ( नः अंहसः मुञ्चन्तु ) हमें पाप कर्म से मुक्त करें।

विश्वान् देवानिदं ब्रूमः सत्यसंधानृतावृधः।
विश्वाभिः पत्नीभिः सह ते नो० ॥ १९ ॥

भा०—( विश्वान् ) समस्त ( सत्यसंधान् ) सत्य प्रतिज्ञा करने वाले ( ऋतावृधः ) और सत्य की वृद्धि करने वाले ( देवान् ) देव, विद्वान् अधिकारी पुरुषों से ( इदं ब्रूमः ) हम यह प्रार्थना करते हैं कि वे ( विश्वाभिः पत्नीभिः ) अपनी समस्त पत्नियों या पालक शक्तियों सहित ( नः ) हम प्रजाओं को ( अंहसः मुञ्चन्तु ) पाप से छुड़ावें।

सर्वान् देवानिदं ब्रूमः सत्यसंधानृतावृधः।
सर्वाभिः पत्नीभिः सह ते नो० ॥ २० ॥

भा०—( सर्वान् सत्यसंधान् ऋतावृधः देवान् इदं ब्रूमः ) समस्त सत्यप्रतिज्ञ, सत्यव्यवहार आचरण को बढ़ाने वाले प्रजाके भीतर रहनेवाले विद्वानों से भी हम ये प्रार्थना करते हैं कि ते सर्वाभिः पत्नीभिः नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे अपनी समस्त धर्मपत्नियों या पालक शक्तियों सहित हमें पाप कर्म से मुक्त करें।

भूतं ब्रूमो भूतपतिं भूतानामुत यो वशी।
भूतानि सर्वा संगत्य ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ २१ ॥

भा०—( भूतं ) सत्तावान्, सामर्थ्यवान् पुरुष ( भूतपतिम् ) सामर्थ्यवान् पुरुषों के स्वामी ( उत ) और ( यः ) जो ( भूतानां वशी ) भूत

२१–( द्वि० ) 'यः पतिः' ( तृ० ) 'भूतानि सर्वा भूतः' इति पैप्प० सं०।

समस्त प्राणियों का वश करनेहारा है उनकी ( ब्रूमः ) हम स्तुति करते हैं। (सर्वा भूतानि संगत्य) समस्त प्राणी मिल कर (ते) वे (नः अंहस मुञ्चन्तु) हमें पाप कर्म से बचावें। सत्तावाले शक्तिशाली पुरुष और समस्त प्रजा के जन संगठन करके प्रजा को ऐसी व्यवस्था करें कि प्रजावासी पापाचरण न करें।

या देवीः पञ्चं प्रदिशो ये देवा द्वादशर्तवः।
संवत्सरस्य ये दंष्ट्रास्ते नः सन्तु सदा शिवाः ॥ २२ ॥

भा०—( याः ) जो ( देवीः ) दिव्यगुणयुक्त, प्रकाशयुक्त ( पञ्च ) पांच (प्रदिश ) मुख्य दिशाओं के समान गुरु आदि पाच शिक्षक हैं और ( ये देवा. ) जो देव स्वभाव के ( द्वादश ऋतव. ) बारह ऋतु के मधु माधव आदि मास हैं और ( ये ) जो ( संवत्सरस्य दंष्ट्रा· ) संवत्सर की दाढ़ों के समान दिन और रात में आने वाले जीवन के भयोत्पादक अवसर हैं ( ते ) वे ( नः ) हमें ( सदा ) सदा ( शिवा· सन्तु ) कल्याणकारी हों।

यन्मातली रथक्रीतममृतं वेद भेषजम्।
तदिन्द्रो अप्सु प्रावेशयत् तदापो दत्त भेषजम् ॥ २३ ॥ (१८)

भा०—( मातलिः ) मातलि, ज्ञान का संग्रह करने वाला, जीव ( यत् ) जिस ( भेषजम् ) सर्व भव रोग निवारक ( रथक्रीतम् ) रथ-देहरूप रथ या विषयों के इन्द्रियरसों के परित्याग के बदले में प्राप्त ( अमृतम् ) अपने अमृत स्वरूप को ( वेद ) साक्षात् जान लेता है ( तत् ) उस अमृत-स्वरूप आत्मा को ( इन्द्र· ) परमेश्वर ( अप्सु प्रावेशयत् ) आप्त प्रजाओं में या प्रज्ञावान् पुरुषों में प्रविष्ट कराता है। ( आप· ) समस्त आप्त पुरुष ( तत् भेषजम् दत्त ) उस परम औषधरूप आत्मज्ञान को हमें प्रदान करें।

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

[ तत्र सूक्तद्वयम्, ऋचश्चैकोनाशीतिः । ]



## [ ७ ] सर्वोपरि विराजमान उच्छिष्ट ब्रह्म का वर्णन ।

अथर्वा ऋषिः । अध्यात्म उच्छिष्टो देवता । ६ पुरोष्णिग् बार्हतपरा, २१ स्वराड्, २२ विराट् पथ्याबृहती, ११ पथ्यापंक्तिः, १-५, ७-१०, २०, २२-२७ अनुष्टुभः । सप्तविंशर्चं सूक्तम् ॥

उच्छिष्टे नाम रूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः ।
उच्छिष्ट इन्द्रश्चाग्निश्च विश्वमन्तः समाहितम् ॥ १ ॥

भा०—पूर्वोक्त ब्रह्मौदन का ही दूसरा नाम 'उच्छिष्ट' है । ( उच्छिष्टे ) समस्त जगत् के प्रलय हो जाने के अनन्तर जो शेष रह जाता है अथवा 'नेति' 'नेति' इस भावना से समस्त प्रपञ्चों का निषेध कर देने पर जो सबसे अतिरिक्त 'सत्' शेष रह जाता है वह 'पर-ब्रह्म' 'उच्छिष्ट' है । उसमें ( नाम रूपं च ) नाम अर्थात् शब्द से कहे जाने योग्य और 'रूप' चक्षु से देखे जाने योग्य दोनों प्रकार का जगत् ( आहितम् ) स्थिर है । ( उच्छिष्टे लोक आहितः ) यह 'लोक' सर्वद्रष्टा आत्मा अथवा यह सूर्यादि समस्त लोक उस उच्छिष्ट में स्थित हैं । ( उच्छिष्टे इन्द्रः च अग्निः च ) उस 'उच्छिष्ट' में इन्द्र अर्थात् वायु और अग्नि स्थित हैं और ( विश्वम् ) यह समस्त विश्व उसके ( अन्तः ) भीतर ( सम् आहितम् ) भली प्रकार विराजमान है ।

उच्छिष्टे द्यावापृथिवी विश्वं भूतं समाहितम् ।
आपः समुद्र उच्छिष्टे चन्द्रमा वात आहितः ॥ २ ॥

भा०—( उच्छिष्टे द्यावापृथिवी ) उस पूर्वोक्त 'उच्छिष्ट' नाम परब्रह्म में, आकाश और पृथिवी और ( विश्वं भूतं समाहितम् ) समस्त उत्पन्न कार्य-

[ ७ ] १–' नाम रूपाणि ' इति पैप्प० सं० ।
२–( च० ) ' वाताहित ' इति पैप्प० सं० ।

जगत् भी स्थित है। (आप समुद्रः उच्छिष्टे) जल और समुद्र उसी 'उच्छिष्ट' में हैं और (वात. चन्द्रमा आहित) उसी 'उच्छिष्ट' मे चन्द्रमा और वायु भी स्थित हैं।

सन्नुच्छिष्टे असंश्चोभौ मृत्युर्वाजः प्रजापतिः।
लौक्या उच्छिष्ट आयत्ता व्रश्च द्रश्चापि श्रीमयि ॥ ३ ॥

भा०—(उच्छिष्टे) 'उच्छिष्ट' नाम सर्वोत्कृष्ट, सर्वोपरि विराजमान, उस परब्रह्म मे (सत्) 'सत्' या सत्ता के अन्तर्गत समस्त भाव रूप जगत् और (असत्) अभाव रूप या अव्यक्त रूप प्रकृति (उभौ) वे दोनों और (मृत्यु) मृत्यु जो सब प्राणियों को जीवित दशा से शरीर रहित करता है (वाज) अन्न और बल (प्रजापति.) प्रजा का पालक मेघ सब उसी में विद्यमान हैं। (उच्छिष्टे) उस सर्वोत्कृष्ट पर ब्रह्म मे (लौक्या) समस्त लोकों में विद्यमान प्रजाएं (व्रः च) सबका आवरण करने वाला यह महान् आकाश (द्र च) और सबका 'द्र' अर्थात् द्रावक या गति देने वाला काल भी (उच्छिष्टे आयत्ता) उसी उत्कृष्ट पर ब्रह्म में बधे हैं। इसी प्रकार (मयि) मुझ आत्मा में विद्यमान (श्री) जो चेतनास्वरूप शोभा है वह भी उसी की है।

दृढो दृंहस्थिरो न्यो ब्रह्म विश्वसृजो दश।
नाभिमिव सर्वतश्चक्रमुच्छिष्टे देवताः श्रिताः ॥ ४ ॥

भा०—(दृढः) सब से अधिक बलवान्, सब से बड़ा (दृंहस्थिरः) बल से सर्वत्र स्थिर यह लोक, (न्य.) उसके भीतर गति देने वाला (ब्रह्म) ब्रह्म वेद और (विश्वसृजः) समस्त संसार के बनाने वाले (दश) दसों प्राण और पंचभूत आदि तत्व, स्थूल और सूक्ष्म तत्त्व और समस्त

३–(च०) 'वृश्च द्रश्च श्रीर्मयि [?]' इति पैप्प० सं०।
४–'दृढ. । स्थिरः' इति बहुत्र पदपाठः।

( देवताः ) देव, सूर्यादि लोक ( नाभिम् सर्वतः चक्रम् इव ) नाभि के चारों ओर चक्र के समान ( उच्छिष्टे श्रिताः ) उस 'उच्छिष्ट' में ही आश्रित हैं।

'एय' का स्वरूप छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णित है।

ऋक् साम यजुरुच्छिष्ट उद्गीथः प्रस्तुतं स्तुतम्।
हिङ्कार उच्छिष्टे स्वरः साम्नो मेडिश्च तन्मयि ॥ ५ ॥

भा०—( ऋक् ) ऋग्वेद, ( साम ) सामवेद, ( यजुः ) यजुर्वेद ये ( उच्छिष्टे ) उच्छिष्ट में ही विराजमान हैं। इसी प्रकार ( साम्नः ) साम सम्बन्धी, ( उद्गीथः ) उद्गीथ, उद्गाता से गाया गया सामभाग, ( प्रस्तुतम् ) प्रस्तोता से स्तुति किया गया सामभाग और ( स्तुतम् ) स्तवन द्वारा उपस्थित साम भाग, ( हिङ्कारः ) 'हिं' रूप से साम के प्रारम्भ में उद्गाता आदि द्वारा किया गया सामभाग, ( स्वरः ) स्वर, क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र, अति मन्द्र आदि सात स्वर अथवा अ, आ, इ, ई इत्यादि स्वर ( मेडिः च ) और 'मेडि' ऋचा के अक्षरों को परस्पर मिलाने वाला 'स्तोम' या साम सम्बन्धी वाक् ये सब ( उच्छिष्टे ) उच्छिष्ट में आश्रित हैं। ( तत् मयि ) वह परम सूक्ष्म उच्छिष्ट गुरु आत्मा में समृद्ध हो।

ऐन्द्राग्नं पावमानं महानाम्नीर्महाव्रतम्।
उच्छिष्टे यज्ञस्याङ्गान्यन्तर्गर्भ इव मातरि ॥ ६ ॥

भा०—( मातरि ) माता के ( अन्तर्गर्भः इव ) भीतर के गर्भ में जिस प्रकार बालक के अंग पुष्ट होते हैं और बनते हैं उसी प्रकार ( उच्छिष्टे )

५-( द्वि० ) 'उद्गीथः प्रस्तुतं स्तुतं' ( च० ) 'साम्नो मेडिः' इति पैप्प० सं०।

'उच्छिष्ट' में ( ऐन्द्राग्नम् ) इन्द्र और अग्नि सम्बन्धी सामवेद के भाग ( पावमानम् ) पवमान सम्बन्धी सामवेद के भाग ( महानाम्नी ) महानाम्नी नाम ऋचाएं ( महाव्रतम् ) साम का 'महाव्रत' नामक प्रकरण ये सब ( यज्ञस्य अङ्गानि ) यज्ञ के अंग हैं वे सब उसी परमात्मा के भीतर उत्पन्न होते और पुष्ट होते हैं।

ऐन्द्रकाण्ड, आग्नेयकाण्ड, पावमानकाण्ड और महानाम्नी आर्चिक महाव्रत नामक उत्तरार्चिक ये सामवेद के भाग हैं। वे सब 'उच्छिष्ट' नामक सर्वोत्कृष्ट परमात्मा के भीतर हैं। ये सब उसी की महिमा का वर्णन करते हैं।

राजसूयं वाजपेयमग्निष्टोमस्तदध्वरः ।
अर्काश्वमेधावुच्छिष्टे जीवबर्हिर्मदिन्तमः ॥ ७ ॥

भा०—( राजसूयं ) राजसूय यज्ञ, ( वाजपेयं ) वाजपेय यज्ञ, ( अग्निष्टोमः ) अग्निष्टोम यज्ञ और ( तत् अध्वरः ) वह नाना प्रकार के हिंसा-रहित ज्ञानमय यज्ञ और ( अर्काश्वमेधौ ) विराट् रूप से उपासना करने योग्य चिति याग और अश्वमेध यज्ञ और ( मदिन्तमः ) सब से अधिक आनन्दप्रद ( जीवबर्हि- ) जीव की शक्तियों को बढ़ाने वाला ब्रह्मोपासना-मय उपनिषत् भाग सब ( उच्छिष्टे ) उस उत्कृष्टतम परब्रह्म में संगत होता है। ये सब यज्ञ और उपासना और साधनाएं उस परमेश्वर का ही वर्णन करती हैं।

अग्न्याधेयमथो दीक्षा कामप्रश्छन्दसा सह ।
उत्सन्ना यज्ञाः सत्राण्युच्छिष्टेऽधि समाहिताः ॥ ८ ॥

---

७ ( द्वि० ) 'तदोऽध्वरः' इति पैप्प० स० ।
८-'उत्सन्न यज्ञा' इति सायणाभिमतः ।

भा०—( अग्न्याधेयम् ) अग्नि आधान करने योग्य यज्ञ कर्म ( अथो ) और ( दीक्षा ) दीक्षा, ( कामप्रः ) सर्व कामना के पूर्ण करने वाले काम्य कर्म ( छन्दसा सह ) 'छन्दस्' गायत्री आदि अथवा अथर्व-वेद सहित ( उत्सन्नाः यज्ञाः ) वे ब्रह्म-यज्ञ जिनसे जीव मुक्त होकर उत्तम लोक, मोक्ष में निर्बन्ध होकर गति करते हैं अथवा वे यज्ञकर्म या प्रजापति के रूप जो काल क्रम से लुप्त हो जाते हैं और ( सत्राणि ) सोम याग आदिक बृहद् याग नामक सत्र ये सब ( उच्छिष्टे अधि समाहिताः ) 'उच्छिष्ट' उस सर्वोत्कृष्ट परम मोक्षमय ब्रह्म में ही ( समाहिताः ) आश्रित हैं।

अग्निहोत्रं च श्रद्धा च वषट्कारो व्रतं तपः।
दक्षिणेष्टं पूर्तं चोच्छिष्टेऽधि समाहिताः ॥ ९ ॥

भा०—( अग्निहोत्रं च ) अग्निहोत्र ( श्रद्धा च ) और श्रद्धा और ( वषट्कारः ) वषट्कार, स्वाहाकार ( व्रतं, तपः ) व्रत और तप ( दक्षिणा इष्टं पूर्तं च ) दक्षिणा यज्ञ और कूप तालाब बनवाने आदि सब परोपकार के पुण्य कार्य ( उच्छिष्टे अधि समाहिताः ) उत्कृष्टतम, सर्वोपरि प्रतिपाद्य परब्रह्म में ही आश्रित हैं। वह ईश्वर न हो तो ये सब भी न हों।

एकरात्रो द्विरात्रः सद्यः क्रीः प्रक्रीरुक्थ्यः।
ओतं निहितमुच्छिष्टे यज्ञस्याणूनि विद्यया ॥ १० ॥ ( १६ )

भा०—( एकरात्रः द्विरात्रः ) एक दिन में समाप्त होने योग्य और दो दिन में समाप्त होने योग्य, सोमयाग विशेष और ( सद्यः क्रीः, प्रक्रीः ) सद्यःक्री और प्रक्री नामक विशेष प्रकार के सोम याग ( उक्थ्यः ) अग्निष्टोम के बाद के स्तुति मन्त्रों के उच्चारण रूप 'उक्थ्य' ये सब ( उच्छिष्टे ) उत्कृष्टतम परम परमेश्वर में ( ओतम् ) गुंथे हुए हैं और उसी में ( निहितम् )

९–( च० ) 'उच्छिष्टेऽधि' इति पैप्प० सं०।
१०–( च० ) 'यज्ञस्याणूनि विद्यया' इति पैप्प० सं०।

आश्रित हैं। और (यज्ञस्य) यज्ञ के (अङ्गानि) छोटे २ भाग भी (विद्यया) अपने ज्ञान तत्व के रूप से उसी 'उच्छिष्ट' परमात्मा में आश्रित हैं। अर्थात् समस्त प्रकार के सोमयाग सत्र यज्ञ के छोटे भाग भी उसी परमात्मा का वर्णन करते हैं।

चतूरात्रः पञ्चरात्रः षड्रात्रश्चोभयः सह।
षोडशी सप्तरात्रश्चोच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे ये यज्ञा अमृते हिताः ॥११॥

भा०—(चतूरात्र पञ्चरात्र, षड्रात्रः) चार दिनों, पांच दिनों और छः दिनों में होने वाले नाना प्रकार के सोमयाग और इसी प्रकार (उभयः सह) इनके साथ इनके द्विगुणित अष्टरात्र, दशरात्र, द्वादशरात्र (सप्तरात्रः) सप्तरात्र और चतुर्दशरात्र नामक सोमयाग और (षोडशी) 'षोडश' नाम स्तोत्र वाला षोडशी-याग (ये यज्ञाः) ये जो भी यज्ञ (अमृते हिता) अमर आत्मा या मोक्ष धाम में आश्रित हैं (सर्वे) वे सब (उच्छिष्टात् जज्ञिरे) 'उच्छिष्ट' सर्वोत्कृष्ट परमात्मा से उत्पन्न होते हैं।

प्रतीहारो निधनं विश्वजिच्चाभिजिच्च यः।
साह्नातिरात्रावुच्छिष्टे द्वादशाहोपि तन्मयि ॥ १२ ॥

भा०—(प्रतीहारः निधनं) साम गान के भाग 'प्रतीहार' और 'निधन' (विश्वजित् च अभिजित् च यः) और जो विश्वजित् याग और अभिजित् याग हैं और (साह्नातिरात्रौ) साह्न और अतिरात्र नामक याग और (द्वादशाहः) द्वादशाह नामक याग भी (उच्छिष्टे) उस उत्कृष्ट परमात्मा में ही आश्रित हैं। वे भी उसी के स्वरूप का वर्णन करते हैं। (तत्) वह प्रभु (मयि, मुझ में, मेरे आत्मा में सम्पन्न हो, मेरी शक्ति और श्री की वृद्धि करे।

---

११-(च०) 'यज्ञमृते' इति पैप्प० सं०।

सूनृता संनतिः क्षेमः स्वधोर्जामृतं सहः ।
उच्छिष्टे सर्वे प्रत्यञ्चः कामाः कामेन तातृपुः ॥ १३ ॥

भा०—( सूनृता ) उत्तम शुभ, सत्य वाणी ( संनतिः ) उत्तम भक्ति भाव अथवा उत्तम फल की प्राप्ति ( क्षेमः ) कल्याणमय वृद्धि, ( स्वधा ) अन्न, ( ऊर्जा ) बलकारी विशेष शक्ति ( अमृतम् ) परम आनन्द रूप अमृत और ( सहः ) बल और ( सर्वे प्रत्यञ्चः कामाः ) सब आत्मा में साक्षात् अनुभव होने वाली अभिलाषाएं जो ( कामेन ) काम्य फल से अथवा पूर्ण काम या पूर्वोक्त कामसूक्त में प्रतिपादित सर्वकाम परमात्मा के दर्शन से तृप्त हो जाते हैं वे सब ( उच्छिष्टे ) उस परमोत्कृष्ट परमात्मा में आश्रित हैं ।

नव भूमीः समुद्रा उच्छिष्टेऽधि श्रिता दिवः ।
आ सूर्यो भात्युच्छिष्टेऽहोरात्रे अपि तन्मयि ॥ १४ ॥

भा०—( नव भूमीः ) नव भूमियां ( समुद्राः ) समस्त समुद्र और ( दिवः ) सब आकाश के भाग भी ( उच्छिष्टे अधि श्रिताः ) उस उत्कृष्ट परमात्मा में आश्रित हैं । ( उच्छिष्टे ) उस परमात्मा के आश्रय में ( सूर्यः आभाति ) सूर्य प्रकाशमान हो रहा है । ( अहोरात्रे अपि ) दिन रात भी उसी पर आश्रित हैं । ( तत् मयि ) वह परमात्मा मुझ में, मेरे अन्तरात्मा में प्रकाशित हो ।

उपहव्यं विषूवन्तं ये च यज्ञा गुहा हिताः ।
बिभर्ति भर्ता विश्वस्योच्छिष्टो जनितुः पिता ॥ १५ ॥

---

१३–( च० ) 'तृप्यन्ति' इति पैप्प० सं० । 'क्षेम स्वधो' इति क्वचित् ।
१४–( प्र० ) 'भूम्यां समुद्रस्योच्छिष्टे' ( च० ) 'रात्रे च तन्मयि' इति पैप्प० सं० ।
१५–'यज्ञाश्चिपि श्रिताः' इति पैप्प० सं० ।

भा०—( उपहव्य ) ' उपहव्य ' नामक सोमयाग और ( विषूवन्तं ) विषुवान नामक अर्थात् ' गवाम् अयन ' नामक संवत्सर के छः २ मासों के दोनों पूर्व और उत्तर पक्षों के बीच में ' एक विंशस्तोम ' नामक सोम-याग और ( ये च ) और भी जो ( यज्ञाः ) यज्ञ, उस परमात्मा के उपासना के नाना प्रकार हैं जो ( गुहा हिता ) विद्वानों के हृदय में और ब्रह्माण्ड की रचना कौशल में अज्ञात रूप से वर्त्तमान हैं उन सबको ( विश्वस्य भर्त्ता ) विश्व का भरण पोषण करने वाला ( जनितुः पिता ) उत्पादक कारण का पालक, परम कारण परमपिता ( उच्छिष्टः ) सर्वोत्कृष्ट परमेश्वर ( बिभर्ति ) स्वयं धारण करता है ।

यज्ञ में—' उपहव्य ' और ' विषुवन् ' आदि विशेष भाग हैं जो कालात्मक संवत्सर प्रजापति के यज्ञ प्रजापति के शरीर में विशेष भागों के उपलक्षक हैं ।

पिता जनितुरुच्छिष्टोऽसोः पौत्रः पितामहः ।
स क्षियति विश्वस्येशानो वृषा भूम्यामति॒घ्न्यः॥ १६ ॥

भा०—वह ( उच्छिष्टः ) सब से उत्कृष्ट, दृश्य जगत् से भी परे विद्यमान परमात्मा ( जनितुः ) समस्त उत्पादक प्राणियों और लोकों का भी ( पिता ) स्वयं पालक है । और ( असोः ) माया शक्ति का स्वयं ( पौत्रः ) पुत्र का भी पुत्र, मानो स्वयं व्यक्त देहों में प्रकट होने वाला है, और स्वयं इस महान् विराड् देहों का निर्माता होने से ( पितामहः ) उस का पितामह है । ( सः ) वह ( विश्वस्य ईशानः ) समस्त संसार का स्वामी, ( वृषा ) समस्त सुखों और जीवनों की वर्षा करने हारा होकर ( भूम्याम् ) इस भूमि पर ( अतिघ्न्यः ) सबको अतिक्रमण करके सब से ऊंचा होकर ( क्षियति ) विराजमान है ।

---

१६–' सोऽपुत्रश्च ' इति पैप्प० सं० ।

' असु ' का पुत्र ' देह ' देह या मन उसमें ज्योति रूप से प्रकट होने से उसका वह ' पौत्र ' है। और जीव के उत्पादकों का उत्पादक होने से ' पितामह ' है।

ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं श्रमो धर्मश्च कर्म च।
भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं लक्ष्मीर्बलं बले ॥ १७ ॥

भा०—( ऋतं ) ऋत, ( सत्यं ) सत्य, ( तपः ) तप, ( राष्ट्रं ) राष्ट्र, ( धर्मः च ) धर्म और ( कर्म च ) कर्म, ( भूतं भविष्यत् ) भूत और भविष्यत् ( वीर्यं ) वीर्य, ( लक्ष्मीः ) लक्ष्मी और ( बलं ) बल ये सब ऐश्वर्य उस ( बले ) बलशाली ( उच्छिष्टे ) सर्वोत्कृष्ट परमात्मा में विद्यमान हैं।

समृद्धिरोज आकूतिः क्षत्रं राष्ट्रं षडुर्व्यः।
संवत्सरोध्युच्छिष्ट इडा प्रैषा ग्रहा हविः ॥ १८ ॥

भा०—( समृद्धिः ) समस्त सम्पत्तियां, ( ओजः ) तेज, वीर्य ( आकूतिः ) संकल्प ( क्षत्रं ) क्षात्रबल ( राष्ट्रं ) राष्ट्र ( षड् उर्व्यः ) छहों महान् पदार्थ द्यौः, पृथिवी, दिन, रात्रि, आपः, ओषधि, ये छहों ( संवत्सरः ) वर्ष ( इडा ) अन्न, ( प्रैषाः ) मन्त्र या मानस संकल्प, ( ग्रहाः ) यज्ञ के देवताओं के नाम पर दिये सोमांश अथवा इन्द्रियगण ( हविः ) चरु पुरोडाश आदि अथवा अन्न ये सब ( अधि उच्छिष्टे ) उसी ईश्वर में आश्रित, उसीके बल पर और उसीके द्वारा उत्पन्न और प्राप्त है।

चतुर्होतार आप्रियश्चातुर्मास्यानि नीविदः।
उच्छिष्टे यज्ञा होत्राः पशुबन्धास्तदिष्टयः ॥ १९ ॥

भा०—( चतुर्होतारः ) चतुर्होतृ नामक अनुवाक, ( आप्रियः ) पशुयाग सम्बन्धी प्रयोगों की याज्या मन्त्र, ( चातुर्मास्यानि ) चातुर्मास्य में

१७ ( प्र० ) ' श्रमो दीक्षा ' इति पैप्प० सं०।

किये जाने योग्य वैश्वदेव, वरुणप्रघास साकमेध, शुनासीरीय आदि पर्व और ( निविद ) स्तुति करने योग्य इष्ट देव के विशेष गुण प्रदर्शक वेद की ऋचाएं ( यज्ञा ) यज्ञ ( होत्रा ) होता आदि सात ऋत्विक् ( पशुबन्धः ) पशु बन्ध द्वारा किये जाने वाले सोम याग के अंगभूत यज्ञ और ( तदिष्टयः ) उनके बीच की अंग रूप इष्टियें ये सब ( उच्छिष्टे ) उस सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म में आश्रित हैं, उन सबका तात्पर्य परब्रह्मपरक है। उनकी सदा ब्रह्म विषयक व्याख्या करनी चाहिये।

अर्धमासाश्च मासाश्चार्तवा ऋतुभिः सह।
उच्छिष्टे घोषिणीरापः स्तनयित्नुः श्रुतिर्मही ॥ २० ॥ ( २० )

भा०—( अर्धमासाः च ) अर्धमास=पक्ष ( मासाः च ) मास, ( ऋतुभिः सह आर्तवाः ) ऋतुओं सहित ऋतुओं में उत्पन्न नाना पदार्थ ( घोषणीः आपः ) घोषणा या गर्जना करने वाली जलधाराएं ( स्तनयित्नुः ) गर्जने हारा मेघ या बिजुली और ( मही ) बड़ी भारी यह पृथिवी और ( श्रुतिः ) परम ज्ञानमय वेद वाणी अथवा ( मही श्रुतिः ) बड़ी पूजनीय श्रुति, वेद वाणी ये सब ( उच्छिष्टे ) उत्कृष्ट परब्रह्म में ही आश्रित हैं। ये सब उसी की शक्ति के चमत्कार हैं।

शर्कराः सिकता अश्मान ओषधयो वीरुधस्तृणा।
अभ्राणि विद्युतो वर्षमुच्छिष्टे संश्रिता श्रिता ॥ २१ ॥

भा०—( शर्कराः ) बजरी, पथरीली बालू, ( सिकताः ) बालू ( अश्मानः ) पत्थर, ( ओषधयः ) ओषधियां ( वीरुधः ) लताएं ( तृणा ) घास, ( अभ्राणि ) मेघ, ( विद्युतः ) बिजुलियां, ( वर्षम् ) वर्षा ये सब

२०–( च० ) 'शुचिर्मही' इति सायणाभिमतः।
२१–( प्र० ) 'सिकताश्मान' इति पैप्प० सं०।

( उच्छिष्टे ) उस सर्वोत्कृष्ट परमेश्वर में ( संश्रिता[1] ) भली प्रकार आश्रय लेकर ( श्रिता[1] ) अपनी सत्ता बनाये हुए हैं, टिके हुए हैं ।

राद्धिः प्राप्तिः समाप्तिर्व्याप्तिर्मह एधतुः ।
अत्याप्तिरुच्छिष्टे भूतिश्चाहिता निहिता हिता ॥ २२ ॥

भा०—( राद्धिः ) फल की सिद्धि या आराधना, ( प्राप्तिः ) परम फल की प्राप्ति, ( समाप्तिः ) सर्व कर्म की समाप्ति, ( व्याप्तिः ) नाना मनोरथानुरूप फलों को प्राप्त करना, ( महः ) तेज और आनन्द उत्सव करना, ( एधतुः ) वृद्धि, ( अत्याप्तिः ) आशा से अधिक फल पाना, ( भूतिः ) नाना समृद्धि, ये सब ( उच्छिष्टे ) उत्कृष्टतम परमेश्वर में ( आहिता ) स्थित होकर ( निहिता ) सुरक्षित हैं और इसीलिये ( हिता ) जीव लोक के हित कर भी हैं। अथवा ( हिता निहिता ) समस्त हितकारी पदार्थ भी उसी परमेश्वर में आश्रित हैं ।

यच्च प्राणति प्राणेन यच्च पश्यति चक्षुषा ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥ २३ ॥

भा०—( यत् च ) जो भी प्राणि वर्ग ( प्राणेन प्राणति ) प्राण द्वारा प्राण लेता है । ( यत् च चक्षुषा पश्यति ) और जो भी आंख से देखता है और ( सर्वे ) समस्त ( दिवि-श्रितः ) आकाश में आश्रित सूर्य, चन्द्र आदि ( देवाः ) प्रकाशमान पदार्थ या ( दिविश्रिताः देवाः ) प्रकाशमय मोक्षपद में आश्रित विद्वान् लोग सभी ( उच्छिष्टात् जज्ञिरे ) उस सर्वोत्कृष्ट परमेश्वर से उत्पन्न होते हैं ।

---

१. नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम् । इति नपुंसकं शेषः ।
२२–( च० ) 'हिताः' इति सायणाभिमतः ।

ऋचः सामा॑नि॒ छन्दां॑सि पुरा॒णं यजु॑षा स॒ह ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे० ॥ २४ ॥

भा०—( ऋचः ) ऋग्वेद के मन्त्र, ( सामानि ) सामवेद और उसके सहस्रों सामगान के भेद, ( छन्दांसि ) गायत्री आदि छन्द अथवा अथर्व के मन्त्र ( यजुषा सह पुराणं ) यजुर्वेद, कर्मप्रवर्त्तक मन्त्रों के साथ २ सृष्टि उत्पत्ति प्रलय आदि के वर्णन करने हारे मन्त्र और ब्राह्मण भाग और ( सर्वे देवा दिविश्रितः ) आकाशस्थ सूर्यादि समस्त दिव्य लोक ( उच्छिष्टात् जज्ञिरे ) 'उच्छिष्ट' उस सर्वोत्कृष्ट परमेश्वर से उत्पन्न होते हैं ।

प्रा॒णा॒पा॒नौ चक्षुः॒ श्रोत्र॒मक्षि॑तिश्च॒ क्षिति॑श्च॒ या ।
उच्छिष्टा० ॥ २५ ॥

पूर्वार्धं अथर्व० ११ । ८ । ४ ( प्र० द्वि० ) २६ ( प्र० द्वि० ) ॥

भा०—( प्राणापानौ ) प्राण और अपान ( चक्षुः ) यह आंख, दर्शन-शक्ति ( श्रोत्रम् ) कान, श्रवणशक्ति ( क्षितिः च ) क्षिति यह पृथिवी अथवा पदार्थों का क्षीण होना अथवा नाशवान् देहादि पदार्थ और ( अक्षितिः ) पृथिवी से अतिरिक्त वायु अग्नि आकाश जल आत्मा और मन आदि अथवा अविनश्वर पदार्थ आत्मा, आकाश, काल आदि अथवा पदार्थों का नित्य भाव और ( दिविश्रितः सर्वे देवाः ) द्यौलोक में और गगनचारी सूर्यादि प्रकाशमान लोक, सब ( उच्छिष्टात् जज्ञिरे ) उस सर्वोत्कृष्ट परमात्मा से उत्पन्न होते हैं ।

आ॒न॒न्दा मोदाः॑ प्र॒मुदो॑ऽभीमो॒दमुद॑श्च॒ ये ।
उच्छिष्टा० ॥ २६ ॥

---

२४-( प्र० ) 'ऋग् यजुः सामानि' इति पैप्प० सं० ।

देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसंश्च ये ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥ २७ ॥ (२१)

भा०—( २६ ) ( आनन्दाः ) सब प्रकार के आनन्द ( मोदाः ) सब प्रकार के विनोद और हर्ष ( प्रमुदः ) विशेष हर्ष ( अभीमोदमुदः ) साक्षात् प्राप्य सुखों से उत्पन्न होने वाले आनन्द और ( २७ ) ( देवाः ) विद्वान् गण देव लोग ( पितरः ) पालक लोग, माता, पिता, पितामह, गुरु आदि ( मनुष्याः ) मनुष्य ( गन्धर्वाप्सरसः च ये ) और जो गन्धर्व, युवा पुरुष अप्सराएं युवतियें हैं ( सर्वे देवा दिविश्रितः दिवि ) समस्त आकाश में वर्त्तमान प्रकाशमान सूर्यादि पदार्थ सब ( उच्छिष्टात् जज्ञिरे ) उस सर्वोत्कृष्ट परमात्मा से ही उत्पन्न होते हैं ।

---

## [ ८ ] मन्यु रूप परमेश्वर का वर्णन ।

कौरुपथिर्ऋषिः । अध्यात्मं मन्युर्देवता । १-३२, ३४ अनुष्टुभः, ३३ पथ्यापंक्तिः । चतुस्त्रिंशदृचं सूक्तम् ॥

यन्मन्युर्जायामावहत् संकल्पस्य गृहादधि ।
क आसं जन्याः के वराः क उ ज्येष्ठवरोऽभवत् ॥ १ ॥

भा०—( यत् ) जब ( मन्युः ) मननशील, ज्ञानसम्पन्न आत्मा ने ( संकल्पस्य गृहात् ) संकल्प के घर से ( जायाम् ) अपनी स्त्री रूप बुद्धि को विवाह किया तब ( के जन्याः ) कन्या पक्ष के कौन घराती और ( के वराः ) कौन बराती ( आसन् ) थे । और ( क उ ) कौनसा ( ज्येष्ठवरः अभवत् ) सब से श्रेष्ठ वर रहा । इसी प्रकार परमात्मा के पक्ष में जब ( मन्युः ) ज्ञानमय परमेश्वर ( संकल्पस्य गृहात् अधि ) संकल्प के

---

[ ८ ] १—' आसं ' इति पैप्प० सं० ।

ग्रहण साम थे से अपनी ( जायाम् ) संसार को उत्पन्न करने वाली प्रकृति को ( अवहत् ) धारण करता है नव सृष्टि के आदि में जब कुछ नहीं था तब भी ( के जन्या आसन् ) प्रकृति के साथ २ और कौन २ से सृष्टि उत्पत्ति में विशेष कारण थे और ( के वरा आसन् ) कौन २ से 'वर' अर्थात् वरण करने योग्य प्रवर्तक कारण थे और उनमें से ( क उ ज्येष्ठवर अभवत् ) सबसे अधिक श्रेष्ठ प्रवर्त्तक कारण कौनसा था।

इस प्रकार विवाह का रूपक देकर वेद सृष्टि की उत्पत्ति और आत्मा के देह की उत्पत्ति का वर्णन करता है। ईश्वर ने सफल्पी की घनी धारणा शक्ति से प्रकृति को धारण किया और सृष्टि उत्पन्न की। आत्मा ने भी अपने संकल्प से अपनी बुद्धि को ग्रहण कर अपनी दैहिक सृष्टि उत्पन्न की।

तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महृत्यर्णवे।
त आसञ्जन्यास्ते वरा ब्रह्म ज्येष्ठवरोऽभवत् ॥ २ ॥

भा०—( महति अर्णवे अन्तः ) उस प्रकृति के परमाणुओं से बने बड़े भारी अव्यक्त कारण रूप समुद्र में या इस महान् आकाश के बीच ( तपः च एव कर्म च आस्ताम् ) तप और कर्म ये दो ही थे। ( ते आसन् जन्याः ) वे बराती थे और ( ते वराः ) वे ही बराती थे। अर्थात् वे ही जन्य सृष्टि के उत्पादक मूलकारण और वे ही 'वर' अर्थात् प्रवर्त्तक कारण थे। उनमें से ( ब्रह्म ) ब्रह्म, परम आत्मा ही ( ज्येष्ठवर अभवत् ) ज्येष्ठ वर सर्वश्रेष्ठ प्रवर्त्तक था।

स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत। ( तै० आ० ८ । ६ ॥ )
तम आसीत्तमसा गूढमग्रे सर्वमिदं सलिलं प्रकेतमासीत् ॥ ऋ० ॥

दश साकमजायन्त देवा देवेभ्यः पुरा।
यो वै तान् विद्यात् प्रत्यक्षं स वा अद्य महद् वदेत् ॥ ३ ॥

भा०—( देवेभ्यः ) देव, अग्नि आदि से भी पूर्व ( दश देवाः ) दश देव ( साकम् अजायन्त ) एक साथ प्रादुर्भूत हुए। ( यः वै ) जो पुरुष भी ( तान् प्रत्यक्षं विद्यात् ) उनको साक्षात् ज्ञान कर लेता है ( स वा अद्य ) वह पुरुष ही ( महद् वदेत् ) उस 'महत्' ब्रह्म का उपदेश कर सकता है।

'दश देवाः'—'ज्ञानकर्मेन्द्रियाणि' इति सायणः। ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय। अथवा वेद स्वयं अगले मन्त्र में कहेगा। 'देवेभ्यः पुरा देवाः' देवों से पूर्व उत्पन्न देव प्राण अपान आदि हैं। इनकी उत्पत्ति का प्रकरण ऐतरेयोपनिषत् १म. २यँ खण्ड में देखो।

तमभ्यतपत्। तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत। यथाण्डम्। मुखाद् वाग्, वाचोऽग्निः। नासिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां प्राणः प्राणाद्वायुः। इत्यादि।

अर्थात्—अग्नि वायु आदि के पूर्व वाक्, प्राण आदि का प्रादुर्भाव हुआ।

प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या।
व्यानोदानौ वाङ् मनस्ते वा आकूतिमावहन् ॥ ४ ॥

पूर्वार्धः ११ । ७ । २५ । प्र० द्वि० ॥

भा०—( प्राणापानौ ) प्राण और अपान ( चक्षुः श्रोत्रम् ) आंख और कान ( अक्षितिः च क्षितिः च या ) अक्षिति, अविनाशिनी ज्ञान शक्ति और 'क्षिति' क्षयशील क्रिया शक्ति और ( व्यानोदानौ ) व्यान और उदान ( वाक् मनः ) वाणी और मन ( ते वा ) उन्होंने भी ( आकूतिम् ) आकूति नाम बुद्धिरूप 'जाया' को ( आवहन् ) धारण किया।

अजाता आसन्नृतवोऽथो धाता बृहस्पतिः।
इन्द्राग्नी अश्विना तर्हि कं ते ज्येष्ठमुपासत ॥ ५ ॥

भा०—सृष्टि के प्रारम्भ में जब कि ( ऋतवः अथो धाता बृहस्पतिः ) ऋतुएं, धाता और बृहस्पति सूर्य और वायु ( इन्द्राग्नी अश्विना ) इन्द्र=सूर्य

और अग्नि और दिन और रात्रि ये सब भी ( अजाता आसन् ) अभी प्रकट नहीं हुए थे उत्पन्न नहीं हुए थे तब ( ते ) वे ( क ज्येष्ठम् उपआसत ) अपने से भी महान् किस ज्येष्ठ प्रभु की उपासना करते थे ? अर्थात् उस समय वे कहां विलीन थे ?

तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्य॑र्ण॒वे।
तपो ह जज्ञे कर्मण॒स्तत् ते ज्येष्ठमुपासत ॥ ६ ॥

भा०—( महति अर्णवे अन्तः ) उस महान् अर्णव अर्थात् समुद्र रूप परमेश्वर में ( तपः च एव ) केवल तप और ( कर्म च ) कर्म अर्थात् क्रिया ( आस्ताम् ) ये दो ही पदार्थ विद्यमान थे । और ( तपः ह ) वह तप भी ( कर्मणः जज्ञे ) कर्म अर्थात् क्रिया से उत्पन्न हुआ था । ( तत् ) उस कर्म को ही ( ते ) वे पूर्वोक्त ऋतु आदि अनुत्पन्न पदार्थ अपनी उत्पत्ति के पूर्व में ( ज्येष्ठम् उपासते ) अपने में सर्वश्रेष्ठ मान कर उस परम शक्तिमान् की उपासना करते थे, उसके आश्रित थे, उसी में लीन थे ।

येत आसीद् भूमिः पूर्वा यामद्धातय इद् विदुः ।
यो वै तां विद्यान्नामथा स मन्येत पुराणवित् ॥ ७ ॥

भा०—( या ) जो ( इतः ) इस प्रत्यक्ष जगत् से ( पूर्वा भूमिः ) पूर्व की भूमि अर्थात् सृष्टि की पूर्व भाविनी, कारणरूप दशा ( आसीत् ) थी ( याम् ) जिसको ( अद्धातयः ) सत्य का साक्षात् ज्ञान करने वाले सत्य ज्ञानी वैज्ञानिक लोग ही ( विदुः ) जानते हैं । ( यः वै ) जो ( तां नामथा विद्यात् ) उस कारण रूप पूर्व दशा को ठीक २ रूप में, जिस २ प्रकार

५, ६–( च० ) 'उपासते' इति सायणाभिमत ।
७–' ये ता भूमि. पूर्वामीर्' ( तृ०, च० ) ' वनान्ना दधासते कश्मिन् साचिनित्रा ' इति पैप्प० सं० ।

से वह रही उस २ प्रकार से जानता है ( सः ) वही पुरुष ( पुराणवित् ) पुराण अर्थात् सृष्टि के पूर्व के पदार्थों के यथार्थ ज्ञान का जानने हारा विद्वान् ( मन्येत ) कहा जाता है ।

कुत इन्द्रः कुतः सोमः कुतो अग्निरजायत ।
कुतस्त्वष्टा समभवत् कुतो धाताजायत ॥ ८ ॥

भा०—( इन्द्रः कुतः अजायत ) इन्द्र किससे उत्पन्न हुआ । इसका पूर्व रूप क्या था ? ( सोमः कुतः ) सोम किससे उत्पन्न हुआ ? ( अग्निः कुतः अजायत ) अग्नि किससे पैदा हुआ । ( त्वष्टा कुतः ) त्वष्टा किससे ( सम् अभवत् ) उत्पन्न हुआ । ( धाता कुतः अजायत ) और 'धाता' किससे उत्पन्न हुआ ।

इन्द्रादिन्द्रः सोमात् सोमो अग्नेरग्निरजायत ।
त्वष्टा ह जज्ञे त्वष्टुर्धातुर्धाताजायत ॥ ९ ॥

भा०—( इन्द्रात् इन्द्रः ) इन्द्र से इन्द्र उत्पन्न हुआ, ( सोमात् सोमः ) सोम से सोम उत्पन्न हुआ, ( अग्नेः अग्निः अजायत ) अग्नि से अग्नि उत्पन्न हुआ, ( त्वष्टा ह त्वष्टुः जज्ञे ) त्वष्टा से त्वष्टा उत्पन्न हुआ, ( धातुः धाता अजायत ) धाता से धाता उत्पन्न हुआ । अर्थात् इन्द्रादि देवों का पूर्व रूप भी इन्द्र आदि ही थे अर्थात् उनका उत्पादक मूलकारण भी इन्द्र आदि शक्ति सम्पन्न था इसलिये उससे वे उत्पन्न हुए ।

ये त आसन् दश जाता देवा देवेभ्यः पुरा ।
पुत्रेभ्यो लोकं दत्त्वा कस्मिंस्ते लोक आसते ॥ १० ॥ (२२)

८–( च० ) 'धाता समभवत् कुतः' इति पैप्प० सं० ।
९–( च० ) 'धाता धातुर' इति पैप्प० सं० ।
१०–देवेभ्यः पुरः' इति पैप्प० सं० ।

भा०—( ये दश देवाः ) जो दश देव, प्राण आदि ( देवेभ्यः पुरा जाता आसन् ) अग्नि आदि से भी पूर्व उत्पन्न हुए थे ( पुत्रेभ्यः लोकं दत्वा ) अपने अनन्तर उत्पन्न अग्नि आदि को यह उत्पन्न लोक देकर स्वयं ( ते ) वे ( कस्मिन् लोके आसते ) फिर किस लोक या आश्रय में विराजते हैं। अर्थात् प्राण आदि से उत्पन्न होकर अग्नि आदि ने जब इस जगत् को व्याप लिया तब प्राण आदि किस आश्रय पर रहने लगे या किस स्वरूप में विद्यमान रहे।

यदा केशानस्थि स्नाव मांसं मज्जानमाभरत्।
शरीरं कृत्वा पादवत् कं लोकमनु प्राविशत् ॥ ११ ॥

भा०—( यदा ) जब ( केशान् ) केशों, ( अस्थि ) हड्डियों, ( स्नाव ) स्नायुओं, ( मांसम् ) मांस और ( मज्जानम् आभरत ) मज्जा को एक देह में एकत्र किया। और फिर इस ( शरीरम् ) शरीर को ( पादवत् कृत्वा ) चरण आदि अंगों सहित बना कर फिर वह आत्मा ( कं लोकम् ) किस लोक या स्थान में ( प्राविशत् ) प्रविष्ट हो गया, कहां जाकर रहने लगा।

परमात्मा ने सृष्टि की उत्पत्ति करते हुए महान् जगत्मय शरीर बनाया और शरीर के इस उत्पत्ति काल में आत्मा के कर्म और तप से मातृगर्भ में आत्मा ने अपना शरीर संचित किया और पुनः सम्पूर्ण अंग होकर स्वयं उसमें प्रविष्ट हुआ।

कुतः केशान् कुतः स्नाव कुतो अस्थीन्याभरत्।
अङ्गा पर्वाणि मज्जानं को मांसं कुत आभरत् ॥ १२ ॥

---

११–( द्वि० ) 'समभरत्' इति सायणाभिमतः।

१२–( प्र० ) 'स्नाव.' इति बहुत्र। (च०) 'कुत्राभरत्' इति पैप्प० सं०।

भा०—( कः ) प्रजापति ने ( केशान् कुतः ) केशों को कहां से ( आभरत् ) अर्थात् किस मूल उपादान से बना कर रक्खा ? ( स्नाव कुतः ) स्नायुओं को किस पदार्थ से बनाया और ( अस्थीनि कुतः आभरत् ) हड्डियों को किस उपादान से बनाया । इसके बाद फिर ( अंगा ) अन्य अंगों को, ( पर्वा ) पोरुओं को और ( मांसम् ) मांस को ( कुत आभरत् ) किस उपादान से बना कर इस शरीर में ला कर रक्खा है ? अथवा—दो प्रश्न हैं । १. किसने ये सब केश आदि पदार्थ बनाये ? २. उसने बनाये तो किस पदार्थ से ?

संसिचो नाम ते देवा ये संभारान्त्समभरन् ।
सर्वं संसिच्य मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥ १३ ॥

भा०—( ते देवाः ) वे देव' दिव्य गुण वाले सूक्ष्म तत्व ( संसिचः ) ' संसिच् ' नाम के हैं ( ये ) जो ( संभारान् ) शरीर-रचना के योग्य समस्त पदार्थों को ( सम् अभरन् ) एकत्र करते हैं । ( देवाः ) वे दिव्य सूक्ष्म तेजोमय पदार्थ ही ( सर्वं मर्त्यम् ) समस्त इस मरण धर्मा शरीर को ( संसिच्य ) भली प्रकार सेचन करके पुनः ( पुरुषम् आविशन् ) इस देहमय पुरु आत्मा में प्रविष्ट होकर ही रहते हैं ।

ऊरू पादावष्ठीवन्तौ शिरो हस्तावथो मुखम् ।
पृष्ठीर्बर्जह्ये/पार्श्वे कस्तत् समदधादृषिः ॥ १४ ॥

भा०—( कः ऋषिः ) वह कौन सर्वद्रष्टा विवेकी है जो ( ऊरू ) जांघों को, ( अष्ठीवन्तौ पादौ ) जानुओं वाले चरणों को, ( शिरः हस्तौ ) सिर और हाथों को ( अथो मुखम् ) और मुख को ( पृष्ठीः ) पीठ के

---

१३-( ' अमो नाम ', ( द्वि० ) ' सर्वं समस्य ' इति पैप्प० सं० ।

१४–' पृष्ठीर्बर्जह्यो ' इति पैप्प० सं० ।

मोहरों और ( वर्जह्ये ) हंसली की हड्डियों और ( पार्श्वे ) छाती की पसुलियों के दोनों भागों आदि ( तत् ) इस सब ढांचे को ( सम् अदधात् ) भली प्रकार परस्पर जोड़ता है ?

शिरो हस्तावथो मुखं जिह्वां ग्रीवाश्च कीकसाः ।
त्वचा प्रावृत्य सर्वं तत् सन्धा समदधान्मही ॥ १५ ॥

भा०—( सन्धा ) समस्त अंगों को जोड़ने वाली शक्ति का नाम 'सन्धा' है। ( मही ) वह बड़ी भारी 'सन्धा' शक्ति है। जिसने ( शिरः हस्तौ मुखम् जिह्वा ग्रीवाश्च अथो कीकसा: ) शिर, दो हाथ, मुख, जीभ, गर्दन के मोहरे और कीकस=पीठ के मोहरे ( तत् सर्वं ) इन सब शरीर के अंगों को ( त्वचा प्रावृत्य ) त्वचा, चमड़े से मढ़ कर ( सम् अदधात् ) एकत्र जोड़ कर रखा है। वह ( मही संधा ) बड़ी भारी 'संधा' नाम की ईश्वरी शक्ति है।

यत्तच्छरीरमशयत् संधया संहितं महत् ।
येनेदमद्य रोचते को अस्मिन् वर्णमाभरत् ॥ १६ ॥

भा०—( यत् तत् ) जब वह ( महत् ) महत्, बड़ा ( शरीरम् ) शरीर, ब्रह्माण्ड रूप शरीर ( संधया संहितं ) 'संधा' नामक पूर्वोक्त शक्ति से जुड़ गया तब ( इदम् ) यह ( येन ) जिस कारण से ( अद्य ) सदा ( रोचते ) कान्ति-मान रूप चमकता है तो ( अस्मिन् ) इस शरीर में ( कः ) कौन ( वर्णम् आ अभरत् ) वर्ण या कान्ति ला देता है, कान्ति कौन उत्पन्न करता है ?

---

१५-( प्र० ) 'अथो बाहू' ( तृ० ) 'तत् सर्वं' इति पैप्प० सं० ।

१६-( प्र० ) 'शरीरमश्यत्' ( द्वि० ) 'सहित मपि' ( तृ० ) 'को-ऽस्मिन्' इति पैप्प० सं० ।

सर्वे देवा उपाशिक्षन् तदंजानाद् वधूः सती ।
ईशा वशस्य या जाया सास्मिन् वर्णमाभरत् ॥ १७ ॥

भा०—( सर्वे देवाः ) समस्त देवगण प्राणादि ने ( उप अशिक्षन्= उपासिञ्चन् ) उसमें अपना वीर्य आधान किया, प्रार्थना की ( तत् ) उसको ( सती ) सत् स्वरूपा ( वधूः ) शरीर को वहन करने वाली चेतना ने ( अजानात् ) जान लिया, धारण किया । ( या ) जो ( वशस्य ) सबके वश-यिता आत्मा की ( जाया ) स्त्री के समान सर्वोत्पादिका ( ईशा ) ईश्वरी, वश-कारिणी, सामर्थ्यवती शक्ति है ( सा ) वह ( अस्मिन् ) इस देह और विराट् देह में ( वर्णम् ) वर्ण कान्ति या तेज को ( आभरत् ) प्राप्त कराती है ।

यदा त्वष्टा व्यतृणत् पिता त्वष्टुर्य उत्तरः ।
गृहं कृत्वा मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥ १८ ॥

भा०—( त्वष्टुः ) शिल्पियों का भी ( यः ) जो ( उत्तरः ) उनसे बढ़ कर ( पिता ) उत्कृष्ट पिता, परमेश्वर स्वयं ( त्वष्टा ) सब जीवों का बनाने वाला महाशिल्पी ( यदा ) जब ( व्यतृणत् ) उस महान् विराड् देह में और इस देह में भी प्राणों के नाना छिद्र कर देता है तब ( देवाः ) प्राण आदि देवगण ( मर्त्यं पुरुषम् ) मर्त्य पुरुष-देह को ( गृहं कृत्वा ) अपना घर बना कर उसमें ( आविशन् ) प्रवेश करते हैं । ( देखो ऐतरेय उप० )

स्वप्नो वै तन्द्रीर्निर्ऋतिः पाप्मानो नाम देवताः ।
जरा खालत्यं पालित्यं शरीरमनु प्राविशन् ॥ १९ ॥

भा०—प्राण, अपान आदि देव जब उस शरीर में प्रवेश कर चुकते हैं तब ( शरीरम् ) शरीर में ( स्वप्न ) स्वप्न, निद्रा ( तन्द्रीः ) आलस्य

१७–( प्र० ) 'उपासिञ्चन्' ( तृ० ) 'विशस्य' इति पैप्प० सं० ।
१९–'तन्द्रीर्नि०' ( तृ० ) 'खालित्यं' इति सायणाभिमतः ।

( निर्ऋति ) पाप प्रवृत्ति ( पाप्मानः ) और नाना पाप के भाव और ( देवताः ) देव भाव सात्त्विक गुण ( जरा ) वृद्धावस्था ( खालित्य ) गंजापन ( पालित्य ) केश पकना आदि विकार भी ( अनु प्राविशन् ) प्रविष्ट हो जाते हैं।

स्तेयं दुष्कृतं वृजिनं सत्यं यज्ञो यशो बृहत्।
बलं च क्षत्रमोजश्च शरीरमनु प्राविशन् ॥ २० ॥ ( २३ )

भा०—इसी प्राणादि के प्रवेश के बाद ही ( स्तेयं ) चोरी का भाव, ( दुष्कृतं ) दुराचार की प्रवृत्ति ( वृजिनं ) पाप कर्म और ( सत्यं यज्ञः यशः बृहत् ) सत्य यज्ञ और बड़ा यश और ( बलं च क्षत्रम् ओजः च ) बल क्षत्र वीर्य और तेज भी ( शरीरम् अनु प्राविशन् ) शरीर में प्रविष्ट होते हैं।

भूतिश्च वा अभूतिश्च रातयोऽरातयश्च याः।
क्षुधश्च सर्वास्तृष्णाश्च शरीरमनु प्राविशन् ॥ २१ ॥

भा०—( भूतिः च ) भूति, समस्त समृद्धि ( वा ) या ( अभूतिः च ) असमृद्धि, दरिद्रताएं ( रातयः ) दान के भाव और ( याः च अरातयः ) और जो कंजूसी या कृपणता के भाव हैं ( क्षुधः च ) भूखें, ( सर्वाः तृष्णाः च ) और सब प्रकार की पियासें, सब ( शरीरम् अनु प्राविशन् ) शरीर में प्रविष्ट हो जाती हैं।

निन्दाश्च वा अनिन्दाश्च यच्च हन्तेति नेति च।
शरीरं श्रद्धा दक्षिणाश्रद्धा चानु प्राविशन् ॥ २२ ॥

---

२० ( द्वि० ) 'यश महत्' इति पैप्प० सं०।

२१—'वाऽभूतिश्च' इति पैप्प० सं०।

भा०—( निन्दाः च वा अनिन्दाः च ) समस्त निन्दाओं और अनिन्दाओं के भाव ( यत् च हन्त इति, न इति च ) और जो 'हां' या 'न' इस प्रकार के इच्छा और अनिच्छा के भाव हैं ( श्रद्धा दक्षिणा अश्रद्धा च ) धर्मकार्यों में श्रद्धा, दक्षिणा, उनके लिये पुरस्कार देने के विचार और उनके प्रति अश्रद्धा ये भी ( शरीरम् अनु प्राविशन् ) शरीर में प्रविष्ट होते हैं।

विद्याश्च वा अविद्याश्च यच्चान्यदुपदेश्य/म् ।
शरीरं ब्रह्म प्राविशदृचः सामाथो यजुः ॥ २३ ॥

भा०—( विद्याः च ) समस्त विद्याएं ( वा ) और ( अविद्याः च ) समस्त अविद्याएं अर्थात् कर्म जाल और ( यत् च ) जो कुछ भी ( उपदेश्यम् ) उपदेश करने योग्य है और ( ऋचः ) ऋग्वेद ( साम अथो यजुः ) सामवेद और यजुर्वेद और ( ब्रह्म ) ब्रह्म वेद, अथर्व-वेद ये सब ( शरीरं प्राविशन् ) इस पुरुष शरीर में प्रविष्ट हुए।

आनन्दा मोदाः प्रमुदोऽभीमोदमुदश्च ये ।
हसो नरिष्टा नृत्तानि शरीरमनु प्राविशन् ॥ २४ ॥

पूर्वार्धः अथर्व० ११ । ९ । २६ ॥

भा०—( आनन्दाः ) समस्त आनन्द ( मोदाः ) समस्त हर्ष ( प्रमुदः ) समस्त विनोद और ( अभीमोदमुदः च ये ) जो भी साक्षात् सुखों से उत्पन्न होने वाली खुशियां हैं वे और ( हसः ) सब हंसियें, ( नरिष्टा ) स्वच्छन्द

२३–' शरीरं सर्वं प्राविशन् ' इति पैप्प० सं० ।

२४–' आनन्दा नन्दा प्रमदो ' इति पैप्प० सं० । ( तृ० ) ' नरिष्टा ' इति सायणाभिमतः ।

चेष्टाएं ( नृत्तानि ) नृत्य विलास ये सभी ( शरीरम् अनु प्राविशन् ) इस पुरुष शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं।

आलापाश्च प्रलापाश्चाभिलापलपश्च ये ।
शरीरं सर्वे प्राविशन्नायुजः प्रयुजो युजः ॥ २५ ॥

भा०—( आलापाः च ) समस्त परस्पर के वार्त्तालाप ( प्रलापाः च ) समस्त व्यर्थ बकवाद और ( अभिलापलपः च ये ) जो प्रश्न में दूसरे की बातें सुनकर प्रत्युत्तर में या दशा देखी जो बातें कही जाती हैं और ( आयुजः ) समस्त आयोजनाएं ( प्रयुजः ) समस्त प्रयोग, और प्रयोजन और ( युजः ) समस्त योजनाएं विधान या परस्पर मेल-जोल या योग क्रियाएं ये ( सर्वे ) सब ( शरीरं प्राविशन् ) शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं।

प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या ।
व्यानोदानौ वाङ्मनः शरीरेण त ईयन्ते ॥ २६ ॥

पूर्वं पादत्रयम् अथर्व० ११ । ८ । ४ ॥

भा०—( प्राणापानौ ) प्राण और अपान ( चक्षुः श्रोत्रम् ) चक्षु और श्रोत्र ( अक्षितिः च क्षितिः च या ) और शरीर का क्षय होना और स्थिर रहना ( व्यानोदानौ ) व्यान और उदान ( वाङ्मनः ) वाणी और मन ( ते ) वे सब ( शरीरेण ) शरीर के साथ २ ( ईयन्ते ) कार्य करते हैं।

आशिषश्च प्रशिषश्च संशिषो विशिषश्च याः ।
चित्तानि सर्वे संकल्पाः शरीरमनु प्राविशन् ॥ २७ ॥

भा०—( आशिषः च ) समस्त आशीर्वाद, अभिलषित फलों की आशाएं और ( प्रशिषः च ) समस्त प्रशासन, अपने से छोटे और निम्न

---

२५–( च० ) 'प्रायुजा' इति पैप्प० सं० ।

पुरुषों के प्रति आज्ञाएं ( संशिषः ) समान पुरुषों के प्रति अनुज्ञाएं और सम्मति और ( याः विशिषश्च ) अन्य नाना प्रकार की जो विशेष रूप से कही गई आज्ञाएं या मनोरथ हैं ( चित्तानि ) समस्त चित्त, विचार और ( सर्वे संकल्पाः ) समस्त संकल्प विकल्प ( शरीरम् अनु प्राविशन् ) शरीर के भीतर प्रविष्ट होते हैं ।

आस्तेयीश्च वास्तेयीश्च त्वरणाः कृपणाश्च याः ।
गुह्याः शुक्रा स्थूला अपस्ता बीभत्सावसादयन् ॥ २८ ॥

भा०—( आस्तेयीः[1] च ) 'अस्ति' हृदय या मुख में विद्यमान रुधिर या थूक और ( वास्तेयीः च ) 'वस्ति' मूत्राशय में जमा होने वाले मूत्र के जल ( त्वरणाः ) शरीर में वेग से चलने वाले अथवा प्रवाह से बहने वाले और ( याः कृपणाः च ) जो मन्दगति अथवा तुच्छ स्वरूप से विद्यमान, ( गुह्याः ) गुह्य, गुप्त रूप से अंगों में विद्यमान, ( शुक्राः ) शुक्र, वीर्य रूप में विद्यमान, ( स्थूलाः ) स्थूल, अन्न रूप में पान करने योग्य समस्त प्रकार के ( अपः ) जल ( ताः ) वे सब ( बीभत्सौ ) इस सुबद्ध शरीर में, सुघटित शरीर में ( असादयन् ) रखे हुए हैं ।

अस्थि कृत्वा समिधं तदष्टापो असादयन् ।
रेतः कृत्वाज्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥ २६ ॥

भा०—( अष्ट आपः ) आठों प्रकार के रस, 'आस्तेयी' आदि ( तत् ) उस शरीर में ( अस्थि समिधं कृत्वा ) हड्डियों को समिधा बनाकर ( असा-

२८–( प्र० ) 'आस्तेयीश्च वस्तेयीश्च' इति सायणाभिमतः । 'आस्नेयीश्च वस्नेयीश्च' इति ह्विटनिकामितः ।

१. असेर्वसेश्चौणादिकस्तिः प्रत्ययः, अस्तिः वस्तिः । ततो दृतिकुक्षि कलशिवस्त्यस्त्यहेर्ढञ् इति ढेयिकोऽढञ् । आस्तेयीः वास्तेयीः ।

द्यन् ) प्राप्त होते हैं । और ( रेतः आज्यं कृत्वा ) इस शरीर में रेतस्=वीर्य को ' आज्य ' घृत बनाकर ( देवाः ) प्राण आदि देव ( पुरुषम् आविशन् ) इस पुरुष देह में प्रविष्ट हो गये । वे इस पुरुष देह रूप वेदी में प्रविष्ट होकर जन्मभर ' प्राणाग्निहोत्र ' करते हैं । जिसकी व्याख्या अथर्व-वेदीय ' प्राणाग्निहोत्रोपनिषत् ' में देखिये ।

या आपो याश्च देवता या विराड् ब्रह्मणा सह ।

शरीरं ब्रह्म प्राविशुच्छरीरेऽधि प्रजापतिः ॥ ३० ॥

भा०—( याः आपः ) जो ' आपः ' और ( याः च देवता ) जो अन्य देवता प्राणादि ( या विराट् ) जो विराट् आत्मा की विशेष शक्ति ( ब्रह्मणा सह ) ब्रह्म के साथ है वह ब्रह्म=अन्न रूप होकर (शरीरं प्राविशत्) शरीर मे प्रविष्ट होता है । ( शरीरे अधि प्रजापतिः ) उसी शरीर में प्रजापति अर्थात् इन्द्र, आत्मा अधिष्ठाता रूप से विद्यमान रहता है ।

सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणं पुरुषस्य वि भेजिरे ।

अथास्येतरमात्मानं देवाः प्रायच्छन्नग्नये ॥ ३१ ॥

भा०—( सूर्यः पुरुषस्य चक्षुः वि भेजे ) सूर्य उस पुरुष की चक्षुः स्व-रूप होकर उसका अंग बन गया । ( वातः प्राणं वि भेजे ) और वायु प्राण होकर उसका एक अंग हो गया । इस प्रकार सभी देवगण उस ( पुरुषस्य आत्मानं वि भेजिरे ) पुरुष के देह को बांट कर बैठ गये । ( अथ ) उसके बाद ( अस्य ) इसके ( इतरम् आत्मानम् ) दूसरे शेष देह को ( देवाः ) देवगण ने ( अग्नये ) अग्नि, जाठराग्नि के अधीन ( प्रायच्छन् ) सौंप दिया ।

तस्माद् वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते ।

सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते ॥ ३२ ॥

३१-( तृ० ) ' तथास्येतर ' इति पैप्प० सं० ।

३२ ( च० ) ' शरीरेऽधि समाहिताः ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—( तस्मात् ) इसी कारण ( वै ) ही ( विद्वान् ) अध्यात्म तत्व का ज्ञानी पुरुष ( पुरुषम् ) इस पुरुष को ( इदं ब्रह्म इति मन्यते ) साक्षात् ब्रह्म करके जानता है। क्योंकि ( सर्वाः हि देवताः ) समस्त देवगण, समस्त, इन्द्रिय शक्तियां, पृथिवी आदि तत्व ( अस्मिन् ) इस पुरुष देह में उसी प्रकार ( आसते ) आ विराजे हैं ( गावः गोष्ठे इव ) जिस प्रकार बाड़े में गौवें आ बैठती हैं।

प्रथमेन प्रमारेण त्रेधा विष्वङ् वि गच्छति।
अद एकेन गच्छत्यद एकेन गच्छतीहैकेन नि षेवते ॥ ३३ ॥

भा०—( प्रथमेन प्रमारेण ) प्रथम प्राण के छूट जाने पर पुरुष या सूक्ष्म लिङ्गशरीरवान् आत्मा ( त्रेधा ) तीन प्रकारों से ( विश्वङ् वि गच्छति ) नाना योनियों में जाता है। ( अदः ) उस उत्तम लोक को ( एकेन ) एक प्रकार के उत्तम कर्म से ( गच्छति ) प्राप्त होता है। ( अदः एकेन ) उस नरक, तिर्यक् लोक को भी एक विशेष प्रकार के पाप कर्म से ( गच्छति ) प्राप्त होता है और ( इह ) इस मनुष्य लोक में ( एकेन ) एक विशेष प्रकार के कर्म से ( निषेवते ) अपने कर्म फल भोगता है।

'पुण्येन पुण्यं लोकं नयति, पापेन पापम्, उभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्।' छान्दोग्य उप०। अथवा देवयान, पितृयाण और 'जायस्वम्रियस्व' ये तीन गतियां बतलाई हैं। देखो [ छन्दोग्य उप० ५। १० ]

अप्सु स्तीमासु वृद्धासु शरीरमन्तरा हितम्।
तस्मिञ्छवोऽध्यन्तरा तस्माच्छवोऽध्युच्यते॥ ३४ ॥ ( ३४ )

भा०—(अप्सु स्तीमासु वृद्धासु ) उन बढ़े हुए, आर्द्र अर्थात् गीला कर देने या सदा तरो ताज़ा रखने वाले ( अप्सु ) जलों के ( अन्तरा ) भीतर यह

३३–' विषङ्ङिगच्छति ' इति सायणाभिमतः।

(शरीरम् श्रितम्) शरीर स्थित है। अर्थात् जहां पर शरीरों का सदा आधार जीवन स्थिर है। (तस्मिन् अधि अन्तरा शव) उसके भीतर बलस्वरूप आत्मा अधिष्ठाता रूप से रहता है। (तस्मात्) इसी कारण से (शव अधि उच्यते) वह महान् आत्मा भी 'शव' सर्व बलस्वरूप कहा जाता है।

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

[ तत्र सूक्तद्वयम्, एकषष्टिश्च ऋचः । ]



## [ १ ] महासेना सञ्चालन और युद्ध।

काङ्कायन ऋषिः। मन्त्रोक्ता अर्बुदिर्देवता। १ सप्तपदा विराट् शक्वरी त्र्यवसाना, ३ परोष्णिक्, ४ त्र्यवसाना उष्णिग्बृहतीगर्भा परा त्रिष्टुप् षट्पदातिजगती, ९, ११, १४, २३, २६ पथ्यापङ्क्तिः, १५, २२, २४, २५ त्र्यवसाना सप्तपदा शक्वरी, १६ त्र्यवसाना पञ्चपदा विराडुपरिष्टाज्ज्योतिस्त्रिष्टुप्, १७ विराड् गायत्री, २, ५–८, १०, १२, १३, १८–२१ अनुष्टुभः। षड्विंशर्चं सूक्तम्॥

ये बाहवो या इषवो धन्वनां वीर्याणि च।
असीन् परशूनायुधं चित्ताकूतं च यद्धृदि।
सर्वं तदर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्र दर्शय॥१॥

भा०—हे (अर्बुदे) मेघ के समान शत्रुओं पर अस्त्रों के वर्षण करने वाले, शत्रु के विनाशक और लाखों पुरुषों से बनी हुई सेना के अध्यक्ष! तेरी (ये बाहवः) जो शत्रुओं को रोकने वाली बाहुएं (या इषवः) जो बाण, (धन्वनां वीर्याणि च) और जो धनुर्धारियों के बल हैं उनको और (असीन्) तलवारों, (परशून्) फरसों, (आयुधं) नाना हथियारों को (यद् हृदि चित्ताकूतं च) और हृदय में जो चित्त के सङ्कल्प हैं (तत् सर्वम्) उस सब को (त्वं) तू (अमित्रेभ्यः) शत्रुओं को (दृशे) दिखलाने के लिए (उदारान्

च ) विशाल २ यन्त्र या महास्त्र ( कुरु ) तय्यार कर और ( प्र दर्शय ) दिखला ।

उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं मित्रा देवंजना यूयम् ।
संदृष्टा गुप्ता वः सन्तु या नो मित्राण्यर्बुदे ॥ २ ॥

भा०—हे ( मित्राः ) मित्र राष्ट्र के नृपतियो ! और हे ( देवजनाः ) विद्वान् राजा लोगो ! ( यूयम् ) तुम सब लोग ( उत्तिष्ठत ) उठ खड़े होओ, ( सं नह्यध्वम् ) एक साथ बंध जाओ, संगठित हो जाओ, तैयार हो जाओ। हे ( अर्बुदे ) हे लक्षों सेनाओं के पति ! ( या नः मित्राणि ) जो हमारे मित्र लोग हैं ( वः ) और जो तुम्हारे मित्र लोग हैं, वे सब ( संदृष्टाः ) भली प्रकार दृष्टिगोचर रहते हुए भी ( गुप्ताः सन्तु ) खूब सुरक्षित हो कर रहें ।

उत्तिष्ठतमा रभेथामादानसंदानाभ्याम् ।
अमित्राणां सेनां अभि धत्तमर्बुदे ॥ ३ ॥

भा०—हे ( अर्बुदे ) अर्बुदे ! लक्षदण्डपते ! और हे न्यर्बुदे ! दश लक्षसेनापते ! तुम दोनों ( उत्तिष्ठतम् ) उठो ! ( आदानसंदानाभ्याम् ) आदान और संदान, धर और पकड़ द्वारा ( आरभेथाम् ) अपना कार्य शुरु करो, शत्रुओं को पकड़ो । और इस प्रकार ( अमित्राणाम् ) शत्रुओं की ( सेनाः ) सेनाओं को ( अभि धत्तम् ) बांध लो ।

अर्बुदिर्नाम यो देव ईशानश्च न्यर्बुदिः ।
याभ्यामन्तरिक्षमावृतमियं च पृथिवी मही ।
ताभ्यामिन्द्रमेदिभ्यामहं जितमन्वेमि सेनया ॥ ४ ॥

भा०—( अर्बुदिः नाम यः देवः ) जो देव 'अर्बुदि' नाम वाला है वह मेघ के समान शत्रु पर शरों की वर्षा करता है और दूसरा ( न्यर्बुदिः ईशानः च )

३—'सेनाम्' इति सायणाभिमतः ।

जो न्यर्बुदि है वह 'ईशान' अर्थात् विद्युत् के समान तीव्र प्रहार करने वाला है। (याभ्याम्) जिन दोनों ने (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष और (इयं मही पृथिवी च) यह विशाल पृथिवी भी (आवृतम्) घेर रक्खी है। (इन्द्रमेदिभ्या) इन्द्र अर्थात् राजा के सही (ताभ्याम्) उन दोनों के साथ (अहम्) मैं (जितम्) विजय से प्राप्त किये देश को (सेनया) सेना के बल से (अन्वेमि) वश करता हूं।

उत्तिष्ठ त्वं देवजनार्बुदे सेनया सह ।
भञ्जन्नमित्राणां सेनां भोगेभिः परि वारय ॥ ५ ॥

भा०—हे (देवजन अर्बुदे) देवजन! विजिगीषो! अर्बुदे सेनानायक! (त्व) तू (सेनया सह) सेना के साथ (उत्तिष्ठ) उठ। (अमित्राणां सेनाम्) शत्रुओं की सेना को (भञ्जन्) तोड़ता फोड़ता हुआ (भोगेभिः परिवारय) सांप जिस प्रकार अपने फणों से घेर लेता है उस प्रकार तू अपने सेना व्यूहों से उनको घेर ले।

सप्त जातान् न्यर्बुद उदाराणां समीक्षयन् ।
तेभिष्ट्वमाज्ये हुते सर्वैरुत्तिष्ठ सेनया ॥ ६ ॥

भा०—हे (न्यर्बुद) महा सेनापते! तू अपने (उदाराणाम्) विशाल, ऊपर उठने वाले या ऊपर से प्रहार करने वाले महायन्त्रों में से (सप्त) सात प्रकार के (जातान्) उत्पन्नों को (समीक्षयन्) दिखाता हुआ (आज्ये हुते) अग्नि में घी पड़ चुकने पर जैसे अग्नि प्रचण्ड हो जाती है उसी प्रकार युद्ध की अग्नि के प्रचण्ड हो जाने पर (तेभिः सर्वैः) उन सब महास्त्रों सहित (सेनया) अपनी सेना से (उत्तिष्ठ) उठ खड़ा हो।

अपनी सेना की आगे की दिशा में शत्रु है, उस दिशा को छोड़ शेष सातों दिशाओं में सात महास्त्रों की योजना करे और युद्ध छिड़ जाने पर सेना सहित महास्त्रों से लड़े।

प्रतिघ्नानाश्रुमुखी कृधुकर्णी च क्रोशतु ।
विकेशी पुरुषे हते रदिते अर्बुदे तव ॥ ७ ॥

भा०—हे ( अर्बुदे ) सेनानायक ! सांप जिस प्रकार थोड़ा सा दांत लगा कर ही पुरुष को मार देता है उसी प्रकार ( तव ) तेरे ( रदिते ) थोड़ासा भी प्रहार करके शरीर के क्षत-विक्षत करने पर, ( हते पुरुषे ) पुरुष के मर जाने पर उसकी स्त्री ( प्रतिघ्नाना ) अपनी छाती पीटती हुई, ( अश्रुमुखी ) आंसुओं से मुँह धोती हुई ( कृधुकर्णी ) खुले कानों को लिये ( विकेशी ) अपने बाल खोले ( क्रोशतु ) रोए, चिल्लाए ।

संकर्षन्ती करूकरं मनसा पुत्रमिच्छन्ती ।
पतिं भ्रातरमात्स्वान् रदिते अर्बुदे तव ॥ ८ ॥

भा०—हे ( अर्बुदे तव रदिते ) अर्बुदे सेनानायक ! सांप के समान तेरे डस लेने पर शत्रु स्त्री ( करूकरं संकर्षन्ती ) अपने हाथ पैर की हड्डियों को मचकाती हुई या अपने कर्म कर भृत्यों को साथ लिए हुए ( मनसा पुत्रम् इच्छन्ती ) अपने मन से पुत्र को चाहती हुई, ( पतिं भ्रातरम् ) पति भाई और ( आत् स्वान् ) अपने अन्य बन्धुओं को भी चाहती हुई अर्थात् उनके नाम ले २ कर उनको याद करती हुई ( क्रोशतु ) विलाप करे ।

अलिक्लवा जाष्कमदा गृध्राः श्येनाः पतत्रिणः ।
ध्वाङ्क्षाः शकुनयस्तृप्यन्त्वमित्रेषु समीक्षयन् रदिते अर्बुदे तव ॥ ९ ॥

भा०—हे ( अर्बुदे तव रदिते ) अर्बुदे ! महा नाग के समान तेरे डस लेने पर ( अलिक्लवाः ) भयानक बड़े २ पक्षी, ( जाष्कमदाः ) जाष्कमद बाज़ आदि शिकारी जानवर, ( गृध्राः ) गीध, ( श्येनाः ) उकाब आदि ( पतत्रिणः ) बड़े २ पंखों वाले पक्षी और ( ध्वांक्षाः ) कौवे और ( शकु-

९—'अलिक्लवा याः कृमयः' इति सायणाभिमतः ।

नय॰ ) शक्तिशाली पक्षी ( अमित्रेषु ) शत्रुओं के मांसों पर ( तृप्यन्तु ) तृप्त हों। और तू ( समीक्षयन् ) अपना बल दिखलाता रह।

अथो सर्वं श्वापदं मक्षिका तृप्यतु क्रिमिः।
पौरुषेयेऽधि कुणपे रदिते अर्बुदे तव ॥ १० ॥ ( २४ )

भा०—हे ( अर्बुदे ) महा तीक्ष्ण सेनानायक ! नाग के समान (तवर दिते) तेरे डस लेने पर (अथो, और ( सर्वम् ) सब प्रकार के (श्वापदम्) कुत्ते के समान पञ्जों वाले शेर, चीते, बघेरे आदि जंगली जानवर (मक्षिका॰) मक्खियां और ( क्रिमि ) कीड़े मकौड़े भी ( तवर दिते ) तेरे डस लेने पर ( पौरुषेये कुणपे अधि ) मानुष मुर्दार पर ( तृप्यतु ) अपना पेट भरकर तृप्त हों।

आ गृह्णीतं सं बृहतं प्राणापानान् न्यर्बुदे।
निवाशा घोषाः सं यन्त्वमित्रेषु समीक्षयन् रदिते अर्बुदे तव ॥११॥

भा०—हे ( अर्बुदे तव रदिते ) प्रबल सेनानायक ! महानाग के समान तेरे डस लेने पर और ( समीक्षयन् ) जब तू भय प्रदर्शन कराता हो तब ( अमित्रेषु ) शत्रुओं में ( निवाशाः घोषाः ) चीखें और कोलाहल के शब्द ( संयन्तु ) होने लग जायं। हे अर्बुदे ! हे न्यर्बुदे ! सेनापते ! ये तुम दोनों ( प्राणापानान् ) प्राणों और अपानों को ( आगृह्णीतं ) पकड़ लो और ( सं बृहतम् ) उनके शरीरों से निकाल लो।

उद् वेपय सं विजन्तां भियामित्रान्त्सं सृज।
उरुग्राहैर्बाह्वङ्कैर्विध्यामित्रान् न्यर्बुदे ॥ १२ ॥

भा०—हे (न्यर्बुदे) सेनापते ! महानाग के समान भयानक तू (अमित्रान्) शत्रुओं को ( उद्वेपय ) कंपा दे। वे ( सं विजन्ताम् ) भय से मैदान छोड़

---

११–( प्र० ) ' बृहतम् ' इति सायणाभिमतः।
१२–' उरुग्राहैर्बाह्वङ्कैः ' इति सायणाभिमत.।

कर भाग जायें । उनको ( भिया संसृज ) भय से युक्त कर । उनके भीतर भय बैठ जाय । और ( अमित्रान् ) शत्रुओं को ( उरुग्राहैः ) बड़ी पकड़ वाले ( बाह्वङ्कैः ) बाहु के समान रूप वाले शस्त्रों से ( विध्य ) ताड़न कर ।

'उरुग्राहैर्बाह्वङ्कैः' इति सायणाभिमतः पाठः । अर्थात् जंघाओं को पकड़ने या जकड़ने वाले और बाहुओं को बांधने वाले प्रयोगों से शत्रुओं को मार ।

मुह्यन्त्वेषां बाहवश्चित्ताकूतं च यद्धृदि ।
मैषामुच्छेषि किं चन रदिते अर्बुदे तव ॥ १३ ॥

भा०—हे (अर्बुदे) सेनापते ! महानाग के समान महाभयंकर (तव रदिते) तेरे काट लेने पर (एषां बाहवः) इनकी बाहवें ( मुह्यन्तु ) जकड़ जावें (यद् हृदि) जो हृदय में ( चित्ताकूतं च ) चेतना और संकल्प विकल्प हैं वे भी मूढ़ हो जांय ( एषाम् ) इनका ( किंचन ) कुछ भी ( मा उत् शेषि ) न बचा रहे ।

प्रतिघ्नानाः सं धावन्तूरः पटूरावाघ्नानाः ।
अघारिणीर्विकेश्यो/रुदन्त्यः पुरुषे हते रदिते अर्बुदे तव ॥ १४ ॥

भा०—हे ( अर्बुदे तव रदिते ) भयकारिन् अर्बुदे ! सेनापते ! महानाग के समान तेरे डस लेने पर ( हते पुरुषे ) शत्रु के मरे मुर्दे पर ( उरः ) छाती को ( प्रतिघ्नानाः ) पीटती हुई और ( पटूरौ आघ्नानाः ) जंघाओं को दुहत्थड़ मार २ कर रोती हुई (अघारिणीः) अपने सम्बन्धी पुरुषों के वियोग से दुःखी होकर ( विकेश्यः ) बाल बिखारती हुई ( रुदत्यः ) रोती पीटती हुई शत्रु स्त्रियां विलाप करें ।

श्वन्वतीरप्सरसो रूपका उतार्बुदे ।
अन्तः पात्रे रेरिहतीं रिशां दुर्णिहितैषिणीम् ॥
सर्वास्ता अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्र दर्शय ॥ १५ ॥

१४–( द्वि० ) 'पटौरा' इति क्वचित् ।

भा०—हे ( अर्बुदे ) सेनापते ! महानाग के समान भयंकर तू ( अभिप्रेक्ष्य दृशे ) शत्रुओं को दिखाने के लिये ( रूपका. ) केवल रूप-वाली, ( श्वन्वती. ) कुत्तों को साथ लिये, ( अप्सरस. ) स्त्रियां अथवा ( श्वन्वतीः रूपका. अप्सरस ) कुत्ते और गीदड़ के रूप वाली जन्तु सेनाओं को ( कुरु ) तैयार कर और ( दु. निहितैषिणीम् ) बुरी, गन्दी २ वस्तुओं को चाहने वाली ( अन्त. पात्रे ) पात्र के भीतर ( रेरिहतीम् ) चाटने वाली ( रिशाम् ) मरखनी गाय या स्त्री को ( कुरु ) दर्शा । ( सर्वाः ता ) इन सब चमत्कारकारी मायाओं और ( उदारान् च ) नाना प्रकार के महायन्त्रों द्वारा किये जाने योग्य उत्पातों को भी ( प्रदर्शय ) दिखला। जिससे भय करके शत्रु भाग जायें ।

खड्रूरेऽधिचङ्कमां खर्विकां खर्ववासिनीम् ।
य उदारा अन्तर्हिता गन्धर्वाप्सरसश्च ये ।
सर्पा इतरजना रक्षांसि ॥ १६ ॥
चतुर्दंष्ट्राञ्छ्यावदतः कुम्भमुष्कॉ असृङ्मुखान् ।
स्वभ्यसा ये चोद्भ्यसाः ॥ १७ ॥

भा०—( खड्रूरे ) आकाश में दूर तक ( चंकमाम् ) जाने वाली ( खर्विकाम् ) खर्व रूप वाली, छोटी सी ( खर्ववासिनीम्=खर्ववाशिनीम् ) विकृत शब्द करने वाली माया को भी दर्शा । ( ये ) जो ( उदारा ) ऊपर चमत्कारकारी पदार्थ ( अन्तर्हिताः ) भीतर छिपे हुए हों और ( ये ) जो ( गन्धर्वाप्सरसश्च ) वे गन्धर्व और अप्सराएं, नवयुवक और रूपवती स्त्रियें और ( सर्पा इतरजना रक्षांसि ) नाग, इतरजन, नीच भयंकर लोग और राक्षस, क्रूर लोग इन सब को समय २ पर दर्शा । और माया से ही ( चतुर्दंष्ट्रान् ) चार २ दाढ़ों वाले, ( श्यावदतः ) काले २ दांतों वाले, ( कुम्भमुष्कान् ) घड़े के समान बड़े २ अण्डकोशों वाले, ( असृङ्मुखान् ) मुंह में लहू लिये हुए नाना

भयंकर ऐसे रूपों को दिखा (ये) जो (स्वभ्यसाः) स्वयं भयंकर और (उद्भ्यसाः) दूसरों में भय उत्पन्न करने में समर्थ हों।

उद् वेपय त्वमर्बुदे मित्राणाममूः सिचः।
जयांश्च जिष्णुश्चा मित्राँ जयतामिन्द्रमेदिनौ ॥ १८ ॥

भा०—हे (अर्बुदे) अर्बुदे! (त्वम्) तू (अमित्राणां) शत्रुओं की (अमूः) उन दूर खड़ी (सिचः) सेना पंक्तियों को (उद्वेपय) कपा दे। और इस प्रकार स्वयं (जिष्णुः) विजय करने हारा विजिगीषु राजा (अमित्रान्) शत्रुओं को (जयान्) विजय करे और (इन्द्रमेदिनौ) इन्द्र के मित्र अर्बुदि और न्यर्बुदि दोनों सेनापति भी (जयताम्) विजय करें।

प्रब्लीनो मृदितः शयां हतो ऽमित्रो न्यर्बुदे।
अग्निजिह्वा धूमशिखा जयन्तीर्यन्तु सेनया ॥ १९ ॥

भा०—हे (न्यर्बुदे) न्यर्बुदे! (अमित्रः) शत्रु (प्रब्लीनः) चारों तरफ़ से घेरा जाय, (मृदितः) कुचला जाय, (हतः शयाम्) और मारा जाकर भूमि पर लेट जाय। सेना के साथ (अग्निजिह्वाः) आग की जिह्वाएं, लपटें, (धूमशिखाः) धूएं की चोटियां उड़ाती हुई (जयन्तीः यन्तु) विजय करती हुई आगे बढ़ें।

'अग्निजिह्वा धूमशिखा' ये यन्त्रों द्वारा उत्पादित अग्नियें हैं।

तयार्बुदे प्रणुत्तानामिन्द्रो हन्तु वरंवरम्।
अमित्राणां शचीपतिर्मामीषां मोचि कश्चन ॥ २० ॥ (२६)

भा०—हे (अर्बुद) सेनापते! (तया) उस सेना के बल से (प्रणुत्तानां) पराजित हुए (अमित्राणां) शत्रुओं में से (वरंवरं) चुने २,

१८—'अन्तः मुनः' इति सायणाभिमतः।

१९—'प्रम्लीनो' इति सायणाभिमतः।

श्रेष्ठ २ पुरुष का ( शचीपति ) शक्तिशाला, ( इन्द्र हन्तु ) सेनापति मरवा डाले। ( अमीषाम् ) उन शत्रुओं में से ( क चन ) कोई भी ( मा मोचि ) बच न पावे।

उत्कामन्तु हृदयान्यूर्ध्वः प्राण उदीषतु।
शौष्कास्यमनु वर्तताममित्रान् मोत मित्रिणः ॥ २१ ॥

भा०—( हृदयानि ) शत्रुओं के हृदय ( उत्क्रमन्तु ) उखड़ जायं। ( ऊर्ध्वः प्राण उद् ईषतु ) ऊपरी प्राण शरीर को छोड़ कर निकल जाय। ( अमित्रान् ) शत्रुओं को ( शौष्कास्यम् अनु वर्तताम् ) गला सूख २ कर रह जाने का कष्ट हो। परन्तु यह कष्ट ( मित्रिणः ) मित्रों का ( मा उत ) कभी न हो।

ये च धीरा ये चाधीराः पराञ्चो बधिराश्च ये।
तमसा ये च तूपरा अथो बस्ताभिवासिनः।
सर्वांस्ताँ अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्र दर्शय ॥ २२ ॥

भा०—हे ( अर्बुदे ) सेनापते! ( ये च धीराः ) जो धीर शूरवीर या बुद्धिमान हैं, ( ये च अधीराः ) और जो अधीर, भीरु या मूर्ख हैं, ( पराञ्चः ) भागने वाले और ( ये बधिराः च ) जो बहरे हैं ( तमसा ) अन्धकार से जो ( तूपराः ) बे सींग के, भोले भाले ( अथो ) और जो ( बस्ताभिवासिनः ) भेड़ बकरों के समान बलबलाते हैं, ( तान् सर्वान् ) उन सबको ( त्वम् अमित्रेभ्यो दृशे कुरु ) शत्रुओं को दिखाने के लिये तय्यार कर। और ( उदारान् च प्रदर्शय ) बड़े २ नाशक प्रयोग दिखला।

अर्बुदिश्च त्रिषन्धिश्चामित्रान् नो वि विध्यताम्।
यथैषामिन्द्र वृत्रहन् हनाम शचीपतेऽमित्राणां सहस्रशः ॥ २३ ॥

---

२२–( च० ) 'बस्ताभिवासिनः' इति सायणाभिमतः।

भा०—( अर्बुदिः ) अर्बुदि और ( त्रिसन्धिः च ) तीन सन्धियों वाले, त्रिसंधिनामक बाण महास्त्रवाला सेनापति ( नः अमित्रान् विविध्यतम् ) हमारे शत्रुओं पर ऐसा प्रहार करे कि जिससे हे ( वृत्रहन् ) घेर लेने वाले शत्रुओं के नाशक ! हे ( शचीपते ) शक्तिपते ! सेनापते ! ( एषां अमित्राणाम् ) इन शत्रुओं को हम ( सहस्रशः ) हज़ारों की संख्या में ( हनाम ) मारें ।

वनस्पतीन् वानस्पत्यानोषधीरुत वीरुधः ।
गन्धर्वाप्सरसः सर्पान् देवान् पुण्यजनान् पितॄन् ।
सर्वांस्ताँ अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्र दर्शय ॥२४॥

भा०—( वनस्पतीन् वानस्पत्यान् ) वनस्पतियों, वृक्षों और वृक्ष के बने नाना प्रकार के हथियारों को, ( ओषधीः उत वीरुधः ) ओषधियों और लताओं को ( गन्धर्वाप्सरसः ) नव युवकों, स्त्रियों, ( सर्पान् देवान् पुण्यजनान् पितॄन् ) सांपों को या गुप्तचरों, देवों, शासक, राजाओं, ( पुण्यजनान् ) पुण्यात्मा पुरुष और पालक पितृ लोग ( तान् सर्वान् ) उन सब को हे ( अर्बुदे ) सेनापते ( त्वम् अमित्रेभ्यः दृशे कुरु ) तू अपने शत्रुओं को दिखलाने के लिये कर और ( उदारां च प्रदर्शय ) बड़े २ संहारकारी उपायों को भी दिखला ।

ईशां वो मरुतो देव आदित्यो ब्रह्मणस्पतिः ।
ईशां व इन्द्रश्चाग्निश्च धाता मित्रः प्रजापतिः ।
ईशां व ऋषयश्चक्रुरमित्रेषु समीक्षयन् रदिते अर्बुदे तव ॥२५॥

भा०—हे ( अर्बुदे ) अर्बुदे ! सेनानायक ! ( वः ) तुम्हारे ( अमित्रेषु ) शत्रुओं में भी ( मरुतः ) वायुओं के समान वेगवान् भट ( आदित्यः ) सूर्य के समान प्रतापी पुरुष, ( ब्रह्मणस्पतिः ) महाज्ञानी, ( ईशां चक्रुः ) उन पर शासन करते हैं । ( इन्द्रः च अग्निः च धाता मित्रः प्रजापतिः ) तुम्हारे

शत्रुओं में इन्द्र राजा, अग्नि के समान शत्रुतापकारी धाता, सर्वपालक सब के मित्र और प्रजापति के समान प्रजापालक पुरुष ( ईशां चक्रुः ) उनका शासन करते हैं ( व अमित्रेषु ऋषयः ईशां चक्रुः ) तुम्हारे शत्रुओं पर भी ऋषि अर्थात् मन्त्र द्रष्टा विद्वान् लोग वश करते हैं। ( तव इन्द्रेण ) तेरे आक्रमण कर लेने पर भी उनपर ( समीक्षयन् ) भली प्रकार देखता हुआ तू शत्रु का नाश कर।

तेषां सर्वेषामीशाना उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं मित्रा देवजना यूयम्।
इमं संग्रामं संजित्य यथालोकं वि तिष्ठध्वम् ॥ २६ ॥ (२७)

भा०—हे ( मित्राः ) मित्र राजाओ ! और हे ( देवजनाः ) देवजनो ! विद्वान् योद्धा जनो ! ( यूयम् ) तुम सब उन शत्रुपक्ष के ( तेषां सर्वेषाम् ) उन सब बड़े २ ऐश्वर्यशील पुरुषों पर भी ( ईशानाः ) अपना प्रभुत्व जमाते हुए ( उत्तिष्ठत ) उठ खड़े होवो, ( सं नह्यध्वं ) कमर कस के लड़ाई के लिये तैयार हो जाओ। ( इमं संग्रामम् ) इस संग्राम को ( संजित्य ) भली प्रकार जीत कर ( यथालोकम् ) अपने २ स्थान पर ( वि तिष्ठध्वम् ) स्थिर रहो।

---

## [ १० ] शत्रुसेना का विजय।

भृग्वङ्गिरा ऋषिः। मन्त्रोक्तस्त्रिषन्धिर्देवता। १ विराट् पथ्याबृहती, २ त्र्यवसाना षट्पदा त्रिष्टुब्गर्भा त्रिजगती, ३ विराड् आस्तार पङ्क्तिः, ४ विराट् त्रिष्टुप् पुरो विराट् पुरस्ताज्ज्योतिस्त्रिष्टुप्, १२ पञ्चपदा पथ्यापङ्क्तिः, १३ षट्पदा जगती, १६ त्र्यवसाना षट्पदा ककुम्मती अनुष्टुप् त्रिष्टुब्गर्भा शक्वरी, १७ पथ्यापङ्क्तिः, २१ त्रिपदा गायत्री, २२ विराट् पुरस्ताद् बृहती, २५ ककुप्, २६ प्रस्तारपङ्क्तिः, ६–११, १४, १५, १८–२०, २३, २४, २७ अनुष्टुभः। सप्तविंशत्यृचं सूक्तम् ॥

उत्तिष्ठत सं नह्यध्वमुदाराः केतुभिः सह।
सर्पा इतरजना रक्षांस्यमित्राननु धावत ॥ १ ॥

भा०—हे ( उदाराः ) ऊपर से शत्रुओं पर शस्त्रों की वर्षण करने हारे वीर योद्धाओ ! आप लोग ( केतुभिः सह ) अपने २ चिह्नों से युक्त झण्डों सहित ( उत्तिष्ठत ) उठ खड़े हो और ( सं नह्यध्वम् ) युद्ध के लिये कमर कस कर तैयार हो जाओ । हे ( सर्पाः ) सर्पो ! सर्प के समान विषैले शस्त्रों का प्रयोग करने हारे क्रूर या शत्रु के छिद्रों में प्रवेश करने वाले पुरुषो ! हे ( इतरजनाः ) इतर लोगो, अन्यों से विशिष्ट पुरुषो ! हे ( रक्षांसि ) रक्षाकारी लोगो ! तुम सब लोग ( अमित्रान् अनु धावत ) शत्रुओं पर चढ़ाई करो ।

ईशां वो वेद राज्यं त्रिषन्धे अरुणैः केतुभिः सह ।
ये अन्तरिक्षे ये दिवि पृथिव्यां ये च मानवाः ।
त्रिषन्धेस्ते चेतसि दुर्णामान उपासताम् ॥ २ ॥

भा०—हे ( त्रिसन्धे ) त्रिसन्धि नामक सेनापते ! ( अरुणैः केतुभिः सह ) लाल २ झण्डों सहित ( ईशां ) ऐश्वर्यसम्पन्न, शक्तिशाली ( वः ) तुम लोगों के ( राज्यम् )[1] राज्य को, सामर्थ्य को ( वेद ) मैं जानता हूं । ( अन्तरिक्षे दिवि पृथिव्यां च ) अन्तरिक्ष, द्यौलोक और पृथिवी में भी ( ये मानवाः ) जो मानव लोग हैं और ( दुर्णामानः ) जो दुष्टनाम वाले, दुष्ट-स्वभाव वाले पुरुष हैं, वे सब ( ते त्रिसन्धेः ) तुझ 'त्रिसन्धि' नामक महास्त्रधारी पुरुष के ( चेतसि ) चित्त या इच्छा में ( उपासताम् ) रहें । तेरे अनुकूल चलें ।

---

[१०] २-१. 'वेद । राज्यम् ।' इति पदपाठः शं० पा० ॥ 'वेद-राज्यं' इति एकपदं च कश्चित् । 'वेद, राज्यम्' इति सायणः । ( पं० ) 'त्रिसंधेत्वं' त्रिसंसन्धे, 'त्रिसंधेस्त्वे' इत्यादि नानापाठाः ।

अयोमुखाः सूचीमुखा अथो विकङ्कतीमुखाः ।
क्रव्यादो वातरंहस आ सजन्त्वमित्रान् वज्रेण त्रिषन्धिना ॥ ३ ॥

भा०— (वज्रेण) वज्र के समान तीक्ष्ण शत्रुनिवारक (त्रिषन्धिना) त्रिसन्धि नामक वाण या अस्त्र के साथ (अयोमुखाः) लोह के समान कठोर मुख वाले (सूचीमुखाः) सूए के समान तीक्ष्ण चोंच वाले, और (अथो) (विकङ्कतीमुखाः) कंघी के समान मुख वाले (क्रव्यादः) कच्चा मांस खाने वाले (वातरंहसः) वायु के समान वेगवान् बाण (अमित्रान्) शत्रुओं को (आसजन्तु) जा २ कर लगें ।

अन्तर्धेहि जातवेद आदित्य कुणपं बहु ।
त्रिषन्धेरियं सेना सुहितास्तु मे वशे ॥ ४ ॥

भा०—हे (जातवेदः) विद्वन् ! अग्ने ! सेनापते ! हे (आदित्य) सूर्य के समान शत्रुओं का तेज अपने भीतर लेने हारे ! तू (बहु कुणपं) बहुतसी लोथों को (अन्तः धेहि) युद्ध के भीतर गिरा। (त्रिषन्धेः) त्रिषन्धि वज्र या महास्त्र चलाने वाले की (इयं सेना) यह सेना (मे वशे) मेरे वश में (सुहिता अस्तु) उत्तम रीति से व्यवस्थित होकर रहे।

उत्तिष्ठ त्वं देवजनार्बुदे सेनया सह ।
अयं बलिर्व आहुतस्त्रिषन्धेराहुतिः प्रिया ॥ ५ ॥

भा०—हे (देवजन) देवजन विजिगीषु पुरुषो ! (अर्बुदे) हे और हे अर्बुदे ! सेनापते ! (त्वं सेनया सह) तू सेना के साथ उत्तिष्ठ) उठ। (वः) तुम लोगों की (अयं बलिः) यह विशेष बलि, आहुति, युद्ध रूप अग्नि में डाली

३–(प्र०) 'शलीमुखा,' 'शूचीमुखा' इति क्वचित् ।
५–(द्वि० तृ०) 'अयम्बलिर्व आहुतिस्त्रिषन्धे राहुतिर्प्रिया' इति सायणाभिमतः ।

जाती है। ( त्रिसन्धेः ) त्रिषन्धि महास्त्र के ( आहुतिः ) इस प्रकार की आहुति अति प्रिय होती है।

शितिपदी सं द्यंतु शरव्येऽयं चतुष्पदी।
कृत्येमित्रेभ्यो भव त्रिषन्धेः सह सेनया ॥ ६ ॥

भा०—(शितिपदी ) श्वेत चरणवाली ( इयम् ) यह ( शरव्या ) शर=बाणों की पंक्ति अर्थात् बाणधारियों की फौज ( चतुष्पदी ) चार पदों वाली चतुरंगिणी सेना होकर ( सं द्यतु ) शत्रु का नाश करे। हे ( कृत्ये ) हिंसाकारिणि सेने ! तू ( त्रिसन्धेः ) त्रिसन्धिनामक अस्त्रधारी की सेना के साथ ( अमित्रेभ्यः ) शत्रुओं के नाश के लिये ( भव ) हो।

धूमाक्षी सं पंततु कृधुकर्णी चं क्रोशतु।
त्रिषंन्धेः सेनया जिते अरुणाः सन्तु केतवः ॥ ७ ॥

भा०—शत्रु की सेना ( धूमाक्षी ) धूएं से पीड़ित चक्षु होकर ( संपततु ) भाग जाय और वह ( कृधुकर्णी च ) छोटे कान करके, अर्थात् कान दबा कर ( क्रोशतु ) चीखे। ( त्रिषन्धेः ) त्रिसन्धि नाम महास्त्र के बल पर ( सेनया ) सेना द्वारा ( जिते ) शत्रु के जीत लेने पर ( अरुणाः ) लाल ( केतवः ) झण्डे ( सन्तु ) खड़े किये जायं।

अवायन्तां पक्षिणो ये वयांस्यन्तरिक्षे दिवि ये चरन्ति।
श्वापदो मक्षिकाः सं रभन्तामामादो गृध्राः कुणपे रदन्ताम् ॥८॥

भा०—( ये ) जो ( अन्तरिक्षे ) अन्तरिक्ष और ( दिवि ) और भी ऊंचे आकाश में ( चरन्ति ) विचरते हैं वे ( वयांसि ) पक्षी भी ( अव अयन्ताम् ) नीचे आ उतरें। ( श्वापदः ) कुत्ते के पन्जों वाले मांसाहारी पशु

६—' शितिपदी से द्यतु ' इति सायणाभिमतः।
७—( द्वि० ) ' त्रिसंधे सेनया ' इति पाठिः।

और ( सविका ) कच्चा मांस खाने वाले ( गृध्रा ) गीध ( कुणपे ) मुर्दों पर ( रदन्ताम् ) अपने नखों और चोंचों से प्रहार करें, उनको काटें फाड़ें।

यामिन्द्रेण संधां समधत्था ब्रह्मणा च बृहस्पते ।
तयाहमिन्द्रसंधया सर्वान् देवानिह हुव इतो जयत मामुतः ॥९॥

भा०—हे ( बृहस्पते ) बृहस्पते! वेद के विद्वान्! ( याम् संधाम् ) जिस सधा, प्रतिज्ञा को ( इन्द्रेण ब्रह्मणा च ) इन्द्र राजा, और ब्रह्म के ज्ञानी विद्वान् ब्राह्मण के साथ ( सम् अधत्थाः ) तू सन्धि कर लेता है ( तया ) इस ( इन्द्रसंधया ) राजा के साथ की हुई सन्धि या प्रतिज्ञा के अनुसार ( अहम् ) मैं ( सर्वान् देवान् ) सब करप्रद राजाओं को ( इह हुवे ) यहां बुलाता हूं और आज्ञा देता हूं कि ( इतः जयत ) इस २ दिशा में विजय करो और ( अमुतः ) अमुक २ दिशाओं में विजय मत करो।

बृहस्पतिराङ्गिरस ऋषयो ब्रह्मसंशिताः ।
असुरक्षयणं वधं त्रिषन्धिं दिव्याश्रयन् ॥ १० ॥ ( २८ )

भा०—( आङ्गिरसः ) अंगिरस वेद का वेत्ता ( बृहस्पतिः ) बृहस्पति विद्वान् और ( ब्रह्मसंशिताः ऋषयः ) ब्रह्म अर्थात् वेद के स्वाध्याय में तीक्ष्ण, तपस्वी, ज्ञाननिष्ठ मन्त्रद्रष्टा, विद्वान् ऋषिगण ( असुरक्षयणं ) असुरोंके विनाशकारी ( त्रिषन्धिम् ) त्रिषन्धि नामक ( वधम् ) हथियार, महास्त्र को ( दिवि आश्रयन् ) द्यौलोक में स्थापित करते हैं।

'त्रिषन्धि' नाम का अस्त्र सूर्य की किरणों से या विद्युत् से सम्बन्ध रखता प्रतीत होता है।

---

९–'समधत्था' इति क्वचित्, सायणाभिमतश्च।

१०–'बृहस्पतिरांगिरस इति ह्विटनिकामितः। 'ब्रह्मसंशिताः' इति क्वचित्।

येनासौ गुप्त आदित्य उभाविन्द्रश्च तिष्ठतः ।
त्रिषन्धिं देवा अभजन्तौजसे च बलाय च ॥ ११ ॥

भा०—( येन ) जिस 'त्रिसन्धि' नामक महास्त्र से ( असौ आदित्यः गुप्तः ) यह आदित्य भी सुरक्षित है । और ( इन्द्रः च ) इन्द्र और आदित्य दोनों जिस त्रिसन्धि के तेज से अपने २ स्थान पर ( तिष्ठतः ) स्थिर हैं । उस ( त्रिषन्धिम् ) त्रिसन्धि नामक वज्र आयुध को ( ओजसे च बलाय च ) तेज और बल पराक्रम के कार्य करने के लिये ( देवाः अभजन्त ) देव, विद्वान् लोग भी उसे अपनाते हैं ।

सर्वांल्लोकान्त्समजयन् देवा आहुत्यानया ।
बृहस्पतिराङ्गिरसो वज्रं यमसिञ्चतासुरक्षयणं वधम् ॥ १२ ॥

भा०—( आङ्गिरसः बृहस्पतिः ) अङ्गिरसवेद, अथर्ववेद का विद्वान् वेदवित् ज्ञानी ( यम् वज्रं ) जिस महाविद्युत् को ( असुरक्षयणम् ) असुरों के नाशकारी ( वधम् ) हथियार के रूप से ( असिञ्चत ) निर्माण करता है ( अनया आहुत्या ) इस महान् वज्र की आहुति से ( देवाः सर्वान् लोकान् अजयन् ) देवगण विद्वान् लोग समस्त लोकों को विजय करते हैं ।

बृहस्पतिराङ्गिरसो वज्रं यमसिञ्चतासुरक्षयणं वधम् ।
तेनाहममूं सेनां नि लिम्पामि बृहस्पतेऽमित्रान् हन्म्योजसा ॥ १३ ॥

भा०—( आङ्गिरसः बृहस्पतिः ) अङ्गिरस वेद का विद्वान् ( यम् ) जिस ( असुरक्षयणं वधं वज्रम् असिञ्चत ) असुरों के नाशकारी हथियार के रूप में वज्र, महाविद्युत् को बनाता है ( तेन ) उससे ( अहम् ) मैं ( अमूम् )

११-( प्र० ) 'येनासु' इति क्वचित् ।

१३-'अमुः सेनाम्' इति सायणाभिमतः ।

उस दूर देश में स्थित ( सेनाम् ) सेना को भी ( नि लिम्पामि ) विनाश करूं। हे ( बृहस्पते ) वेदज्ञ विद्वान् ! मैं उसके ( ओजसा ) तेज और पराक्रम से ( अमित्रान् ) शत्रुओं को ( हन्मि ) विनाश करूं।

सर्वे देवा अत्यायन्ति ये अश्नन्ति वषट्कृतम्।
इमां जुषध्वमाहुतिमितो जयत मामुतः ॥ १४ ॥

भा०—( ये देवाः ) जो देव, विद्वान्गण, राजगण ( वषट्कृतम् ) यज्ञ के पवित्र अन्न भाग को ( अश्नन्ति ) खाते हैं वे ( सर्वे ) सब ( अति आयन्ति ) शत्रुओं को अतिक्रमण करके हमारे पास आते हैं ! हे देवगण ! राजा गण ( इमां आहुतिम् जुषध्वम् ) हमारी इस आहुति को सेवन करो, ( इतः जयत ) इधर से विजय करो ( मा अमुतः ) उस शत्रुदल की तरफ से मत लड़ो।

सर्वे देवा अत्यायन्तु त्रिषन्धेराहुतिः प्रिया।
संधां महतीं रक्षत ययाग्रे असुरा जिताः ॥ १५ ॥

भा०—हे ( देवाः ) देवगण, राजगण ! ( सर्वे अति आयन्तु ) आप सब लोग शत्रु का पक्ष त्याग कर हमारी ओर आ जाओ। ( त्रिषन्धेः ) त्रिसन्धि नाम अस्त्र को ( आहुतिः प्रिया ) यज्ञ की आहुति ही प्रिय है। ( यया ) जिस संधा=प्रतिज्ञा से ( असुरा जिताः ) असुरों का विजय किया जाता है उस ( महतीं संधाम् ) बड़ी भारी संधा=परस्पर की प्रतिज्ञा को ( रक्षत ) सुरक्षित रखो।

वायुर॒मित्रा॑णामिष्वग्रा॒ण्याञ्च॑तु।
इन्द्र॑ एषां बा॒हून् प्रति॑ भनक्तु॒ मा श॑कन् प्रति॒धामिषु॑म्।
आ॒दि॒त्य ए॑षाम॒स्त्रं वि ना॑शयतु च॒न्द्रमा॑ युता॒मग॑तस्य॒ पन्था॑म् ॥ १६ ॥

१५-( प्र० ) 'अत्यायन्ति' इति सायणाभिमतः। ( पं० ) 'नाशयति' इति क्वचित्।

भा०—(वायुः) वायु से बना अस्त्र, उससे साधित अस्त्र (अमित्राणाम् इष्वग्राणि ) शत्रुओं के बाणों के अग्र-भागों को ( आ अञ्चतु ) जाकर लगे, जिससे वे लक्ष्य से डिग जांय । ( इन्द्रः ) इन्द्र विद्युत् से साधित अस्त्र ( एषां बाहून् ) उन शत्रुओं की बाहुओं को ( प्रति भनक्तु ) तोड़ डाले । जिससे वे ( इषुम् ) बाण को ( प्रतिधाम् ) हम पर फेंकने के लिये धनुषों में लगा भी ( मा शकन् ) न सकें । ( आदित्यः ) आदित्य या सूर्य से साधित अस्त्र ( एषां अस्त्रम् ) इन शत्रुओं के अस्त्र को ( विनाशयतु ) विनाश करदे और ( चन्द्रमाः ) चन्द्रमा नामक साधित अस्त्र ( अगतस्य ) हमारे तक न पहुंचे हुए शत्रु के ( पन्थाम् ) मार्ग को ( युताम् ) भ्रष्ट करदे; उनको पथ-भ्रष्ट करदे ।

यदि प्रेयुर्देवपुरा ब्रह्म वर्माणि चक्रिरे ।

तनूपानं परिपाणं कृण्वाना यदुपोचिरे सर्वं तदरसं कृधि ॥१७॥

अथर्व० ५ । ८ । ६ ॥

भा०—( यदि ) यदि शत्रु लोग ( देवपुराः ) देव, वायु आदि तत्वों के विज्ञाताओं से परिपालित होकर ( प्रेयुः ) हम पर आ चढ़ें और ( ब्रह्म वर्माणि चक्रिरे ) वेद के विज्ञान के अनुसार ही अपने रक्षा के साधन करते हैं और ( यदि ) यदि ( तनूपानं ) अपने शरीर की रक्षा को और ( परिपाणं ) सब प्रकार की रक्षा को ( कृण्वानाः ) करते हुए ( उपोचिरे ) हम तक पहुंचते हैं तो हे राजन् ! ( तत् सर्वं ) उस सब को भी तू ( अरसं कृधि ) निर्बल कर दे ।

क्रव्यादानुवर्तयन् मृत्युना च पुरोहितम् ।

त्रिषन्धे प्रेहि सेनया जयामित्रान् प्र पद्यस्व ॥ १८ ॥

भा०—हे ( त्रिषन्धे ) त्रिसन्धे ! ( मृत्युना च पुरोहितम् ) मृत्यु से आगे से घेर कर शत्रु को ( क्रव्यादा ) मांस-खोर पशुओं से ( अनुवर्तयन्)

पीछे से घेर कर ( सेनया प्रेहि ) सेना से शत्रु पर चढ़ाई कर ( अमित्रान् ) शत्रुओं तक ( प्र पद्यस्व ) पहुंच और ( जय ) उनको जीत ।

त्रिषन्धे तमसा त्वममित्रान् परि वारय ।

पृषदाज्यप्रणुत्तानां मामीषां मोचि कश्चन ॥ १९ ॥

भा०—हे ( त्रिषन्धे ) त्रिषन्धे ! ( त्वम् ) तू ( अमित्रान् ) शत्रुओं को ( तमसा ) अन्धकार से ( परिवारय ) घेर ले ( पृषद् आज्य-प्रणुत्तानाम् ) महान् पराक्रम से पराजित ( अमीषाम् ) उन शत्रुओं में ( कश्चन मा मोचि ) कोई छूट कर भागने न पावे ।

शितिपदी सं पतत्वमित्राणाममूः सिचः ।

मुह्यन्त्वद्यामूः सेना अमित्राणां न्यर्बुदे ॥ २० ॥ ( २६ )

भा०—( शितिपदी ) श्वेत पद, स्वरूप वाली अर्थात् विद्युत् शक्ति ( अमित्राणां ) शत्रु के ( अमूः ) उन दूर स्थित ( सिचः ) सेना की पंक्तियों की तरफ ( संपतत्ु ) वेग से जाय । हे ( न्यर्बुदे ) न्यर्बुदे ! ( अद्य ) शीघ्र ही ( अमूः अमित्राणां सेना ) उन शत्रुओं की सेनाएं ( मुह्यन्तु ) विमूढ हो जायं ।

मूढा अमित्रा न्यर्बुदे जह्येषां वरंवरम् ।

अनया जहि सेनया ॥ २१ ॥

भा०—हे ( न्यर्बुदे ) न्यर्बुदे ! ( अमित्राः ) शत्रु लोग जब ( मूढाः ) मोह को प्राप्त हो जायं, चेतना रहित हो जाय तब ( एषाम् ) इनके ( वरं-वरम् ) श्रेष्ठ २ सेनापतियों को ( जहि ) मार डाल । और उनको ( अनया सेनया ) इस सेना से ( जहि ) विनाश कर ।

२०—' अमूः शुच ' इति सायणाभिमतः, क्वचित् ।

२१—' मूढा अमित्राः न्यर्बुदे ' इति सायणाभिमतः ।

यश्चं कवची यश्चांकवचोऽमित्रो यश्चाज्मंनि ।
ज्यापाशैः कंवचपाशैरज्मंनाभिहंतः शयाम् ॥ २२ ॥

भा०—( यः च अमित्रः कवची ) जो शत्रु कवच पहने है ( यः च ) और जो ( अकवचः ) कवच नहीं पहने है और ( यः च अज्मनि ) जो रथ पर सवार है, वह भी (ज्यापाशैः) डोरियों के फांसों और (कवचपाशैः) कवच के फांसों से और ( अज्मना ) रथ-पाश से ही ( अभिहतः ) ताड़ित होकर या वध कर ( शयाम् ) धरती पर लेट जाय ।

बिना कवचवालों के लिये ज्यापाश, कवचवालों के लिये कवच पाश और रथियों के लिये रथ पाश या अज्म-पाश का प्रयोग करे ।

ये वर्मिणो ये वर्माणो अमित्रा ये च वर्मिणः ।
सर्वांस्ताँ अर्बुदे हृतांछ्वानोंदन्तु भूम्याम् ॥ २३ ॥

भा०—( ये वर्मिणः ) जो वर्म=कवच पहने हैं और ( ये अवर्माणः ) जो कवच नहीं पहने हैं और ( ये च अमित्राः ) जो शत्रु लोग ( वर्मिणः ) कवच धारण किये हुये हैं ( तान् सर्वान् ) उन सब ( हतान् ) मरे हुओं को हे ( अर्बुदे ) अर्बुदे ! ( भूम्याम् ) पृथिवी पर ( श्वानः ) सियार, कुत्ते ( अदन्तु ) खावें ।

ये रथिनो ये अरथा असादा ये च सादिनः ।
सर्वानदन्तु तान् हृतान् गृध्राः श्येनाः पंतत्रिणः ॥ २४ ॥

भा०—( ये रथिनः ) जो रथों पर सवार हैं ( ये अरथाः ) और जो रथ पर सवार नहीं हैं, ( असादाः ) जो घोड़ों पर सवार नहीं हैं, ये च ( सादिनः ) और जो घोड़ों पर सवार हैं ( तान् ) उन ( सर्वान् ) सब ( हतान् ) मरे हुओं को (गृध्राः) गीध ( श्येनाः ) सेन, बाज और ( पतत्रिणः ) अन्यान्य चील, कौवे आदि पक्षी ( अदन्तु ) खावें ।

सहस्रकुणपा शेतामामित्री सेना समरे वधानाम् ।
विविद्धा ककजाकृता ॥ २५ ॥

भा०—( वधानाम् समरे ) हथियारों की लड़ाई में ( आमित्री सेना ) शत्रु-सेना ( सहस्रकुणपा ) हज़ारों लाशों वाली होकर और ( विविद्धा ) नाना प्रकार से ताड़ित हो होकर ( ककजाकृता )[१] दुर्दशा से पीड़ित, बे हाल होकर ( शेताम् ) पृथ्वी पर पिछ जाय ।

मर्माविधं रोरुवतं सुपर्णैरदन्तु दुश्चितं मृदितं शयानम् ।
य इमां प्रतीचीमाहुतिममित्रो नो युयुत्सति ॥ २६ ॥

भा०—( य ) जो ( अमित्र ) शत्रु ( इमाम् ) इस ( नः ) हमारी ( प्रतीचीम् ) शत्रु के अभिमुख वेग से जाती ( आहुतिम् ) आहुति युद्ध, हुति के विरुद्ध ( युयुत्सति ) लड़ना चाहता है हमारी आज्ञा का विघात करना चाहता है, वह ( सुपर्णैः ) अति वेगवान् बाणों से ( मर्माविधम् ) मर्म अर्थात् शरीर के कोमल मर्मस्थानों पर मारा जाकर ( रोरुवतम् ) रोते, कराहते ( दुश्चितम् ) दुःख में पड़े, बदहवास ( मृदितम् ) कुटे पिटे, ( शयानम् ) भूमि पर पड़े शत्रु को ( अदन्तु ) कुत्ते, सियार, कौए और चील खाय ।

यां देवा अनुतिष्ठन्ति यस्या नास्ति विराधनम् ।
तयेन्द्रो हन्तु वृत्रहा वज्रेण त्रिषन्धिना ॥ २७ ॥ ( ३० )

---

२५–१ ककजाकृता, कुत्सितजनना विनोत्पन्नना इत्येतिसायण । ककदा इत्येति हिटनि । कक गर्वे चापल्ये तृष्णायां च । कक, पिपासा तया पीड़िया हिंसिता इति क्षेमकरण. । ' सहस्रकुणपा सेनाया ' इति सायणाभिमत ।

२६–' सुपर्णा अदन्तु ' इति विट्निराभिमत ।

भा०—( यां ) जिस आहुति को ( देवाः ) देव-विद्वान् लोग ज्ञानदृष्टा पुरुष (अनुतिष्ठन्ति) अनुष्ठान करते हैं और ( यस्याः ) जिसका ( विराधनम् ) विनाश, चूक या विपरीतगमन ( नास्ति ) नहीं होता ( तया ) उससे और ( त्रिषन्धिना वज्रेण ) 'त्रिसन्धि' नाम वज्र से ( वृत्रहा ) शत्रुनाशक ( इन्द्रः ) ऐश्वर्यवान् राजा ( हन्तु ) अपने शत्रु का नाश करे ।

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

[ तत्र सूक्तद्वयम्, ऋचः अष्टपञ्चाशत् ]



## इति एकादशं काण्डं समाप्तम् ।

पञ्चानुवाकाः सूक्तानि पञ्चैकादशके तथा ।
ऋचश्च तत्राधीयन्ते त्रयोदशशतत्रयम् ॥



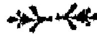
बाण-वस्वङ्क-चन्द्राब्दे वैशाखे चासिते गुरौ ।
चतुर्दश्यां पूर्तिमगादेकादशमथर्वणः ॥

इति प्रतिष्ठितविद्यालङ्कार-मीमांसातीर्थविरुदोपशोभित-श्रीमज्जयदेवशर्मणा विरचितेऽथर्वणो ब्रह्मवेदस्यालोकभाष्ये एकादशं काण्डं समाप्तम् ।



ओ३म्

# अथ द्वादशं काण्डम्



## [ १ ] पृथिवी सूक्त ।

अथर्वा ऋषिः । भूमिर्देवता । १ त्रिष्टुप्, २ भुरिक्, ४-६, १० त्र्यवसाना षट्पदा जगत्यः, ७ प्रस्तार पङ्क्तिः, ८, ११ त्र्यवसाने षट्पदे विराडष्टी, ९, परानुष्टुप्, १२ त्र्यवसाने शक्वर्यौ । १३, १५ पञ्चपदा शक्वरी, १४ महाबृहती, १६, २१ एकावसाने साम्नीत्रिष्टुभौ, १८ त्र्यवसाना षट्पदा त्रिष्टुबनुष्टुब्गर्भातिशक्वरी, १९ पुरोबृहती, २२ त्र्यवसाना षट्पदा विराड अतिजगती, २३ पञ्चपदा विराड् जगती, २४ पञ्चपदानुष्टुब्गर्भा जगती, २५ सप्तपदा उष्णिग् अनुष्टुब्गर्भा शक्वरी, २६-२८ अनुष्टुभः, ३० विराड् गायत्री ३२ पुरस्ताज्ज्योतिः, ३३, ३५, ३९, ४०, ५०, ५३, ५४, ५६, ५९, ६३, अनुष्टुभः, ३४ त्र्यवसाना षट्पदा त्रिष्टुप् बृहतीगर्भातिजगती, ३६ विपरीतपादलक्ष्मा पङ्क्तिः, ३७ पंचपदा त्र्यवसाना शक्वरी ३८ त्र्यवसाना षट्पदा जगती, ४१ सप्तपदा ककुम्मती शक्वरी, ४२ स्वराडनुष्टुप्, ४३ विराड् आस्तार पङ्क्तिः ४४, ४५, ४९ जगत्यः, षट्पदाऽनुष्टुब्गर्भा परा शक्वरी ४७ षट्पदा विराड् अनुष्टुब्गर्भापरातिशक्वरी ४८ पुरोऽनुष्टुप्, ५० अनुष्टुप्, ५१ त्र्यवसाना षट्पदा अनुष्टुब्गर्भा ककुम्मती शक्वरी, ५२ पञ्चपदाऽनुष्टुब्गर्भापरातिजगती, ५३ पुरोबृहती अनुष्टुप् ५७, ५८ पुरस्ताद्बृहत्यौ, ६१ पुरोबार्हता, ६२ पराविराट्, १, ३, ११, १७, २०, २९, ३१, ४६, ५५, ६०, त्रिष्टुभः । त्रिषष्ठ्यृचं सूक्तम् ॥

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥ १ ॥

---

१-( सू० ) ' भूतस्य भुवनस्य ' इति मैं० सं० ।

भा०—( बृहत् सत्यं ) महान् सत्य, ( उग्रं ऋतम् ) उग्र बलवान्, भयकारी, 'ऋत'=परम सत्यव्यवस्था, ( दीक्षा ) कार्य करने का दृढ़ संकल्प, शिक्षा, ( तपः ) तप, तपस्या ( ब्रह्म ) ब्रह्म=वेद और अन्न और ( यज्ञः ) यज्ञ, प्रजापति ये पदार्थ ( पृथिवीं धारयन्ति ) पृथिवी, समस्त संसार को धारण करते हैं। ( सा: ) वह पृथिवी ( नः ) हमारे ( भूतस्य ) भूत, गुजरे हुए कामों और ( भव्यस्य ) आगे होने वाले भविष्यत् के कार्यों की ( पत्नी ) स्वामिनी, पालक है। वह ( पृथिवी ) पृथिवी ( नः ) हमारे लिये ( उरुं लोकं ) विशाल स्थान ( कृणोतु ) प्रदान करे। जिसमें हम खूब रहें और फलें फूलें।

परमात्मा का दिया ज्ञान 'बृहत्सत्य' है और उसकी बनाई व्यवस्थाएं 'उग्र ऋत' हैं। दृढ़ संकल्प दीक्षा है, तपोबल, ब्रह्मज्ञान और यज्ञ आदि परोपकार के कार्य प्रजापति और अन्न इन से पृथिवी स्थित है, उनके आधार पर प्राणी जीते हैं।

**असंबाधं वंध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु ।**
**नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः ॥२॥**

भा०—( मानवानाम् ) मनुष्यों, मनुष्यों की बस्तियों के ( मध्यतः ) बीच में ( असंबाधम् ) बिना एक दूसरे के पीड़ा दिये ही अर्थात् वे आबाद पड़ी हुई ( यस्याः ) जिस भूमि के ( उद्वतः ) ऊंचे और ( प्रवतः ) लम्बे चौड़े या नीचे बहुत से भाग हैं और ( बहु ) बहुत सा भाग ( समम् ) समान भी है। ( या पृथिवी ) जो पृथिवी ( नानावीर्या ) नाना प्रकार के वीर्यों वाली ( ओषधीः ) ओषधियों को ( बिभर्ति ) धारण करती, अपने

२–( प्र० ) 'असंबाधं मध्यतः' इति क्वचित्। 'वध्यतो मानवेषु' इति पैप्प० सं०। 'असंबाधाया मध्यतो मानवेभ्यो' ( द्वि० ) 'समं महत्' ( तृ० ) 'नानारूपाः बिभ्रती' इति मै० सं०।

हम पालती पोषती है, वह ( नः प्रथताम् ) हमारे लिये विशाल रूप में प्राप्त हो, हमारी भूमि सम्पत्ति खूब बढ़े और ( नः राध्यताम् ) हमें खूब अन्न, फल आदि सम्पत्ति प्राप्त करावे ।

यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः ।
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत् सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु ॥ ३ ॥

भा०—( यस्यां ) जिस भूमि पर ( समुद्र ) समुद्र ( उत ) और ( सिन्धुः ) बहने वाले नद नाले और समुद्र और नाना प्रकार के ( आपः ) जल हैं और ( यस्याम् ) जिस पर ( अन्नम् ) अन्न, ( कृष्टयः ) और नाना खेतियां या नाना मनुष्य ( संबभूवुः ) उत्पन्न होते हैं । ( यस्याम् ) जिस पर ( इदम् ) यह ( प्राणत्, एजत् ) जीता जागता, चलता फिरता संसार ( जिन्वति ) अन्न जल खा पीकर तृप्त होता और प्राण धारण करता है । ( सा भूमिः ) वह भूमि ( नः ) हमें ( पूर्वपेये ) पूर्व पुरुषों से प्राप्त करने योग्य उत्तम पद पर ( दधातु ) स्थापित करे अथवा हमें ( पूर्वपेये ) प्रथम पान करने योग्य उत्तम जल दुग्ध और ओषधि रस प्रदान करे ।

यस्याश्चतस्रः प्रदिशः पृथिव्या यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः ।
या बिभर्ति बहुधा प्राणदेजत् सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु ॥ ४ ॥

भा०—( यस्याः पृथिव्याः ) जिस पृथिवी के चारों ओर ( चतस्रः ) चार ( प्रदिशः ) विशाल दिशाएं दूर तक फैली हैं । ( यस्याम् ) जिस पर

३–( च० ) 'पूर्वपेयम्' इति मै० सं० । ( द्वि० ) 'यस्यां देवा अमृतमन्वविन्दन्' इति पैप्प० सं० ।

४–( प्र० ) 'यस्या पृथिव्या' ( द्वि० ) 'गृष्टयः' ( तृ० च० ) 'बहुधा प्राणिने जागतो भूमिर्गोष्वश्वेषु पिन्वे कृणोतु' इति पैप्प० सं० । ( च० ) 'गोष्वप्यन्ने' इति क्वचित् ।

( कृष्टयः ) मनुष्य लोग कृषि द्वारा ( अन्नं संबभूवुः ) अन्न उत्पन्न करते हैं अथवा ( यस्यां अन्नम् ) जिस पर अन्न और नाना ( कृष्टयः ) खेतियां ( सं बभूवुः ) उत्पन्न होती हैं । ( या ) जो ( प्राणत् एजत् ) प्राण लेने हारे, जीते जागते और चलते फिरते चराचर संसार का ( बहुधा ) बहुतसे प्रकारों से ( बिभर्त्ति ) पालन पोषण करती है, ( सा ) वह हमारी ( भूमिः ) भूमि ( नः ) हमें ( गोषु ) गउओं और ( अन्ने अपि ) अन्नादि सम्पत्ति में ( दधातु ) धारण करे । हमें बहुतसे पशु और बहुतसा अन्न दे ।

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन् ।
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु ॥ ५ ॥

भा०—( यस्याम् ) जिस भूमि पर ( पूर्वे ) पूर्व काल के ( पूर्वजनाः ) श्रेष्ठ पुरुष ( विचक्रिरे ) नाना प्रकार के विक्रम के कार्य किया करते हैं । और ( यस्याम् ) जिस पर ( देवाः ) दिव्य शक्तिसम्पन्न विद्वान् दयाशील पराक्रमी पुरुष ( असुरान् ) शक्तिशाली प्रजापीडक असुरों का ( अभि अवर्त्तयन् ) दमन करते हैं और जो पृथिवी ( गवाम् अश्वानाम् वयसः च ) गौओं घोड़ों और पक्षियों का ( वि-स्था ) विशेष रूप से या विविध रूप से रहने का स्थान है, वह ( पृथिवी ) भूमि ( नः ) हमें ( भगं वर्चः ) सौभाग्य और तेजः सम्पत्ति को ( दधातु ) प्रदान करे ।

विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी ।
वैश्वानरं बिभ्रती भूमिरग्निमिन्द्रऋषभा द्रविणे नो दधातु ॥ ६ ॥

---

५–( प्र० ) 'विचक्रिरे,' ( द्वि० ) 'आदवर्तयन्', ( तृ० ) वयसश्च [ ? ] इति पैप्प० सं० ।

६–( प्र० द्वि० ) 'पुरुधा दधिरन्यदर्णा जगतः प्रतिष्ठा' इति ( च० ) 'द्रविणं' इति मै० सं० ।

भा०—( विश्वंभरा ) समस्त विश्व को भरण पोषण करने वाली यह पृथिवी ही ( वसुधानी ) समस्त द्रव्यों को धारण करने वाली, सब बहुमूल्य धन सम्पत्तियों का ख़जाना है। वह सब की ( प्रतिष्ठा ) प्रतिष्ठा, मान और यश को बढ़ाने वाली, ( हिरण्य-वक्षा. ) सुवर्ण आदि धातुओं को अपनी कोख में धारण करने वाली और ( जगत. ) समस्त संसार को अपने ऊपर ( निवेशनी ) बसाती है। वह ( भूमिः ) सबको उत्पन्न करने वाली भूमि ( वैश्वानरम् ) समस्त प्राणियों को और उनके हितकारी ( अग्निम् ) अग्नि और उसके समान तापकारी राजा को ( बिभ्रती ) धारण करती हुई ( इन्द्र ऋषभा ) इन्द्र अर्थात् राजाको सर्वश्रेष्ठ रूपसे अपने ऊपर शासक रूपसे धारण करती हुई या ( इन्द्र-ऋषभा ) इन्द्र अर्थात् सूर्य रूप महावृषभ के समक्ष स्वयं गौ के समान उसके तेज से अपने में नाना चर अचर सृष्टि को उत्पन्न करने हारी यह पृथिवी ( न. ) हमें ( द्रविणे ) धन ऐश्वर्य में ( दधातु ) स्थापित कर और सम्पन्न करे।

यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम्।
सा नो मधु प्रियं दुहामथो उक्षतु वर्चसा ॥ ७ ॥

भा०—( यां ) जिस ( भूमिम् ) धन, अन्नादि के उत्पन्न करने वाली जननी ( पृथिवीम् ) पृथिवी को ( अस्वप्नाः देवाः ) स्वाप=निद्रा आलस्य रहित, सदा जागने वाले, सचेत, देव=राजा लोग ( अप्रमादम् ) बिना प्रमाद के ( विश्वदानीम् ) सदा, समस्त कालों में ( रक्षन्ति ) रक्षा करते हैं ( सा ) वह ( नः ) हमें ( प्रियं मधु ) प्रिय मधु के समान मधुर, मनोहर अन्न आदि पदार्थ ( दुहाम् ) उत्पन्न करे ( अथो ) और ( वर्चसा उक्षतु ) हमें वर्चस्, तेज और बल से पुष्ट करे।

७-( द्वि० ) 'मधु घृतम्' इति मै० स०।

यार्णवेऽधि सलिलमग्र आसीद्यां मायाभिरन्वचरन् मनीषिणः।
यस्या हृदयं परमे व्योमन्त्सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः।
सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे ॥ ८ ॥

भा०—( या ) जो पृथिवी ( अग्रे ) सृष्टि की उत्पत्ति के पूर्व ( अर्णवे अधि ) महान् समुद्र के भीतर ( सलिलम् आसीत् ) सलिल-जल ही जलस्वरूप थी और ( याम् ) जिसको ( मनीषिणः ) बुद्धिमान्, मनन-शील पुरुष ( मायाभिः ) अपनी नाना बुद्धियों से ( अनु अचरन् ) भोग रहे हैं। ( यस्याः ) जिसका ( पृथिव्याः ) पृथिवी का ( हृदयम् ) हृदय, परम गतिकारक प्रेरक बल ( अमृतम् ) अमृतस्वरूप, सदा अमर सूर्य ( परमे व्योमन् ) परम आकाश में ( सत्येन ) सत्य, बल रूप तेज से ( आवृतम् ) ढका है। ( सा भूमिः ) वह भूमि ( नः उत्तमे राष्ट्रे ) हमारे उत्तम राष्ट्र में ( त्विषि ) तेज और ( बलम् ) बल ( दधातु ) धारण करावे।

यस्यामापः परिचराः समानीरहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति।
सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहामथो उक्षतु वर्चसा ॥ ९ ॥

भा०—( यस्याम् ) जिस पृथिवी पर ( आपः ) आप्तजनों के समान पवित्र जल भी ( परिचराः ) लोक सेवा में लगे परिचारकों के समान या सर्वत्र भ्रमण-शील संन्यासी परिव्राजकों के समान सर्वत्र जाने वाले, ( समानीः ) सर्वत्र समान भाव से रहने वाले, एक समान ( अहोरात्रे ) दिन रात ( अप्रमादम् ) प्रमाद शून्य होकर ( क्षरन्ति ) बहते हैं। ( सा भूमिः ) वह भूमि सबकी उत्पादक जननी ( भूरिधारा ) बहुतसी जल-धाराओं से युक्त ( नः ) हमें ( पयः दुहाम् ) पुष्टिकारक जल और अन्न आदि पदार्थ अधिक मात्रा में उत्पन्न करे ( अथो ) और ( वर्चसा उक्षतु ) तेज और धन से हमें सींचे, तेजस्वी बनावे।

यामश्विनावमिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे ।
इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः ।
सा नो भूमिर्वि सृजतां माता पुत्राय मे पयः ॥ १० ॥ ( १ )

भा०—( याम् ) जिसको ( अश्विनौ ) अश्विगण, दिन और रात्रि, सूर्य और चन्द्र दोनों मानो ( अमिमाताम् ) मापा करते हैं। और ( विष्णु ) व्यापक परमात्मा ( यस्यां ) जिसमें ( विचक्रमे ) नाना प्रकार की सृष्टि उत्पन्न करता है। और ( शचीपतिः ) शची अर्थात् शक्ति और सेना का स्वामी ( इन्द्रः ) ऐश्वर्य वाला राजा ( यां ) जिसको ( आत्मने ) अपने लिये ( अनमित्रां ) शत्रु से रहित ( चक्रे ) करता है ( सा भूमिः ) वह सबकी जननी भूमि, ( माता ) माता जिस प्रकार पुत्र के लिये स्वयं प्रेम से दूध पिलाती है उसी प्रकार ( मे पुत्राय ) मुझ पुत्र के लिये अपना ( पयः ) जल, अन्न रस आदि नाना पुष्टिकारक पदार्थ ( वि सृजताम् ) प्रदान करे।

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु ।
बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम् ।
अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम् ॥ ११ ॥

भा०—हे ( पृथिवि ) पृथिवि ! भूमे ! ( ते ) तेरे ( गिरयः ) पहाड़ और ( हिमवन्तः पर्वताः ) हिमों से ढके हुए बड़े २ पर्वत और ( ते ) तेरा ( अरण्यम् ) जंगल ( स्योनम् अस्तु ) सुखकारी हो। ( अहम् ) मैं

१०–( द्वि० ) 'चक्रात्मनेनमित्रान् च्छची' ( च० ) 'न पय' इति पैप्प० सं० ।

११–( द्वि० ) 'स्योनमस्तु नः' ( तृ० ) 'लोहिनी' ( प० ) 'अधिष्ठाम्' इति पैप्प० सं० ।

स्वयं ( अजीतः ) किसी से पराजित न होकर, ( अहतः ) किसी से भी न मारा जाकर, ( अक्षतः ) किसी से भी जख्मी न होकर, स्वस्थ रह कर ( बभ्रुम् ) सदा सब को भरण पोषण करने वाली ( कृष्णाम् ) किसानों से जोती गयी, ( रोहिणीम् ) नाना अन्न वनस्पतियों से सम्पन्न, ( विश्वरूपाम् ) नाना प्रकार के समस्त प्राणियों से सम्पन्न, ( इन्द्रगुप्ताम् ) राजा से सुरक्षित अथवा इन्द्र, मेघ से सुरक्षित, (ध्रुवाम्) स्थिर (भूमिम्) सर्वोत्पादक ( पृथिवीम् ) पृथिवी पर ( अधि-अष्ठाम् ) अधिष्ठाता होकर शासन करूं, उस पर सुख से रहूं।

यत् ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः ।
तासु नो धेह्यभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः ।
पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु ॥ १२ ॥

भा०—हे ( पृथिवि ) पृथिवि ! ( यत् ते मध्यम् ) जो तेरा मध्य भाग है और ( यत् च नभ्यम् ) जो तेरा नाभि भाग है और ( याः ऊर्जः ) जो अन्न आदि बलकारक पदार्थ ( ते तन्वः ) तेरे शरीर से ( संबभूवुः ) उत्पन्न होते हैं ( नः ) हमें ( तासु धेहि ) उन में प्रतिष्ठित कर । ( नः ) हमें ( अभिपवस्व ) पवित्र कर । तू ( भूमिः ) सब की उत्पादक होने के कारण मेरी ( माता ) माता है। और ( अहम् ) मैं (पृथिव्याः पुत्रः) पृथिवी का पुत्र हूं। ( पर्जन्यः ) समस्त रसों का प्रदान करने वाला 'पर्जन्य' मेघ (पिता) सब का पालक 'पिता' है ( सः उ ) वह ही ( नः ) हमें ( पिपर्तु ) पालन करे ।

यस्यां वेदिं परिगृह्णन्ति भूम्यां यस्यां यज्ञं तन्वते विश्वकर्माणः ।
यस्यां मीयन्ते स्वरवः पृथिव्यामूर्ध्वाः शुक्रा आहुत्याः पुरस्तात् ।
सा नो भूमिर्वर्धयद् वर्धमाना ॥ १३ ॥

१२–' पवस्वनाया ' इति पैप्प० सं० ।

१३–( द्वि० ) ' विश्वकर्मन ', ( च० ) ' शुक्रा आहुत्यापुर ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—( यस्याम् ) जिस ( भूम्यां ) भूमि पर ( विश्वकर्माणः ) विश्वकर्मा, शिल्पी लोग ( वेदिं परिगृह्णन्ति ) वेदि बनाते हैं और वे ही विद्वान् शिल्पी लोग ( यस्यां ) जिस पर ( यज्ञं तन्वते ) उपकारकारी यज्ञ रचते हैं। और ( यस्याम् पृथिव्याम् ) जिस पृथ्वी पर ( आहुत्याः ) आहुति के ( पुरस्तात् ) पूर्व ही ( ऊर्ध्वाः ) ऊंचे २ ( शुक्राः ) शुक्र, तेजोमय, दीप्तिमान् ( स्वरवः ) स्तम्भ यज्ञस्तूप रचे जाते हैं ( सा भूमि ) वह भूमि ( वर्धमाना ) स्वयं बढ़ती हुई ( नः वर्धयत् ) हमें बढ़ावे।

यो नो द्वेषत् पृथिवि यः पृतन्याद् योऽभिदासान्मनसा यो वधेन।
तं नो भूमे रन्धय पूर्वकृत्वरि ॥ १४ ॥

भा०—हे ( पृथिवि ) पृथिवि ! ( नः ) हम में ( यः ) जो ( द्वेषत् ) द्वेष करता है, प्रेम से बर्ताव नहीं करता है और ( यः पृतन्यात् ) जो हम पर सेना से चढ़ाई करता है और ( यः ) जो हमें ( मनसा ) अपने मन से या विचारों से और ( वधेन ) हथियारों से ( अभिदासत् ) हमारा नाश करता है, हे ( भूमे ) भूमे ( पूर्वकृत्वरि ) पूर्व से ही शत्रुओं के नाश करने योग्य बनाई हुई भूमि तू ( तम् ) उस पुरुष को ( नः ) हमारे लिये ( रन्धय ) विनाश कर, हमारे वशीभूत कर।

त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः।
तवेमे पृथिवि पञ्च मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्य उद्यन्त्सूर्यो रश्मिभिरातनोति ॥ १५ ॥

भा०—हे ( पृथिवि ) पृथिवि ! ( त्वत् जाताः ) तुझ से उत्पन्न हुए ( मर्त्याः ) मरनेहारे प्राणी ( त्वयि चरन्ति ) तुझ पर ही विचरते हैं।

१४–( तृ० ) 'पूर्वकृत्वने' ( द्वि० ) योऽस्मिमन्यासिन्दनमाधनेन [ ? ] इति पैप्प० सं०।

१५–( तृ० ) 'द्विपश्चतुष्पदः' इति पैप्प० सं०।

( त्वं ) तू ही ( द्विपदः चतुष्पदः ) दो पाये और चौपायों को ( बिभर्षि ) पालती पोषती है । हे पृथिवि ! ( इमे पञ्च मानवाः ) ये पांचों प्रकार के मानव, मनुष्य लोग भी ( तव ) तेरे ही है ( येभ्यः ) जिनके लिये ( उद्यन् सूर्यः ) उदय होता हुआ सूर्य अपनी ( रश्मिभिः ) किरणों से ( अमृतं ज्योतिः ) सदा अमृतमय, अविनाशी, अक्षय ज्योति=प्रकाश को (आतनोति) फैलाता है ।

ता नः प्रजाः सं दुह्रतां समग्रा ।
वाचो मधु पृथिवि धेहि मह्यम् ॥ १६ ॥

भा०—( ताः ) वे ( समग्राः ) समस्त ( प्रजाः ) प्रजाएं ( नः ) हमें ( सं दुह्रताम् ) सब प्रकार से पूर्ण करें, अपने २ परिश्रमों और शिल्पों द्वारा बढ़ावें । हे पृथिवि ! तू ( मह्यम् ) मुझे ( वाचः मधु ) वाणी की मधुरता ( धेहि ) प्रदान कर । अथवा ( ताः प्रजाः ) वे प्रजाएं ( नः समग्राः वाचः सं दुह्रताम् ) हम से समस्त उत्तम वाणियें परस्पर कहें ( पृथिवि मह्यं मधु देहि ) और हे पृथिवि ! मुझे तू मधु=अन्न प्रदान कर ।

विश्वस्वं मातरमोषधीनां ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृताम् ।
शिवां स्योनामनु चरेम विश्वहा ॥ १७ ॥

भा०—( विश्वस्वं ) हमारी सर्वस्व या समस्त धनों को धारण और उत्पन्न करने वाली ( ओषधीनां मातरम् ) ओषधियों को उत्पन्न करने वाली, उनकी माता, ( ध्रुवाम् ) स्थिर ( धर्मणा धृताम् ) परस्पर के सत्य और धर्म, प्रेम और परोपकार द्वारा परिपालित, ( शिवाम् ) कल्याणकारिणी, ( स्योनाम् )

१६–' तेनः ' इति ह्विटनिकामितः ।

सुखकारिणी, (भूमिम्) सब के उत्पन्न करने हारी (पृथिवीम्) पृथिवी में हम (विश्वहा) सदा और सब प्रदेशों में सब प्रकारों से (अनुचरेम) विचरण करें।

मुहत् सुधस्थं मह॒ती ब॑भूविथ मुहान् वेगं एजथुर्वेपथुष्टे ।
मुहांस्त्वेन्द्रो रक्षत्यप्र॑मादम् । सा नो भूमे प्ररो॑चय
हिर॑ण्यस्येव संदृशि मा नो द्विक्षत कश्चन ॥ १८ ॥

भा०—हे पृथिवि ! ( महत् सधस्थम् ) एकत्र होने के लिये तू एक बड़ा भारी भवन है। तू ( महती बभूविथ ) तू बहुत ही बड़ी है। ( ते महान् वेगः ) तेरा वेग भी बहुत बड़ा है। ( ते एजथुः महान् ) तेरा कम्पन भी बड़ा भारी होता है ( ते वेपथुः महान् ) तेरा संचलन भी बहुत बड़ा है। ( महान् इन्द्र ) बड़ा भारी राजाधिराज, ऐश्वर्यवान् परमात्मा ( त्वा ) तेरी ( अप्रमादम् ) विना प्रमाद के ( रक्षति ) रक्षा करता है। हे ( भूमे ) सर्वोत्पादक पृथिवि ! ( सा ) वह तू ( नः ) हमारे लिये ( हिरण्यस्य संदृशि ) सुवर्ण के रूप में ( प्ररोचय ) भली प्रतीत हो अर्थात् हमें तू सोने की सी बनी प्रतीत हो। ( नः ) हमसे ( कश्चन ) कोई भी ( मा द्विक्षत ) द्वेष न करे।

अ॒ग्निर्भूम्यामोष॑धीष्व॒ग्निमापो॑ बिभ्रत्य॒ग्निरश्म॑सु ।
अ॒ग्निर॒न्तः पुरु॑षेषु गोष्वश्वे॑ष्व॒ग्नय॑: ॥ १९ ॥

भा०—( अग्नि भूम्याम् ) अग्नि भूमि के ऊपर अधिष्ठाता रूप से विद्यमान है। ( ओषधीषु ) ओषधियों में ( आपः ) जल ( अग्निम् ) अग्नि को ( बिभ्रति ) धारण करते हैं। ( अग्निः अश्मसु ) अग्नि पत्थरों के भीतर भी विद्यमान है। ( पुरुषेषु अन्तः अग्नि ) पुरुषों के भीतर अग्नि है। ( गोषु अश्वेषु अग्नयः ) नाना रूप की अग्नि गौओं और घोड़ों तक में विद्य-

१८-( द्वि० ) 'रक्षति वीर्येण'

मान है। अर्थात् भूमि की अग्नि ही भूमि से उत्पन्न सब पदार्थों में भी जीवन रूप में विद्यमान है।

अग्निर्दिव आ तपत्यग्नेर्देवस्योर्वन्तरिक्षम्।
अग्निं मर्तास इन्धते हव्यवाहं घृतप्रियम् ॥ २० ॥ (२)

भा०—(दिवः) द्यौ, आकाश से भी (अग्निः) अग्नि-रूप सूर्य (आतपति) तपता है। (अग्नेः देवस्य) देव, प्रकाशमान अग्नि के वश में ही (उरु अन्तरिक्षम्) विशाल अन्तरिक्ष है (मर्त्तासः) मर्त्य, मनुष्य भी (हव्यवाहम्) हव्य चरु को सर्वत्र दिव्य पदार्थों तक पहुंचा देने वाले और (घृतप्रियम्) घृत आदि ज्वलनशील पदार्थों के प्रिय (अग्निम्) अग्नि को ही यज्ञों में (इन्धते) प्रदीप्त करते हैं।

अग्निवासाः पृथिव्यसितज्ञूस्त्विषीमन्तं संशितं मा कृणोतु ॥२१॥

भा०—उक्त मन्त्रों का अभिप्राय यह है कि (अग्निवासाः) अग्नि से बाहर भीतर और सर्वत्र आच्छादित (पृथिवी) पृथिवी (असितज्ञूः) उस बन्धनरहित, व्यापक परमेश्वर रूप अग्नि को जतलाने वाली है। वह (मा) मुझको (त्विषीमन्तम्) दीप्तिमान् (संशितम्) अति तीक्ष्ण तेजस्वी (कृणोतु) करे।

'प्राचीदिगग्निरधिपतिरसितो रक्षिता'।

भूम्यां देवेभ्यो ददति यज्ञं हव्यमरंकृतम्।
भूम्यां मनुष्या जीवन्ति स्वधयान्नेन मर्त्याः।
सा नो भूमिः प्राणमायुर्दधातु जरदष्टिं मा पृथिवी कृणोतु ॥२२॥

२०—'आतपति' इति पैप्प० सं०।

२१—(द्वि०) 'त्विषीमन्तं' इति पैप्प० सं०।

२२—'दुहते यज्ञं' इति पैप्प० सं०।

भा०—और भी भूमि का माहात्म्य यह है कि मनुष्य ( भूम्याम् ) भूमि पर ( अरंकृतम् ) सुन्दर सुशोभित ( हव्यम् ) हव्य, चरु और ( यज्ञं ) पूजा आदि सत्कार ( देवेभ्य ) देव, दिव्य पदार्थों और प्रकाशमान, देव सदृश विद्वानों को ददति) प्रदान करते हैं। और तब ( मर्त्या ) मरणधर्मा ( मनुष्या ) मनुष्य लोग ( भूम्याम् ) भूमि पर ही ( स्वधया ) स्वधारूप ( अन्नेन ) अन्न से ( मर्त्याः ) मरणधर्मा ( जीवन्ति ) प्राण धारण करते हैं। ( सा ) वह ( भूमिः ) भूमि ( नः ) हमें ( प्राणम् आयु ) प्राण और आयु ( दधातु ) प्रदान करे। ( मा ) मुझे ( पृथिवी ) पृथिवी ( जरदष्टिं ) वृद्धावस्था तक दीर्घजीवी ( कृणोतु ) करे।

यस्ते गन्धः पृथिवि संबभूव यं बिभ्रत्योषधयो यमापः।
यं गन्धर्वा अप्सरसश्च भेजिरे तेन मा सुरभिं कृणु मा नो द्विक्षत कश्चन ॥ २३ ॥

भा०—हे ( पृथिवि ) पृथिवि ! ( ते ) तुझ में ( य ) जो ( गन्धः ) ( संबभूव ) सर्वत्र विशेष गुणरूप से विद्यमान है (यम्) जिसको प्रत्यक्षरूप से ( ओषधयः ) ओषधियां और ( यम् ) जिसको ( आप ) नाना प्रकार के जल और द्रव भी बिभ्रति) धारण करते हैं ( यम् ) जिसको ( गन्धर्वाः ) पुरुष और ( अप्सरस च ) स्त्रियें ( भेजिरे ) सेवन करती हैं ( तेन ) उस गन्ध से ( मा ) मुझ को ( सुरभिम् ) सुगन्धित ( कृणु ) कर और ( नः ) हमें ( कश्चन ) कोई भी ( मा द्विक्षत ) द्वेष न करे।

यस्ते गन्धः पुष्करमाविवेश यं संजभ्रुः सूर्याया विवाहे।
अमर्त्याः पृथिवि गन्धमग्रे तेन मा सुरभिं कृणु मा नो द्विक्षत कश्चन ॥ २४ ॥

२३–( तृ० ) भेजिरे यस्तेगातरम्मईहति ( च० ) तेनास्मानसुरभिः कृणु । इति पैप्प० सं०।

२४–' तेनास्मान सुरभि, कृणु ' इति पैप्प० सं०।

भा०—( यः ) जो ( ते ) तेरा ( गन्धः ) गन्ध ( पुष्करम् ) नील कमल में ( आविवेश ) प्रविष्ट है, ( यं ) जिस ( गन्धम् ) गन्ध को ( सूर्यायाः विवाहे ) सूर्या अर्थात् वर चाहनी कन्या के विवाह में या प्रातः उषा के प्राप्त होने के अवसर पर ( अमर्त्याः ) अमरण-धर्मा, विद्वान् पुरुष या वायु आदि दिव्य पदार्थ भी ( अग्रे ) सबसे पूर्व ( संजभ्रुः ) धारण करते हैं, हे ( पृथिवि ) पृथिवि ! ( तेन ) उससे ( मा ) मुझे भी ( सुरभिम् ) सुगन्धित ( कृणु ) कर और ( नः ) हम से ( कश्चन ) कोई ( मा द्विक्षत ) द्वेष न करे।

यस्ते गन्धः पुरुषेषु स्त्रीषु पुंसु भगो रुचिः ।
यो अश्वेषु वीरेषु यो मृगेषूत हस्तिषु ।
कन्यायां वर्चो यद् भूमे तेनास्माँ अपि सं सृज मा नो द्विक्षत कश्चन ॥ २५ ॥

भा०—हे ( भूमे ) सबके उत्पत्ति स्थान ! पृथिवि ! ( ते यः गन्धः ) तेरा जो गन्ध ( पुरुषेषु स्त्रीषु ) पुरुषों और स्त्रियों में विद्यमान है। और ( पुंसु भगः रुचिः ) जो तेरा गन्ध पुरुषों में, नरों में सौभाग्यमय कान्ति रूप से विद्यमान है। ( यः अश्वेषु ) जो अश्वों में, ( वीरेषु ) वीर्यवान् पुरुषों में ( यः ) जो (मृगेषु) मृगों में (उत) और जो ( हस्तिषु ) हाथियों में है। ( यद् वर्चः ) जो वर्चस, कान्तिमय भाग ( कन्यायाम् ) कन्या कुमारी में विद्यमान है ( तेन ) उस गन्ध और कान्ति से ( अस्मान् अपि ) हमें भी ( सं सृज ) युक्त कर। ( नः कश्चन मा द्विक्षत ) हमसे कोई द्वेष न करे।

शिला भूमिरश्मा पांसुः सा भूमिः संधृता धृता ।
तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः ॥ २६ ॥

२५–' पुंसुभगो रुचिर्योवाष्टु ! योगोऽश्वेषु योमृगेषूत हस्तिषु यद् भूमेऽसंभृतं ' इति पैप्प० सं० ।

२६–( प्र० द्वि० ) ' पास्त्वर्सा भूमिस्त्वृता धृता ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—( शिला ) शिला आदि पदार्थ यह ( भूमिः ) भूमि ही है। ( अश्मा पांसुः ) पत्थर और धूलि यह भी (सा भूमि ) वह भूमि ही है। ये सब पदार्थ उस भूमि ने (संधृता) भली प्रकार धारण किये हैं इसीसे (धृता) ये यहां स्थिरता से पड़े हैं। ( तस्यै ) उस ( हिरण्य-वक्षसे पृथिव्यै ) सुवर्णादि धातुओं को अपने गर्भ धारण में करने वाली पृथिवी को ( नमः अकरम् ) हम नमस्कार करते हैं। उसे प्रेम और आदर की दृष्टि से देखते हैं। शिला, पत्थरों और धूलि तक में स्वर्ण है और वह भी पृथ्वी ही है अतः पृथ्वी की समस्त छाती स्वर्ण-मय है। उस सबको हम आदर और प्रेम और विज्ञान की दृष्टि से देखें।

यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा।

पृथिवीं विश्वधायसं धृतामच्छा वदामसि ॥ २७ ॥

भा०—( यस्याम् ) जिसमें ( वृक्षाः ) वृक्ष और ( वानस्पत्याः ) नाना प्रकार के वनस्पति ( विश्वहा ) सहस्रों प्रकार से सदा (ध्रुवाः तिष्ठन्ति) स्थिर, नित्य रूप से विराजते हैं उस ( विश्वधायसं पृथिवीम् ) समस्त पदार्थों और समस्त जगत् को धारण करने हारी ( धृताम् ) स्थिर पृथिवी की ( अच्छा वदामसि ) हम स्तुति करते हैं।

उदीराणा उतासीनास्तिष्ठन्तः प्रक्रामन्तः।

पद्भ्यां दक्षिणसव्याभ्यां मा व्यथिष्महि भूम्याम् ॥ २८ ॥

भा०—हम लोग ( उदीराणाः ) चलते हुए ( उत आसीनाः ) और बैठे हुए, ( तिष्ठन्तः प्रक्रामन्तः ) खड़े हुए और चलते फिरते ( दक्षिण

२७–( च० ) 'भूम्यैहिरण्यवक्षसि धृतमच्छा' इति पैप्प० सं०।

२८–( प्र० ) 'विमग्वीय' ( द्वि० ) 'वावृधान.' ( तृ० ) 'पृष्टिम्' ( च० ) 'भौमे' इति पैप्प० सं०।

सव्याभ्यां पद्भ्यां ) दायें और बायें पैरों में ( भूम्याम् ) भूमि पर ( मा व्यथिष्महि ) कभी पीड़ा अनुभव न करें, पैरों में कभी ठोकर आदि न खावें।

विमृग्वरीं पृथिवीमा वदामि क्षमां भूमिं ब्रह्मणा वावृधानाम् ।
ऊर्जं पुष्टं बिभ्रतीमन्नभागं घृतं त्वाभि नि षीदेम भूमे ॥ २९ ॥

भा०—मैं ( विमृग्वरीम् ) नाना प्रकार से पवित्र करने वाली ( क्षमाम् ) सब कुछ सहन करने वाली, ( ब्रह्मणा वावृधानाम् ) ब्रह्म अर्थात् वेद ज्ञान, उस के जानने वाले ब्राह्मणों और विद्वानों, ब्रह्म=अन्न से ( वावृधानां ) निरन्तर बढ़ने हारी ( भूमिम् ) सर्वोत्पादक, सर्वाश्रय ( पृथिवीम् ) पृथिवी की ( आवदामि ) सर्वत्र स्तुति करता हूं। ( ऊर्जम् ) बलकारी, ( पुष्टम् ) पुष्टि-कारी ( अन्नभागम् ) अन्न के अंश को और ( घृतम् ) घृत, घी दूध आदि पदार्थों को ( बिभ्रतीम् ) धारण करने वाली ( त्वा ) तुझ पर हे ( भूमे ) भूमे ! ( अभि निषीदेम ) हम सर्वत्र निवास करें।

शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरन्तु यो नः सेदुरप्रिये तं नि दध्मः ।
पवित्रेण पृथिवि मोत् पुनामि ॥ ३० ॥ ( ३ )

भा०—( नः तन्वे ) हमारे शरीर के लिये ( शुद्धाः आपः क्षरन्तु ) शुद्ध जल बहें। ( यः ) जो ( नः ) हमारा ( सेदुः ) कष्ट है ( तं ) उसको ( अप्रिये ) अपने प्रिय न लगने वाले पर (नि दध्मः) डालें। हे ( पृथिवि ) पृथिवि ! ( मा ) मैं अपने आपको ( पवित्रेण ) पवित्र, शुद्ध आचरण से ( उत्पुनामि ) पवित्र करूं।

यास्ते प्राचीः प्रदिशो या उदीचीर्यास्ते भूमे अधराद् याश्च पश्चात्।
स्योनास्ता मह्यं चरते भवन्तु मा नि पप्तं भुवने शिश्रियाणः ॥३१॥

३०—'शुद्धा मा आपः' इति पैप्प० सं।

३१—'यश्च भूम्यधराग् यश्च पश्चा,' 'शिवास्ता' इति मै० सं०। (द्वि०) 'मौमैऽष' ( च० ) 'शुश्रियाणे' इति पैप्प० सं०।

भा०—हे ( भूमे ) पृथिवि ! ( याः ) जो तेरे ( प्रदिशः ) प्रदेश ( प्राचीः ) प्राची, पूर्व दिशा में विद्यमान हैं ( याः उदीचीः ) जो प्रदेश उत्तर दिशा में, ( याः ते अधरात् ) जो प्रदेश तेरे नीचे हैं और ( याः च पश्चात् ) जो प्रदेश पीछे हैं ( ताः ) वे सब प्रदेश ( चरते मह्यं ) विचरण करनेहारे मुझे ( स्योनाः भवन्तु ) सुखकारी हों। मैं ( भुवने ) इस लोक में ( शिश्रि-याणः ) समस्त पदार्थों का सेवन करता हुआ भी ( मा निपप्तम् ) कभी नीचे न गिरूं।

मा नः पश्चान्मा पुरस्तान्नुदिष्ठा मोत्तरादधरादुत ।
स्वस्ति भूमे नो भव मा विदन् परिपन्थिनो वरीयो यावया वधम् ॥ ३२ ॥

भा०—हे ( भूमे ) भूमे ! तू ( नः ) हमें ( पश्चात् ) पीछे से, ( पुरस्तात् ) आगे से भी ( मा मा नुदिष्ठाः ) मत प्रहार कर। ( उत्तरात् ) ऊपर से और ( अधरात् ) नीचे से भी ( मा ) प्रहार मत कर। ( नः ) हमारे लिये तू ( स्वस्ति भव ) कल्याणकारी हो। हमें ( परिपन्थिनः ) बटमार, डाकू और चोर लोग ( मा विदन् ) न पकड़ पावें। ( वरीयः वधम् यावय ) बड़े हत्याकारी हथियारों को भी तू दूर करे।

यावत् तेभि विपश्यामि भूमे सूर्येण मेदिना ।
तावन्मे चक्षुर्मा मेष्टोत्तरामुत्तरां समाम् ॥ ३३ ॥

भा०—हे ( भूमे ) पृथिवि ! ( मेदिना ) मित्रभूत ( सूर्येण ) सूर्य की सहायता से ( ते ) तुझे ( यावत् ) जितना भी, जहां तक भी ( अभि विपश्यामि ) साक्षात् देखूं ( तावत् ) उतना, वहां तक भी ( मे चक्षुः ) मेरी

३२–' मामापश्चा, ' ( तृ० ) 'भूमे मे इन्तु ' इति पैप्प० सं० ।

३३–( द्वि० ) ' भौमे, ' इति पैप्प० सं० ।

आंखें ( उत्तराम्-उत्तराम् समाम् ) ज्यों २ वर्ष गुज़रते जांय, त्यों २ ( मा मेष्ट ) कभी विनष्ट न हों। मैं तेरे दृश्य बराबर देखता रहूं और मेरी चक्षु की शक्ति बढ़े।

यच्छयानः पर्यावर्ते दक्षिणं सव्यमभि भूमे पार्श्वम्।
उत्तानास्त्वा प्रतीचीं यत् पृष्टीभिरधिशेमहे।
मा हिंसीस्तत्र नो भूमे सर्वस्य प्रतिशीवरि ॥ ३४ ॥

भा०—हे भूमे! ( यत् ) जब मैं ( शयानः ) सोता हुआ ( दक्षिणं सव्यम् अभि, सव्यं दक्षिणम् अभि ) दायें से बायें ओर बायें से दायें ( पार्श्वम् ) पासे को ( परि आवर्तं ) करवट लूं और ( यत् ) जब हम ( त्वा ) तुझको अपने नीचे किये हुये ( उत्तानाः ) स्वयं उत्तान हुए ( पृष्टीभिः ) पीठ के मोहरों के बल पर, हे ( सर्वस्य प्रतिशीवरि ) सबको अपने ऊपर सुलाने वाली माता के समान जननी! ( नः ) हमें तू ( मा हिंसीः ) कभी मत मार।

यत् ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु।
मा ते मर्म विमृग्वरि मा ते हृदयमर्पिपम् ॥ ३५ ॥

भा०—हे ( भूमे ) समस्त पदार्थों की उत्पत्ति स्थान रूप भूमे! ( ते ) तुझ से जो ओषधि आदि पदार्थ मैं ( विखनामि ) नाना प्रकार से खोद लूं ( तत् अपि ) वह भी ( क्षिप्रम् ) शीघ्र ही ( रोहतु ) पुनः उग आवे। हे ( विमृग्वरि ) विशेष रूप से शुद्ध पवित्र करनेहारी! मैं ( ते ) तेरे ( मर्म ) मर्म स्थानों को और ( हृदयम् ) हृदय को ( मा अर्पिपम् ) कभी

३४–( द्वि० ) 'सव्यमपि' ( च० ) 'पृष्ठा यद् प्रन्नाशेमहे' ( द्वि० ) 'शीमे' ( पं० ) 'शीमे' इति पैप्प० सं०।

३५–( प्र० ) 'शीमे' ( द्वि० ) 'ओपं तदपि' ( च० ) 'हृदयमर्पितम्' इति पैप्प० सं०।

पीड़ित और विनाश न करे । ओषधि आदि खोदते समय सदा ध्यान रखे कि पृथ्वी के मर्म अर्थात् जिनमें पृथ्वी के ओषधि पोषक अंश हों और हृदय जिनमें उनके रसप्रद अंश हों उनको नष्ट न करे । नहीं तो भूमि अनुपजाऊ और ऊसर हो जाती है ।

ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्धेमन्तः शिशिरो वसन्तः ।
ऋतवस्ते विहिता हायनीरहोरात्रे पृथिवि नो दुहाताम् ॥ ३६ ॥

भा०—हे ( भूमे ) भूमे ! ( ते ) तेरे निमित्त या तेरे द्वारा ही यह ( ग्रीष्म ) ग्रीष्म ऋतु ( वर्षाणि ) वर्षाएं, ( शरद् हेमन्त शिशिर वसन्त ) शरत्, हेमन्त शिशिर और वसन्त ( ऋतव विहिता ) ये ऋतुएं पर मात्मा ने बनाई हैं । इसी प्रकार ( ते हायनी ) तेरे द्वारा या तेरे निमित्त वर्ष और ( अहोरात्र ) दिन और रात बने हैं । वे सब ( न दुहाताम् ) हमें अभिलषित सुख, और सुखकारी पदार्थ अन्न फल आदि प्रदान करें, और हमें पूर्ण करें ।

याप सर्पं विजमाना विमृग्वरी यस्यामासन्नग्नयो ये अप्स्व१न्तः ।
परा दस्यून् ददती देवपीयूनिन्द्रं वृणाना पृथिवी न वृत्रम् ।
शक्राय दध्रे वृषभाय वृष्णे ॥ ३७ ॥

भा०—( सर्पं ) पेट के बल पर सरकने वाले कुटिल सांप से जिस प्रकार सब भय खाते हैं उसी प्रकार ( या सर्पं अप विजमाना ) जो सर्प के समान कुटिल पुरुष से भय खाती हुई ( विमृग्वरी ) शुद्ध पवित्र करनेहारी

३६–'हायना अह्नो' इति ह्विट्निकामितः । 'हायनाहोरात्र' इति पैप्प० सं० ।
३७–( प्र० ) 'या आप सर्प' इति क्वचित् 'शुभकामित' । (प्र०) 'या आप सरन् यतमाना विमृग्वरी,' 'अग्नयोऽप्सु' ( तृ० ) 'दति' इति पैप्प० सं० ।

पृथिवी है। ( यस्याम् ) जिसमें ( अग्नयः ) वे अग्नियें, ज्ञानज्योति से चमकने वाले, तेजस्वी विद्वान् ( ये अप्सु अन्तः ) जो जलों के भीतर रहने वाले औौर्वानलों के समान ( अप्सु अन्तः ) प्रजाओं के भीतर विद्यमान हैं। वह पृथ्वी ( देवपीयून् दस्यून् ) देव, विद्वान् श्रेष्ठ पुरुषों के नाशक दस्यु, चोर डाकू पुरुषों को ( परा ददती ) दूर करती, उनका परित्याग करती हुई ( इन्द्रं ) सूर्य के समान ऐश्वर्य-शील राजा को अपना पति रूप से वरण करती है और ( वृत्रम् ) मेघ के समान केवल माया से आवरण करने वाले हुए पुरुष को अपना पति नहीं करती। वह अपने आपको ( शक्राय ) शक्ति-शाली ( वृष्णे ) वीर्यवान् ( वृषभाय ) नाना प्रकार से वीर्य सेचन में समर्थ, बैल के निमित्त गाय जैसे अपने को समर्पित करती है इसी प्रकार समस्त वर्षा जलों के वर्षक सूर्य या मेघ एवं प्रजा के प्रति सुखों के वर्षक राजा के लिये अपने को ( दध्रे ) धारण करती है, अपने को उसके प्रति सौंप देती है।

यस्यां सदोहविर्धाने यूपो यस्यां निर्मीयते।
ब्रह्माणो यस्यामर्चन्त्यृग्भिः साम्ना यजुर्विदः।
युज्यन्ते यस्यामृत्विजः सोममिन्द्राय पातवे॥ ३८॥

भा०—( यस्याम् ) जिस पृथिवी पर यज्ञ में ( सदोहविर्धाने ) 'सद' नामक मण्डप और 'हविर्धान' नाम सोम शकट या सोमपात्र बनाये जाते हैं और ( यस्यां ) जिसमें ( यूपः निर्मीयते ) यज्ञ का स्तम्भ 'यूप' गाड़ा जाता है और ( यस्याम् ) जिसमें ( यजुर्विदः ) यजुर्वेद के यज्ञ वेत्ता ( ब्रह्माणः ) ब्रह्मवेत्ता, वेदज्ञानी विद्वान् ( ऋग्भिः ) ऋचाओं से और ( साम्ना ) साम वेद से ( अर्चन्ति ) इष्टदेव की स्तुति करते हैं। और ( यस्याम् ) जिस पृथ्वी पर ( ऋत्विजः ) ऋतु-अनुकूल यज्ञ करनेहारे

---

३८–( पं० ) युज्यन्तेस्या ऋत्विजः [ ? ] इति पैप्प० सं०।

ऋत्विग् लोग ( इन्द्राय ) इन्द्र, राजा, यजमान एवं आत्मा को ( सोमम् पातवे ) सोम पान कराने के लिये ( युज्यन्ते ) एकत्र होते और समाहित होकर आध्यात्म यज्ञ करते हैं। 'युज्यन्ते' इसमें यज्ञ की अध्यात्म व्याख्या पर भी प्रकाश पड़ता है।

यस्यां पूर्वे भूतकृत ऋषयो गा उदानृचुः ।
सप्त सत्रेण वेधसो यज्ञेन तपसा सह ॥ ३६ ॥

भा०—( यस्यां ) जिस भूमि पर ( पूर्वे ) पूर्व कल्पों के ( भूतकृत. ) प्राणियों के उत्पादक अथवा भूत—समस्त तत्वों के साक्षात् कार करने वाले ( सप्त ) सात ( वेधसः ) विधाता, सर्वोत्पादक ( ऋषयः ) मन्त्रदृष्टा ऋषिगण ( यज्ञेन ) यज्ञ ( सत्रेण ) सत्र और ( तपसा ) तप के साथ सम्पन्न होकर ( गा उदानृचुः ) वेद-वाणियों को उच्चारण करते रहे। 'Sang out the Kine' or Song forth the cows 'गायों का गान करते रहे थे' ह्विटनिकृत और ग्रीफिथकृत अर्थ उपहास योग्य हैं।

सा नो भूमिरा दिशतु यद्धनं कामयामहे ।
भगो अनुप्रयुङ्क्तामिन्द्र एतु पुरोगवः ॥ ४० ॥ ( ४ )

भा०—( यत् ) जिस ( धनम् ) धन की हम ( कामयामहे ) कामना करें ( सा ) वह पूज्य, सर्वोत्पादक ( भूमिः ) भूमि ( नः ) हमें ( आदिशतु ) प्रदान करे। ( भगः ) ऐश्वर्यवान्, परमात्मा हमें ( अनुप्रयुङ्क्ताम् ) सदा सहायता करे और ( इन्द्र पुरोगवः एतु ) इन्द्र, परमेश्वर ही हमारे सब कार्यों में अग्रगामी होकर रहे। अथवा, ( भग अनुप्रयुङ्क्ताम् ) ऐश्वर्यवान् पुरुष हमारी सहायता करे, और ( इन्द्र पुरोगव एतु ) इन्द्र राजा हमारे सब कार्यों में अग्रसर हो।

३९–( द्वि० ) 'उदानृचुः' इति पैप्प० सं०।
४०–( च० ) 'इन्द्रो यातु' इति पैप्प० सं०।

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलबाः ।
युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः ।
सा नो भूमिः प्र णुदतां सपत्नानसपत्नं मा पृथिवी कृणोतु ॥४१॥

भा०—( यस्यां ) जिस ( भूम्यां ) भूमि पर ( मर्त्याः ) मरण-धर्मा मनुष्य ( व्यैलबाः ) नाना प्रकार के शब्द करते हुए ( गायन्ति ) गाते ( नृत्यन्ति ) नाचते और ( युध्यन्ते ) युद्ध करते हैं और ( यस्यां ) जिस पर ( आक्रन्दः ) अति शब्द-कारी ( दुन्दुभिः वदति ) नगाड़ा बजता है । ( सा भूमिः ) वह भूमि ( नः सपत्नान् ) हमारे शत्रुओं को ( प्र नुदताम् ) परे करे और ( मा पृथिवी ) मुझ को पृथिवी ( असपत्नं ) शत्रु रहित ( कृणोतु ) करे ।

यस्यामन्नं व्रीहियवौ यस्या इमाः पञ्च कृष्टयः ।
भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षमेदसे ॥ ४२ ॥

भा०—( यस्याम् ) जिस पर ( अन्नं ) अन्न, खाने योग्य पदार्थ ( व्रीहि-यवौ ) धान्य और जौ जाति के अन्न नाना प्रकार से उत्पन्न होते हैं । और ( यस्याः ) जिससे ( इमाः ) ये ( पञ्च ) पांच प्रकार के ( कृष्टयः ) मनुष्य, ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र और पांचवें निषाद=जंगली लोग उत्पन्न होते हैं । उस ( पर्जन्यपत्न्यै ) 'पर्जन्य,' प्रजाओं के नेता, राजा और प्रजाओं का जल रस देने वाले मेघ की दोनों पत्नी और ( वर्षमेदसे ) वर्षा के जल से परिपूर्ण इस ( भूम्यै ) भूमि को ( नमः अस्तु ) सदा हमारा नमस्कार हो । अथवा मेघ की पत्नी स्वरूप भूमि जिसमें वर्षा का जल खूब पड़े उसमें ( नमः अस्तु ) अन्न भी खूब हो ।

४१-( द्वि० ) [illegible] ( पू० ) 'युध्यन्तेऽस्यां' (प०, ष०) सा नो भूमिः [illegible] । [illegible] कृणोतु इति पैप्प० सं० ।

४२-( द्वि० ) [illegible] ( च० ) 'वर्षमेदसे' इति पैप्प० सं० ।

यस्याः पुरो देवकृताः क्षेत्रे यस्यां विकुर्वते ।
प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भामाशामाशां रण्यां नः कृणोतु ॥४३॥

भा०—( यस्याः ) जिसकी पीठ पर ( देवकृताः ) देव-शिल्पी या राजाओं के बनवाए ( पुरः ) बड़े नगर और कोट खड़े हैं। और ( यस्याः क्षेत्रे ) जिसके खेत में लोग ( विकुर्वते ) परस्पर एक दूसरे से बिगाड़ कर नाना युद्ध करते हैं। ( विश्वगर्भाम् ) समस्त विश्व को अपने गर्भ में धारण करने वाली इस ( पृथिवीम् ) पृथ्वी को ( नः ) हमारे लिये ( प्रजापतिः ) प्रजा का पालक परमात्मा और ( आशाम् आशाम् ) प्रत्येक दिशा में ( रण्याम् ) रमण करने योग्य, सुन्दर विहार योग्य ( कृणोतु ) बनावे।

निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे ।
वसूनि नो वसुदा रासमाना देवी दधातु सुमनस्यमाना ॥ ४४ ॥

भा०—( गुहा ) भीतरी गुहाओं में, छिपी खानों के भीतर ( बहुधा ) प्राय बहुत प्रकार के ( निधिम् ) बहुमूल्य पदार्थों के खज़ाने को ( बिभ्रती ) धारण करती हुई ( पृथिवी ) पृथिवी ( मे ) मुझे ( मणिं ) मणि वैदूर्य, चैक्रान्त आदि और ( हिरण्यम् ) सुवर्ण आदि बहु मूल्य धातु रूप ( वसु ) धन को ( ददातु ) प्रदान करे। वह ( वसुदा ) धनों को देने वाली ( देवी ) देवी-पृथिवी ( वसूनि ) नाना प्रकार के धन ऐश्वर्यों को ( रासमाना ) प्रदान करती हुई ( सुमनस्यमाना ) शुभ चित्त होकर ( नः ) हमें ( दधातु ) पुष्ट करे।

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम् ।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती ॥ ४५ ॥

---

४४–( द्वि० ) 'दधातु नः' इति पैप्प० सं०।

४५–( प्र० ) 'जन यं बिभ्रति बहुवाचम्' 'द्रविणान्न नः' इति पैप्प० सं०।

भा०—( विवाचसम् ) विविध वाणियें या विविध भाषाएं बोलने वाले ( नानाधर्माणम् ) नाना धर्म के पालक ( जनम् ) जन, जन्तु समूह को ( यथौकसम् ) उनके देश या निवासस्थान के अनुसार उनको ( बहुधा ) बहुत से भिन्न २ प्रकारों से ( बिभ्रती ) पालन करती हुई ( पृथिवी ) पृथिवी ( धेनुः इव ) गौ के समान ( ध्रुवा ) स्थिर, निश्चल ( अनपस्फुरन्ती ) विना छट-पटाहट किये, सुख से ( मे ) मुझे ( द्रविणस्य ) धन ऐश्वर्य की ( सहस्रं ) हजारों ( धाराः ) धाराएं ( दुहाम् ) दुहे, प्रदान करे।

**यस्ते॑ सर्पो॒ वृश्चि॑कस्तृ॒ष्टदं॑श्मा हेम॒न्तज॑ब्धो भृम॒लो गुहा॒ शये॑ ।
क्रिमि॒र्जिन्व॑त् पृथिवि॒ यद्य॒देज॑ति प्रा॒वृषि॒ तन्नः॒ सर्प॒न्मोप॑ सृप॒द् यच्छि॒वं तेन॑ नो मृड ॥ ४६ ॥**

भा०—हे ( पृथिवि ) पृथिवि ! ( यः ) जो ( ते ) तेरा ( वृश्चिकः ) बिच्छू ( सर्पः ) सांप जाति के जीव ( तृष्टदंश्मा ) तीखे काटने वाले, और जो ( हेमन्तजब्धः ) हेमन्त काल के शीत से पीड़ित होकर ( भृमलः ) भौंरे जाति के जीव ( गुहा शये ) गुहा, भीतर छिपी खोहों में सोया करते हैं और ( क्रिमिः ) कृमि, कीड़े मकौड़े आदि ( यत् यत् ) जो जो भी ( प्रावृषि ) वर्षा काल में ( जिन्वत् ) पुनः वर्षा जल से तृप्त या प्राणित होकर ( एजति ) चलते हैं ( तत् सर्पत् ) वे सब रेंगते हुए ( नः मा उपसृपत् ) हम तक न रेंग आवें। ( यत् शिवं ) जो मङ्गल, सुखकारी पदार्थ हों ( तेन ) उससे ( नः ) हमें ( मृड ) सुखी कर।

**ये ते॒ पन्था॑नो ब॒हवो॑ ज॒नाय॑ना॒ रथ॑स्य॒ वर्त्मान॑सश्च॒ यात॑वे ।
यैः सं॒चर॑न्त्यु॒भये॑ भद्रपा॒पास्तं पन्था॑नं जयेमानमि॒त्रम॑तस्क॒रं यच्छि॒वं तेन॑ नो मृड ॥ ४७ ॥**

४६–( प्र० ) ' भृमलः ' ( द्वि० ) ' हेमन्तजब्धो भ्रमलो क्रिमिर्जिन्वत् पृथिवि प्रावृषि यदेजति ' इति पैप्प० सं० ।

४७–' पन्थानो बहवो ' ( द्वि० ) ' येभिश्चर- ' ( च० ) ' पन्थां जयेम ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे पृथिवि ! ( ये ) जो ( ते ) तेरे ( बहवः ) बहुत सारे ( जनायनाः ) मनुष्यों के जाने के ( पन्थानः ) रास्ते हैं और ( रथस्य ) रथों के और ( अनसः च यातवे ) गाड़ों के जाने के लिये ( वर्त्म ) रास्ते हैं ( यैः ) जिनसे ( भद्रपापाः ) भले और बुरे ( उभये ) दोनों प्रकार के लोग ( संचरन्ति ) बराबर चला करते हैं ( तं पन्थानं ) उस मार्ग को हम लोग ( जयेम ) विजय करें जिससे वह ( अनमित्रं ) शत्रु रहित और ( अतस्करम् ) तस्कर चोर डाकू रहित हो जाय । हे पृथिवि ( यत् शिवम् ) जो मङ्गल, कल्याणकारी पदार्थ हो (तेन नः मृड) उससे हमें सुखी कर।

मुल्वं बिभ्रती गुरुभृद् भद्रपापस्य निधनं तितिक्षुः ।
वराहेण पृथिवी संविदाना सूकराय वि जिहीते मृगाय ॥ ४८ ॥

भा०—( मल्वं ) मल बुद्ध या कृपण या मूर्ख पुरुष को ( बिभ्रती ) पालती पोसती हुई और ( गुरुभृत् ) भारी उपदेशप्रद आचार्यों को भी धारण करने हारी अथवा ( मल्वं ) तुच्छ को जैसे ( बिभ्रती ) धारण करती है उसी प्रकार ( गुरुभृत् ) भारी पदार्थ पर्वत आदि को भी उठाती हुई यह ( पृथिवी ) पृथिवी ( भद्रपापस्य निधनं ) भले और बुरे सबको निधन=देह को या मृत मुर्दे को ( तितिक्षुः ) स्वयं सहन करती है । वही ( वराहेण संविदाना ) मानो वराह, महाशूकर से मन्त्रणा करती हुई ( मृगाय सूकराय ) जंगली जानवर सूअर के लिये भी (वि जिहीते) अपने को विशेष रूप से उसके लिये त्याग देती है। अर्थात् जो पृथ्वी भले बुरे मूर्ख पण्डित सबको धारती है, वह अपने ऊपर पशु सूअर आदि पशुओं को भी स्वच्छन्द विचरने देती है ।

ये त आरण्याः पशवो मृगा वने हिताः सिंहा व्याघ्राः पुरुषादश्चरन्ति ।
उलं वृकं पृथिवि दुच्छुनामित ऋक्षीकां रक्षो अप बाधयास्मत् ॥४९॥

---

४८–( प्र० ) 'मर्वं बिभ्रती सुरभि' [ ? ] इति पैप्प० सं० ।
४९–( च० ) 'ऋ रक्षीकाम्' इति क्वचित् । 'ऋक्षीकामृष.' इति क्वचित् । 'रक्षीका रक्षो अबाधामस्' इति पैप्प० सं ।

भा०—हे पृथिवि ! ( ते ये आरण्याः पशवः ) तेरे जो जंगली पशु और ( वने हिताः ) वन में पालित पोषित ( मृगाः ) मृग, हाथी आदि और ( पुरुषादः ) पुरुष अर्थात् मनुष्यों को भी खा जाने वाले ( सिंहाः ) सिंह ( व्याघ्राः ) बाघ आदि ( चरन्ति ) विचरते हैं उनको और ( उलम् ) सियार, ( वृकम् ) भेड़िये ( दुच्छुनाम् ) दुःखदायी ( ऋक्षीकां ) ऋच्छ जाति और अन्य ( रक्षः ) कष्टदायी राक्षस स्वभाव के जन्तुओं को ( इतः ) यहां से ( अस्मत् ) और हम से ( अप बाधय ) दूर रख।

ये गन्धर्वा अप्सरसो ये चारायाः किमीदिनः।
पिशाचान्त्सर्वा रक्षांसि तानस्मद् भूमे यावय ॥ ५० ॥ ( ५ )

भा०—( ये ) जो ( गन्धर्वाः ) गन्धर्व, गन्ध के पीछे चलने वाले, विलासी लोग और ( अप्सरसः ) विलासिनी स्त्रियां और ( ये च ) जो ( अरायाः ) निर्धन, ( किमीदिनः ) निकम्मे या दूसरों के जान माल को तुच्छ समझने वाले हैं ( तान् ) उनको और ( पिशाचान् ) मांसभक्षी लोगों और ( रक्षांसि ) राक्षस वृत्त वाले ( सर्वान् ) सब लोगों को हे ( भूमे ) भूमे ! ( अस्मद् यवय ) हम से दूर कर।

यां द्विपादः पक्षिणः संपतन्ति हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांसि।
यस्यां वातो मातरिश्वेयते रजांसि कृण्वंश्च्यावयंश्च वृक्षान्।
वातस्य प्रवामुप वामनु वात्यर्चिः ॥ ५१ ॥

भा०—( याम् ) जिस पृथिवी पर ( द्विपादः ) दो पैर वाले, मनुष्य, ( पक्षिणः ) पक्षी, ( हंसाः ) हंस आदि ( सुपर्णाः ) सुन्दर पंखों से युक्त

५०–( प्र० ) 'गन्धर्वाऽप्स' इति पैप्प० सं०।

५१–' यस्यां वातयते मातरिश्वा रजांसि ' इति ( पं० ) वातस्यानु भाग्यर्चिरो इति पैप्प० सं०।

( शकुनाः ) शक्ति शाली गरुड़ आदि ( वयांसि ) पक्षी ( संपतन्ति ) उड़ते हैं और ( यस्यां ) जिसमें ( मातरिश्वा ) अन्तरिक्ष में बड़े वेग से चलने वाला ( वातः ) प्रचण्ड वायु ( रजांसि कृण्वन् ) धूलियां उड़ाता हुआ, आकाश में धूलि के गुब्बार उड़ाता हुआ और ( वृक्षान् ) बड़े २ वृक्षों को ( च्यावयन् ) गिराता हुआ ( ईयते ) चलता है और जहां ( वातस्य ध्रजम् ) प्रचण्ड वायु के प्रबल वेग और ( उपवाम् अनु ) निरन्तर बहने के साथ २ ( अर्चिः ) आग की ज्वाला या लू भी ( वाति ) बहा करती है।

यस्यां कृष्णमंरुणं च संहिते अहोरात्रे विहिते भूम्यामधि ।
वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता सा नो दधातु भद्रया प्रिये धामनिधामनि ॥ ५२ ॥

भा०—( यस्याम् ) जिस ( भूम्याम् अधि ) भूमिपर ( कृष्णं अरुणं च ) काला और लाल ( अहोरात्रे ) दिन और रात दोनों ( संहिते ) परस्पर मिले हुए, सदा एक दूसरे के पीछे लगे हुए, सुसम्बद्ध ( विहिते ) रहते हैं। ( सा पृथिवी ) वह विशाल पृथिवी ( भूमिः ) सबकी उत्पादक, जननी ( वर्षेण वृता ) वर्षा के जल से ढकी हुई ( भद्रया ) कल्याण और सुखकारिणी लक्ष्मी से ( आवृता ) सम्पन्न या घिरी हुई ( प्रिये ) प्रिय, मनोहर ( धामनि-धामनि ) प्रत्येक देश में ( नः दधातु ) हमें सब प्रकार से धारण पोषण करे।

द्यौश्चं म इदं पृथिवी चान्तरिक्षं च मे व्यचः ।
अग्निः सूर्य आपो मेधा विश्वें देवाश्च सं दंदुः ॥ ५३ ॥

५२-( प्र० ) 'कृष्णरुणा च संहितेऽहोरात्रे' ( तृ० ) 'वर्षावृता' ( च० ) 'धाम्निधाम्नि' इति पैप्प० सं०।

५३-( प्र० ) 'मेद' ( च० ) 'सदधुः' इति पैप्प० सं०।

भा०—( द्यौः च ) यह द्यौः, आकाश, ( पृथिवी च ) पृथिवी और ( अन्तरिक्षम् च ) अन्तरिक्ष ( इदं व्यचः ) ये तीनों विशाल विस्तृत प्रदेश ( मे ) मेरे ही फलने फूलने और समृद्ध होने के लिये हैं । ( अग्निः ) अग्नि, ( सूर्यः ) सूर्य, ( आपः ) जल और ( विश्वे देवाः ) जगत् की समस्त दिव्य-शक्तियाँ मुझे उक्त तीनों विशाल प्रदेशों को वश करने के लिये ( मेधाम् ) बुद्धि ( सं ददुः ) प्रदान करें ।

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम् ।
अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः ॥ ५४ ॥

भा०—( अहम् ) मैं ही ( भूम्याम् ) भूमि पर ( सहमानः ) सब पदार्थों को वश करने वाला ( उत्तरः नाम ) इन सब तिर्यग् पशुओं से ऊंचा, सबको नमाने में समर्थ ( अस्मि ) हूं । ( अभीषाट् अस्मि ) मैं चारों ओर विजय करने वाला हूं । और मैं ( विश्वाषाड् ) सर्व विजयी ( आशाम्-आशाम् ) प्रत्येक अपने मनोरथ और या प्रत्येक दिशा को ( वि-ससहिः ) विशेष रूप से विजय कर उसको अपने वश करूं ।

अदो यद् देवि प्रथमाना पुरस्ताद् देवैरुक्ता व्यसर्पो महित्वम् ।
आ त्वा सुभूतमविशत् तदानीमकल्पयथाः प्रदिशश्चतस्रः ॥५५॥

भा०—हे ( देवि ) देवि ! पृथिवि ! ( यत् ) जब तूने ( अदः ) यह इस प्रकार का अवर्णनीय ( महित्वम् ) अपना विशाल स्वरूप ( वि अस‌र्पः ) विविध प्रकार से विस्तृत किया तब ( पुरस्तात् ) सबसे पूर्व ( देवैः ) देव, विद्वान् लोगों ने तुझको ( प्रथमाना ) फैलती हुई, विस्तृत पृथिवी ( उक्ता ) कहा । ( त्वा ) तुझमें ( सुभूतम् ) उत्तम २ उत्पन्न होने हारे उत्तम पदार्थ-

५५–( प्र० ) 'पदो' ( द्वि० ) 'दि: यदा', 'महित्वा' ( तृ० ) 'आ त्वा भूता वि' इति पैप्प० सं० ।

( या आविशत् ) जब ओर से प्रविष्ट हैं, ( तदानीम् ) उसी समय तू ( चतस्रः प्रदिशः ) चारों महा दिशाओं में वर्तमान प्रदेशों को भी ( अकल्पयथाः ) सुन्दर २ रूप में रचती है ।

ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम् ।
ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते ॥ ५६ ॥

पूर्वार्धं यजु० ३ । ४५ प्र० द्वि० ॥

भा०—हे पृथिवि ! ( ये ग्रामाः ) जो ग्राम हैं, ( यद् अरण्यम् ) जो जंगल हैं ( अधि भूम्याम् याः सभाः ) और भूमि पर जो सभाएं और ( ये संग्रामाः समितयः ) जो संग्राम, युद्धस्थान और समितियें हैं ( तेषु ) उनमें हम ( ते चारु वदेम ) तेरा उत्तम यशोगान करें ।

अश्व इव रजो दुधुवे वि तान् जनान् य आक्षियन् पृथिवीं यादजायत ।
मन्द्राग्रेत्वरी भुवनस्य गोपा वनस्पतीनां गृभिरोषधीनाम् ॥५७॥

भा०—( अश्व इव ) अश्व जिस प्रकार ( रजः दुधुवे ) अपने शरीर को कंपाकर धूल को झाड़ फेंकता है उसी प्रकार ( ये ) जो लोग ( पृथिवीम् ) पृथिवी पर ( आक्षियन् ) आकर बसे ( यात् अजायत ) जब से उत्पन्न हुई तब से अब तक ( तान् जनान् ) उन सब मनुष्यों को इस पृथिवी ने ( दुधुवे ) झाड़ फेंका है । यह पृथिवी सदा ( मन्द्रा ) सुप्रसन्न और औरों को प्रसन्न करनेहारी ( अग्रत्वरी ) आगे आगे शीघ्रता से चलने वाली ( भुवनस्य गोपा ) समस्त उत्पन्न होने वाले पदार्थों की रक्षा करनेहारी ( वनस्पतीनाम् ओषधीनाम् ) वनस्पतियों और ओषधियों को ( गृभिः ) अपने भीतर ग्रहण धारण करने वाली है ।

५६—' ये ग्राम्या आरण्यानि, ' ( तृ० च० ) ' तेष्वहं देवि पृथिविमधु० हन्नम ' इति पैप्प० सं० ।

यद् वदा॑मि॒ मधु॑म॒त् तद् व॑दामि॒ यदी॒क्षे तद् व॑नन्ति मा ।
त्विषी॑मानस्मि जू॒ति॒मानवा॒न्यान् ह॑न्मि॒ दोध॑तः ॥ ५८ ॥

भा०—( यद् ) जब ( वदामि ) बोलूं ( तत् ) तब वह ( मधुमत् ) मधु से भरा हुआ, मधुर, अमृतमय, सारवान् ( वदामि ) बोलूं ( यद् ईक्षे ) जब देखूं ( तत् ) तब ( मा ) मुझे लोग ( वनन्ति ) प्रेम से देखें, मेरा आदर करें। मैं स्वयं ( त्विषीमान् ) कान्तिमान्, तेजस्वी और ( जूतिमान् ) वेगवान्, पराक्रमशाली, उत्साही ( अस्मि ) रहूं। और ( दोधतः ) मेरे प्रति क्रोध करनेहारे ( अन्यान् ) अन्य शत्रुओं को मैं ( अव हन्मि ) नीचे गिरा मारूं।

श॒न्ति॒वा सु॑र॒भिः स्यो॒ना की॒ला॒लोध्नी॒ पय॑स्वती ।
भूमि॒रधि॑ ब्रवीतु मे पृथि॒वी पय॑सा स॒ह ॥ ५९ ॥

भा०—( शन्ति-वा ) कल्याण और शान्तिसम्पन्न, ( सुरभिः ) उत्तम गन्ध से युक्त, ( स्योना ) सुखकारिणी, ( कीलालोध्नी ) अमृतमय रस को गाय की तरह से अपने थानों में बराबर धारण करने वाली, ( पयस्वती ) क्षीर, अन्न आदि पुष्टिकारक पदार्थों से सम्पन्न ( भूमिः ) भूमि, सर्वव्यापक ( पृथिवी ) पृथिवी ( पयसा सह ) अपने समस्त पुष्टिकारक पदार्थों सहित ( मे ) मुझे ( अधि ब्रवीतु ) आशीर्वाद करे।

याम॒न्वैच्छ॑द्ध॒विषा॑ वि॒श्वक॑र्मा॒न्तर॑र्ण॒वे रज॑सि॒ प्रवि॑ष्टाम् ।
भु॒जि॒ष्यं॑१ पात्रं॒ निहि॑तं॒ गुहा॒ यदा॒विर्भोगे॑ अभवन्मातृ॒मद्भ्यः॑ ॥ ६० ॥

५८–( द्वि० ) 'तद्वनन्तु मा' इति पैप्प० सं०। 'वनन्ति,' 'वर्णन्ति' इति क्वचित् पाठः। ( च० ) 'दोधत' इति पैप्प० सं०।

५९–( प्र० ) 'सन्ति वा' ( तृ० ) 'भूमिर्नोऽपि' इति पैप्प० सं०।

६०–( द्वि० ) 'यस्यामासन्नुमदोऽप्स्वन्तः' ( तृ० च० ) 'गुहायदा विरभोरभवत् मातृमद्भिः' इति पैप्प० सं०।

भा०—( अर्ण: अर्णवे ) अर्णव महान् समुद्र के भीतर और ( रजसि प्रविष्टाम् ) रजस, धूलि या मट्टी में या अन्तरिक्ष में प्रविष्ट हुई, उससे बनी या उसमें स्थित ( याम् ) जिस पृथिवी को ( विश्वकर्मा ) समस्त जगत् को बनाने वाला परमेश्वर सृष्टि के निमित्त ( एच्छत् ) अपने सृष्टि उत्पन्न करने के लिये उपयुक्त जानकर उसे सृष्टि के लिये चुनता है। वह भूमि ( गुहा ) गुहा, इस महान् आकाश में वस्तुतः ( भुजिष्यम् ) भोग करने योग्य अन्नादि से सुसज्जित ( पात्रम् ) थाली के समान ( निहितम् ) रक्खी है ( यत् ) जो ( मातृमद्भ्य ) पृथिवी को अपनी माता के समान मानने वाली उसके पुत्रों के लिये ( भोगे ) उन पदार्थों के भोग के अवसर पर ( आवि: अभवत् ) साक्षात् रूप से प्रकट होती है।

त्वमस्यावपनी जनानामदितिः कामदुघा पप्रथाना।
यत् त ऊनं तत् त आ पूरयाति प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य ॥६१॥

भा०—हे पृथिवि ! ( त्वम् ) तू ( जनानाम् ) मनुष्यों और प्राणियों के ( आवपनी ) सब ओर बीज वपन करने और उनको उत्पन्न करने के लिये क्षेत्र के समान है। तू ( अदिति ) अखण्डित, अक्षय, ( पप्रथाना ) बड़ी भारी, विशाल ( कामदुघा ) प्राणियों की समस्त कामनाओं को पूरने वाली है। ( ऋतस्य ) उस वर्त्तमान संसार के भी ( प्रथमजा: ) पूर्व विद्यमान ( प्रजापतिः ) प्रजा का पालक परमेश्वर ( यत् ते ऊनम् ) जो तेरे में कमी आ जाती है ( ते तत् ) तेरी उस कमी को भी ( आ पूरयति ) सब प्रकार से पूर्ण कर देता है।

'आवपनी'—महोध प्रकरण में 'भूमिरावपनं महत्' भूमि बीज बोने का बड़ा खेत है।

६१-( द्वि० ) 'कामदुघा विश्वरूपा' ( तृ० च० ) 'प्रजापतिः प्रजाभिः संविदानाम्' इति पैप० सं०।

उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः ।
दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम ॥ ६२ ॥

भा०—हे ( पृथिवि ) पृथिवि ! ( अस्मभ्यम् ) हमारी ( प्रसूताः ) उत्पन्न सन्तान ( ते उपस्थाः ) तेरे ऊपर, तेरी गोद में रह कर सदा ( अनमीवाः ) रोग रहित, ( अयक्ष्माः ) तपेदिक् आदि से रहित सुखी, हृष्ट पुष्ट होकर ( सन्तु ) रहें । ( नः आयुः ) हमारी आयु ( दीर्घम् ) बड़ी लम्बी है ऐसे ( प्रतिबुध्यमानाः ) समझते हुए ( वयं ) हम ( तुभ्यम् ) तेरी रक्षा के लिये ( बलिहृतः स्याम ) भेट पूजा या कर देने वाले रहें ।

भूमे मातर्नि धेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम् ।
संविदाना दिवा कवे श्रियां मां धेहि भूत्याम् ॥ ६३ ॥ ( ६ )

भा०—हे ( भूमे ) भूमे ! ( मातः ) हे मातः ! ( मा ) मुझे ( भद्रया ) कल्याण और सुखकारिणी लक्ष्मी से ( सुप्रतिष्ठितम् धेहि ) उत्तम रीति से प्रतिष्ठित कर । हे ( कवे ) क्रान्तदर्शिनि ! अन्तर्यामिनि ! देवि ! तू ( दिवा ) द्यौलोक या प्रकाशमान सूर्य से । संविदाना , सुसंगत होकर ( मां ) मुझे ( श्रियां ) श्री, लक्ष्मी और ( भूत्याम् ) धन सम्पत्ति, विभूति में ( धेहि ) स्थापित कर ।

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

[ तत्रै : सूक्त, ऋचश्च त्रिषष्टिः ]

---

## [२] क्रव्यात् अग्नि का वर्णन, दुष्टों का दमन और राजा के कर्त्तव्य ।

भृगुर्ऋषिः । अग्निरुत मन्त्रोक्ता देवताः, २१–३३ मृत्युर्देवता । २, ५, १२, २०, ३४–३६, ३८-४१, ४३, ५१, ५४ अनुष्टुभः [ १६ ककुम्मती परावृहती अनुष्टुप्, १८ निचृद् अनुष्टुप्, ४० पुरस्तात् ककुम्मती ], ३ आस्तारपंक्तिः, ६ भुरिग् आर्षी पंक्तिः, ७, ४५ जगती, ८, ४८, ४९ भुरिग्, अनुष्टुब्गर्भा विपरीत

पादन्यृमा पङ्क्तिः, ३७ पुरस्ताद् बृहती, ४२ त्रिपदा एकावसाना आर्ची गायत्री, ४४ एकावसाना द्विपदा आर्ची बृहती, ४६ एकावसाना साम्नी त्रिष्टुप्, ४७ पञ्चपदा बार्हतवैराजगर्भा जगती, ५० उपरिष्टाद् विराट् बृहती, ५२ पुरस्ताद् विराड्बृहती, ५५ बृहतीगर्भा विराट्, १, ४, १०, ११, २१, ३३, ५३, त्रिष्टुभः ।

पञ्चपञ्चाशदृच सूक्तम् ॥

नुड्मा रौह न ते अत्र लोक इदं सीसं भागुधेयं तु एहि ।
यो गोषु यक्ष्मः पुरुषेषु यक्ष्मस्तेन त्वं साकमधराङ् परेहि ॥ १ ॥

भा०—हे क्रव्याद्=कच्चा मांस खाने वाले अग्ने! अग्नि के समान संतापकारी जन्तु! तू ( नडम् आरोह ) नड़ पर या नड़ के समान तीखे शर पर चढ़ अर्थात् तू बाण का शिकार हो। ( अत्र ) इस जीव लोक में ( ते ) तेरे ( लोकः न ) रहने की जगह नहीं है। ( इदं सीसम् ) यह सीसा, सीसे की बनी घातक गोली आदि ( ते ) तेरा ( भागधेयम् ) भाग है। ( एहि ) तू आ, तुझे मारूं। ( यः ) जो ( गोषु ) गौओं पर ( यक्ष्मः ) पीड़ाकारी और ( पुरुषेषु ) पुरुषों पर ( यक्ष्मः ) रोग के समान आक्रमण करने वाला, पीड़ाकारि है ( तेन ) उसके ( साकम् ) साथ ही ( त्वम् ) तू भी ( अधराङ् ) नीचे गिर कर ( परा इहि ) दूर भाग जा।

इस प्रकार कच्चा मांस खाने वाले गौओं और पुरुषों पर आक्रमण करने वाले शेर आदि हिंसक और दुष्ट जन्तुओं को बाण या सीसे की गोली से मारना चाहिये।

अघशंसदुःशंसाभ्यां करेणानुकरेण च ।
यक्ष्मं च सर्वं तेनेतो मृत्युं च निरजामसि ॥ २ ॥

[ २ ] १–( प्र० ) 'नेश' इति पैप्प० सं०।
२–( तृ० च० ) 'मृत्युश्च सर्वास्तेनेतो यक्ष्मांश्च निरजामसि' इति पैप्प० सं०।
( प्र० द्वि० ) 'दुःशंसानुशंसाभ्यां घनेनानु घनेन च' इति मै० सं०।

भा०—( अघशंस-दुःशंसाभ्यां ) पाप या हत्याकारी और दुष्ट कार्य करने वालों के ( करेण ) साक्षात् कर्त्ता, उनके आदमी और ( अनुकरेण च ) उसके पीछे लगे, उसके सहायक लोगों के सहित ( सर्वं च यक्ष्मम् ) उनके द्वारा उत्पन्न समस्त प्रजापीड़न के कारणों को और ( तेन ) पूर्व मन्त्र में उक्त उपाय से दूर करें और उसी उपाय से ( मृत्युं च ) प्रजा के मृत्यु को भी ( इतः ) अपने राष्ट्र से ( निर् अजामसि ) हम निकाल दें।

'अघशंस' वे लोग हैं जो दूसरों की हत्या करने के लिये लोगों को प्रेरणा करते हैं। 'दुःशंस' वे हैं जो दूसरों को बुरे २ नीच, दुःखदायी काम करने की उत्तेजना दें। जो उनको सहायता देते हैं वे उनके कर हाथ और 'अनुकर' या 'नौकर' हैं। इनके सहित प्रजा में से राजपुरुष लोग रोग और अन्य 'यक्ष्म' अर्थात् राष्ट्र के बीच में लगे प्रजापीड़क रोगों और 'मृत्यु' भय को भी दूर करें।

निरि॒तो मृ॒त्युं निर्ऋ॑तिं॒ निररा॑तिमजामसि ।
यो नो॒ द्वेष्टि॒ तम॑द्ध्यग्ने अक्रव्याद् यमु॑ द्वि॒ष्मस्तमु॑ ते॒ प्र सु॑वा-मसि ॥ ३ ॥

भा०—(इतः) इस राष्ट्र से (मृत्युम्) मृत्यु भय को ( निर् अजामसि ) हम सर्वथा दूर करदें। और ( ऋतिम् निर् ) प्रजा की पीड़ा और भय को भी सर्वथा दूर करें, ( अरातिम् ) प्रजा के शत्रु, जो प्रजा को सुख चैन नहीं लेने देते, उनको भी हम (निर् अजामसि, सर्वथा राष्ट्र से दूर करें। अथवा ( निर्ऋतिम् ) विनाशकारी रोग और पापप्रवृत्ति और ( अरातिम् नि र् अजा-मसि ) अराति, शत्रु को भी दूर करें। हे ( अक्रव्यात् अग्ने ) मनुष्यों का कच्चा मांस खाने वाली चिता=अग्नि के समान नर संहार करने वाले पुरुष से

३-(तृ० च०) 'तमध्दग्ने क्रव्यादग् यद्द्मस्तंते प्रसुवामः' इति पैप्प० सं०।

अतिरिक्त आहवनीय यज्ञाग्नि और गृह्य अग्नि के समान पवित्र कार्यों के करने और लोगों के घर बसाने वाले अग्ने ! राजन् ! ( यः नः ) जो हमें ( द्वेष्टि ) द्वेष करता है तू ( तम् ) उसको ( अद्धि ) खाजा, तू उसका नाश कर । और ( यम् उ ) जिसको भी ( द्विष्मः ) हम द्वेष करते हैं, ( तम् उ ) उसको भी ( ते ) तेरे आगे ( प्रसुवामः ) लाकर खड़ा करदें । तू उसका यथोचित अपराध जांच कर दण्ड दे ।

यद्यग्निः क्रव्याद् यदि वा व्याघ्र इमं गोष्ठं प्रविवेशान्योकाः ।
तं माषाज्यं कृत्वा प्र हिणोमि दूरं स गच्छत्वप्सुषदोप्यग्नीन् ॥४॥

भा०—( यदि ) यदि ( क्रव्याद् अग्निः ) कच्चा मांस खाने वाला, अग्नि के समान पीड़ाकारी जन ( यदि वा व्याघ्रः ) और यदि हिंसकपशु बाघ या बाघ के समान हिंसक और चोर डाकू पुरुष ( अन्-नि-ओकः ) बिना घरबार का, जंगली या आवारागर्द ( इमं गोष्ठम् ) इस गोशाला या प्रजा-निवेश में ( प्रविवेश ) आघुसे तो ( तम् ) उसको ( माषाज्यं कृत्वा ) ( माषाज्यं ) मारने योग्य शस्त्र ( कृत्वा ) तैयार करके ( दूरं प्रहिणोमि ) हम दूर निकाल आवें । ( सः ) वह ( अप्सुषदः ) प्रजाओं में अधिकारी रूप से विराजमान शासक ( अग्नीन् ) अग्नि के समान, अपराधी को दण्डित करने वालों के समक्ष ( अपि ) भी ( गच्छतु ) जावे । और, अपना दण्ड पावे ।

'माष आज्यम्'—'मष' हिंसार्थः ( भ्वादि ) माषः=हिंसा, आज्यं—आजि साधनं आज्यं । युद्ध के साधन शस्त्र का नाम 'आज्य' है अतः 'माष-आज्य'=हिंसाकारी शस्त्र ।

तेजो वा आज्यम् । श० १२ । १० । १८ ॥ वज्रो हि आज्यम् श० १ । ३ । २ । १७ ॥ आज्येन वै देवा सर्वान् कामान् अजयन् । कौ० १४ ।

४—( द्वि० ) 'अन्योका. प्रविवेश,' ( तृ० ) 'तमाषा' इति मै० सं० ।

१ ॥ यदाज्यै देवा जयन्त आयन् तदाज्यानामाज्यत्वम् । ऐ० २ । ३६ ॥
यदाजिमायन् तदाज्यानामाज्यत्वम् । ( आज्यानि शास्त्राणि, स्तोत्राणि )
तां० ७ । २ । १ ॥

यत् त्वां क्रुद्धाः प्रचक्रुर्मन्युना पुरुषे मृते ।
सुकल्पमग्ने तत् त्वया पुनस्त्वोद्दीपयामसि ॥ ५ ॥

भा०—( पुरुषे मृते ) मनुष्य के मर जाने पर हे क्रव्यात् अग्ने, मांसाहारी, हिंसक जीव ( यत् ) यदि ( क्रुद्धाः ) क्रोध में आये पुरुषों ने ( मन्युना ) क्रोध से ( त्वा प्रचक्रुः ) तुझे बहुत बनाया है, तुझे मारा है ( तत् ) तो भी हे ( अग्ने ) अग्नि के समान सन्तापकारी जन ! ( त्वया ) तुझे ( तत् ) वह ( सुकल्पम् ) सुख से सहना चाहिये । हम तो ( त्वा ) तुझे ( पुनः ) फिर भी ( उत्-दीपयामसि ) उत्तेजित करते हैं, और भी दण्ड देते हैं ।

जब पुरुष मर जाता है उस समय जिस प्रकार शवाग्नि को लोग प्रचण्डता से जलाते हैं उसी प्रकार पुनः उस हिंसा कारी पुरुष को खूब उद्दीप्त करना चाहिये ।

पुनस्त्वादित्या रुद्रा वसवः पुनर्ब्रह्मा वसुनीतिरग्ने ।
पुनस्त्वा ब्रह्मणस्पतिराधाद् दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥६॥

पूर्वार्धः यजु० १२ । ४४ प्र० द्वि० ॥

भा०—हे ( अग्ने ) अग्नि के समान दुष्टों के सन्तापकारक राजन् ! (आदित्याः) आदित्य, सूर्य के समान तेजस्वी लोग, (रुद्राः) रुद्र, नैष्ठिक विद्वान,

५-( प्र० ) 'यत् त्वा कृत्वा' ( द्वि० ) 'पुरुषे मिते' ( तृ० ) 'अग्ने न त्वया' इति पैप्प० सं० ।

६-'वसवः समिन्धताम् पुनर्ब्रह्माणो वसुनीथयज्ञैः' इति यजु० ॥

( वसवः ) वसु नामक ब्रह्मचारी गण अथवा ( आदित्याः ) दुष्टों को पकड़ कर लाने वाले शासक, ( रुद्राः ) दुष्टों को दण्ड करके रुलाने वाले, दण्डकारी शासक और ( वसवः ) राष्ट्र के वासी प्रजागण और ( वसुनीतिः ) वसु अर्थात् प्रजाओं का नेता ( ब्रह्मणस्पतिः ) वेद का विद्वान् ( ब्रह्मा ) ब्रह्मा ( त्वा ) तुझे ( पुनः ) फिर ( शतशारदाय दीर्घायुत्वाय ) सौ बरस तक के लम्बे जीवन के लिये ( आधात् ) पुनः स्थापित करता है।

इसी प्रकार पुरुष के मर जाने पर यह जीव भी ' अग्नि ' है। उसको आदित्य=१२ मास, रुद्र=प्राण वसु=प्राण, समस्त जीवों का प्रणेता परमात्मा प्रजापति पुनः तुझको दूसरा जन्म सौ वर्ष की आयु भोगने के लिये प्रदान करे।

यो अग्निः क्रव्यात् प्रविवेश नो गृहमिमं पश्यन्नितरं जातवेदसम्।
तं हरामि पितृयज्ञाय दूरं स घर्ममिन्धां परमे सधस्थे ॥ ७ ॥

ऋ० १० । १६ । १० ॥

भा०—( यः ) जो ( क्रव्यात् अग्निः ) कच्चा मांस खाने वाला अग्नि के समान प्रजापीड़क जीव, डाकू या व्याघ्र आदि ( इतरम् ) अपने से विपरीत, दूसरे ( जातवेदसम् ) सब विद्वान् अग्नि के समान ही दुष्टों के सन्तापकारी राजा को ( पश्यन् ) देखता हुआ भी ( नः गृहं प्रविवेश ) हमारे घर में घुस जाय तो ( तम् ) उसको ( पितृयज्ञाय ) राष्ट्र के पालक शासकों के ' यज्ञ ' उनके कर्तव्य पालन के निमित्त ( दूरं हरामि ) दूर खींच ले जाऊं जिससे ( सः ) वह ( परमे सधस्थे ) परम स्थान, राजकीय स्थान में ( घर्मम् इन्धाम् ) सन्ताप प्राप्त करे।

अग्नियों के पक्ष में—गृह में, गृहाग्नि और आहवनीयाग्नि के होते हुए जो 'क्रव्यात्'—शवाग्नि अर्थात् मृत्यु घर में आ जाय तो उसके 'पितृयज्ञ'=

७-( प्र० ) ' वोगृह ' ( च० ) ' सघर्ममिन्वात् ' इति ऋ०।

शवदाह के निमित्त श्मशान में ले जाय। वह वहां परम दूर श्मशान स्थान में नरमेध यज्ञ करे। अर्थात् प्रतिनिधिवाद से इतर जातवेदा=नये नवयुवक गृहपति को देख कर यदि मृत्यु बूढ़े पर आ जाय तो उसको दूर श्मशान में लेजा कर अग्नि में भस्म कर दे। शव वहां ही तप करे।

क्रव्यादम॒ग्निं प्र हि॑णोमि दू॒रं य॒मरा॑ज्ञो गच्छतु रिप्रवा॒हः।
इ॒हा॒यमित॑रो जा॒तवे॑दा दे॒वो दे॒वेभ्यो॑ ह॒व्यं व॑हतु प्रजा॒नन् ॥८॥

ऋ० १० । १६ । ९ ॥ यजु० ३५ । १९ ॥

भा०—( क्रव्यादम् अग्निम् ) क्रव्य, अर्थात् नर मांस खाने वाले अग्नि=मृत्यु को ( दूरं प्रहिणोमि ) दूर करता हूं। ( रिप्रवाहः ) पाप को वहन करने वाला, पापी या यमयातना को अनुभव करने वाला पुरुष (यमराज्ञः) सब के नियन्ता राजा या परमात्मा के पास ( गच्छतु ) जाय। ( इह ) यहां ( अयम् ) यह ( इतरः ) दूसरा निष्पाप, नीरोग ( जातवेदाः ) विद्वान् गृहपति ( देवः ) दानशील, पुत्रों को अन्न वस्त्रादि देने में समर्थ और ( प्रजानन् ) प्रकृष्ट ज्ञानवान् होकर ( देवेभ्यः ) विद्वान् अतिथियों को ( हव्यम् ) हव्य=अन्न आदि ( वहतु ) प्रदान करे।

क्र॒व्याद॑म॒ग्निमि॑षि॒तो ह॑रामि॒ जना॑न् दृं॒हन्तं॒ वज्रे॑ण मृ॒त्युम्।
नि तं शा॑स्मि॒ गार्ह॑पत्येन वि॒द्वान् पि॑तॄ॒णां लो॒केऽपि॑ भा॒गो अ॑स्तु ॥९॥

भा०—मैं ( इषितः ) दृढ़ इच्छा शक्ति से सम्पन्न पुरुष ( जनान् ) मनुष्यों को ( वज्रेण ) प्राण हरण करने वाले तलवार के समान कठोर

८–( द्वि० ) 'यमराज्ञम्' इति ऋ०। तत्र दमनो यामायन ऋषिः। अग्निर्देवता।

९–( प्र० ) 'इषितम्' ( च० ) 'लोके परमो दाता' इति पैप्प० सं०। 'तृंहन्तं' सायणाभिमतः।

क्रव्याद अग्नि मृत्यु, पितृयान मार्गों में ही रहे । देवयान मार्गों में न आवे । और मृत्यु वृद्धों पर ही अपना घात करे, छोटी उमर वालों पर न आवे ।

समिन्धते संकसुकं स्वस्तये शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः ।
जहाति रिप्रमत्येन एति समिद्धो अग्निः सुपुना पुनाति ॥ ११ ॥

भा०—( शुचयः ) शुद्ध चित्त वाले ( पावकाः ) अन्यों को भी पाप से शुद्ध करने वाले, ( शुद्धाः भवन्तः ) स्वयं शुद्ध रहते हुए, विद्वान् लोग ( स्वस्तये ) संसार के कल्याण के लिये ( संकसुकम् ) उत्तम शासक को अग्नि के समान् ( सम् इन्धते ) खूब प्रदीप्त करते हैं । उसमें पड़ कर अपराधी अपने ( रिप्रम् ) पाप कर्म को ( जहाति ) छोड़ देता है और ( एनः अति एति ) अपने दुष्ट पाप से ऊपर उठ जाता है । और ( समिद्धः ) खूब प्रदीप्त ( अग्निः ) अग्नि के समान दुष्टों का संतापकारक राजा स्वयं ( सु-पुना ) उत्तम रीति से पवित्र करने वाला ही पापी को भी ( पुनाति ) पवित्र कर देता है । प्रेतपक्ष में-( शुचयः पावकाः ) शुद्ध आहवनीय आदि पवित्र ( पावकाः ) अग्नियें ही स्वयं शुद्ध होते हुए ' संकसुक ' क्रव्याद अग्नि को कल्याण के लिये करते हैं । इसमें शव के डाल देने से भी मृत आत्मा का संस्कार होता है, वह पाप छोड़ देता है और ऊंचा हो जाता है । यह नरमेध की पवित्र अग्नि एवं उसके समान पवित्र सुपुना=परमात्मा ही उसको पवित्र करता है ।

देवो अग्निः संकसुको दिवस्पृष्ठान्यारुहत् ।
मुच्यमानो निरेणसोमोगस्माँ अशस्त्यः ॥ १२ ॥

भा०—( संकसुकः ) अच्छा प्रकार प्रदीप्त या शासन करने हारा राजा के समान परमात्मा ( देवः ) प्रकाशमान, ( अग्निः ) ज्ञानस्वरूप, अग्नि

११-( तृ० ) 'रिप्रमत्येनेति' ( प्र० ) प्रायः 'संकुसिरः' इति पैप्प० सं० ।
१२-' संकुसुकस्माँ ' इति आप० । ( च० ) तारीत् इति ह्विट्नि ।

ते ) वे चारों तेजस्वी पुरुष ( सवेदसः ) समान ज्ञान और ऐश्वर्य से सम्पन्न होकर ( यक्ष्मम् ) प्रजा के पीड़क यक्ष्मा आदि रोगों को ( दूरात् दूरम् ) दूर से दूर ही ( अनीनशन् ) नाश करें ।

यो नो अश्वेषु वीरेषु यो नो गोष्वजाविषु ।
क्रव्यादं निर्णुदामसि यो अग्निर्जनयोपनः ॥ १५ ॥

भा०—( यः ) जो ( नः ) हमारे ( अश्वेषु ) घोड़ों में ( वीरेषु ) पुत्रों और वीर सैनिकों में और ( यः नः ) जो हमारे ( गोषु अजाविषु ) गौओं और बकरियों और भेड़ों में ( जनयोपनः ) जन्तुओं का नाशक ( अग्निः ) अग्नि के समान तापकारी जन्तु या रोग है उस ( क्रव्यादम् ) क्रव्याद्, कच्चा मांस खाने वाले को सदा हम ( निर् नुदामसि ) दूर करें ।

अन्येभ्यस्त्वा पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यस्त्वा ।
निः क्रव्यादं नुदामसि यो अग्निर्जीवितयोपनः ॥ १६ ॥

भा०—हे क्रव्याद्, कच्चा मांस खाने वाले ! तू ( यः ) जो ( अग्निः ) अग्नि के समान तापकारी होकर ( जीवितयोपनः ) जीवन का नाशकारी है, उस तुझ ( क्रव्याद् ) जीवों के कच्चा मांस खाने वाले ( त्वा ) तुझको ( अन्येभ्यः[1] पुरुषेभ्यः ) अन्य दूसरे, शत्रु पुरुषों और ( गोभ्यः

१५–'यो नोऽश्वेषु', ( द्वि० ) 'यो गोषु योऽजाविषु' इति पैप्प० सं० ।
१६–( प्र० द्वि० ) 'अज्ञाता पुरुषेभ्य' इति पैप्प० सं० । 'अन्येभ्यः' इति ह्विटनिकामितः ।

१. 'अन्येभ्यः अप्रियेभ्यः अकर्मण्येभ्यः' इति ह्विटनिः । अत्र मानवगृह्यसूत्रोक्तो विनियोगः क्रव्यादग्निमार्जने द्रष्टव्यः । मानव । गृ० सू० २ । १ । ११ । तत्र 'सुमित्रा न आप ओषधयः' इत्यादि मन्त्रो विनियुज्यते । तदभिप्रायकोऽयं स्यादपि ।

२२

सीसे मृड्ढ्वं नुडे मृड्ढ्वमुग्नौ संकसुके च यत्।
अथो अव्यां रामायां शीर्षक्तिमुपबर्हणे ॥ १९ ॥

भा०—( सीसे ) सीसे में ( यत् ) जिस प्रकार चांदी आदि धातु का मल रह जाता है और धातु निखर आती है उसी प्रकार अपने आत्मा को उस ब्रह्ममय अग्नि में ( मृड्ढ्वं ) तपाओ और शुद्ध करो, मल छूट जायगा और आत्मा शुद्ध हो जायगा। ( नडे मृड्ढ्वम् ) जिस प्रकार नड़ों या सरकण्डों की बनाई चालनी में से जल निकालने से मल ऊपर अटक जाता है उसी प्रकार उस परमेश्वर की बनी छाननी में से गुज़ार कर अपने को शुद्ध करो। ( संकसुके ) सर्वनाशक ( अग्नौ च मृड्ढ्वम् ) सर्व भस्मकारी अग्नि में मल फेंकने से सब जल जाता है और स्थान शुद्ध हो जाता है या सर्व प्रकाशक राजा के हाथ में अपराधी को देने से उसके अपराध दूर हो जाते हैं या 'संकसुके' क्रव्याद् अग्नि में शवको डालने से जैसे मलिन भाग जल जाता है और शुद्ध अस्थि रह जाती है या तत्व तत्वों में मिल जाते हैं उसी प्रकार सर्व प्रकाशक परमात्मा में अपने आपको शुद्ध करो। ( अथो ) और जिस प्रकार ( रामायाम् ) काले रंग की ( अव्यां ) भेड़ में क्रव्याद्=मांसमर्दी जन्तु को प्रलोभित कर मनुष्य स्वयं बच जाता है और जिस प्रकार सिर की पीड़ा होने पर ( शीर्षक्तिम् उपबर्हणे ) सिर को सिरहाने पर आराम से रख देने पर रोगी शिरोरोग से मुक्त होकर सुख से सोता है उसी प्रकार तुम ( अव्यां रामायाम् ) सर्व रमणकारिणी, परम दिव्या, सब की रक्षा करनेहारी उस परमात्मा शक्ति पर अपने को अर्पित करो और सब के ( उपबर्हणे ) बढ़ानेहारे उस ब्रह्म में आश्रय लेकर अपने सब कष्टों को वहीं धर कर सुखी हो जाओ।

इस मन्त्र में केवल उपमेयों के संग्रह करके वाचक शब्द और उपमेय को लोप करके उपमा का प्रयोग किया है। और सब उपमेय पद भी

परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्ते एष इतरो देवयानात् ।
चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमीहेमे वीरा बहवो भवन्तु ॥ २१ ॥

ऋ० १० । १८ । १ ॥ यजु० ३५ । ७ ॥

भा०—हे ( मृत्यो ) मृत्यो ! ( देवयानात् ) देवयान अर्थात् मुमुक्षुओं के ब्रह्मज्ञानमार्ग से ( इतरः ) अतिरिक्त ( यः ते ) जो तेरा ( एषः ) यह 'पितृयाण' का मार्ग है उस ( परं पन्थां ) दूसरे मार्ग को ( अनु-परा इहि ) दूर से ही चला जा । ( चक्षुष्मते ) आंख वाले और ( शृण्वते ते ) सुनने हारे तुझे ( ब्रवीमि ) कहता हूं कि ( इमे ) ये सब ( वीराः ) वीर्यवान्, सामर्थ्यवान्, बलवान् पुरुष ( बहवः भवन्तु ) बहुत से होजांय ।

अध्यात्म साधना से जाने वाले वीर्यवान्, सामर्थ्यवान्, दीर्घायु होवें, मृत्यु उनको न सतावे ।

इमे जीवा वि मृतैराववृत्रन्नभूद् भद्रा देवहूतिर्नो अद्य ।
प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय सुवीरासो विदथमा वदेम ॥ २२ ॥

ऋ० १० । १८ । ३ ॥

भा०—( इमे जीवाः ) ये समस्त जीव ( मृतैः ) मरने के साधनों से या मरने वाले प्राणियों से या मृत्यु के कारणों से ( आ ववृत्रन् ) विविध रूप से घिरे हुए हैं, ( नः ) हम मुमुक्षु मार्ग से जानेहारों को ( अद्य ) अब, ( भद्रा ) अति कल्याणकारिणी ( देवहूतिः ) देव-अध्यात्म

---

२१–ऋग्वेदे संकुसुको यामायन ऋषिः । मृत्युर्देवता । ( द्वि० ) 'यस्ते स्वः इतरो' ( च० ) 'मा नः प्रजां रीरिषो मोत वीरान्' इति ऋ० । अथर्व । ( द्वि० ) 'यस्ते अन्य' इति यजु० ।

२२–( च० ) 'द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः' इति ऋ० । ( प्र० ) 'आर-गाम्' इति तै० आ० ।

आ रोहतायुर्जरसं वृणाना अनुपूर्वं यतमाना यति स्थ ।
तान् वस्त्वष्टा सुजनिमा सजोषाः सर्वमायुर्नयतु जीवनाय ॥२४॥
ऋ० १० । १८ । ६ ॥

भा०—हे मनुष्यो! आप लोग (जरसम्) जरा, वृद्धावस्था को (वृणानाः) दूर करते हुए ( आयुः ) दीर्घ जीवन ( आरोहत ) प्राप्त करें । और ( अनुपूर्वम् ) पहले के समान नियमपूर्वक ( यतमानाः ) यत्न करते हुए ( यति ) संयम या ब्रह्मचर्य के जीवन में ( स्थ ) रहो । ( त्वष्टा ) तुम्हारा उत्पादक परमात्मा ( सजोषाः ) आप लोगों के साथ प्रेम का व्यवहार करनेहारा ( सुजनिमा ) उत्तम रूप से उत्पन्न होने वाले सुजात ( तान् वः ) उन आप साधनासम्पन्न पुरुषों को ( जीवनाय ) जीवन के लिये ( सर्वम् ) समस्त पूर्ण ( आयुः ) जीवन ( नयतु ) प्राप्त करावे ।

यथाहान्यनुपूर्वं भवन्ति यथर्तव ऋतुभिर्यन्ति साकम् ।
यथा न पूर्वमपरो जहात्येवा धातरायूंषि कल्पयैषाम् ॥२५॥
ऋ० १० । १८ । ५ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (अहानि) दिन ( अनुपूर्वम् ) एक दूसरे के बाद, क्रम से बराबर ( भवन्ति ) हुआ करते हैं और ( यथा ) जिस प्रकार ( ऋतवः ) ऋतुएं ( ऋतुभिः साकम् ) ऋतुओं के साथ, एक दूसरे के पीछे बराबर जुड़ी जुड़ी ( यन्ति ) आया और जाया करती हैं । और ( यथा ) जिस प्रकार ( पूर्वम् ) अपने से पहले को ( अपरः ) आगे आनेवाला दूसरा

२४–( द्वि० ) 'यतिष्ठ' ( तृ० च० ) 'इह त्वष्टा सुजनिमा सजोषा दीर्घमायुः करति जीवसे वः' इति ऋ० । 'जरसं गृणानाः', ( तृ० ) 'तानस्त्वा सुजनिमा सुरत्नाः' ( च० ) 'करतु जीवनाय' इति सं० आ० ।

२५–( द्वि० ) 'यन्ति साधु' इति ऋ० ।

नवयुवक सन्तान ( न जहाति ) नहीं त्यागता प्रत्युत उसके साथ जुड़ा रहता है । ( एवा ) इसी प्रकार हे ( धात ) सब के धारक पोषक परमेश्वर! आप ( एषाम् ) इन जीवों के ( आयूंषि ) जीवनों की ( कल्पय ) व्यवस्था करते हो ।

अश्मन्वती रीयते सं रभध्वं वीरयध्वं प्र तरता सखायः ।
अत्रा जहीत ये असन् दुरेवा अनमीवानुत्तरेमाभि वाजान् ॥२६॥

ऋ० १० । ५३ । ८ ॥ यजु० ३५ । १० ॥

भा०—( अश्मन्वती ) पत्थरों और शिलाओं से भरी नदी जिस प्रकार बड़े वेग से ( रीयते ) जाती है उसी प्रकार यह जीवन की या संसार की नदी बह रही है । इसलिये हे पुरुषो ! ( सं रभध्वम् ) सब मिल कर अपने कार्य उत्तमता से प्रारम्भ करो । ( वीरयध्वम् ) वीर के समान पराक्रमशील होकर कार्य करो, इस गम्भीर नदी को ( प्र तरत ) उत्तम रीति से तैरने का यत्न करो । ( ये ) जो ( दुरेवाः असन् ) दुष्ट वासना और आचार वाले नीच पुरुष हैं उनको ( अत्र जहीत ) यहीं त्याग दो । और हम ( अनमीवान् ) रोग और दुःखों से रहित ( वाजान् ) उत्तम सुखमय लोकों या अन्नों को ( उत् तरेम ) प्राप्त हों ।

'वाजो वै स्वर्गो लोकः' । ता० १८ । ७ । १२ ॥ गो० उ० ६ । ८ ॥

उत्तिष्ठता प्र तरता सखायोऽश्मन्वती नदी स्यन्दत इयम् ।
अत्रा जहीत ये असन्नशिवाः शिवान्त्स्योनानुत्तरेमाभि वाजान् ॥२७॥

ऋ० १० । ५३ । ८ ॥

२६–( तृ० ) 'अत्रा जहाम ये असन्नशेवाः', 'शिवान् वयमुत्तरेमाभिवाजान्' इति ऋ० । 'अत्रा जहीमो शिवा ये असन्' इति यजु:० ।
( प्र० ) 'अश्मन्वती रेवतीः' इति सं० भा० ।

भा०—हे (सखायः) मित्रो! (इयम्) यह संसार रूप साक्षात् (अश्मन्वती) पत्थरों और शिलाओं से भरी (नदी) नदी (स्यन्दते) बह रही है। (उत्तिष्ठत) उठो और (प्र तरत) अच्छी प्रकार तैरो और पार करो। (ये) जो (अशिवाः) अमङ्गलकारी, बुरे लोग (असन्) हैं उनको (अत्रा) यहां ही (जहीत) छोड़ दो। (शिवान्) शिव, मङ्गलकारी (वाचान्=वाजान्) सुखमय लोकों को (उत्तरेम) प्राप्त हों। पूर्व मन्त्र के साथ तुलना करो।

वैश्वदेवीं वर्चस आ रभध्वं शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः।
अतिक्रामन्तो दुरिता पदानि शतं हिमाः सर्ववीरा मदेम ॥ २८ ॥
पूर्वार्धः—अथर्व ६ । ६२ । ३ प्र० द्वि० ॥

भा०—हे पुरुषो! आप लोग (शुचयः) मनसा, वाचा कर्मणा शुद्ध चित्त, (पावकाः) अग्नि के समान परम पवित्र, तपस्वी और (शुद्धाः) शुद्ध, मलरहित (भवन्तः) होते हुए (वर्चसे) ब्रह्मवर्चस्=तेज के प्राप्त करने के लिये (वैश्वदेवीम्) विश्वेदेव अर्थात् प्रजापति परमात्मा की ज्ञान-कथा और उपासना (आरभध्वम्) किया करो। और हम सब (सर्ववीराः) समस्त सामर्थ्यवान् प्राणों से सम्पन्न और पुत्रों से और वीरों से और वीर्यवान् पुरुषों से युक्त होकर, या स्वयं सब वीर्यवान् होकर (दुरिता पदानि) दुःख से पार करने योग्य दुर्गम स्थानों और अवसरों को (अतिक्रामन्तः) पार करते हुए (शतं हिमाः मदेम) सौ वर्षों तक आनन्द से जीवन व्यतीत करें।

२८–'वैश्वानरीम्' इति अथर्व० ६ । ६२ । ३ ॥ (प्र०) 'वैश्वदेवीं सूनृतान् आरभध्वम्' इति पैप्प० सं०। वैश्वदेवीं नाममिति केनचित् प्रक्षिप्तम्। 'वैश्वदेवीम्' इत्यत्र कौशिकसूत्रानुसारं गृह्यसूत्रानुसारं च वैश्वदेवी चरुरिति तां [illegible] च वेदितव्यम् ॥

यद्विश्वेदेवा सम् अयजन्त, तद्वैश्वदेवस्य विश्वदेवत्वम् । तै० १ । ४ । १० । ५ ॥ प्रजापतिं वैश्वदेवम् । कौ० ५ । १ ॥ समस्त विद्वानों का मिलकर देवोपासना करना या 'वैश्वदेव' कार्य है । प्रजापति 'वैश्वदेव' कहाता है ।

उदीचीनैः पथिभिर्वायुमद्भिरतिक्रामन्तोऽवरान् परेभिः ।
त्रिः सप्त कृत्व ऋषयः परेता मृत्युं प्रत्यौहन् पदयोपनेन ॥ २९ ॥

भा०—( ऋषयः ) तत्त्वदर्शी, मन्त्रद्रष्टा ऋषि लोग ( उदीचीनैः ) ऊर्ध्व, परमपद तक जाने वाले ( वायुमद्भिः ) ऊपर के वायु के बने अन्तरिक्ष मार्गों के समान वायु से बने प्राणमय ( परेभिः ) परम, उत्कृष्ट अति दूर पद तक पहुंचने वाले ( पथिभिः ) मार्गों, साधनों से ( अवरान् ) नीचे के तुच्छ जीवन मार्गों का, जीवन के कष्टों को ( अतिक्रामन्तः ) पार करते हुए ( परेताः ) परम पद तक पहुंचे हुए ( पदयोपनेन ) पदों या देहों के योपन अर्थात् विलोपन द्वारा या मृत्यु के आने के कारणों को दूर करके ( मृत्युम् ) मृत्यु को ( त्रिः सप्तकृत्वः ) २१ बार ( प्रति औहन् ) पराजित करते हैं ।

'आत्मा वै पदम्'। कौ० २३ । ६ ॥ पद्यते अनेनेति पदम् लिङ्गम् । इसी मन्त्र के आधार पर गृह्यसूत्रोक्त मृत्यु के 'पदलोपन' की विधि रची गई है । नलवैतसशाखया वा पदानि लोपयन्ती'। मानव गृ० सू० २ । १२ ॥

मृत्योः पदं योपयन्त एत द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः ।
आसीना मृत्युं नुदता सधस्थेऽथ जीवासो विदथमा वदेम ॥३०॥ (६)

ऋग्वेदेपि ऋ० १० । १८ । २ । ऋ० द्वि० ॥

भा०—( मृत्योः ) मृत्यु के ( पदं ) पद, आने के कारणों को ( योपयन्तः ) मिटाते हुए ( एतः ) तुम ही ( आयुः ) आयु, जीवन को

२९–' अपक्रामन्तो दुरितानि परेहि ' इति पैप्प० सं० ।

३०–( ऋ० सं० ) आप्यायमाना प्रजया धनेन शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः । इति च० ।

( द्राघीयः ) अति दीर्घ और ( प्रतरं ) सब कष्टों से पार तराने योग्य ( दधानाः ) बनाते हुए ( आसीनाः ) व्रत, उपवास, यम, नियम आदि में स्थिर होकर बैठते हुए ( मृत्युं ) मृत्यु अर्थात् देह के आत्मा से छूटजाने की घटना को ( नुदत ) दूर भगा दो। ( अथ ) और हे ( जीवासः ) जीवो ( सधस्थे ) एक ही स्थान पर एकत्र होकर हम सब लोग ( विदथम् ) ज्ञान-कथा या ज्ञान-यज्ञ की ( आ वदेम ) चर्चा करें, एक दूसरे को ज्ञान का उपदेश करें।

**इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा सं स्पृशन्ताम्।**
**अनश्रवो अनमीवाः सुरत्ना आ रोहन्तु जनयो योनिमग्रे ॥ ३१ ॥**

अथर्व० १ । ३ । ३७ ॥ ऋ० १० । १८ । ७ ॥

भा०—( इमाः ) ये ( नारीः ) नारियें ( अविधवाः ) कभी विधवाएं न हों, बल्कि ( सुपत्नीः ) उत्तम गृहपत्नियें रहकर नित्य ( आञ्जनेन ) आंजन अर्थात् शरीर पर मलने योग्य ( घृतेन ) घृत से ( संस्पृशन्ताम् ) अपने शरीरों को लगावें। और ( अनमीवाः ) निरोग रहें। ( अनश्रवः ) कभी आंसू न बहाया करें। ( सुरत्नाः ) सुन्दर रत्न भूषण धारण करें और (जनयः) पुत्रोत्पादन में समर्थ वधू होकर ( अग्रे ) सबसे प्रथम ( योनिम् ) घर में-पलङ्ग पर और या एकत्र होने को सभा आदि स्थानों पर ( आरोहन्तु ) ऊँचे, आदर योग्य स्थान पर आदरपूर्वक विराजें। इसी प्रकार की ऋचा

३१–( द्वि० ) ' संविशन्तु ' इति ऋ० । ' मृशन्ताम् ', ( तृ० ) ' अनमीवाः सुरत्नाः ' इति तै० आ० ।

'इमाः वीरा अविधवाः सुपत्न्या नराञ्जनेन सर्पिषा संस्पृशन्तान् ।
अनश्रवो अनमीवाः सुरत्ना स्योनाद् योनेरधितल्पं रुहेयुः [रुहेयुः] ॥'
इति पैप्प० सं०, अधिका ऋक् : ' इमे जीवा अविधवाः सुजामयः '
इत्यादि पुत्र विषयिणी मार्गशिरस्कन्दे नोपलभ्या ।

पुरुषों के लिये भी पिप्पलाद शाखा में और कौशिक सूत्रों में भी उद्धृत किया गया है ।

व्याकरोमि हविषाहमेतौ तौ ब्रह्मणा व्यहं कल्पयामि ।
स्वधां पितृभ्यो अजरां कृणोमि दीर्घेणायुषा समिमान्त्सृजामि ॥३२॥

भा०—( अहम् ) मैं ( एतौ ) इन स्त्री और पुरुष दोनों को ( हविषा ) हव्यचरु से और अन्न से ( वि-आकरोमि ) विविध रूप से पुष्ट करता हूं । और ( तौ ) उन दोनों को ( ब्रह्मणा ) ब्रह्म, वेद ज्ञान से ( अहं ) मैं ( वि कल्पयामि ) नाना प्रकार से समर्थ करता हूं । और ( पितृभ्यः ) परिपालक, बूढ़े लोगों के लिये ( अजराम् ) अजर, अविनाशी ( स्वधाम् ) स्वयं धारण करने योग्य अन्न को ( कृणोमि ) प्रदान करता हूं । और ( इमान् ) इन समस्त जीवों को ( दीर्घेण ) दीर्घ, लम्बे ( आयुषा ) जीवन से ( सं सृजामि ) युक्त करता हूं ।

यो नो अग्निः पितरो हृत्स्वन्तराविवेशामृतो मर्त्येषु ।
मय्यहं तं परि गृह्णामि देवं मा सो अस्मान् द्विक्षत मा वयं तम् ॥३३॥

भा०—हे ( पितरः ) आत्मा की शक्तियों के पालक एवं ज्ञानपालक पुरुषो ! ( नः ) हमारा ( यः ) जो ( अग्निः ) अग्नि, ज्ञानमय, प्रकाशमय, परम आत्मा ( अमृतः ) अमर, मृत्युरहित, ( मर्त्येषु ) मनुष्यों में, मनुष्यों

३२–( तृ० च० ) 'सुधा पितृभ्योऽमृत दुहाना' इति पैप्प० सं० ।
३३–( द्वि० ) 'अमृतमर्त्येषु' ( तृ० ) 'मय्य त प्रतिगृ०' इति पैप्प० सं० । ( द्वि० ) 'अमर्त्यो मर्त्यान् आविवेश', ( तृ० च० ) 'तमात्मन् परिगृह्णीमहे वयं मासौ अस्मान् अवहाय परागात्' इति तै० सं० । 'तमात्मन् परिगृह्णीमहीह नेदेषोऽस्मान् अवहाय परादत्' इति मै० सं० ।

के ( हृत्सु ) हृदयों में ( अन्तः ) भीतर ( आ विवेश ) प्रविष्ट है ( तं ) उस ( देवम् ) प्रकाशमान, उपास्य, परम आत्मदेव को ( अहम् ) मैं ज्ञानी साधक पुरुष ( मयि ) अपने भीतर ( परिगृह्णामि ) धारण करूं। ( सः ) वह ( अस्मान् ) हमारे से ( मा द्विषत ) कभी द्वेष न करे और ( तम् ) उससे ( मा वयम् ) हम भी कभी द्वेष, विराग न करें, प्रत्युत परमात्मा हम से प्रेम करे और हम उस से प्रेम करें। इस मन्त्र से पुत्रादि पिताओं का हृदय स्पर्श करते हैं।

अपावृत्य गार्हपत्यात् क्रव्यादा प्रेत दक्षिणा।
प्रियं पितृभ्य आत्मने ब्रह्मभ्यः कृणुता प्रियम् ॥ ३४ ॥

भा०—( गार्हपत्यात् ) 'गार्हपत्य' अग्नि से ( उपावृत्य ) हटकर ( दक्षिणा ) दक्षिण दिशा में ( क्रव्यादा प्रेत ) क्रव्याद् शवाग्नि के प्रति आओ। और ( पितृभ्यः ) तुम्हारे बूढ़े या मृत पिता पितामह आदि को जो ( प्रियम् ) प्रिय, अभिलषित कार्य हो वह और जो ( आत्मने ) तुम्हारे अपने आत्मा को ( प्रियम् ) अच्छा प्रतीत हो वह और जो ( ब्रह्मभ्यः ) वेद के विद्वान् ब्राह्मण लोगों को ( प्रियम् ) अभिलषित कार्य हो वह ( कृणुत ) करो। अर्थात् पितादि के मरजाने पर 'गार्हपत्य' अग्नि से पृथक् होकर शवाग्नि को ग्राम या निवास से दक्षिण दिशा में चिता में आधान करो और बाद में अपने बूढ़ों की अपनी और विद्वान् ब्राह्मणों की अभिलाषा के अनुकूल कार्य करो।

द्विभागधनमादाय प्र क्षिणात्यवर्त्या।
अग्निः पुत्रस्य ज्येष्ठस्य यः क्रव्यादनिराहितः ॥ ३५ ॥

---

३४–( प्र० द्वि० ) 'अपावर्त्याग्निं गार्हपत्यं क्रव्यादाप्रेतु दक्षिणा' इति पैप्प० सं०।

भा०—( य ) जो ( क्रव्याद् ) शव को खाने वाला ( अग्निः ) अग्नि ( अ निर्-आहित. ) गार्हपत्य अग्नि से पृथक् न किया जाय तो वह ( ज्येष्ठस्य ) जेठे ( पुत्रस्य ) पुत्र का ( द्विभाग धनम् ) दो भाग, दुगुना धन ( आदाय ) लेकर ( अवर्त्या ) अमत्, उपद्रव और विनाश से ( प्र क्षियाति ) विनाश कर देता है। अर्थात् पिता आदि का और्ध्वदैहिक कार्य भी घर के सामान्य धन में से किया जाय, नहीं तो बाद में परस्पर भाई भाई फूटकर लोग परस्पर उपद्रव से नष्ट हो जाते हैं।

यत् कृषते यद् वनुते यच्च वस्नेन विन्दते।
सर्वं मर्त्यस्य तन्नास्ति क्रव्याच्चेदनिराहितः ॥ ३६ ॥

भा०—( क्रव्यात् चेत् ) यदि क्रव्यात्=शवभक्षक अग्नि ( अ-निर्-आहित. ) पृथक् आधान न किया जाय तो ( यत् कृषते ) मनुष्य जो खेत आदि से उत्पन्न करता है ( यत् वनुते ) और जो पितृधन में से हिस्सा प्राप्त करता है और ( यत् च ) जो कुछ ( वस्नेन[1] ) व्यापार से, द्रव्यों के मूल्य प्राप्ति से ( विन्दते ) प्राप्त करता है ( मर्त्यस्य ) मनुष्य का ( तत् सर्वम् ) वह सब कुछ ( नास्ति ) नहीं सा हो जाता है, व्यर्थ जाता है। अर्थात् शवाग्नि को सदा गार्हपत्य अग्नि से पृथग् आधान करना ही चाहिये। और मुर्दों का यथोचित दाह करना चाहिये। क्रव्यात् अग्नि, मृत पुरुष के आत्मा के समान है।

अयज्ञियो हतवर्चा भवति नैनेन हविरत्तवे।
छिनत्ति कृष्या गोर्धनाद् यं क्रव्यादनुवर्तते ॥ ३७ ॥

---

३६–' वस्नेन ' इति क्वचित्।

१. वसति येन स वस्न, मूल्य वेतन वेति दयानन्द उणादौ।

३७–( प० ) ' दे अग्यो ' ( तृ० ) ' कृषि गा धनम् ' इति पैप्प० सं०।

भा०—( यं ) जिसके पीछे ( क्रव्यात् ) कच्चा मांस खाने वाला शवाग्नि, शोक रूप में ( अनुवर्तते ) बाघ के समान लग जाता है वह पुरुष ( अयज्ञियः ) यज्ञ के अयोग्य और ( हतवर्चाः ) निस्तेज ( भवति ) हो जाता है ( एनेन ) इसके हाथ से ( हविः ) यज्ञ का हवि ( न अत्तवे ) खाने योग्य नहीं रहता। वह ( कृष्याः ) खेती बाड़ी, ( गोः ) गौ आदि पशुओं और ( धनात् ) धन सम्पत्ति से भी ( छिनत्ति ) वञ्चित हो जाता है, उनको वह खो बैठता है। फलतः मृतकों का दाह भली प्रकार करके पुनः शुद्ध होकर घर में प्रवेश करना चाहिये।

मुहुर्गृध्यैः प्र वदत्यार्तिं मर्त्यो नीत्य ।
क्रव्याद् यानग्निरन्तिकादनुविद्वान् वितावति ॥ ३८ ॥

भा०—( यान् ) जिनके ( अन्तिकात् ) समीप शव को खाने वाला ( अग्निः ) अग्नि रहता है, वह पुरुष ( गृध्यैः ) अपने अभिलाषा के पात्र, अपने प्रिय मृतों से मानो ( मुहुः ) बार २ ( प्रवदति ) बात चीत करता और वह ( मर्त्यः ) मनुष्य ( आर्तिम् ) पीड़ा को ( नि इत्य ) प्राप्त होकर ( अनु विद्वान् ) पीछे से भी वेदना या दुःख को प्राप्त होकर ( वितावति ) विविध प्रकार से कष्ट पाता है।

ग्राह्या गृहाः सं सृज्यन्ते स्त्रिया यन्म्रियते पतिः ।
ब्रह्मैव विद्वानेष्यो३ यः क्रव्यादं निरादधत् ॥ ३९ ॥

भा०—( यत् ) जब ( स्त्रियाः ) स्त्री का ( पति ) पति, गृहपति ( म्रियते ) मर जाय तब ( गृहाः ) घर के जन स्त्री आदि ( ग्राह्या ) जकड़ने वाले संक्रामक शोकमय रोग, पीड़ा या ममता से ( संसृज्यन्ते ) युक्त हो जाते हैं। इसलिये

३८–( च० ) 'विभावेति' इति लद्विग्राहितः। बहुशाखासु [illegible] तर्महोन्वेति न। [illegible] विभागति [ ? ]' इति ह्विट्नी० सं०।
३९–( द्वि० ) 'यस्मिन्‌याः म्रियते' इति ह्विट्नी० सं०।

( ब्रह्मा एव ) ऐसा ब्राह्मण ( विद्वान् ) ज्ञानी ( एष्यः ) आवश्यक है ( यः ) जो ( क्रव्यादम् ) उस शोकमय शवाग्नि का ( निर् आदधत् ) पृथक् आधान करने में समर्थ हो। वह गार्हपत्य से पृथक् क्रव्याद् अग्नि को आधान करे, अर्थात् गृहस्थ अग्नि से जिस प्रकार 'क्रव्याद्' को अलग करके दूर छोड़ आया जाता है उसी प्रकार माया में जकड़े मृत शरीर को भी सब से पृथक् करके ज्ञानपूर्वक यथाविधि चिता में जला देवे और सबको उससे माता तोड़ कर पुनः पूर्ववत् निःशोक होकर रहने का उपदेश करे। नहीं तो ममता-वश उठे संकल्पों से स्त्रियों के मस्तिष्क पर भयंकर रोग बाधाएं और पागलपन आदि विकार उत्पन्न होते हैं जिन्हें चुडैल आदि कहा जाता है। वह वस्तुतः मानस विकारमात्र हैं। वह पति आदि के मरने पर प्रायः ( गृहाः ) स्त्रियों को ही अधिक होता है।

यद् रि॒प्रं शम॑लं च॒कृम॒ यच्च॑ दुष्कृ॒तम्।
आपो॑ मा॒ तस्मा॑च्छुम्भन्त्व॒ग्नेः सं॑कसु॒काच्च॒ यत् ॥४०॥ (१०)

भा०—शव दाह कर चुकने के बाद शुद्ध हो जाय। अर्थात् ( यत् ) जो ( रिप्रम् ) पाप ( शमलम् ) मलिन और ( यत् च ) जो ( दुष्कृतम् ) बुरे काम भी हम ( चकृम ) करते हैं ( आपः ) जलों के समान पवित्र आप्त पुरुष ( मा ) मुझे, हमें ( तस्मात् ) उस पापादि बुरे संकल्पों से और ( संकसुकात् अग्नेः च ) संकसुक, शव भक्षी अग्नि से भी ( शुम्भन्तु ) पवित्र करें।

ता अ॑ध॒रादुदी॑ची॒राव॑वृत्रन् प्रजान॒तीः प॒थिभि॑र्देव॒यानैः॑।
पर्व॑तस्य वृष॒भस्याधि॑ पृ॒ष्ठे नवा॑श्चरन्ति स॒रितः॑ पुरा॒णीः ॥ ४१ ॥

४०–' यद्दुरितम् ', ( तृ० ) ' शुम्भन्तु ' ( च० ) ' अग्नि मकुमिरा-न्च य ' इति पैप्प० सं०।

४१–( प्र० ) ' -तावरान् ' ( तृ० ) ' वृषभस्य ' इति पैप्प० सं०।

भा०—( ताः ) वे पूर्वोक्त आप्त जनों की श्रेणियां, स्वच्छ जल-धाराओं के समान ( अधरान् ) नीचे से ( उदीचीः ) ऊपर की तरफ़ जाती हुई ( प्रजानतीः ) उत्कृष्ट ज्ञान सम्पन्न होकर ( देवयानैः पथिभिः ) विद्वानों से गमन करने योग्य मोक्ष मार्ग के ( पथिभिः ) मार्गों और साधनों से ( आ अववृत्रन् ) वृत्ति, आचरण करती हैं । ( पर्वतस्य अधि पृष्टे सरितः ) पर्वत के पीठ पर जैसे सदा नयी जल-धाराएं अति प्राचीन काल से बहा करती हैं उसी प्रकार ( वृषभस्य ) सर्वश्रेष्ठ समस्त सुखों के वर्षा करने हारे परमेश्वर के ( अधि पृष्ठे ) आश्रय में ( पुराणीः नवाः चरन्ति ) अति पुरातन काल के और नये भी आप्तजन विचरते हैं ।

अग्ने अक्रव्याान्निः क्रव्यादं नुदा देवयजनं वह ॥ ४२ ॥

भा०—हे ( अग्ने ) अग्ने ! परमेश्वर ! तू ( अक्रव्याद् ) क्रव्यात्, मांसाहारी व्याघ्र या हिंसक जन के समान नहीं होकर भी ( क्रव्यादं ) मांसभक्षी जनों को ( निः नुद ) परे कर । और ( देवयजनम् ) देवों की उपासना करने वाले सत्पुरुष को ( वह ) हमें प्राप्त करा । अथवा—हे परमात्मन् ! ( क्रव्यादं निः नुद ) देह के मांस को खाने वाले मृत्यु को दूर कर और ( देवयजनं वह ) देव, परमेश्वर की संगति प्राप्त कराने वाले आत्मस्वरूप को प्राप्त करा ।

इमं क्रव्यादा विवेशायं क्रव्यादमन्वंगात् ।
व्याघ्रौ कृत्वा नानानं तं हरामि शिवापरम् ॥ ४३ ॥

भा०—( इमम् ) इस पुरुष में ( क्रव्याद् ) कच्चा मांस खाने वाला आत्मा या स्वभाव ( आविवेश ) प्रविष्ट होजाय या ( अयम् ) यह पुरुष स्वयं ( क्रव्यादम् ) मांसभक्षी राक्षस के ( अनु अगात् ) अनुकरण में उनका संगी होजाय तो उन दोनों को ( व्याघ्रौ कृत्वा ) व्याघ्र, भेड़िया, शेर

४३–( प्र० ) 'प्रविवेशा' ( तृ० ) 'नानाहं' इति पैप्प० सं० ।

के समान जान कर अथवा दोनों व्याघ्र स्वभाव के पुरुषों को ( क्रव्या ) मार कर ( नानान ) दोनों का पृथक् २ करके ( तम् ) उसको ( शिवापरम् ) शिव=मंगल से अतिरिक्त अमंगल स्थान पर ( हरामि ) ले जाऊं। जिसमें बाद में मांस खाने का स्वभाव आ जाय या संग दोष से जो मांस खाने लग जाय उन दोनों को हम जुदा करके कठिन कारागार में डाल दें या दण्ड दें।

अथवा—( क्रव्यात् ) मांसभक्षक शवाग्नि या मृत्यु जिसमें प्रविष्ट होजाय या जो ' क्रव्याद् ' मृत्यु के पीछे स्वयं चला जाय दोनों को व्याघ्र के समान जान कर पृथक् २ अमंगल स्थान, श्मशान पर भेज दें।

अन्तर्धिर्देवानां परिधिर्मनुष्याणाम्।
अग्निर्गार्हपत्य उभयानन्तरा श्रितः ॥ ४४ ॥

भा०—( गार्हपत्य अग्निः ) गार्हपत्य अग्नि ( देवानाम् ) देवों के छिपने का स्थान या रक्षास्थान और ( मनुष्याणाम् ) मनुष्यों का ( परिधिः ) रक्षा स्थान या नगर के कोटके समान है। वह ( उभयान् ) देव और मनुष्य दोनों के ( अन्तरा ) बीच में ( श्रितः ) विराजमान है।

जीवानामायुः प्र तिर त्वमग्ने पितृणां लोकमपि गच्छन्तु ये मृताः।
सुगार्हपत्यो वितपन्नरातिमुषामुषां श्रेयसीं धेह्यस्मै ॥ ४५ ॥

भा०—हे ( अग्ने ) अग्ने ! राजन् या परमेश्वर ! ( त्वम् ) तू ( जीवानाम् ) जीवों को ( आयुः ) दीर्घ जीवन ( प्रतिर ) प्रदान कर। और ( ये मृताः ) जो लोग मर जाय वे ( अपि ) भी ( पितृणाम् लोकम् ) परि

---

४४—( तृ० ) ' उभयानन्तरा ' इति पैप्प० सं०।

४५—( प्र० ) ' जीवानामग्ने प्रतर दीर्घमायुः ' ( तृ० च० ) ' अरातीम्‍उपा अय श्रेयसि दधत् ' इति पैप्प० सं०।

पालक वायु चन्द्र, सूर्य आदि तत्वों में या वृद्ध पितृजनों के लोक=यश या पद को ( गच्छन्तु ) प्राप्त हों। तू ( सु-गार्हपत्यः ) उत्तम गार्हपत्य नामक अग्नि या राजा ( अरातिम् ) शत्रु को ( वितपन् ) विविध प्रकार से संतप्त करता हुआ ( उपाम्-उपाम् ) प्रति दिन ( अस्मै ) इस पुरुष को ( श्रेयसीम् ) सर्वोत्तम लक्ष्मी को ( धेहि ) प्रदान कर। एष वै गार्हपत्यो यमो राजा। गो० २।३।२।२॥

सर्वानग्ने सहमानः सपत्नानैषामूर्जं रयिमस्मासु धेहि ॥४६॥

भा०—हे ( अग्ने ) अग्नि के समान दुष्टों को संताप देने हारे राजन्! तू ( सर्वान् सपत्नान् ) समस्त शत्रुओं को ( सहमानः ) पराजित करता हुआ ( एषाम् ) उनके ( रयिम् ) धन को और ( ऊर्जम् ) अन्न आदि पुष्टिकारी पदार्थों को ( अस्मासु ) हमें ( धेहि ) प्रदान कर।

इममिन्द्रं वह्निं पप्रिमन्वारभध्वं स वो निर्वक्षद् दुरितादवद्यात्।
तेनाप हत शरुमापतन्तं तेन रुद्रस्य परि पातास्ताम् ॥ ४७ ॥

भा०—( इमम् ) इस ( इन्द्रम् ) ऐश्वर्यशील ( वह्निम् ) राज्य-कार्य के भार को उठाने में समर्थ, नरपुङ्गव, ( पप्रिम् ) सब के पालक राजा को ( अनु आ-रभध्वम् ) उसके अनुकूल होकर, उसके समीप जाकर सब प्रकार से उसे प्राप्त करो उसे अपनाओ। ( सः ) वह राजा ( वः ) हमें ( अवद्यात् ) गर्हणीय, निन्दनीय ( दुरितात् ) दुष्ट, दुःखदायी, पापाचरण से ( निर् वक्षत् ) पृथक् रखे। हे प्रजाजनो! ( तेन ) उस राजा के बल से ( शरुम् ) हिंसक पुरुष को ( अप हत ) मारो। और ( तेन ) उसी के बल पर ( रुद्रस्य ) प्रजा को रुलाने वाले, उग्र घोर डाकू के ( अस्ताम् ) फेंके हुए शस्त्र अस्त्र से ( परि पात ) प्रजा की सब प्रकार से रक्षा करो। अथवा राजा के प्रबन्ध से रुद्र की फेंकी शक्ति वज्र=विद्युत् आदि दैवी विपत्ति से भी प्रजा की रक्षा करो।

४७-( द्वि० ) 'स वो [illegible] [illegible]' इति पैप्प० सं०।

अनड्वाहं प्लवमन्वारभध्वं स वो निर्वक्षद् दुरितादवद्यात् ।
आ रोहत सवितुर्नावमेतां षड्भिरुर्वीभिरमतिं तरेम ॥ ५८ ॥

भा०—( अनड्वाहम् ) अनस्=शकट को जिस प्रकार बैल उठाता है राष्ट्र रूप शकट को उठाने वाले राजा और ब्रह्माण्ड रूप शकट को ले चलने वाले सर्व प्रवर्तक परमेश्वर स्वरूप ( प्लवम् ) जहाज को आप लोग ( अनु-आरभध्वम् ) प्राप्त करो । ( सः ) वह ( वः ) आप सबको ( अवद्यात् ) निन्दनीय ( दुरितात् ) बुरे कामों से ( निर् वक्षत् ) मुक्त करे । हे सज्जनो ! ( सवितुः ) सब के उत्पादक और प्रेरक परमेश्वर और उत्तम राजा की बनायी ( एताम् ) इस ( नावम्[1] ) नाव के समान, सब को भवसागर और दुःखसागर से पार उतारने वाली और सब को अपने बीच में सुरक्षा से रखने वाली राजव्यवस्था रूप नाव में ( आरोहत ) चढ़ो, उसमें शरण लो । और ( षड्भिः ) छहों ( उर्वीभिः ) उर्वी, विशाल शक्तियों से हम ( अमतिम् ) अज्ञान और कुमति को ( तरेम ) पार करें ।

'षड् उर्वयः '=छः बड़ी शक्तियां, पांच ज्ञान इन्द्रिय और छठा मन, ये आत्मा की छः बड़ी शक्तियां हैं जिनसे वह सारी अमति-अविद्या को तरता और ज्ञान प्राप्त करता है ।

अहोरात्रे अन्वेषि बिभ्रत् क्षेम्यस्तिष्ठन् प्रतरणः सुवीरः ।
अनातुरान्त्सुमनसस्तल्प बिभ्रज्ज्योगेव नः पुरुषगन्धिरेधि ॥५९॥

भा०—हे ( तल्प ) सबके प्रतिष्ठापक ! पलङ्ग के समान सबको सुख से अपने में विश्राम देने हारे परमेश्वर एवं राजन् ! तू ( अहोरात्रे ) दिन और रात ( बिभ्रत् ) हमें धारण पोषण करता हुआ ( क्षेम्यः ) सबको कुशल मङ्गल करने हारा ( सुवीरः ) उत्तम वीर्यवान्, उत्तम वीर पुरुषों

१. नुर्वृणोतेर्नयतः उणादिः । प्रेरयतीति नौः इति दयानन्दः ।

मे युक्त ( प्रतरणः ) नौका के समान सबको पार तारने वाला ( तिष्ठन् ) स्थिर रूप से विराजमान होकर भी ( अनु एषि ) सबके अनुकूल होकर प्राप्त है। तू ( सुमनसः ) शुभ चित्त वाले ( अनातुरान् ) काम क्रोधादि से अनातुर, शान्त, तृष्णारहित, स्वस्थ पुरुषों को अपने में ( बिभ्रत् ) धारण करता हुआ भी है ( तल्प ) पलङ्ग के समान सबको विश्राम देने हारे ! ( ज्योक् एव ) चिर-काल से और चिर-काल तक ( नः ) हमें ( पुरुष-गन्धिः[1] ) पुरुषों को उनके पाप कर्मों का दण्ड देने वाला 'जनार्दन' होकर ( एधि ) विराजमान है।

४८, ४९ दोनों मन्त्रों में जनार्दन का मत्स्यावतार और मनु के वेद-मयी नौका की कल्पना का मूलमात्र प्राप्त होता है।

ते देवेभ्य आ वृश्चन्ते पापं जीवन्ति सर्वदा।
क्रव्याद् यानग्निरन्तिकादश्व इवानुवपते नडम् ॥ ५० ॥ (११)

भा०—जो लोग ( सर्वदा ) सदा काल ( पापम् ) पापमय ( जीवन्ति ) जीवन विताते हैं ( ते ) वे ( देवेभ्यः ) देव, विद्वान्, सद्गुणी साधु पुरुषों से सदा के लिये (आ वृश्चन्ते) कट जाते हैं, अलग हो जाते हैं, उनको सज्जनों का संग प्राप्त नहीं होता। ( अश्व इव नडम् ) जिस प्रकार सूखे नड को घोड़ा पैरों से रौंद २ कर तोड़ फोड़ देता है उसी प्रकार ( यान् अन्तिकात् ) जिनके समीप ( क्रव्यात् अग्निः ) कच्चा मांस खाने वाला ( अग्निः ) अग्नि के समान सन्ताप-कारी निर्दय स्वभाव होता है वह उनके ( नडम् ) नड=नर या मानुष स्वभाव या मनुष्यता को ( अनु वपते ) निरन्तर नाश कर देता है।

---

१. 'गन्ध अर्दने' चुरादिः। पुरुषान् गन्धयतीति पुरुषगन्धिः जनार्दनः

५०-( प्र० ) 'ते देवेषु आ म्रश्चन्ते' इति पैप्प० सं०।

के ( गह्वरं ) गहरे भाग को ( सचस्व ) चला जा । इसका अभिप्राय यह है, मांसाहारी जीव भेड़िया आदि काली भेड़ खाता है, सीसे के गोली से मारा जाता और माष की दाल के समान दल दिया जाता यही उसका भाग्य है।

शव को श्मशान में ले जाते समय लोहे का टुकड़ा पात्र में रखने और उड़द की दाल बटिया को देने और अनुस्तरणी पशु को बलि करने आदि का गृह्योक्त कर्म का आधार यही मन्त्र है।

इ॒षी॒कां जर॑तीमि॒ष्ट्वा ति॑ल्पि॒ञ्जं दण्ड॑नं न॒डम् ।
तमि॑न्द्र इ॒ध्मं कृ॒त्वा य॒मस्या॒ग्निं नि॒राद॑धौ ॥ ५४ ॥

भा०—( जरतीम् ) जीर्ण हुई ( इषीकाम् ) सींक को ( तिल्पिञ्जं ) तिल के डंठल को और ( दण्डनं ) दण्डन=बांस और ( नडम् ) नड़, नरकुल इनको ( इष्ट्वा ) यज्ञ अर्थात् इनके समान जीर्ण देह को अग्नि में आहुति करके ( इन्द्रः ) इन्द्र, ज्ञानैश्वर्यवान् पुरुष ( तम् ) उस अपने आत्मा को ( इध्मम् ) इंधन बना कर या प्रदीप्त करके ( यमस्य ) सर्व-नियन्ता परमेश्वर के ( अग्निम् ) ज्ञानमय अग्नि के समान स्वरूप को ( निर्-आदधौ ) अपने भीतर धारण करे।

सींक, तिलपिञ्ज और दण्डन=बांस और नल ये चारों पदार्थ जीर्ण हो जाने पर जला दिये जाते हैं और फिर ऋतु पर नये उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार यह पुरुष भी अपने जीर्ण देह को अग्नि में जला दे और स्वयं ईश्वर के तेजोमय स्वरूप को धारण करे उसका ध्यान चिंतन करे।

प्र॒त्यञ्च॑म॒र्कं प्र॑त्य॒र्पयि॑त्वा प्रवि॒द्वान् पन्थां॒ वि ह्या॒वि॑वेश॑ ।
प॒रामी॑षा॒मसू॑न् दि॒देश॑ दी॒र्घेणा॒युषा॒ समि॒मान्त्सृ॑जामि ॥५५॥ (१२)

५४–( तृ० ) 'तानिन्द्रेध्मं' इति पैप्प० सं०।
५५–( द्वि० ) 'वि आस्वरः' इति पैप्प० सं०।

भा०—( प्रत्यञ्चम् ) प्रत्यग्, प्रत्येक के हृदय में प्रकाशमान ( अर्कं ) सूर्य के समान प्रकाशमान परमेश्वर को ( प्रति अर्पयित्वा ) स्वयं अपने आपको सौंप कर ( प्रविद्वान् ) अति उत्कृष्ट ज्ञानी मैं ( पन्थाम् ) उस परम, मोक्ष मार्ग में ( हि ) निश्चय से ( वि आविवेश ) चला जाऊं। और ( अमीषाम् ) उन मोक्ष-गत मुक्तात्माओं के ( असून् ) सूक्ष्म प्राणों को ( परा दिदेश ) पुनः ले लेता हूं। और ( इमान् ) इन जीवों को ( दीर्घेण आयुषा ) दीर्घ जीवन से भी मैं ( संसृजामि ) युक्त करूं।

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

[ तत्रैकमेवमन्त्रसूक्तं पञ्चषष्ट्यादन् ]

---

## [ ३ ] स्वर्गौदन की साधना या गृहस्थ धर्म का उपदेश।

यम ऋषिः। मन्त्रोक्तः स्वर्गौदनोऽग्निर्देवता। १, ४२, ४३, ४७ भुरिजः, ८, १२, २१, २२, २४ जगत्यः १३ [ ? ] त्रिष्टुप्, १७ स्वराट्, आर्षी पंक्तिः, ३४ विराड्गर्भा पंक्तिः, ३९ अनुष्टुब्गर्भा पंक्तिः, ४४ पराबृहती, ५५—६० त्र्यवसाना सप्तपदाऽतिजागतशाक्वरातिशाक्वरधार्त्यगर्भातिधृतयः [ ५५, ५७—६० कृतयः, ५६ विराट् कृतिः ]। षष्ट्यृचं सूक्तम् ॥

पुमान् पुंसोऽधि तिष्ठ चर्मेहि तत्र ह्वयस्व यतमा प्रिया ते।
यावन्तावग्रे प्रथमं संमेयथुस्तद् वां वयो यमराज्ये समानम् ॥१॥

भा०—हे पुरुष ! तू ( पुमान् ) पुमान्, पुरुष या वीर्यवान् मर्द हो कर ( पुंसः ) अन्य पुरुषों पर ( अधितिष्ठ ) अधिष्ठाता रूप से विराजमान हो। तू ( चर्म ) चर्म=आसन पर ( इहि ) आ, विराज। ( तत्र ) उसी

---

[ ३ ] १—( प्र० ) 'पुंसो अधि, तिष्ठ चर्म त्रत्र !' इति पैप्प० सं०।

आसन पर (यतमा) सब स्त्रियों में से (ते) तुझे जो सब से अधिक (प्रिया) प्रिय स्त्री है उसको (ह्वयस्व) बुलाकर पत्नी स्वरूप में बिठला। हे पति पत्नी! (अग्रे) सब से प्रथम (यावन्तौ) जितनी शक्ति और सामर्थ्य से युक्त होकर तुम दोनों (प्रथमम्) प्रथम (सम् ईयथुः) परस्पर संगत होओगे (तत्) वह सब कुछ (वाम्) तुम दोनों का (वयः) जीवन सामर्थ्य (यमराज्ये) सर्व नियन्ता परमेश्वर के या गार्हपत्य, गृहस्थ के राज्य=गृहस्थाश्रम में (समानम्) समान रहे।

पुरुष, बलवान्, जवान होकर ऊंचे आसन पर बैठ कर अपने साथ अपने हृदय की प्रियतमा को बैठा कर अपनी पत्नी बनावे। और वे दोनों जितने भी सम्पत्तिमान हों गृहस्थ जीवन में उनका वह सब कुछ समान ही रहे।

तावद् वां चक्षुस्तति वीर्याणि तावत् तेजस्ततिधा वाजिनानि।
अग्निः शरीरं सचते यदैधोऽधा पक्वान्मिथुना सं भवाथः ॥ २ ॥

भा०—हे स्त्री पुरुषो! पति और पत्नी! (वाम्) तुम दोनों को (तावत्) उतने अधिक सामर्थ्य वाली (चक्षुः) प्रेम से युक्त आंख है, और (तति वीर्याणि) तुम दोनों के उतने अधिक वीर्य, सामर्थ्य हैं कि कहा नहीं जा सकता। और इसी प्रकार तुम दोनों का (तावत् तेजः) उतना अधिक तेज है और (ततिधा) उतने नाना प्रकार के (वाजिनानि) बलयुक्त कार्य हैं कि जिनका वर्णन नहीं किया जा सकता। परन्तु याद रखो। कि (यदा) जब (अग्निः) कामरूप अग्नि या वीर्यरूप या ब्रह्मचर्यरूप तप (एधः) काष्ठ को अग्नि के समान (शरीरम्) शरीर को (सचते) प्राप्त करता और प्रदीप्त करता और कान्तिमान करे। (अधा)

२-(द्वि०) 'अग्निं शरीरं सचतेऽयं' इति पैप्प० सं०।

तब ( पक्वम् ) परिपक्व वीर्य या परिपक्व शरीर के बल से ( मिथुना ) तुम दोनों पति पत्नी ( संभवाथः ) परस्पर मैथुन करके पुत्रोत्पन्न करो।

प्रजननं वा अग्निः । तै० १ । ३ । १ । ५ ॥ तपो वा अग्निः । श० ३ । ४ । ३ । २ ॥ अग्निर्वै कामः देवानामीश्वरः । कौ० १९ । २ ॥ अग्निः प्रजानां प्रजनयिता । तै० १ । ७ । २ । ३ ॥ अग्निर्वै मिथुनस्य कर्त्ता प्रजनयिता । श० ३ । ४ । ३ । ४ ॥ अग्निर्वै रेतोधा ३ । ७ । ३ । ७ ॥ वीर्यं वा अग्निः । गो० उ० ६ । ७ ॥ प्रजनन, तप, काम, वीर्य आदि अग्नि शब्द से कहे जाते हैं। उसके शरीर में ब्रह्मचर्य द्वारा पर्याप्त रूप में संचित होजाने पर स्त्री पुरुष मैथुन करके सन्तान उत्पन्न करें।

'मैथुन' करने को वेद 'सम्-भवति' धातु से प्रकट करता है। क्यों कि उस समय दोनों समान वीर्य होकर अपनी सृष्टि उत्पन्न करते हैं। और मैथुन द्वारा वे दोनों अपने ही समान सन्तान उत्पन्न करते हैं।

अ॒स्मिँल्लो॒के सम॑ु दे॑व॒याने॑ च॒ स्था सम॒ेतं य॑म॒राज्ये॑षु ।
पू॒तौ प॒वित्रै॒रुप॒ तद्ध्व॑येथां॒ यद्य॒द् रेतो॒ अधि॑ वां संब॒भूव॑ ॥३॥

भा०—हे पति पत्नी ! तुम दोनों ( अस्मिन् लोके ) इस लोक में ( सम-एतम् ) सदा एक साथ समान भाव से रहो। ( देवयाने ) देव परमेश्वर की उपासना या मोक्ष मार्ग की साधना में भी ( सम् ऊ ) सदा दोनों एकत्र ही रहो। और ( सम् स्म ) सदा साथ रहते हुए ( यमराज्येषु ) यम, नियन्ता राजा के समस्त राज्य के कार्यों में अथवा ( यमराज्येषु ) यम, गार्हपत्य के समस्त कार्यों में, गृहस्थ के समस्त कार्यों में या यमराज्य, परमात्मा के समस्त उपासना आदि कार्यों में ( सम् एतम् ) तुम दोनों समान भाव से एकत्र होकर रहो। और ( यद् यद् ) जब जब भी ( वां ) तुम दोनों का ( रेतः ) वीर्य ( अधि-संबभूव ) गर्भ में एकत्र होकर पुत्र रूप में स्थिर हो जाय तब २ ( पवित्रैः ) पवित्र आचरणों और पवित्र कार्यों से

( पूतौ ) तुम दोनों शुद्ध पवित्र होकर ( तत् ) गर्भ में स्थित उस वीर्यांश को (उपह्वयथाम्) शुभ संस्कारों में पुष्ट करो, उस पर उत्तम २ संस्कार डालो। अथवा—( यद् यद् ) जब २ ( वां रेतः अधिसंबभूव ) तुम्हारा वीर्य पुत्र रूप में उत्पन्न हो ( तत् ) तब ( पवित्रैः पूतौ ) पवित्र यज्ञों और स्नान आदि उपचारों से पवित्र होकर ( उपह्वयेथाम् ) सबको अपने पास नामकरणादि में सम्मिलित होने के लिये बुलाओ।

**आप॑स्पुत्रासो अ॒भि सं वि॑शध्वमि॒मं जी॒वं जी॑वधन्याः स॒मेत्य॑।**
**तासां॑ भजध्वम॒मृतं॒ यमा॒हुर्यमो॑द॒नं पच॑ति वां॒ जनि॑त्री ॥ ४ ॥**

भा०—हे ( पुत्रासः ) युवक पुत्रो ! तुम भी ( आपः ) अपने समीप प्राप्त अपनी पत्नियों के साथ ( अभि सं विशध्वम् ) गृहस्थ धर्म का पालन करो, उनमें पुत्रादि उत्पन्न करो। हे ( जीवधन्याः ) जीवन के श्रेष्ठ धन से सम्पन्न पुरुषो ! आप लोग ( इमम् ) इस ( जीवं ) पुत्र को ( समेत्य ) प्राप्त होकर ( तासाम् ) अपनी गृहपत्नियों के या वीर्यरक्षा रूप उस ( अमृतम् ) अमृतमय परम गृहस्थ सुख को ( भजध्वम् ) प्राप्त करो ( यम् ) जिस ( ओदनम् ) ओदन के समान पुष्टिकारक वीर्य को ( वाम् ) तुम दोनों को ( जनित्री ) माता ( पचति ) ब्रह्मचर्य पालनादि द्वारा पकाती या परिपक्व करती रही है। मा बाप जिस प्रकार भोजन बनाकर तुम को खिलाते रहे और ब्रह्मचर्यादि से तुम दोनों को पुष्ट करते रहे उसी प्रकार अब वर-वधू के मां बापों ने तुम दोनों को एक दूसरे को सौंपा है तुम परस्पर के जीवन से पुत्रादि लाभ करके अमृतमय जीवन सुखभोग करो।

'आपः'—अहमिदं सर्वमाप्स्यामि यदिदं किं च तस्मादापोऽभवत् तदपामाप्त्वं। आप्नोति वै सर्वान् कामान् यान् कामयते। गो० पू० १। २॥

४–( च० ) 'पचति वो जनित्री' ( द्वि० ) 'धन्यास्समेता' इति पैप्प० सं०।

देवो हि प्राप । श० १ । १ । ३ । ७ ॥ देवो वा प्राप । ऐ० १ । ३ ॥ अग्निना वा प्राप मुच्यस्य । श० ६ । ८ । २ । ३ ॥

यं वां पिता पचति यं च माता रिप्रान्निर्मुक्त्यै शमलाच्च वाचः ।
स ओदनः शतधारः स्वर्ग उभे व्याप नभसी महित्वा ॥ ५ ॥

भा०—हे स्त्री पुरुषो ! ( यं ) जिस 'ओदन'=वीर्य को ( वां पिता ) तुम दोनों के पिता और ( माता च ) माताएं भी ( रिप्रात् ) पितृ-ऋण से अर्थात् रहने रूप पाप से और ( वाचः ) वाणी के ( शमलात् च ) पाप से ( निर्मुक्त्यै ) सर्वथा मुक्त होने के लिये ( पचति ) पकाती है परि-पक्व करती है ( स ) वह ओदन, वीर्य, ब्रह्मचर्य आदि का परिपालन ही ( शतधारः स्वर्गः ) शतवर्ष की आयु को धारण करने वाला स्वर्ग, अति सुखकारी आनन्द प्राप्त करने का उपाय है। वह ( महित्वा ) अपने महिमा से ( उभे नभसी ) दोनों लोकों को, द्यौ और पृथ्वी को या आत्मा को बांधने वाले इहलोक और परलोक या वर्तमान जीवन और सन्तानों का जीवन ( उभे ) दोनों को ( व्याप ) व्याप्त करता है। मां बाप स्वयं भी ब्रह्मचर्य का पालन करें पुत्र पुत्रियों को भी पालन करावें इसमें इहलोक, परलोक, वर्तमान जीवन और सन्तानों के जीवन भी सुखमय होते हैं। यही सौ वर्ष की आयु देने वाला परम साधन है।

उभे नभसी उभयाश्च लोकान् ये यज्वनामभिजिताः स्वर्गाः ।
तेषां ज्योतिष्मान् मधुमान् यो अग्रे तस्मिन् पुत्रैर्जरसि सं श्रये-थाम् ॥ ६ ॥

भा०—( उभे नभसी ) दोनों लोक द्यौ और पृथिवी और ( उभ-यान् च लोकान् ) और दोनों प्रकार के लोक ( ये ) जो ( यज्वनाम् ) यज्ञ-

५-( प्र० ) 'य वः पिता' इति पैप्प० सं०।

शील पुरुषों द्वारा (अभिजिताः) प्राप्त करने योग्य (स्वर्गाः) सुखमय लोक हैं (तेषाम्) उनमें से (यः) जो लोक (मधुमान्) मधु के समान आनन्दरस से पूर्ण और (ज्योतिष्मान्) प्रकाशमय, ज्ञानमय लोक है, हे पुरुषो! (तस्मिन्) उस (अग्रे) सर्वश्रेष्ठ लोक में (पुत्रैः) अपने पुत्रों सहित जरसि) अपने ढलते जीवन में (सं श्रयथाम्) अच्छी प्रकार से रहो।

प्राचींप्राचीं प्रदिशमा रभेथामेतं लोकं श्रद्दधानाः सचन्ते।
यद् वां पक्वं परिविष्टमग्नौ तस्य गुप्तये दंपती सं श्रयेथाम् ॥७॥

भा०—हे स्त्री पुरुषो! आप लोग (प्राचीम् प्राचीम्) पूर्व दिशा के समान सूर्य के द्वारा प्रकाशमान (प्रदिशम्) प्रदेश या लोक को ही (आरभेथाम्) प्राप्त करो। (एतं लोकं) इस श्रेष्ठ लोक को (श्रद्दधानाः) सत्य को धारण करने वाले लोग ही (सचन्ते) प्राप्त होते हैं। हे (दम्पती) स्त्री-पुरुषो, पति पत्नी लोगो! (यत्) जो (वां) तुम दोनों का (पक्वम्) पका, परिपक्व वीर्य (अग्नौ) अग्नि अर्थात् प्रजनन कार्य में (परिविष्टम्) पड़ गया है, गर्भ में स्थिर हो गया है (तस्य) उसकी (गुप्तये) रक्षा के लिये तुम दोनों (सन् श्रयेथाम्) एक दूसरे पर आश्रित होकर रहो।

प्रजननं वा अग्निः। तै० १।२।१।४॥ यज्ञाग्नि में पक्व चरु का डालना भी प्रतिनिधिवाद से अग्नि में आहुति और स्त्री में वीर्याधान का प्रतिनिधि है। योषा वाव गौतमाग्निः। तस्या उपस्थ एव समित्। यदुपमन्त्रयते स धूमः। यदन्तः करोति त अङ्गाराः। अभिनन्दाः विस्फुलिङ्गाः। तस्मिन् एतस्मिन् अग्नौ देवा रेतो जुह्वति। तस्या आहुतेर्गर्भः सम्पद्यते। छा० उप० ५। ८॥ स्त्री स्वयं अग्नि है। कामांग काष्ठ हैं, स्त्री पुरुषों का परस्पर प्रेम धूम है,

७-(तृ० च०) निमाय पात्रं यद् वां पूर्णमस्तु निशां परः पितृयानेनेत्याम-दन् इति पैप्प० सं०।

भोग ज्वाला है सुख विस्फुलिङ्ग हैं, उस अग्नि में विद्वान् लोग वीर्य की आहुति देते हैं वह गर्भ रूप से उत्पन्न होते हैं। इसी के लिये वेद अग्नि में 'पक्व की आहुति' अर्थात् परिपक्व वीर्य की आहुति देने की आज्ञा देता है उसकी रक्षा का उपदेश करता है।

दक्षिणां दिशमभि नक्षमाणौ पर्यावर्तेथामभि पात्रमेतत्।
तस्मिन् वां यमः पितृभिः संविदानः पक्वाय शर्म बहुलं नि यच्छात् ॥ ८ ॥

भा०—हे पति और पत्नि ! तुम दोनों ( दक्षिणां दिशम् ) दक्षिण दिशा अर्थात् पूर्व पितरों की दिशा, गृहस्थ धर्म को ( अभि नक्षमाणौ ) सब प्रकार से आचरण करते हुए ( एतत् पात्रम् अभि ) इस पात्र=परस्पर के पालन करने रूप गृहस्थ धर्म के प्रति ही ( पर्यावर्तेथाम् ) चले आया करो। ( तस्मिन् ) उस परस्पर पालन करने हारे धर्म में विद्यमान ( वां ) तुम दोनों में से ( यमः ) जो यम, परम ब्रह्मचारी है वह ( पितृभिः ) उत्तम ज्ञान लाभ करता हुआ ( पक्वाय ) परिपक्व वीर्य होने के कारण ( बहुलं शर्म ) बहुत अधिक सुख ( नियच्छात् ) प्राप्त कराने में समर्थ है। अथवा ( पितृभिः संविदानः ) लोक के पालक अग्नि वायु जलादि शक्तियों के साथ वर्तमान या पूज्य लोगों के साथ सहमति करता हुआ ( यमः ) सर्व नियन्ता परमेश्वर या पितृलोक या गृहस्थ आश्रम ( तस्मिन् वां पक्वाय शर्म नियच्छात् ) अर्थात् उस गृहस्थ धर्म में वर्तमान तुम दोनों में से परिपक्व वीर्य वाले ब्रह्मचारी को अधिक सुख प्रदान करता है। अथवा ( पक्वाय=पक्वस्य बहुलं शर्म नियच्छात् ) परिपक्व वीर्य का बहुत अधिक सुख प्रदान करता है।

---

८—( द्वि० ) 'तस्मिन् वा', 'तस्मिन् यमः', 'तस्मिन् यमात्', 'तस्मिन् वाम यम्' इत्यादि बहुधा पाठभेदः।

अर्थात् गृहस्थ का सब से अधिक सुख परिपक्क वीर्य वाले स्त्री पुरुषों को ही सब से अधिक प्राप्त होता है।

एषा वै दक्षिणा दिक् पितृणाम् । श० १।२।५।१७॥ पितरो नमस्याः । श० १।५।२।३॥ यान् अग्निरेव दहन् स्वदयति ते पितरोऽग्निस्वात्ताः । श० २।६।१।७॥ ये वा अयज्वानो ते गृहमेधिनः ते पितरोऽग्निष्वात्ताः । श० । २।६।१।७॥ ये वै यज्वानः ते पितरो बर्हिषदः । तै० १।८।७।६॥ नमस्कार करने योग्य लोग 'पितर' हैं। जिनको स्वयं अग्नि भोजन का आस्वाद देती है, वे और वे जो गृहस्थ होकर भी यज्ञ नहीं करते होते वे अग्निश्वात्त पितर हैं और यज्ञशील गृहस्थी लोग 'बर्हिषद्' पितर हैं।

प्रतीची दिशामियमिद् वरं यस्यां सोमो अधिपा मृडिता च।
तस्यां श्रयेथां सुकृतः सचेयामधा पक्वान्मिथुना सं भवाथः॥६॥

भा०—( इयम् प्रतीची ) यह प्रतीची, पश्चिम दिशा ( इत् ) ही ( दिशाम् ) समस्त दिशाओं में ( वरम् ) अच्छी है ( यस्यां ) जिसमें ( सोमः ) सोम, सर्वोत्पादक परमेश्वर या राजा या उत्पादक शुक्र ही ( अधिपा ) पालक अधिष्ठाता और ( मृडिता च ) सब को सुख देने वाला है। ( तस्याम् ) उस दिशा में ( श्रयेथाम् ) तुम दोनों स्त्री पुरुष आश्रय प्राप्त करो और ( सुकृतः ) शुभ कर्मों का ( सचेथाम् ) पालन करो। ( अधा ) और वहां ही ( पक्वत् ) पक्क वीर्य से, पक्क वीर्य होकर ( मिथुना सं भवाथः ) परस्पर जोड़ा होकर सन्तान पैदा करो।

मनुष्याणां वा एषा दिक् यत् प्रतीची । ष० ३।१॥ प्रतीची दिक्, सोमो देवता । तै० ३।११।५।२॥

---

६-( च० ) 'अधा पत्नेन सह सम्भवेम' इति पैप्प० सं०।

उत्तरं राष्ट्रं प्रजयोत्तरावद् दिशामुदीची कृणवन्नो अग्रम् ।
पाङ्क्तं छन्दः पुरुषो बभूव विश्वैर्विश्वाङ्गैः सह सं भवेम ॥१०॥ (१३)

भा०—( उत्तरम् राष्ट्रम् ) उत्तर राष्ट्र अर्थात् उत्कृष्ट राष्ट्र ही ( प्रजया ) उत्तम रीति से उत्पन्न होने वाली 'प्र जा' से ही वह ( उत्तरावत् ) 'उत्तरावत्', उत्तम सम्पत्तिमान् है जिसको ( उदीची दिशाम् ) दिशाओं में उदीची=उत्तर दिशा अपने दृष्टान्त से ( नः ) हमारे लिये ( अग्रम् ) श्रेष्ठ ( कृणवत् ) बनाती है अर्थात् बतलाती है । उत्तम प्रजा किस प्रकार को होती है ? सो बतलाते हैं कि ( पुरुष ) यह देहवासी पुरुष ( पाङ्क्तं छन्दः ) पञ्चाक्षरों से युक्त पंक्ति छन्द के समान पांच स्वतन्त्र प्राणों से युक्त ( बभूव ) रहता है । इसलिये हम लोग ( विश्वैः ) सब के सब ( विश्वाङ्गैः ) समस्त अङ्गों ( सह ) सहित ( सं भवेम ) प्रजारूप से उत्पन्न हों । अर्थात् विकृताङ्ग पुत्रों को न उत्पन्न करके सर्वाङ्ग सुन्दर पुत्रों को उत्पन्न करना यह उत्तम प्रजा प्राप्त करना और उत्तम राष्ट्र बनाना है । इसका उपदेश हमें उत्तर दिशा करती है ।

ध्रुवेयं विराण्नमो अस्त्वस्यै शिवा पुत्रेभ्य उत मह्यमस्तु ।
सा नो देव्यदिते विश्ववार इर्य इव गोपा अभि रक्ष पक्वम् ॥११॥

भा०—( ध्रुवा ) ध्रुवा दिशा, ( इयं ) यह ( विराट् ) अन्न से पूर्ण विविध प्रकार से शोभा देने वाली विराट् पृथिवी है । ( अस्मै ) इसको हमारा ( नमः अस्तु ) नमस्कार हो । और यह ( पुत्रेभ्यः शिवा ) पुत्रों के लिये कल्याणकारिणी ( उत ) और ( मह्यम् ) मेरे लिये भी कल्याण और सुख के देने वाली ( अस्तु ) हो । ( अदिते ) अखण्डिते ! स्थिर ! ( विश्ववारे ) समस्त संसार से वरण करने और उनको दुखों से बचाने वाली ( देवि ) देवि ! अन्नादि के प्रदान करनेहारी ( सा ) वह तू ( नः ) हमारे ( इर्य इव )

१०–( तृ० ) 'पंक्तिश्छन्दः' इति पैप्प० सं० ।

अश्व के स्वामी के समान (गोपा) पालन करने हारी होकर (पक्वम्) हमारे पक्व=परिपक्व वीर्य एवं उससे उत्पन्न प्रजा को (अभिरक्ष) सब प्रकार से सुरक्षित कर।

पितेव पुत्रानभि सं स्वजस्व नः शिवा नो वाता इह वान्तु भूमौ।
यमोदनं पचतो देवते इह तं नस्तप उत सत्यं च वेत्तु ॥ १२ ॥

भा०—(पिता पुत्रान् इव) जिस प्रकार पिता पुत्रों को आलिंगन करता है और प्रेम करता है उसी प्रकार हे पृथिवि! या हे परमेश्वर! तू (नः) हम मनुष्यों को (सं स्वजस्व) भली प्रकार आलिंगन कर, प्रेम कर। (इह भूमौ) इस भूलोक में (नः) हमारे लिये (वाता) वायुएं सदा (शिवाः) कल्याण और सुख देने हारी होकर (वान्तु) बहें। (देवते) देवस्वभाव के स्त्री और पुरुष (इह) यहां (यम् ओदनं) जिस ओदन भात के समान पुष्टिकारक वीर्य को (पचतः) परिपक्व करते, परिपुष्ट करते और ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं (तम्) उसको (नः) हमारा (तपः) तप और (सत्यं च) सत्य आचरण भी (वेत्तु) जाने।

यद्यत् कृष्णः शकुन एह गत्वा त्सरन् विषक्तं बिल आससाद।
यद्वा दास्यार्द्रहस्ता समङ्क्त उलूखलं मुसलं शुम्भतापः ॥ १३ ॥

भा०—(यत् यत्) जब जब (कृष्णः) काला, मलिन कर्म (शकुन) शक्तिशाली पुरुष, चोर आदि या काला पक्षी काक आदि मलिन जन्तु (इह) यहां, हमारे घर में (आ गत्वा) आकर (त्सरन्) कुटिल चालें चलता

१२–(द्वि०) 'वान्तु शग्मा' (च०) 'सत्यं च विद्वान्' इति पैप्प० सं०।

१३–(प्र०) 'शकुनेह' (तृ०) 'दासीवा दार्द्र', (च०) शुम्भ-तापः' इति पैप्प० सं०।

हुआ ( विपक्कं ) पृथक् एकान्त में छुपे २ ( बिले ) खोह या घर में ( आससाद ) आरनाय, अथवा ( विपक्कं रसरन् बिले आससाद ) नाना प्रकार का अन्न चुराकर अपनी बिल में चला जाय तो और ( यद् वा ) यदि ( आर्द्रहस्ता ) गीले हाथों वाली ( दासी ) दासी, नौकरानी व उपकारिणी शक्ति ( ऊलूखलं मुसलं ) ऊखल और मुसल को या क्षत्रिय राजा को (सम् अद्ग्र) हाथ लगाकर गीला कर दे, उसको भ्रष्ट कर दे तो हे (आप) जलो ! या आप्त पुरुषो ! तुम उन सब को ( शुम्भत ) शुद्ध करो।

अयं ग्रावा पृथुबुध्नो वयोधाः पूतः पवित्रैरप हन्तु रक्षः ।
आ रोह चर्म महि शर्म यच्छ मा दंपती पौत्रमघं नि गाताम् ॥१४॥

भा०—( अयं ) यह ( ग्रावा ) मूसल, ऊखल ( पृथुबुध्न ) विशाल आधार वाला ( वयोधाः ) अन्नों का धारण करने वाला ( पवित्रैः ) पवित्र करने हारे उपायों से स्वयं ( पूतः ) पवित्र होकर ( रक्षः ) अन्न के ऊपर के रक्षा करने वाले आवरण छिलकों को ( अपहन्तु ) कूट २ कर पृथक् कर दे। हे ऊखल ! तू ( चर्म आ रोह ) तू चर्म पर विराज और ( महि शर्म यच्छ ) बड़ा भारी सुख प्रदान कर। ( दम्पती ) स्त्री पुरुष ( पौत्रम् अघम् ) अपने पुत्रों के हत्या आदि पाप को ( मा नि गाताम् ) प्राप्त न हों।

राजा के पक्ष में—( अयं ग्रावा ) यह राजा ( पृथुबुध्नः ) विशाल आधार से युक्त ( वयोधा ) बल और आयु को धारण करने वाला, ( पवित्रैः पूतः ) शुद्धाचरणों से स्वयं पवित्र होकर ( रक्षः अप हन्तु ) राक्षसों का नाश करे। हे राजन् ( चर्म आ रोह ) आसन पर विराज। ( महि शर्म यच्छ ) बड़ा सुख प्रजा को दे। कि ( दम्पती पौत्रं अघं मा निगाताम् ) पति, पत्नी पुत्र सम्बन्धी हत्या को न करें या पुत्र के किये हत्यादि पाप के

१४–( च० ) 'निगाथाम्' इति पैप० सं०। 'माह पौत्रमघं नि याम्' आ० गृ० सू०। 'यथेयं स्त्री पौत्रमघं न रोदात्' इति पा० गृ० सू०।

पात्र न हों, वे पुत्रों के हाथों से न मारे जांय। अर्थात् राजा गृहस्थों का प्रबन्ध करे कि मा बाप सन्तानों को और सन्तानें अपने मा बाप पर अत्याचार न करें।

वनस्पतिः सह देवैर्न आगन् रक्षः पिशाचाँ अपबाधमानः।
स उच्छ्रयाति प्र वदाति वाचं तेन लोकाँ अभि सर्वान् जयेम ॥१५॥

भा०—( वनस्पतिः ) महान् वृक्ष के समान सबको अपनी छत्र-छाया में रखने वाला चक्रवर्ती राजा ( सह देवैः ) विद्वान् पुरुषों और अन्य शासकों सहित ( रक्षः पिशाचान् ) राक्षसों और पिशाचों को ( अपबाधमानः ) मार कर दूर भगाता हुआ ( नः आगन् ) हमें प्राप्त हो। ( सः ) वह ( उत् श्रयाति ) सबसे ऊंचा होकर सब के शिर पर विराजे और ( वाचं ) वाणी को ( प्र वदाति ) कहे सब को आज्ञा करे या सब को शिक्षा प्रदान करे। ( तेन ) उसके बल से हम ( सर्वान् लोकान् ) समस्त लोकों को ( अभि जयेम ) अपने वश करें उन पर विजयी हों।

सप्त मेधान् पशवः पर्यगृह्णन् य एषां ज्योतिष्माँ उत यश्चकर्श।
त्रयस्त्रिंशद् देवतास्तान्त्सचन्ते स नः स्वर्गमभि नेष लोकम् ॥१६॥

भा०—( पशवः ) पशु, समस्त जीव ( सप्त मेधान् ) सात अन्नों को ( परि अगृह्णन् ) भोजन के रूप में प्राप्त करते हैं। और ( त्रयस्त्रिंशत् ) तेतीस ( देवताः ) देव गण ( तान् ) उन जीवों या अन्नों के साथ ( सचन्ते ) समवाय या देह रूप से संघ बनाते हैं। ( एषां ) इन देवताओं में से

१५-( तृ० ) 'सोच्छ्रयाति', ( च० ) 'अभिसर्वान्' इति पैप्प० सं०।
१६-( तृ० ) 'तान् सचन्ते' इति क्वचित्। ( द्वि० ) 'ज्योतिष्मानुतयश्चकार्श'
( च० ) 'नेषि' इति पैप्प० सं०।

( य ) जो ( ज्योतिष्मान् ) सबसे अधिक प्रकाशमान्, स्वतः प्रकाश ( उत ) और ( यः चकर्श ) जो सबसे सूक्ष्म है ( सः ) वह प्रजापति परमात्मा ( नः ) हमें ( स्वर्गम् लोकम् ) सुखमय लोक को ( अभि नेष ) प्राप्त करावे । सप्त अन्नों का रहस्य देखो बृहदारण्यक उप० [ १ । ५ ]

अन्नं मेध । मेधावित्यन्नायेत्येतत् । श० ७ । ५ । ३२ ॥ अन्न, हुत, प्रहुत, पय , मन, वाक्, प्राण, ये सात मेध' या अन्न हैं, इनको प्रजापति ने मेधा अपनी ज्ञान शक्ति से उत्पन्न किया ।

स्वर्गं लोकमभि नो नयासि सं जायया सुह पुत्रैः स्याम ।
गृह्णामि हस्तमनु मैत्वत्र मा नस्तारीन्निर्ऋतिर्मो अरातिः ॥ १७ ॥

भा०—हे परमात्मन्! आप ( नः ) हमें ( स्वर्गं लोकम् ) सदा सुखकारी लोक में ही ( अभि नयासि ) साक्षात् प्राप्त कराते हो । हम सदा ( जायया ) पुत्र उत्पन्न करने-हारी स्त्री और उससे उत्पन्न ( पुत्रैः ) पुत्रों के साथ ( स्याम ) रहें । जिसका भी मैं ( हस्तं गृह्णामि ) हाथ पकड़ूँ, वही स्त्री ( मा अनु एतु ) मेरे पीछे २ मेरी धर्मपत्नी होकर चले । ( निर्ऋतिः ) पाप-वासना ( मा ) मुझे ( मा तारीत् ) कष्ट न दे । और ( मा उ अरातिः ) शत्रु या अदान-शील कृपण लोग या लोभ वृत्ति भी मुझे न सतावे ।

ग्राहिं पाप्मानमति ताँ अयाम तमो व्य/स्य प्र वदासि वल्गु ।
वानस्पत्य उद्यतो मा जिंहिंसीर्मा तण्डुलं वि शरीर्देवयन्तम् ॥१८॥

भा०—( ग्राहिम् ) अन को पकड़ लेने वाली, शोक रूप पिशाची को और ( तान् ) उस ( पाप्मानम् ) पाप प्रवृत्ति को भी ( अति अयाम ) हम

१७–( च० ) 'नो पतिः' इति पैप्प० सं० ।
१८–( च० ) 'विशरीर्देवयन्तम्' इति पैप्प० सं० ।

पार कर जांय । हे राजन् ! तू ( तमः व्यस्य ) हमारे हृदय के शोक रूप अन्धकार को दूर करके ( वल्गु ) अति मनोहर वचन ( प्र वदासि ) कह, उत्तम शिक्षा दे । हे ( वानस्पत्य ) ! वनस्पति—वृक्ष के विकार लकड़ी के बने मूसल के समान राजकीय तेज के अंश से सम्पन्न दण्डकारी राजदण्ड ! ( त्वम् ) तू ( उद्यतः ) उठ कर ( मा जिहिंसीः ) हमें मत मार और जिस प्रकार मूसल आघात करता हुआ भी तुषों को दूर करता और ( तण्डुलं मा ) चावल को नहीं तोड़ता है उसी प्रकार हे राजदण्ड ! तू भी ( देवयन्तं ) देव के समान उत्तम आचरण करने-हारे पुरुष को ( मा विशारीः ) विशेष रूप से दण्डित मत कर ।

विश्वव्यचा घृतपृष्ठो भविष्यन्त्सयोनिर्लोकमुपं याह्येतम् ।
वर्षवृद्धमुपं यच्छ शूर्पं तुषं पलावानपु तद् विनक्तु ॥ १९ ॥

भा०—हे राजन् ! यदि तू ( विश्वव्यचाः ) सर्व संसार में फैला हुआ सर्व जगत्-प्रसिद्ध और ( घृतपृष्ठः ) सूर्य के समान अति तेजस्वी ( भविष्यन् ) होना चाहता है तो ( सयोनिः ) अपने योनि उत्पत्ति-स्थान, प्रजा सहित ( एतम् ) इस स्वर्गमय ( लोकम् ) लोक को ( उप याहि ) प्राप्त हो और ( वर्षवृद्धम् ) वर्षा काल में बढ़े हुए सींकों से बने ( शूर्पं ) सूप के समान ( वर्षवृद्धं ) वर्षों में बूढ़े अनुभवी पुरुष को ( उप यच्छ ) अपने हाथ में ले और जिस प्रकार छाज ( तुषं पलावान् ) तुष और तिनकों को फटक २ कर अलग २ कर देता है उसी प्रकार तू भी अनुभवी न्यायशील पुरुष के द्वारा तुच्छ हिंसक दुष्ट पुरुषों को अपने राष्ट्र रूप अन्न में से ( विनक्तु ) फटक कर निकाल डाल ।

१९–( च० ) 'पलावामपतद्' इति लुश । ( द्वि० ) 'लमाहि विद्वान्' इति पैप्प० सं० ।

त्रयो लोकाः संमिता ब्राह्मणेन द्यौरेवासौ पृथिव्यन्तरिक्षम् ।
अंशून् गृहीत्वान्वारभेथामा प्यायन्तां पुनरा यन्तु शूर्पम् ॥२०॥(१७)

भा०—( ब्राह्मणेन ) ब्राह्मण, ब्रह्म, वेद के विद्वान् ( त्रयः लोकाः ) तीनों लोकों का ( संमिताः ) भली प्रकार ज्ञान कर लेता है कि ( द्यौः एव असौ ) वह द्यौ है, ( पृथिवी, अन्तरिक्षम् ) वह पृथिवी है और वह अन्तरिक्ष है । हे स्त्री, पुरुषो ! *जिस प्रकार तुम लोग* ( अंशून् ) खेत २ अन्न के शुद्ध दानों को ( गृहीत्वा ) ले २ कर ( अनु आरभेथाम् ) बराबर फटकने रहते हो और वे अन्न ( अप्यायन्ताम् ) बहुत बढ़ जाते हैं और फिर वे ( शूर्पं ) छाज पर ( आयन्तु ) आ जाते हैं । ठीक उसी प्रकार तुम प्रजा और *राजा दोनों मिल कर उक्त तीनों लोकों के ( अंशून् ) व्यापक गुणों को* लेकर कार्य आरम्भ करो । इस प्रकार समस्त लोक फलें फूलें और ( शूर्पं पुनः आयन्तु ) छाज के समान सत् असत् भले बुरे के विवेक करने वाले पुरुष के पास प्राप्त हों ।

पृथग्रूपाणि बहुधा पशूनामेकरूपो भवसि सं समृद्ध्या ।
एतां त्वचं लोहिनीं तां नुदस्व ग्रावा शुम्भाति मलग इव वस्त्रा ॥२१॥

भा०—( पशूनां ) पशुओं या जीवों के ( पृथक् ) पृथक् २, जुदा २ ( बहुधा ) बहुत प्रकार के ( रूपाणि ) रूप, नमूने हैं । तो भी हे राजन् ! हे आत्मन् ! ( त्वम् ) तू ( समृद्ध्या ) अपनी सम्पत्ति से सब के प्रति ( एक रूपः भवसि ) एक रूप रहता है । ( एताम् ) इस ( ताम् ) उस ( लोहिनीम् ) लाल, या राजस ( त्वचम् ) आवरण को ( नुदस्व ) परे करदे । और स्वयं ( ग्रावा ) शुद्ध ज्ञानी होकर ( मलगः वस्त्र इव ) जैसे धोबी कपड़ों

२०–( तृ० ) गृहीत्वा अन्वा ' इति बहुत्र । ' रभेथाम् ' इति पैप्प० स० ।
( द्वि० ) ' पृथिव्यामन्त- ' इति पैप्प० स० ।
२१–( द्वि० ) 'भवति', ( च० ) ' शुन्धाति मल्गेव ' इति पैप्प० स० ।

को धो डालता है उसी प्रकार तू भी अपने को ( शुन्मासि ) शुद्ध पवित्र कर, और सुशोभित कर ।

पृथिवीं त्वा पृथिव्यामा वेशयामि तनूः समानी विकृता त एषा ।
यद्यद् द्युत्तं लिखितमर्पणेन तेन मा सुस्रोर्ब्रह्मणापि तद् वपामि॥२२

भा०—हे पृथिवि ! ( त्वा ) तुझ ( पृथिवीम् ) पृथिवी को ( पृथिव्याम् ) पृथिवी में ही ( आवेशयामि ) स्थापित करता हूं। ( एषा ) यह ( ते ) तेरी ( विकृता तनूः ) बिगड़ी हुई देह भी ( समानीः तनूः ) पूर्व के समान ही है और इस में ( यत् यत् ) जो २ कुछ ( द्युत्तम् ) जुत गया है या ( अर्पणेन ) हल चलाने से ( लिखितम् ) खुद गया है ( तेन ) उससे ( मा सुस्रोः ) अपना सारभाग नष्ट मत कर ( तत् ) उसको भी मैं ( ब्रह्मणा ) अन्न द्वारा ( वपामि ) बो देता हूं। अर्थात् खुदे, जुते स्थान पर मैं बीज बो देता हूं।

जनित्रीव प्रति हर्यासि सूनुं सं त्वा दधामि पृथिवीं पृथिव्या ।
उखा कुम्भी वेद्यां मा व्यथिष्ठा यज्ञायुधैराज्येनातिषक्ता ॥ २३ ॥

भा०—हे पृथिवि ! तू ( जनित्री सूनुम् इव ) माता जिस प्रकार पुत्र को प्यार से अपने गोद में ले लेती है उसी प्रकार तू मुझे ( प्रति हर्यासि ) प्रेम करती है ( त्वा ) तुझ ( पृथिवीम् ) पृथिवी को ( पृथिव्या ) पृथिवी से ही ( संदधामि ) जोड़ देता हूं तू ( उखा ) हांडी या उखा रूप में या ( कुम्भी ) कुम्भी, घड़े, मटके आदि के रूप में होकर भी ( वेद्याम् ) वेदी में ( मा व्यथिष्ठाः ) खेद को मत प्राप्त हो। वहां तू ( यज्ञायुधैः ) यज्ञ के उपकरणों द्वारा ( आज्येन ) घृत से ( अतिषक्ता ) युक्त होकर रहती है।

२२–( प्र० ) 'भूम्यां भूमिमपि धारयामि' ( तृ० ) 'लिखितमर्पणेन' ( च० ) 'मा सुस्रोरदाद्' इति पैप्प० सं० ।

२३–( तृ० ) 'कुम्भीर्वेद्यां संनहन्त्वान्' इति पैप्प० सं० ।

स्वर्गमय राज्य की सिद्धि के लिये पृथिवी या राष्ट्र को स्वर्गौदन से उपमा देने के लिये उखा और कुम्भी के रूप में पृथ्वी का वर्णन किया है अर्थात् जैसे हंडे में अन्न तैयार होता है उसी प्रकार पृथ्वी में अन्न तैयार होता है, इत्यादि।

अग्निः पचंन् रक्षतु त्वा पुरस्तादिन्द्रो रक्षतु दक्षिणतो मरुत्वान्।
वरुणस्त्वा दृंहाद्धरुणे प्रतीच्या उत्तरात् त्वा सोमः सं ददातै ॥२४॥

भा०—हे उखे ! पृथिवि ! ( पचन् ) परिपक्व करता हुआ ( अग्निः ) अग्नि ( पुरस्तात् ) आगे से ( त्वा ) तेरी ( रक्षतु ) रक्षा करे। और ( मरुत्वान् इन्द्र ) मरुत्=देवों, प्राणों और विद्वान्-गणों से नाना दिव्य शक्तियों से सम्पन्न इन्द्र ( दक्षिणतः ) दक्षिण—दायें से तेरी ( रक्षतु ) रक्षा करे। ( प्रतीच्याः ) प्रतीची, पश्चिम दिशा के ( धरुणे ) धारण करने वाले आधार स्थान में ( त्वा ) तुझे ( वरुणः ) वरुण ( दृंहात् ) दृढ़ करे, सुरक्षित रखे। और ( उत्तरात् ) उत्तर की ओर से बाईं तरफ़ से ( सोमः ) सोम ( त्वा ) तुझे ( सं ददातै=सं दधातै ) भली प्रकार सुरक्षित रखे।

उखा=हंडिया को जिस प्रकार चूल्हे पर चढ़ाते हैं आगे से अग्नि होती है शेष तीनों तरफ़ टेक लगती है जिससे हंडिया सुरक्षित रहे। उसी प्रकार राष्ट्र की रक्षा के लिये राजा को चारों दिशाओं अर्थात् चारों प्रकारों से रक्षा के लिये उद्यत रहना चाहिये। जैसे सुरक्षित रूप में हंडिया परिपक्व अन्न देती है उसी प्रकार भूमि नाना प्रकार के अन्नादि सम्पत्तियां प्रसव करती है। ब्रह्मचर्य और वीर्यरक्षा के प्रकरण में अग्नि, इन्द्र, वरुण और सोम चारों आचार्य के नाम हैं।

पूताः पवित्रैः पवन्ते अभ्राद् दिवं च यन्ति पृथिवीं च लोकान्।
ता जीवला जीवधन्याः प्रतिष्ठाः पात्र आसिक्ताः पर्यग्निरिन्धाम् ॥२५॥

२४–( द्वि० ) 'रक्षात्' ( तृ० ) 'सोमस्त्वा' इति पैप्प० सं०।
२५–( द्वि० ) 'पृथिवीं च धर्मणा' ( तृ० ) 'जीवधन्यास्समेताः पात्रासिक्ताः' इति पैप्प० सं०।

भा०—जिस प्रकार ( अभ्राद् ) मेघ से आते हुए जल ( पवित्रैः ) पवित्र करने वाले वायुओं द्वारा ( पूताः ) पवित्र होकर ( दिवं च यन्ति ) द्यौलोक में भी ऊपर उठ जाते हैं और ( पृथिवीं च ) पृथिवी लोक पर भी आते हैं और ( ताः ) वे जल या 'आपः' ( जीवलाः ) पृथ्वी पर जीवन को प्राप्त कराने वाले ( जीवधन्याः ) जीवों के लिये 'धन' होने योग्य ( प्रतिष्ठाः ) प्राणों की प्रतिष्ठा स्वरूप हैं । और जिस प्रकार वे ( पात्रे आसिक्ताः ) पात्र हांडी आदि में डाले जाते हैं और उनको ( अग्निः ) अग्नि ( परि इन्धाम् ) चारों ओर से तप्त करती है उसी प्रकार ( ताः ) वे आप्त जन ( पवित्रैः पूताः ) पवित्र आचरणों से पवित्र होकर ( अभ्रात् ) अभ्र, गति-शील, सर्वव्यापक परमात्मा से, मेघ से जलों के समान ( यन्ते ) आते हैं और ( दिवं च पृथिवीम् च लोकान् च यन्ति ) वे द्यौ-लोक, पृथिवी लोक और सूर्य आदि नाना लोकों को प्राप्त होते हैं । ( ताः ) वे आप्त जन ( जीवलाः ) अति दीर्घ जीवन धारण करने वाले ( जीवधन्याः ) जीवों में स्वयं धन्य अति श्रेष्ठ ( पात्रे आसिक्ताः ) पात्र में रक्खे जलों के समान ( पात्रे आसिक्ताः ) उचित स्थान में नियुक्त होकर ( प्रतिष्ठाः ) उत्तम रूप से, प्रतिष्ठा के पात्र होते हैं । उनको ( अग्निः ) ज्ञानमय, प्रकाशक परमेश्वर ( परि इन्धाम् ) सब प्रकार से ज्ञान प्रदान करके प्रकाशित करता है ।

आ यन्ति दिवः पृथिवीं सचन्ते भूम्याः सचन्ते अध्यन्तरिक्षम् ।
शुद्धाः सतीस्ता उ शुम्भन्त एव ता नः स्वर्गमभि लोकं नयन्तु ॥२८॥

भा०—( ताः ) वे ( आपः ) आप्त जन ( दिवः ) द्यौलोक या प्रकाशमान उस परमेश्वर के पास से, मेघ से आने वाले स्वच्छ जलों के समान ( पृथिवीम् ) पृथिवी लोक पर ( आ यन्ति ) आते हैं ( भूम्याः ) भूमि पर

२६-( तृ० ) 'शुम्भन्ति' इति पैप्प० सं० ।

( सचन्ते ) एकत्र होते हैं ( अधि अन्तरिक्षम् ) अन्तरिक्ष में भी ( सचन्ते ) प्राप्त होते है ( ता शुद्धा सती ) वे सदा शुद्ध रहने के कारण से ( उ ) ही ( शुम्भन्त एव ) शोभा को प्राप्त होते हैं। ( ता ) वे ( न ) हमें ( स्वर्ग लोकम् ) स्वर्ग लोक सुखमय लोक को ( अभि नयन्तु ) प्राप्त करावें।

उतेव प्रभ्वीरुत समितास उत शुक्राः शुचयश्चामृतासः ।
ता ओदनं दंपतिभ्यां प्रशिष्टा आपः शिक्षन्तीः पचता सुनाथाः ॥२७॥

भा०—( उत एव ) और वे ही ( प्रभ्वीः ) उत्कृष्ट सामर्थ्य युक्त ( उत ) और ( स मितास ) उत्तम ज्ञानवान्, ( उत शुक्राः ) और दीप्तिमान् ( शुचय ) शुद्ध, पवित्र काम, क्रोध लोभ, मोह, छल, द्रोह आदि से रहित और ( अमृतास च ) पवित्र जलों के समान, अमृत, अमृतमय ज्ञान से युक्त, दीर्घायु एवं ब्रह्मज्ञानी होते है। ( ता ) वे ( प्रशिष्टा ) अति अधिक शिष्ट, सुसभ्य, सुशिक्षित ( सुनाथा ) उत्तम ऐश्वर्यवान्, एवं तपस्या युक्त तपस्वी ( आपः ) शुद्ध जलों के समान स्वच्छ हृदय वाले आप्त जन ( शिक्षन्तीः ) उत्तम शिक्षाएं, विद्याएं और उपदेश आदि प्रदान करते हुए ( दम्पतीभ्यां ) गृहस्थ के स्त्री पुरुषों के ( ओदनं ) बलवीर्य को जलों के समान ही ( पचत ) परिपक्व करें। उन को दृढ़ सदाचारी बनावें।

संख्याता स्तोकाः पृथिवीं सचन्ते प्राणापानैः संमिता ओषधीभिः ।
असंख्याता ओप्यमानाः सुवर्णाः सर्वं व्यापुः शुचयः शुचित्वम् ॥२८॥

भा०—( संख्याता ) संख्या में परिमित ( स्तोका ) जल बिन्दु जिस प्रकार पृथिवी पर आते हैं इसी प्रकार ( संख्याता ) उत्तम ज्ञान से युक्त ( स्तोका [1] ) सुप्रसन्न, आसनन ( पृथिवीं सचन्ते ) पृथिवी पर आते

२७–' प्रशिष्टाः ' इति पैप्प० सं० ।

१. ष्टुच प्रसादे । भ्वादिः ।

हैं। या उन्न महान् परमात्म शक्ति की उपासना करते हैं। वे स्वयं ( प्राणा-पानैः संमिताः ) इस दुनियां के प्राण और अपानों की उपमा प्राप्त होते हैं, अर्थात् वे सबके प्राण और अपान के समान जीवन के आधार होते हैं और वे ( ओषधीभिः संमिताः ) सबके भव रोगों और मानस दुःखों के हरने हारे होने के कारण ओषधियों के समान माने जाते हैं। वे ( अ-संख्याताः ) संख्या से भी न गिने जाने योग्य, असंख्य ( सुवर्णाः ) उत्तम वर्ण, कान्ति, आचार और शिल्पों से युक्त होकर ( शुचयः ) धर्म, अर्थ और काम तीनों में शुचि, निर्लोभ, निष्कपट, तृष्णारहित, निष्काम होकर ( ओप्यमानाः ) प्रजा के कार्यों में लगाये जाते हुए भी ( सर्वं ) सब प्रकार के ( शुचित्वम् ) शुद्ध, निर्दोष, निष्कपट व्यवहार को ( व्यापुः ) विशेष रूप से करते हैं। इसीलिये वे 'आप्त' कहाते हैं।

उद्योधन्त्यभि वल्गन्ति तप्ताः फेनमस्यन्ति बहुलांश्च बिन्दून्।
योषेव दृष्ट्वा पतिमृत्वियायैतैस्तण्डुलैर्भवता समापः ॥ २६ ॥

भा०—ये प्रजाएं ( तप्ताः ) क्रुद्ध होकर प्रतप्त हांडी के जलों के समान ( उद्योधन्ति ) खौल २ कर परस्पर युद्ध करते हैं ( अभिवल्गन्ति ) उनके समान कुद कुदाकर एक दूसरे के प्रति ललकारते हैं, ( फेनम् अस्यन्ति ) खौलते हुए जल जिस प्रकार झाग ऊपर फेंकते हैं उसी प्रकार वे एक दूसरे पर 'फेन' वज्र, तलवार एवं तोप आदि बड़े २ हननकारी अस्त्रों को फेंकते हैं। और जल जिस प्रकार ( बहुलान् ) बहुत से 'बिन्दून् अस्यन्ति) बिन्दुओं को उड़ाते हैं उसी प्रकार वे भी बहुत से 'बिन्दु' गोली, छर्रे आदि छोड़ते हैं। परन्तु हे (आपः) 'आपः' आप्त प्रजाजनो! (योषा) जिस प्रकार स्त्री ( पतिम् दृष्ट्वा ) पति को देखकर ( ऋत्वियाय ) ऋतुधर्म, मैथुन के

२९–'ऋत्वियायैत' इति सायणाभिमतः। 'ऋत्विया वै स्तनन्तु' इति पैप्प० सं०।

लिये ( सम् भवति ) उसके साथ मिलकर तन्मय रहती है और जिस प्रकार ( आप· तण्डुलैः ) जल सीजकर भी चावलों के साथ मिल भात के रूप में एक हो जाते हैं उसी प्रकार आप लोग भी ( तण्डुलैः ) अपने मारने, ताड़ने, घेरने और तानने वालों के साथ भी समयानुसार कार्यवश अपने प्रेम के बल से ( सम् भवत ) सन्धि करके एक होकर रहो ।

'फेनम्'—स्फायी वृद्धौ इत्यतः उणादि प्रत्ययान्तः फेन इति निपात्यते । फेनः परिवृद्धा शक्तिः । 'तण्डुलाः'—वसूनां वा एतद् रूपं यत् तण्डुलाः । तै० ३ । ८ । १४ । ३ ॥ 'बिन्दुः', भिदि भिदि अवयवे । भ्वादिः । एतस्मात् उणादिकः प्रत्ययः ।

उत्थापय सीदतो बुध्न एनानुद्भिरात्मानमुभि सं स्पृशन्ताम् ।
अमासि पात्रैरुदकं यदेतन्मितास्तण्डुलाः प्रदिशो यदीमाः ॥३०॥(१५)

भा०—हे राजन् ! ( एनान् ) इन ( बुध्ने ) नीचे हांडी के तले पर ( सीदतः ) ताप से तप्त हुए, तले लगे चावलों के समान नीचे भूतल पर या नीचे शोचनीय दशा में पड़े इन लोगों को ( उत्थापय ) ऊपर उठा । और जिस प्रकार तले में लगे चावलों को जल डालकर कड़छी से गीला करके ऊपर उठा दिया जाता है उसी प्रकार हे राजन् ( अद्भिः ) जलों से और आप्त पुरुषों से ये नीचे गिरे लोग भी ( आत्मानम् ) अपने आत्मा को ( अभि संस्पृशन्ताम् ) साक्षात् शीतल करें और उठें । और ( यत् ) जिस प्रकार ( एतत् ) इस ( उदकम् ) जल को ( पात्रैः ) चमस आदि पात्रों से ( अमासि ) माप लेता हूं और उन पात्रों से ही ( तण्डुलाः मिता ) तण्डुल भात के चावल भी ( मिताः ) नाप लिये जाते हैं उसी प्रकार ( यदि ) मानो ( इमाः ) ये ( प्रदिश· ) नाना दिशाएं या नाना दिशाओं में रहने वाले ( तण्डुला·=वसवः ) जीव भी ( पात्रैः ) पालन करने वाले शासकों द्वारा ( मिताः ) नाप लिये, एवं वश कर लिये जाते हैं ।

प्र यच्छ पर्शुं त्वरया हरौपमहिंसन्त ओषधीर्दान्तु पर्वन् ।
यासां सोमः परि राज्यं बभूवामन्युता नो वीरुधो भवन्तु ॥३१॥

भा०—शान्ति और सुख से युक्त राज्य सम्पादन करने के लिये ओष-धियों के दृष्टान्त से दूसरा उपाय उपदेश करते हैं। हे राजन् ( पर्शुम् ) परशु-फरसा ( प्र यच्छ ) मज़बूती से पकड़ और ( त्वरय ) शीघ्रता कर, काल को व्यर्थ मत गवां। ( ओषम् हर ) शीघ्र ले आ। लोग जिस प्रकार (ओषधीः) ओषधियों को ( अहिंसन्तः ) उनका मूल नाश न करते हुए ( पर्वन् ) जोड़ पर से काट लेते हैं उसी प्रकार तेरे वीर भी ( ओषधीः ) प्रजा को सन्ताप देने वालों के मूलों की रक्षा करते हुए या प्रजा को ( अहिंसन्त ) नाश न करते हुए उनको ही ( पर्वन् ) पोरु २ पर मर्म को ( दान्तु ) काटें जिसका परिणाम यह होगा कि ( यासाम् ) जिन प्रजाओं के ओषधियों के समान ही ( राज्यं परि ) राज्य के ऊपर ( सोमः ) सोमलता के समान वीर्यवान् या सोम, चन्द्र के समान, आल्हादकारी, प्रजा रंजन में दक्ष राजा ( परि बभूव ) राज्य करता है वे ( वीरुधः ) लताओं के समान नाना प्रकार की व्यवस्थाओं से रुद्ध या व्यवस्थित प्रजाएं ( नः ) हमारे प्रति (अमन्युता) मन्यु=क्रोध से रहित ( भवन्तु ) हों।

नवं बर्हिरोदनाय स्तृणीत प्रियं हृदश्चक्षुषो वल्ग्वस्तु ।
तस्मिन् देवाः सह दैवीर्विशन्त्विमं प्राश्नन्त्वृतुभिर्निषद्य ॥३२॥

भा०—हे भद्र पुरुषो! ( नवं ) नये ( बर्हिः ) दाभ को ( ओदनाय ) भात की हांडी रखने के लिये ( स्तृणीत ) बिछा दो। और ( नवं बर्हिः ) इस नवीन प्रजा या नये विजित देश को ( ओदनाय ) वीर्य

---

३१–'परशुम्' इति क्वचित्। (प्र०) 'त्वपादान्तर्हिंस' (तृ०) 'सोमेयासां' इति पैप्प० सं०।

प्राप्त किये परमेष्ठी रूप राजा के लिये ( स्तृणीत ) फैला दो, देश पर फैल कर वश करने दो। और यह राजा और राष्ट्र ( हृदः ) प्रजा के हृदय को ( प्रियं ) प्रिय और ( चक्षुषः ) आंख को ( वल्गु ) सुन्दर, मनोहर ( अस्तु ) लगे। ( तस्मिन् ) और जिस प्रकार भात खाने के लिये आसन रूप में बिछाये कुशा के आसन पर विद्वान् लोग बैठ कर भोजन करते हैं उसी प्रकार ( तस्मिन् ) उस राष्ट्र में ( देवाः ) देव गण राजा और विद्वान् लोग ( दैवीः सह ) अपनी देव रूप रानियाँ या दिव्य-गुण युक्त प्रजाओं के साथ ( विशन्तु ) प्रवेश करें। और ( निषद्य ) उत्तम रीति से स्थिर होकर ( इमम् ) इस भात के समान ही ( इमम् ) इस राष्ट्र का भी ( ऋतुभिः ) ऋतुओं के अनुसार अथवा राजसभा के सदस्यों के साथ ( प्र अश्नन्तु ) उत्तम रीति से भोग करें।

'बर्हिः'—प्रजा वै बर्हिः। कौ० ५। ७॥ क्षत्रं वै प्रस्तरो विश इतरं बर्हिः। श० १। ३। ४। १०॥ अयं वै लोको बर्हिः। श० १। ४। १२४॥

वन॑स्पते स्तीर्णमा सी॑द ब॒र्हिर॑ग्निष्टो॒मैः संमि॑तो दे॒वता॑भिः।
त्वष्ट्रे॑व रू॒पं सुकृ॑तं॒ स्वधि॑त्यैना ए॒हाः परि॒ पात्रे॑ ददृश्राम् ॥ ३३॥

भा०—हे ( वनस्पते ) महावृक्ष के समान सबको अपनी छाया में आश्रय देने हारे राजन्! तू ( स्तीर्णम् बर्हिः आसीद ) इस आसन के समान विस्तृत बर्हि=रूप प्रजाओं पर ( आसीद ) विराजमान हो। और ( अग्निष्टोमैः ) अग्निष्टोम नामक अग्नि राजा के सद्गुणों के बतलाने वाले वेद के सूक्तों और ( देवताभिः ) देव, विद्वानों के द्वारा ( संमितः ) उत्तम रीति से पूजित हो। जिस प्रकार ( त्वष्टा इव ) उत्तम शिल्पी अपनी

३३–( द्वि० ) 'स्वधितैना' इति क्वचित्। 'स्वधित्येनाङ्गा, परिपात्रेषु ददृश्रान्' इति पैप्प० सं०।

( स्वधित्या ) स्वधिति वसौले से लकड़ी को गढ़ कर उसका ( रूपं सुकृतम् ) उत्तम रूप बना देता है उसी प्रकार इस राजा रूप वनस्पति का भी ( त्वष्टा ) परमात्मा ने अपने ( स्व-धित्या ) स्व=ऐश्वर्य के धारण सामर्थ्य से उसका ( रूपं सुकृतम् ) रूप, कान्ति तेज उत्तम बनाया है। ( एना ) इसके साथ ( एहाः ) सहोद्योग करने वाले ( पात्रे ) इस सहोद्योगी शासक अपने पालन करने वाले इस राजा में ही आश्रित होकर उसके ( परिदृदृश्राम् ) चारों ओर विराजते दिखाई देते हैं।

षष्ट्यां शरत्सु निधिपा अभीच्छात् स्वः पक्वेनाभ्य/श्नवाते।
उपैनं जीवान् पितरश्च पुत्रा एतं स्वर्गं गमयान्तमग्नेः ॥ ३४ ॥

भा०—( निधिपाः ) निधि—पृथ्वीरूप राष्ट्र या धन का पालन करने वाला राजा ( षष्ट्यां शरत्सु ) साठवें वर्ष तक ( पक्वेन ) अपने परिपक्व सामर्थ्य से ( स्वः ) स्वर्ग के समान सुखकारी राज्य को ( अश्नवाते ) भोग करने की ( अभि इच्छात् ) इच्छा करे। अर्थात्-राजा अपनी आयु के ६० वर्ष तक पृथ्वी को वश कर उसका भोग करे। और ( एनम् ) इसका आश्रय लेकर ( पितरः पुत्राः च ) उसके वृद्ध मा, बाप और आचार्य लोग और छोटे पुत्र लोग ( उपजीवन् ) अपना जीवन व्यतीत करें। ( एतम् ) उसको ( अग्ने ) अग्नि के समान शत्रु के सन्तापकारी अग्नि स्वभाव राजा के ( अन्तम् ) परम, सबसे अन्तिम पद प्राप्त करने के पश्चात् ( स्वर्गम् ) स्वर्ग के समान सुखमय राज्य को ( गमय ) प्राप्त करा।

'निधिपाः'—पृथिवी होप निधिः। श० ६। २। २। ३॥ तत्पाति इति निधिपाः पृथ्वीपालः।

३४-( प्र० ) 'षष्ट्याम्' इति क्वचित्। 'षष्ट्यां शरत्स्वः परिधामणन्न्' ( तृ० ) 'उपैनं पुत्रान् पितरश्चनीशन्' ( च० ) 'इमं स्वर्ग' इति पैप्प० सं०।

ध॒र्ता ध्रि॑यस्व ध॒रुणे॑ पृथि॒व्या अच्यु॑तं त्वा दे॒वता॑श्च्यावयन्तु ।
तं त्वा॒ दम्प॑ती जी॒वन्तौ॑ जी॒वपु॑त्रा॒वुद् वा॑सयातः॒ पर्य॑ग्नि॒धाना॑त् ॥३५

भा०—हे राजन् ! ( धर्ता ) तू समस्त पृथ्वी या राष्ट्र का धारण करनेहारा होकर ( पृथिव्याः ) पृथिवी के ( धरुणे ) धारण करने के कार्य में या प्रतिष्ठित पदपर ( ध्रियस्व ) स्थापित किया जाय । ( अच्युतं ) अपने कर्त्तव्यपथ से कभी च्युत न होने वाले ( त्वा ) तुझको भी ( देवताः ) विद्वान् राजसभा के सदस्यगण ( च्यावयन्तु ) तुझे अपने पद से च्युत करने में समर्थ हैं । ( तं ) ऐसे प्रमादशून्य राजसभा के अधीन ( त्वा ) तुझको ( जीवपुत्रौ ) अपने जीवित पुत्रों सहित ( जीवन्तौ ) स्वयं जीते हुए ( दम्पती ) गृहस्थ स्त्री पुरुष पतिपत्निभाव से बद्ध होकर ( अग्निधानात् परि ) अपने गृह में अग्नि आधान करने अर्थात् ईश्वरोपासना या देवपूजा से उतर कर अन्य लौकिक सब कार्यों से ऊपर तुझे ( उद् वासयातः ) उत्कृष्टपद पर स्थापित करें ।

सर्वा॑न्त्स॒मागा॑ अभि॒जित्य॑ लो॒कान् याव॑न्तः॒ कामाः॒ सम॑तीतृप॒स्तान् ।
वि गा॑हेथामा॒यव॑नं च॒ दर्वि॒रेक॑स्मिन् पात्रे॑ अध्यु॒द्ध॑रैनम् ॥३६ ॥

भा०—हे राजन् ! ( सर्वान् समागाः ) सब मनुष्यों को तू प्राप्त हो और अपने उत्तम गुणों से ( लोकान् ) समस्त मनुष्यों को ( अभिजित्य ) वश करके ( यावन्तः कामाः ) उनकी जितनी अभिलाषाएं हैं ( तान् सम् अतीतृपः ) उन सब को सन्तुष्ट कर, पुनः भात की हांडी में 'आयवन'

३५–( द्वि० ) 'पृथिव्या च्युत देवता' ( तृ० ) 'जीवपुत्रवुद्वासयातः' इति पैप्प० सं० ।

३६–( प्र० ) 'समायानभिचित्रय' ( द्वि० ) 'कामान समितौ पुरस्तात्' इति पैप्प० सं० । ( च० ) 'अभ्युद्धरैनम्' इति क्वचित् ।

नामक घी आदि मिलाने का चमस और 'दर्वि' कड़छी घुमाते हैं और फिर एक बड़े थाल में उस भात को निकाल लिया जाता है उसी प्रकार ( आदवनम् ) शत्रु और राष्ट्र के हानिकारक पुरुषों के नाश करने वाला पोलीस बल और सेनाबल या दण्डबल और ( दर्विः ) दुष्टों के गढ़ों का विदारण करने वाला सेनाबल ये दोनों ( वि गाहेथाम् ) सर्वत्र विचरण करें। और हे राजन् ! ( एनम् ) इस राष्ट्र के भार को ( एकस्मिन् पात्रे ) एक पालन करने में समर्थ योग्य 'महामात्र' या 'महापात्र' नामक पुरुष पर ( अधि उद्धर ) उत्तम रूप से स्थापित कर। राजा अपना सब कार्य महामात्र के ऊपर रखदे।

उपं स्तृणीहि प्रथयं पुरस्तांद् घृतेन पात्रमभि घारयैतत्।
वाश्रेवोस्रा तरुणं स्तनस्युमिमं देवासो अभिहिङ्कृणोत ॥ ३७ ॥

भा०—हे कर्त्तः ! तू ओदन को ( उपस्तृणीहि ) घृत से आच्छादित कर। ( पुरस्तात् प्रथय ) आगे को फैला और ( घृतेन ) घृत से ( एतत् पात्रम् अभि घारय ) इस पात्र को भर। राजपक्ष में—हे राजन् ! तू अपने वीर्य या सामर्थ्य को ( उप स्तृणीहि ) तेज से सम्पन्न कर। ( पुरस्तात् प्रथय ) आगे को विस्तृत कर। ( पात्रम् ) पालन करनेहारे महामात्य को या पालन करने योग्य राष्ट्र को ( घृतेन ) अपने समान प्रदीप्त तेज से ( अभि-घारय ) युक्त कर। ( स्तनस्युम् ) दूधपान करने के इच्छुक ( तरुणं ) बछड़े को देख कर ( वाश्रा उस्रा इव ) शब्द करती, रंभाती हुई 'उस्रा'=दुधार गाय जिस प्रकार ( अभि-हिंकृणोति ) प्रेम से 'हुम् हुम्' करती है उसी प्रकार ( इमं ) इस ओदन रूप वीर्य सम्पन्न परम पद में स्थित प्रजापति रूप राजा को देखकर हे ( देवासः ) देव, राजाजनो, शासको ! आप लोग ( अभिहिंकृणोत ) अपने प्रसन्नतासूचक शब्द करो।

३७–( द्वि० ) 'परिवर्जाते पचति स्वरादिरः' इति हैन्मनूक्तामितः पाठः।
( तृ० ) 'सनेयाम्' इति पदपाठः।

उपास्तरीरकरो लोकमेतमुरुः प्रथतामसमः स्वर्गः ।
तस्मिञ्छ्रयातै महिषः सुपर्णो देवा एनं देवताभ्यः प्र यच्छान् ॥२८॥

भा०—हे राजन् ! तू ( एतम् ) इस ( लोकम् ) लोक को ( अकरः ) स्वयं उत्तम रूप से बनाता है और ( उप अस्तरीः ) साथ उसको फैलाता है। यह लोक ( असमः स्वर्गः ) जिसके समान दूसरा कोई नहीं ऐसा स्वर्ग, सुखमय स्थान ( उरुः प्रथताम् ) खूब बढ़े, और फैले विस्तृत हो। ( तस्मिन् ) उस लोक में ( सुपर्णः ) उत्तम पालन और ज्ञान साधनों से सम्पन्न ( महिषः ) महान् शक्तिशाली राजा स्वयं ( श्रयातै ) विद्यमान है। ( एनं ) उस लोक, राष्ट्र को ( देवाः ) विद्वान् ऐश्वर्यवान् लोग ( देवताभ्यः ) स्वयं देवता के समान पुरुषों के हाथ ( प्र यच्छान् ) सौंप देते हैं। परमात्मा के पक्ष में स्पष्ट है।

यद्यज्जाया पचति त्वत् परःपरः पतिर्वा जाये त्वत् तिरः ।
सं तत् सृजेथां सह वां तदस्तु संपादयन्तौ सह लोकमेकम् ॥२९॥

भा०—हे पुरुष ! ( जाया ) स्त्री, पत्नी ( त्वत् ) तुझ पति से ( परः परः ) दूर दूर रह कर भी ( यत् यत् ) जो जो वस्तु या जिस २ बलवीर्य को ( पचति ) पकाती है, वीर्य को परिपक्व करती है और हे ( जाये ) स्त्री ! पत्नि ! ( त्वत् तिरः ) तुझ से आच्छन्न होकर तेरे परोक्ष में ( पतिः ) पति जो कुछ ( पचति ) पकाता है वीर्य का परिपक्व करता है। ( तत् ) उसको ( सं सृजेथाम् ) तुम दोनों मिलकर पुत्रोत्पादन के कार्य में व्यय करो। हे स्त्री पुरुषो ! आप दोनों ( सह ) एक साथ मिल कर ही ( एक लोकम् ) एक लोक ( सम्पादयन्तौ ) बनाते हुये रहते हैं अतः ( तत् ) वह विवेक

२८–( च० ) 'प्र यच्छात्' 'प्रयच्छन्' इति च क्वचित्। ( प्र० ) 'अपास्कारिकरा' ( तृ० ) 'तस्मिन्सुपर्णो महिष अश्रा' इति पैप्प० सं०।

वीर्य या भोग्य पदार्थ भी ( वां ) तुम दोनों का ( सह अस्तु ) एक साथ ही हो।

सह नाववतु सहनौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥

यावन्तो अस्याः पृथिवीं सचन्ते अस्मत् पुत्राः परि ये संबभूवुः।
सर्वांस्ताँ उप पात्रे ह्वयेथां नाभिं जानानाः शिशवः समायान् ॥४०॥(१६)

भा०—सब घर परिवार के मिल कर एकत्र होकर भोजन करें। ( यावन्तः ) जितने भी ( अस्याः ) इस हमारी धर्मपत्नी से ( अस्मत् ) हमारे वीर्य से उत्पन्न ( पुत्राः ) पुत्र ( पृथिवीं सचन्ते ) पृथिवी को प्राप्त होते हैं और ( ये ) जो ( परि सं बभूवुः ) इधर उधर चारों ओर फैल कर बस गये हैं या जो अपने योग्य जोड़े मिला कर और भी सन्तान उत्पन्न कर लेते हैं ( तान् सर्वान् ) उन सबको ये पूर्व के मां बाप, पति पत्नी ( पात्रे ) अपने पालन करनेहारे एक पात्र, गृह या भोजन के पात्र में ( उप ह्वयेथाम् ) अपने समीप बुला लें। और ( शिशवः ) समस्त शिशु, बालक उन मां बाप को अपनी ( नाभिं ) एक सूत्र में बांधने वाला या एक नाभि उत्पत्ति स्थान ( जानानाः ) जानते हुए ( सम् आयान् ) एक स्थान पर एकत्र हुआ करें।

वसोर्या धारा मधुना प्रपीना घृतेन मिश्रा अमृतस्य नाभयः।
सर्वास्ता अव रुन्धे स्वर्गः षष्ट्यां शरत्सु निधिपा अभीच्छात् ॥४१॥

भा०—( याः ) जो ( मधुना मधुर आनन्द से ( प्रपीनाः ) खूब बढ़ी हुई, आनन्द प्रमोद से भरी, ( घृतेन मिश्राः ) घृत=पुष्टिकारक घी दूध आदि स्नेहवान् पदार्थों से युक्त ( अमृतस्य नाभयः ) अमृत, परमा-

४१–' मधुना प्रपीनाः ', ( द्वि० ) अमृतस्य धामदः ' इति पैप्प० सं०।

जन्म या शत वर्ष के दीर्घ जीवन को उत्पन्न करने वाली ( वसोः ) 'वसु', देह में वास करने वाले आत्मा की ( धाराः ) धाराएं, धारणा शक्तियां एवं जीवन की सुख की धाराएं हैं ( ताः ) उनको ( स्वर्गः ) स्वर्गमय लोक ( अव रुन्धे ) अपने भीतर सुरक्षित रखता है। ऐसे स्वर्ग को ( निधिपा ) वीर्य रूप निधि—अक्षय सुखों के खजाने की रक्षा करने वाला ब्रह्मचारी गृहस्थ या इस पृथ्वी का पालक राजा स्वयं ( षष्ट्या शरत्सु ) साठ वर्ष की अवस्था में ( अभि इच्छात् ) प्राप्त करता है।

निधिं निधिपा अभ्येनमिच्छादनीश्वरा अभितः सन्तु येऽन्ये।
अस्माभिर्दत्तो निहितः स्वर्गस्त्रिभिः काण्डैस्त्रीन्त्स्वर्गानरुक्षत् ॥४२॥

भा०—( निधिपाः ) निधि—पृथ्वी के राज्य को पालन करने वाला राजा ( एनं ) उस साम्राज्य रूप ( निधिम् ) पृथ्वी के खज़ाने को ( अभि इच्छात् ) स्वयं प्राप्त करे। और ( ये ) जो ( अन्ये ) दूसरे ( अनीश्वराः ) ऐश्वर्य से हीन निर्बल पुरुष हैं वे ( अभितः ) उस राजा के चारों ओर उस के आश्रित होकर ( सन्तु ) रहें। ( अस्माभिः ) हम लोग स्वयं ( स्वर्गः ) इस स्वर्ग को ( दत्तः ) उस राजा को प्रदान करते और ( निहितः ) स्वयं बनाते हैं। वह राजा ( त्रिभिः काण्डैः ) तीन प्रकार की व्यवस्थाओं से ( त्रीन् स्वर्गान् ) तीनों सुखमय लोकों के ( अरुक्षत् ) ऊपर चढ़े, उन सब पर वश करे, शासन करे।

बालक, युवक और वृद्ध इन तीनों के लिये तीन प्रकार की व्यवस्थाएं हों। अथवा तीन काण्ड तीन वेद हैं। अथवा उत्तम, मध्यम, अधम भेद से तीन अथवा त्रिवर्गों की तीन व्यवस्थाएं। धर्म, अर्थ, काम इनकी साधना की तीन व्यवस्थाएं। इसी प्रकार उनके तीन क्षेत्र तीन स्वर्ग हैं। आध्यात्मिक, गृहस्थ और राष्ट्र ये तीन स्वर्ग हैं। राजा सब का शासन अपने हाथ में रक्खे।

अग्नी रक्षस्तपतु यद् विदेवं क्रव्यात् पिशाच इह मा प्र पास्त ।
नुदाम एनमप रुध्मो अस्मदादित्या एनमङ्गिरसः सचन्ताम् ॥४३॥

भा०—( यत् ) जो ( विदेवं ) देव-विद्वानों और देव स्वभाव के उत्तम पुरुषों के और देव, राजा के अर्थात् राजनियम के विपरीत आचरण करने वाला ( रक्षः ) राक्षस, दुष्ट पुरुष जीव और रोग है उसको ( अग्निः ) अग्नि के समान तापकारी राजा ( तपतु ) सन्तप्त करे, पीड़ित करे, दण्ड दे। ( इह ) इस राष्ट्र में ( क्रव्यात् ) कच्चा मांस खाने वाला और ( पिशाचः ) मांसभक्षी पुरुष ( मा प्र पास्त ) कभी जलपान भी प्राप्त न कर पावे। ( एनम् ) उसको हम ( नुदामः ) परे भगा दें। ( अस्मत् ) हम अपने से ( अप रुध्मः ) परे ही रोक दें, पास न आने दें। ( आदित्याः ) आदित्य के समान तेजस्वी और ( अंगिरसः ) शरीर के विज्ञानवेत्ता अथवा अन्य विविध विज्ञानों के वेत्ता लोग ( एनम् ) उसको ( सचन्ताम् ) पकड़ें।

आदित्येभ्यो अङ्गिरोभ्यो मध्विदं घृतेन मिश्रं प्रति वेदयामि ।
शुद्धहस्तौ ब्राह्मणस्यानिहत्यैतं स्वर्गं सुकृतावपीतम् ॥ ४४ ॥

भा०—( आदित्येभ्यः ) आदित्यों, आदित्य के समान तेजस्वी पुरुषों और ( अङ्गिरोभ्यः ) ज्ञानी पुरुषों के लिये ( इदम् ) यह ( घृतेन ) घृत से, ( मिश्रम् ) युक्त ( मधु ) मधु जिस प्रकार अतिथि विद्वानों को मधुपर्क दिया जाता है उसी प्रकार मैं भी ( घृतेन मिश्रं मधु ) घृत=तेज से युक्त ज्ञान ( प्रति वेदयामि ) प्रदान करता हूं। उसी प्रकार हे स्त्री पुरुषो ! गृहस्थ के पति पत्नियो ! तुम दोनों भी ( शुद्धहस्तौ ) शुद्ध हाथों से ( ब्राह्मणस्य ) ब्रह्म=वेद के जानने वाले विद्वान् ब्राह्मण के पूर्वोक्त मधुपर्क में करने योग्य आदर सत्कार को, अथवा, उसको बिना किसी प्रकार का कष्ट दिये (अनिहत्य)

४३–' अप रुध्मो ' इति ह्विट्नि। ( च० ) ' आदित्या नो यद्गि–' इति पैप्प० सं०।

विना विवाद किये ( सुकृतौ ) उत्तम आचारवान् हुए हुए ( एत स्वर्गम् ) इस पूर्वोक्त ( स्वर्गम् ) सुखमय लोक या स्थान को ( अभि इतम् ) प्राप्त करो।

इदं प्रापमुत्तमं काण्डमस्य यस्माल्लोकात् परमेष्ठी समाप।
आ सिञ्च सर्पिर्घृतवत् समङ्ग्ध्येष भागो अङ्गिरसो नो अत्र ॥४८॥

भा०—मैं राजा ( इदम् ) इस ( उत्तमम् ) उत्तम ( काण्डम् ) काण्ड=आश्रय भूत शाखा या स्तम्भ वेद को ( प्रापम् ) प्राप्त करता हूं। ( यस्मात् ) जिस ( लोकात् ) लोक=आलोक, प्रकाश से ( परमेष्ठी ) परम स्थान पर स्थित स्वयं प्रजापति परमात्मा ( सम् आप ) समस्त संसार को अपने वश करता है। हे पुरुष! तू ( घृतवत् सर्पिः ) घृत से युक्त 'सर्पि'=मधु को ( सम् अङ्ग्धि ) मिश्रित कर ( अत्र ) यहां इस स्थान और अवसर पर ( नः ) हमारा ( एषः ) यह ( अङ्गिरसः भागः ) आङ्गिरस, विद्वान् ज्ञानी पुरुष का ( एषः भागः ) यह भाग है।

सत्याय च तपसे देवताभ्यो निधिं शेवधिं परि दद्म एतम्।
मा नो द्यूतेऽव गान्मा समित्यां मा स्मान्यस्मा उत्सृजता पुरा मत् ॥४९॥

भा०—हम राष्ट्रवासी लोग ( निधिम् ) पृथ्वी और पृथ्वी से प्राप्त अन्य नाना द्रव्य रूप ( शेवधिम् ) खजानों को ( सत्याय ) सत्य और ( तपसे ) तप के कारण ( देवताभ्यः ) देव सदृश ज्ञानवान्, उत्तम दानशील पुरुषों के हाथों सौंपते हैं। वे इस बात के ज़िम्मेदार हैं कि यह सब खज़ाना कोष ( द्यूते ) खेल तमाशे और जूए के शौक या व्यसन में ( मा अवगात् ) न निकल जाय, न बरबाद हो जाय। ( मा समित्याम् ) आपस के मेलों और गोष्ठी में भी यह राष्ट्र का धन नष्ट न हो। और

४८–'इदं काण्डमुत्तमं प्रापमस्य' इति पैप्प० सं०।

४९–( द्वि० ) 'परिदद्मः' इति पैप्प० सं०।

( पुरः मत् ) मेरे सामने, मेरे होते होते हे विद्वान् 'निधिपाः', ख़ज़ाने के रक्षक भद्रपुरुषो ! ( अन्यस्मै ) और किसी मेरे शत्रु के हाथों इस ख़ज़ाने को ( मा उत्-सृजत ) मत दे डालना।

राष्ट्र और राष्ट्र का धन त्यागी, तपस्वी, सच्चे पुरुषों के हाथ में रहना चाहिये कि राजा और प्रजावासी लोग उसको जूए, खेलों, तमाशों और मेलों और गोठों में बरबाद न करें और न बेईमानी से शत्रु को दें।

**अहं पंचाम्यहं ददामि ममेदु कर्मन् करुणेऽधि जाया।**
**कौमारो लोको अजनिष्ट पुत्रोऽन्वारभेथां वय उत्तरावत्॥ ४७॥**

भा०—( अहम् ) मैं पुरुष के समान राजा ( पचामि ) अपने बल और वीर्य को खूब परिपक्व करूं, क्योंकि ( मम इत् ) मेरे ही ( करुणे ) क्रिया, और उत्साह से पूर्ण प्रयत्न और ( कर्मन् ) कर्म, कार्य व्यवहार के ( अधि ) ऊपर ( जाया ) स्त्री, उसके समान पृथ्वी का आश्रय है। वीर्य के परिपक्व होने पर ही जिस प्रकार ( कौमारः ) कुमार, नवयुवक ( पुत्रः ) पुत्र उत्पन्न होता है उसी प्रकार ( लोकः ) यह लोक राजा के पुत्र के समान ( अजनिष्ट ) पृथ्वी पर खूब हृष्ट पुष्ट रूप से उत्पन्न होता है। हे स्त्री पुरुषो! तुम दोनों ( उत्तरावत् ) उत्कृष्ट कर्मों से युक्त ( वयः ) अपना जीवन ( अनु आरभेथाम् ) पुत्रलाभ कर लेने के उपरान्त भी बराबर बनाये रक्खो।

**न किल्बिषमत्र नाधारो अस्ति न यन्मित्रैः सममममान एति।**
**अनूनं पात्रं निहितं न एतत् पक्तारं पक्वः पुनरा विशाति॥ ४८॥**

४७–( प्र० ) 'अहं पचाम्युद् ददामि,' ( तृ० ) 'पुत्राः' इति पैप्प० सं०।

४८–( द्वि० ) 'समनान', 'संनमान', 'सननमान' 'संमममान' इति बहुधा पाठाः। तत्र 'सन्–अमनानः' इतिरस्य पाठः। 'सनम् अमानः' इत्यपि पदच्छेदः सम्भवः। 'सम-मान' इति वा न विरुद्धः।

भा०—( अत्र ) यहां इस कार्य में ( न किल्बिषम् ) कोई पाप नहीं और ( न आधार. ) और कोई आधार भी नहीं अर्थात् कोई विशेष बाधक कारण भी नहीं है कि ( यत् ) जब राजा ( मित्रैः समम् ) अपने मित्रों सहित ( मानः न एति ) मान रहित होकर नहीं आता प्रत्युत बड़े भारी मान सहित आता है। अथवा—( यत् मित्रै. सम् अममानः न एति ) यह कोई पाप=आशंका या रुकावट नहीं कि राजा अपने मित्रों की सहायता से युक्त होकर नहीं रहता। अथवा—( यत् मित्रैः सम-मान न एति ) जब मित्रों के समान मान वाला होकर नहीं आता प्रत्युत उनसे अधिक मान वान् होकर प्रकट होता है। प्रत्युत इसका कारण यह है कि ( न· ) हम प्रजाओं का तो यह राजा ही ( अनूनं पात्रम् ) अनून पात्र अर्थात् पालन करने में समर्थ एवं शक्तिशाली है कि जिसमें कोई त्रुटि नहीं है इसलिये वह अन्यों की सहायता की अपेक्षा नहीं करता। ( पक्वः ) परिपक्व भात जिस प्रकार ( पक्तारम् आविशति ) पकाने वाले के भीतर ही प्रवेश कर जाता है उसी प्रकार ( पक्वः ) परिपक्व वीर्यवान् भी ( पक्तारं ) उसको पकाने, दृढ़ करने वाले पुरुषों के पास ही ( आविशति ) प्रविष्ट हो कर रहता है। इसी प्रकार परिपक्व ब्रह्मचर्यादि बल भी अपने परिपाक करने वाले के भीतर ही रहता है।

प्रियं प्रियाणां कृणवाम तमस्ते यन्तु यतमे द्विषन्ति।
धेनुरनड्वान् वयोवय आयदेव पौरुषेयमप मृत्युं नुदन्तु ॥ ४६ ॥

भा०—हे पुरुषो! हम लोग ( प्रियाणाम् ) अपने प्रिय बन्धु, मित्र और माता, पिता, गुरु आदि को ( प्रियम् ) प्रिय लगने वाले कार्य ही ( कृणवाम ) करें। और ( यतमे ) जो कोई लोग ( द्विषन्ति ) द्वेष करते हैं या परस्पर प्रेम नहीं करते ( ते ) वे ( तमः यन्तु ) सदा अन्धकार में पड़ें। ( धेनुः अनड्वान् ) दुधार गाय और गाड़ी खेंचने में समर्थ मजबूत बैल और ( आयत् एव ) आते हुए ( वयः-वयः ) नाना प्रकार अन्न और दीर्घ जीवन ही ( पौरुषेयम्

मृत्युम् ) पुरुषों द्वारा या उस पर आने वाले मृत्यु को ( अपनुदन्तु ) दूर करने में समर्थ हों ।

**सम॒ग्नयो॑ विदु॒र॒न्यो अ॒न्यं य ओष॑धीः॒ सच॑ते॒ यश्च॒ सिन्धू॑न् ।**
**याव॑न्तो दे॒वा दि॒व्या॒३तप॑न्ति॒ हिर॑ण्यं॒ ज्योतिः॒ पच॑तो बभूव ॥५०॥(१७)**

भा०—( अग्नयः ) अग्नि के समान ज्ञान से प्रकाशमान विद्वान् पुरुष ( अन्यः अन्यम् ) एक दूसरे को ( संविदुः ) भली प्रकार जानें, उनमें से ( यः ) जो कोई ( ओषधीः सचते ) ओषधियों को एकत्र करता अर्थात् वैद्य का कार्य करता है और ( यः च ) जो कोई ( सिन्धून् ) सिन्धुओं, नदियों, समुद्रों को ( सचते ) प्राप्त करता है, उन पर व्यापार आदि करता या उनके तटपर तपस्या करता है वे भी एक दूसरे को भली प्रकार जानें ( यावन्तः ) जितने भी ( देवाः ) प्रकाशमान सूर्य ( दिवि ) आकाश में ( आतपन्ति ) प्रकाशित होते हैं उनके समान ही जो विद्वान् ज्ञान में प्रकाशित होते हैं उनको और ( पचतः ) अपने वीर्य, सामर्थ्य को परिपक्व करने हारे तपस्वी ब्रह्मचारी का ( हिरण्यं ज्योतिः ) सुवर्ण के समान उज्वल तेज ( बभूव ) हो जाता है । इसी प्रकार ( अग्नयः ) राजा लोग भी परस्पर एक दूसरे को जाना करें उनमें एक ( ओषधीः ) प्रजाओं को संगठित करते और दूसरे ( सिन्धून् ) वेगवान् सैनिकों को संग्रह करते हैं । सूर्यों के समान जो राष्ट्र विद्वान् सामर्थ्य को परिपक्व करते हैं उसके पास सुवर्ण आदि वैभव बहुत हो जाता है ।

**ए॒षा त्वचां॒ पुरु॑षे॒ सं ब॑भूवान॒ग्नाः सर्वे॑ प॒शवो॒ ये अ॒न्ये ।**
**क्ष॒त्रेणा॒त्मानं॒ परि॑ धापयाथोऽमो॒तं वासो॒ मुख॑मोद॒नस्य॑ ॥ ५१ ॥**

५०–( द्वि० ) 'सिन्धुम्', ( च० ) 'दपनु[तो]बभूव' इति पैप्प० सं० ।
५१–( प्र० द्वि० ) 'संबभूव अनग्नास्सर्वे' ( तृ० ) 'धापयेत्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—वस्त्र पहनने का उपदेश करते हैं—(त्वचाम्) समस्त त्वचाओं में से (एषा) यह बिना लोम की त्वचा (पुरुषं संबभूव) इस मनुष्य पर ही लगी है। (ये अन्ये पशवः) और जो पशु हैं (सर्वे) वे सब (अनग्नाः) नंगे न रह कर बालों से ढके हैं। इसलिये हे स्त्री पुरुषो! गृहस्थ लोगो! तुम भी (आत्मानम्) अपने को (क्षत्रेण) अपने देहको क्षति होने से बचाने वाले वस्त्र से, बल और वीर्य से (परिधापयाथः) ढक लो। (ओदनस्य मुखम्) ओदन रूप वीर्य के (मुखम्) मुख्यस्वरूप (वासः) वस्त्र को तुम दोनों स्त्री पुरुष (अमा उतम्) मिलकर बुनलो। इसी प्रकार अपने को प्रजा के लोग क्षत्र—अर्थात् क्षात्रबल से अपनी रक्षा करें। ओदन रूप प्रजापति का 'मुख'=मुख्य स्वरूप पद (वास) उत्तम वस्त्र ही (अमाउतम्) परस्पर मिलकर बना लिया करो। अर्थात क्षत्रबल को परस्पर तन्तुओं के समान मिलकर ही उत्पन्न करलो।

यद॒क्षेषु॒ वदा॒ यत् समि॑त्यां॒ यद्वा॒ वदा॒ अनृ॑तं वित्तका॒म्या।
स॒मा॒नं तन्तु॑म॒भि सं॒वसा॑नौ॒ तस्मि॒न्त्सर्वं॒ शम॑लं सादयाथः ॥५२॥

भा०—(अक्षेषु) द्यूत क्रीड़ा के अवसरों पर (यत् अनृतं वदाः) जो झूठ बोलते हो, (समित्याम्) समिति, सभा में (यत् अनृतं) जो असत्य बोलते हो और (यत् वा अनृतम्) जो असत्य (वित्तकाम्या) धन की चाह में (वदा) बोलते हो, हे स्त्री पुरुषो! (समानं तन्तुम्) एक समान (तन्तु) वस्त्र के समान राज्य तन्त्र को (संवसानौ) पहने या धारण करते हुए तुम (सर्वम् शमलम्) समस्त पाप (तस्मिन् सादयाथः) उसमें ही लगाते हो। अर्थात् जिस प्रकार वस्त्र पहन कर जब कोई भी मैला करता है तो वह मैल जैसे वस्त्र पर आ लगती है उसी प्रकार एक ही तन्तु=तन्त्र या राज्य

५२—(प्र०) 'वदसि,' (द्वि०) 'यद्वाश्ने अनृत' (तृ०) 'तन्तु सह स व'। इति पैप्प० सं०।

शासन में रहते हुए लोग जो भी असत्य व्यवहार वे खेलें, सभाओं और धन के व्यापारों में बोलते हैं वह सब पाप उस राष्ट्र के आच्छादक वस्त्र रूप 'छत्र'=राज्य शासन पर ही आ लगते हैं। यह राजा का दोष है कि प्रजा परस्पर असत्य बोलती चोरी करती और पाप करती है।

वर्षं वनुष्वापि गच्छ देवांस्त्वचो धूमं पर्युत्पातयासि।
विश्वव्यचा घृतपृष्ठो भविष्यन्त्सयोनिर्लोकमुप याह्येतम् ॥ ५३ ॥

भा०—हे राजन् वस्त्र से ही तू (वर्षं वनुष्व) वर्षा पर विजय प्राप्त कर अर्थात् छत्र बनाले। (अपि) और (देवान् गच्छ) देवों, विद्वानों और राजाओं के पास सुन्दर वस्त्र पहन कर जा। (धूमम्) धूम जिस प्रकार अग्नि के ऊपर उठा करता है इसी प्रकार (त्वचः) वस्त्रों को झण्डे के रूप में (परि उत्पातयासि) ऊपर उठा, फहरा। तू (विश्वव्यचाः) सर्वत्र प्रसिद्ध होकर (घृतपृष्ठः) तेजस्वी (भविष्यन्) होने की इच्छा करता हुआ (सयोनिः) अपने उत्पत्तिस्थान इस राष्ट्र के प्रजाजनों सहित (एतम्) इस उत्तम (लोकम्) लोक, राष्ट्र को (उपयाहि) प्राप्त कर।

तन्वं स्वर्गो बहुधा वि चक्रे यथा विद आत्मन्नन्यवर्णाम्।
अपाजैत् कृष्णां रुशतीं पुनानो या लोहिनी तां ते अग्नौ जुहोमि ॥ ५४ ॥

भा०—(स्वर्गः) सुखमय लोक, मोक्ष में जाने वाला पुरुष (तन्वं) अपनी देह को (बहुधा) बहुत प्रकार से (वि चक्रे) विकृत करता है, उसको नाना प्रकार से बदल लेता है। (यथा) जब वह (आत्मन्) अपने आत्मा में उसको (अन्यवर्णाम्) अपने से भिन्न वर्ण को देखता है। तब अपनी वास्तविक (रुशताम्) दीप्तिमती, ज्योतिष्मती प्रज्ञा को (पुनानः) और अधिक पवित्र करता

५३-(द्वि०) 'देवांस्तनो', (तृ० च०) 'विश्वव्यचा विश्वकर्मा स्वर्गः सयोनिं लोकमुपयाह्येतम्' इति पैप्प० सं०।

हुआ ( कृष्णाम् ) अपनी काली, पापमयी तामसी वृत्ति को ( अप अर्जत् ) दूर ही नष्ट कर देता है। और मैं परमात्मा हे जीव ! ( ते ) तेरी ( या ) जो ( लोहिनी ) लाल रंग की राजसी वृत्ति है ( ताम् ) उसको ( अग्नौ ) अग्नि अपने ज्ञानमय तेज में ( जुहोमि ) स्वाहा करता हूं।

राजपक्ष में—( यथा आत्मन् अन्यवर्णाम् विदे ) जब अपने में राजा अपने पद से विपरीत पोशाक को देखता है तब ( स्वर्गः ) वह उत्तम राष्ट्र को प्राप्त करने वाला राजा ( बहुधा तन्वं विचक्र ) बहुत प्रकार से अपने तनु=वस्त्र भूषा को विविध प्रकार से बनाता है। ( रुशतीं पुनानः कृष्णाम् अपार्जत् ) उजली पोशाक को पहन कर मैली को दूर फेंक देता है। ( या लोहिनी ताम् अग्नौ जुहोमि ) जो लोहिनी, लाल पोशाक है उसको मैं पुरोहित अग्नि में आहुति देता हूं अर्थात् लाल पोशाक अग्नि रूप राजा को प्रदान करता हूं।

प्राच्यै त्वा दिशेऽग्नयेऽधिपतयेऽसिताय रक्षित्र आदित्यायेषुमते।
एतं परि दद्मस्तं नो गोपायतास्माकमैतोः।
दिष्टं नो अत्र जरसे नि नेषज्जरा मृत्यवे परि णो ददात्वथ पक्वेन सह सं भवेम ॥ ५५ ॥

भा०—हे परमात्मन् और हे राजन् ! ( प्राच्यै ) प्राची=प्रकृष्ट, अति उत्तम, ज्ञान प्राप्त कराने वाले ( दिशे ) समस्त पदार्थों को और कर्मों का उपदेश करने वाले प्राची दिशा के समान प्रकाश से युक्त ( त्वा ) तुझे ( अग्नयेऽधिपतये ) अग्नि के समान दुष्ट शत्रु के सन्तापकारी, अधिपति स्व रूप तुझे ( असिताय रक्षित्रे ) स्वयं बन्धन रहित, रक्षा करनेहारे तुझे और ( आदित्याय ) आदित्य, सूर्य के समान चारों दिशाओं में प्रसर किरणों के

५५-( प्र० ) 'प्राच्यै दिशे' ( तृ० ) 'परिदद्म' ( च० ) 'दधात्वथ' इति पैप्प० सं०।

समान ( इषुमते ) अपने तीक्ष्ण बाणों से चतुर्दिगन्त विजयी एवं समस्त लोगों को ( इषुमते ) प्रेरणा करने वाले बल को धारण करने वाले तुझे ( एतम् ) हम इस राष्ट्र और इस देह का ( परिद्मः ) प्रदान करते हैं, सौंपते हैं। ( नः ) हमारे ( तम् ) इस धरोहर को तबतक ( गोपायत ) आप लोग रक्षा करो ( आ अस्माकम् एतोः ) भगवन् ! जब तक हम आपके पास न पहुंच जांय । राजन् जब तक हम स्वयं इसको प्राप्त न कर लें, जब तक हम इसे स्वयं सम्भाल न सकें । ( अत्र ) इस लोक में ( नः ) हमारे ( दिष्टम् ) निश्चित प्रारब्ध जीवन को तू ( जरसे ) वृद्ध अवस्था तक ( नि-नेषत् ) नियम से पहुंचा । ( जरा ) बुढ़ापा, वृद्ध अवस्था ही ( नः ) हमें ( मृत्यवे ) मृत्यु को ( परिददातु ) सौंप दे । ( अथ ) और उसके पश्चात् हम ( पक्वेन सह ) परिपक्व ब्रह्मज्ञान के साथ ( सम् भवेम ) पुनः अगले जीवन में उत्पन्न हों । अथवा ( अथ पक्वेन ) और परिपक्व वीर्य से ( सह ) हम स्त्री पुरुष मिल कर ( सं भवेम ) सन्तान उत्पन्न करें ।

मृत्यु के पश्चात् उत्पन्न होने अर्थात् पुनर्जन्म होने का वेद ने यहां स्पष्ट उपदेश किया है ।

दक्षिणायै त्वा दिश इन्द्रायाधिपतये तिरश्चिराजये रक्षित्रे यमायेषुमते । एतं० । ० ॥ ५६ ॥

भा०—( दक्षिणायै त्वा दिशे ) दक्षिण दिशा के समान बल-शाली, ( इन्द्राय अधिपतये ) इन्द्र ऐश्वर्यवान् स्वामी ( तिरश्चिराजये रक्षित्रे ) तिर्यग् जन्तुओं के नाना पंक्तियों से सुशोभित, पशुपतिस्वरूप, सर्व-रक्षक और ( यमाय इषुमते ) यम-सर्व नियामक मृत्यु के समान सर्व प्रेरक या बाणधारी तुझको ( एतं परिद्मः० ) हम यह राष्ट्र या देह सौंपते हैं। इत्यादि पूर्ववत् ।

प्रतीच्यै त्वा दिशे वरुणायाधिपतये पृदाकवे रक्षित्रेऽन्नायेषुमते । एतं ० । ० ॥ ५७ ॥

भा०—( प्रतीच्यै त्वा दिशे ) पश्चिम दिशा के समान सबको अपने में अस्त करने वाले ( वरुणाय अधिपतये ) सबसे श्रेष्ठ, सब पापियों और पापों के निवारक वरुणरूप अधिपति ( पृदाकवे रक्षित्रे ) पृदु=सेनाओं को अपनी आज्ञा में चलाने वाले रक्षक और ( अन्नाय इषुमते ) अन्न, भोजन और प्राण के समान सबको प्रेरक तुझको ( एतं परिदद्म० इत्यादि ) हम यह राष्ट्र और हे भगवन्! यह देह सौंपते हैं। इत्यादि पूर्ववत्।

उदीच्यै त्वा दिशे सोमायाधिपतये स्वजाय रक्षित्रेऽशन्या इषुमत्यै। एतं० । ० ॥ ५८ ॥

भा०—( उदीच्यै दिशे ) उत्तर दिशा के समान, उन्नत विशाल, ( सोमाय अधिपतये ) शान्तिदायक सोम-चन्द्र और सोम=सोमलता के समान शान्तिदायक स्वामी ( स्वजाय रक्षित्रे ) स्वतः उत्पन्न, स्वयंभू, स्वयं अपने अमित सामर्थ्य से बने, सबके रक्षक ( अशन्यै इषुमत्यै ) अशनि विद्युत् के समान इषु सर्व प्रेरक बल से सम्पन्न तुझको ( एतं त परिदद्म० ) हम यह राष्ट्र और हे भगवन्! यह देह सौंपते हैं। इत्यादि पूर्ववत्।

ध्रुवायै त्वा दिशे विष्णवेऽधिपतये कल्माषग्रीवाय रक्षित्र ओषधी-भ्य इषुमतीभ्यः । एतं० । ० ॥ ५९ ॥

भा०—( ध्रुवायै त्वा दिशे ) ध्रुवा पृथ्वी और उसकी तरफ की सदा ध्रुव स्थिर रहने वाली दिशा के समान अचल ( विष्णवे अधिपतये ) सर्वव्यापक अधिपति ( कल्माषग्रीवाय रक्षित्रे ) हरे, लाल, नीले श्वेत आदि नाना वर्णों के ओषधि वृक्ष वनस्पतियों की नाना मालाओं को मानो अपने गले में धारण करने वाले, उनके परिपोषक, रक्षक और ( ओषधीभ्य इषु

५९–' रक्षित्र वीरुद्भ्य ' इति पैप्प० सं० ।

मतीभ्यः ) ओषधियां जिस प्रकार रोगों और रोग-जन्तुओं को अपने वीर्य से दूर करती हैं उस प्रकार सब बाधाओं को दूर करने हारे तुमको ( एतं नः परिदद्मः० इत्यादि ) हम अपना यह देह या राष्ट्र सौंपते हैं । इत्यादि पूर्ववत् ।

ऊर्ध्वायै त्वा दिशे बृहस्पतयेऽधिपतये श्वित्रायं रक्षित्रे वर्षायेषुमते ।
एतं परि दद्मस्तं नो गोपायतास्माकमैतोः । दिष्टं नो अत्र जरसे
नि नेषज्जरा परि णो ददात्वथ पक्वेन सह सं भवेम ॥६०॥ (१८)

भा०—( ऊर्ध्वायै त्वा दिशे ) ऊर्ध्व दिशा के समान अति उदात्त ( बृहस्पतये अधिपतये ) बृहत्=महान् लोकों के स्वामी अधिपति ( श्वित्राय रक्षित्रे ) श्वित्र—अति श्वेत, परिशुद्ध स्वरूप, सर्व-पापरहित, रक्षक और ( वर्षाय इषुमते ) वर्षण के समान समस्त कामनाओं के पूरक और सबके प्रेरक तुमको ( एतं तं परिदद्मः० ) हम यह देह या राष्ट्र सौंपते हैं । इत्यादि पूर्ववत् ।

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

[ तत्रैकं सूक्तम्, षष्टिश्च ऋचः ]

——o◇o——

## [ ४ ] 'वशा' शक्ति का वर्णन ।

कश्यप ऋषिः । मन्त्रोक्ता वशा देवता । वशा सूक्तम् । १-६, ८-१९, २१-३१, ३३-४१, ४३-५३ अनुष्टुभः, ७ भुरिक्, २० विराट्, ३२ उष्णिक्, बृहती-गर्भा, ४२ बृहतीगर्भा । त्रिपञ्चाशदृचं सूक्तम् ॥

ददामीत्येव ब्रूयादनु चैनामभुत्सत ।
वशां ब्रह्मभ्यो याचद्भ्यस्तत् प्रजावदपत्यवत् ॥ १ ॥

भा०—( वशाम् ) 'वशा' को ( याचद्भ्यः ) मांगने-हारे ( ब्रह्मभ्यः ) ब्राह्मणों, ब्रह्म के ज्ञान से सम्पन्न विद्वानों को ( ददामि इति एव )

देता हूं ऐसा ही ( ब्रूयात् ) कहे । और वे ( अनु च ) उसके बाद ( एनाम् ) इस वशा को ( अभुत्सत ) पहिचान लें, उसका ज्ञान कर लें । 'वशा' का स्वरूप देखो "वशासूक्त" अथर्व० का० १०। सू० १० । मं० १—३४ ॥

प्रजया स वि क्रीणीते पशुभिश्चोपं दस्यति ।
य आर्षेयेभ्यो याचद्भ्यो देवानां गां न दित्सति ॥ २ ॥

भा०—( यः ) जो पुरुष ( याचद्भ्यः ) मांगने वाले ऋषियों के पुत्रों और शिष्यों को ( देवानां ) देवों के योग्य ( गाम् ) गौ को ( न दित्सति ) नहीं प्रदान करना चाहता ( सः प्रजया ) वह अपनी प्रजा को ( वि-क्रीणीते ) बेच खाता है और ( पशुभिः च उप दस्यति ) और पशुओं से रहित होकर विनष्ट हो जाता है । अर्थात् उसकी पशु और प्रजा भी नष्ट हो जाती हैं ।

कूटयास्य सं शीर्यन्ते श्लोणयां काटमर्दति ।
बण्डया दह्यन्ते गृहाः काणया दीयते स्वम् ॥ ३ ॥

भा०—( कूटया ) कूट=मिथ्या रूप वाली, बिना सींग की 'वशा' से पुरुष के ( सं शीर्यन्ते ) सब घर और घरबार के लोग चकनाचूर हो जाते हैं । ( श्लोणया ) लंगड़ी लूली, टूटी फूटी, बिना चरणों की अधकचरी से वह देनेवाला स्वयं ( काटम् ) गढ़े में ( अर्दति ) गिराता है । ( बण्डया ) कटी फटी, अंगहीन वाणी से ( गृहाः दह्यन्ते ) घर जल जाते हैं ( काणया ) चक्षुहीन 'गौ' अर्थात् निरुक्त व्याकरणादि व्याख्या के बिना वेदवाणी के उपदेश देने से उसका ( स्वम् दीयते ) अपना ही धन नष्ट हो जाता है ।

---

[ ४ ] ३—१. 'काणया । आ । दीयते ' इति ह्विटनिकामितः पदपाठः । 'काणया क्षीयते ' इति पैप्प० सं० ।

विलोहितो अधिष्ठानाच्छक्नो विन्दति गोपतिम्।
तथा वशायाः संविद्यं दुरदभ्ना ह्युच्यसे ॥ ४ ॥

भा०—इस वशा के (शकः) मल के (अधिष्ठानात्) स्थान, गुदा से (विलोहितः) विलोहित नाम का ज्वर (गोपतिम् विन्दति) गौ के स्वामी को पकड़ लेता है। (तथा) और उसी प्रकार (वशायाः) 'वशा' के (संविद्यम्) साथ रहने वाले को भी 'विलोहित' नामक ज्वर पकड़ लेता है (हि) क्योंकि हे वशे! तू (दुरदभ्ना) दुःख, कठिनता से भी कभी प्राण न छोड़ने हारी अर्थात् 'दुराधार्षा' (उच्यसे) कही जाती है।

पदोरस्या अधिष्ठानाद् विक्लिन्दुर्नाम विन्दति।
अनामनात् सं शीर्यन्ते या मुखेनोपजिघ्रति ॥ ५ ॥

भा०—(अस्याः) इस वशा के (पदोः अधिष्ठानात्) पैरों के स्थान से (विक्लिन्दुः नाम) विक्लिन्दु, 'छाजन' नामक रोग (विन्दति) गौ के स्वामी को हो जाता है। और वह गाय (याः) जिन अन्य गौओं को (मुखेन) मुख से (उप जिघ्रति) सूंघ लेती है वे सब (अनामनात्) बिना जाने ही, अकस्मात् (संशीर्यन्ते) विनाश को प्राप्त हो जाती हैं।

यो अस्याः कर्णावास्कुनोत्या स देवेषु वृश्चते।
लक्ष्म कुर्व इति मन्यते कनीयः कृणुते स्वम् ॥ ६ ॥

भा०—(यः) जो (अस्याः) इस वशा के (कर्णौ) दोनों कानों को (आस्कुनोति) पीड़ित करता है (सः) वह (देवेषु) देवों, विद्वानों के

४—(च०) 'दुरदम्ना', 'दुरभ्रा' इति च संदिग्धे। 'इदं विशं दुरित आगुच्यसे' इति पैप्प० सं०।

५—(प्र०) 'पदोरस्याधिष्ठा द्विकुन्तं हिनान' इति पैप्प० सं०।

६—(प्र०) 'योऽस्या कर्णावास्कुनोति' (तृ०) 'लक्ष्मीः कुर्वीत' इति पैप्प० सं०।

ऊपर ( आहृश्चते ) प्रहार करता है । और जो वशा के कानों पर गर्म सलाख या चाकू कैंची से उसका कान काट करे या दागकर ( मन्यते ) केवल यह समझता है ( इति ) कि ( लक्ष्म कुर्वे ) मैं केवल उस गायको पहचानने के लिये चिह्नमात्र करता हूं तो वह भी ( स्वम् ) अपने धनको ( कनीयः कृणुते ) स्वल्प कर लेता है, कम कर लेता है ।

यदस्याः कस्मैं चिद् भोगाय बालान् कश्चित् प्रकृन्तति ।
ततः किशोरा म्रियन्ते वत्सांश्च घातुको वृकः ॥ ७ ॥

भा०—और ( यद् ) यदि ( कश्चित् ) कोई आदमी ( कस्मैचित् भोगाय ) किसी अपने भोग सिद्धि के लिये ( अस्याः बालान् ) इस वशा के बालों को ( प्रकृन्तति ) काट लेता है ( ततः ) तो फिर उसके ( किशोराः ) कच्ची उमर के बालक ( म्रियन्ते ) मारे जाते हैं और ( वृकः ) भेड़िया जिस प्रकार बछड़ों को मार डालता है उसी प्रकार ( वृकः ) जीवन का नाशक मृत्यु या चोर डाकू उसके ( वत्सान् च ) बच्चों को ( घातुकः ) मार डाला करता है ।

यदस्या गोपतौ सत्या लोम ध्वाङ्क्षो अजीहिडत् ।
ततः कुमारा म्रियन्ते यक्ष्मो विन्दत्यनामनात् ॥ ८ ॥

भा०—और ( यद् ) यदि ( अस्याः ) इसके ( गोपतौ ) गोपालक स्वामी के अधीन ( सत्याः ) रहते हुए ( ध्वाङ्क्षः ) कौवा ( लोम ) उसके लोमों को ( अजीहिडत् ) नोच लेता है ( ततः ) तो भी इस गोपति के ( कुमाराः ) कुमार बालक ( म्रियन्ते ) मर जाते हैं और उसको स्वयं ( अनामनात् ) बिना जाने ही, अकस्मात् ( यक्ष्मः विन्दति ) राजयक्ष्मा रोग पकड़ लेता है ।

७-( द्वि० ) 'वालान्' इति पैप० सं० ।

यदस्याः पल्पूलनं शकृद् दासी समस्यति ।
ततोऽपरूपं जायते तस्माद्व्येष्यदेनसः ॥ ९ ॥

भा०—( यद् ) यदि ( अस्याः ) इस 'वशा' के ( पल्पूलनं ) मूत्र और ( शकृद् ) गोबर को ( दासी ) दासी, नौकरानी ( सम् अस्यति ) एकत्र मिलादे या इधर उधर फेंक दे ( ततः ) तो ( तस्मात् ) उस ( एनसः ) पाप से ( अ-वि एष्यत् ) न छूट कर ( अपरूपं जायते ) गौ का स्वामी भ्रष्ट रूप का हो जाता है।

जायमानाभि जायते देवान्त्सब्राह्मणान् वशा ।
तस्माद् ब्रह्मभ्यो देयैषा तदाहुः स्वस्य गोपनम् ॥ १० ॥ (१९)

भा०—( वशा ) 'वशा' ( जायमाना ) उत्पन्न होती हुई ही ( स-ब्राह्मणान् ) ब्राह्मणों सहित ( देवान् ) देवों को लक्ष्य करके ( अभि जायते ) उत्पन्न होती है ( तस्मात् ) इसलिये ( एषा ) वह ( ब्रह्मभ्यः देया ) ब्रह्म के ज्ञानी ब्राह्मणों को दान कर देनी चाहिये ( तत् ) उसके दान कर देने को ही ( स्वस्य गोपनम्[२] ) अपने धन की रक्षा करना ( आहुः ) कहते हैं।

य एनां वनिमायन्ति तेषां देवकृता वशा ।
ब्रह्मज्येयं तदब्रुवन् य एनां निप्रियायते ॥ ११ ॥

भा०—( ये ) जो ब्राह्मण लोग ( एनां वनिम् ) इसको मांगने के लिये ( आयन्ति ) गऊ के स्वामी के पास आते हैं ( वशा ) वह वशा

९-( तृ० ) 'ततोपिरूपं' इति पैप्प० सं०। ( प्र० ) 'पल्पूलनं पल्पूलनं' इति च मेदिन्यै।

२. 'गो-पनम्' पदच्छेदः क्वचित्।

११-( च० ) 'नु निप्रायते' इति पैप्प० सं०।

( तेषाम् ) उनके लिये ही ( देवकृता ) ईश्वर ने बनाई है । ( य ) जो गऊ का स्वामी ( एना ) उसको ( निप्रियायते ) अपना ही प्रिय धन बना कर रख लेता है ( तत् ) उसके ऐसे कर्म को विद्वान् लोग ( ब्रह्मज्येयम् अब्रुवन् ) ब्राह्मणों के प्रति अत्याचार ही बतलाते हैं ।

य आर्षेयेभ्यो याच॑द्भ्यो देवानां गां न दित्स॑ति ।
आ स देवेषु वृश्चते ब्राह्मणानां च मन्यवे ॥ १२ ॥

भा०—( य ) जो गऊ का स्वामी ( याचद्भ्य ) याचना करने हारे ( आर्षेयेभ्य ) ऋषियों के पुत्रों और शिष्यों के निमित्त ( देवानां गां ) देवों विद्वानों की इस गौ को ( न दित्सति ) प्रदान करना नहीं चाहता ( स देवेषु ) वह देवताओं पर ( आवृश्चते ) आघात करता है और ( ब्राह्मणानां च मन्यवे ) ब्राह्मणों के कोप का पात्र होता है ।

यो अस्य स्याद् वशाभोगो अन्यामिच्छेत तर्हि सः ।
हिंस्ते अदत्ता पुरुषं याचितां च न दित्सति ॥ १३ ॥

भा०—( य ) जो ( अस्य ) इस गौ के स्वामी का ( वशाभोग ) उस 'वशा' द्वारा कोई भोग या निज स्वार्थ प्रयोजन सिद्ध होता है तो उसके लिये ( स ) वह ( अन्याम् इच्छेत् ) और दूसरी गौ को प्राप्त करे क्योंकि ' वशा ' ( अदत्ता ) यदि दान न की जाय तो ( पुरुष ) उस पुरुष को या गऊ के मालिक को ( हिंस्ते ) मार देती है ( च ) और उसको भी मार देती है जो ( याचिता ) मांगी गई ' वशा ' को भी ( न दित्सति ) नहीं देना चाहता है ।

१२ ( प्र० द्वि० ) 'य एनां वनां याच्य आर्षेयेभ्यो निर्च्छति' इति पैप्प० सं० ।
१३–( प्र० द्वि० तृ० ) यस्या न्यस्याद् वशा भोगाऽन्यामिच्छतु बर्हिषः । ' हिंमानिधनस्वगापतिम् ' इति पैप्प० सं० । ( तृ० ) ' पूरुषम् ' इति ह्विटनिकामितः ।

यथा शेवधिर्निहितो ब्राह्मणानां तथा वशा ।
तामेतदच्छायन्ति यस्मिन् कस्मिंश्च जायते ॥ १४ ॥

भा०—( यथा ) जिस प्रकार ( ब्राह्मणानां ) ब्राह्मणों का ( शेवधिः ) कोई खज़ाना ( निहितः ) धरोहर रखा है, उस प्रकार गौ के स्वामी के पास वह ' वशा ' उनकी धरोहर है । ( यस्मिन् कस्मिन् च ) और वह जिस किसी विरले पुरुष के पास भी ( जायते ) पैदा हो जाती है ( ताम् ) उसको ( एतत् ) इस कारण से ही ( अच्छ आ यन्ति ) लेने के लिये आ जाते हैं ।

स्वमेतदच्छायन्ति यद् वशां ब्राह्मणा अभि ।
यथैनानन्यस्मिन् जिनीयादेवास्या निरोधनम् ॥ १५ ॥

भा०—( यद् ) यदि ( ब्राह्मणाः ) ब्राह्मण लोग ( वशाम् अभि ) वशा को लेने के लिये आते हैं तो ( एतत् ) यह तो वे ( स्वम् ) अपना ही धन ( अच्छ आयन्ति ) प्राप्त करने के लिये आते हैं । ( अस्याः ) इस वशा को ( निरोधनम् ) अपने यहां ही रोक रखना एक प्रकार से ऐसा है कि ( यथा ) जिस प्रकार ( एनान् ) इन ब्राह्मणों को ( अन्यस्मिन् ) अन्य उनके अपने धन से अतिरिक्त दूसरे पदार्थ के लिये ( जिनीयात् ) टाल दें या निषेध कर दें ।

चरेदेवा त्रैहायणादविज्ञातगदा सती ।
वशां च विद्यान्नारद ब्राह्मणास्तर्ह्येष्याः ॥ १६ ॥

भा०—( आ त्रैहायनात् ) तीन वर्ष तक तो वह ' वशा ' ( अविज्ञातगदा सती ) अपने बांझ-पन के रोग के बिना जनाये ( चरेत् एव ) स्वामी के पास विचरती ही है । हे नारद, विद्वन् ! ( वशाम् च ) जब वह

१५-( च० ) ' एवा स्याधिरोधनम् ' इति पैप्प० सं० ।

वशा को ( चिद्यात् ) जान ले ( तर्हि ) तब गौ के स्वामी को चाहिये कि वह ( ब्राह्मणाः एष्याः ) दान देने के लिये ब्राह्मणों को खोज ले।

य एनामवंशामाह देवानां निहितं निधिम्।
उभौ तस्मै भवाशर्वौ परिक्रम्येषुमस्यतः ॥ १७ ॥

भा०—( यः ) जो ( देवानां ) देवों के ( निहितम् ) धरोहर रखे ( निधिम् ) ख़ज़ाने रूप ( एनाम् ) इस 'वशा' को ( अवशाम् आह ) 'अवशा' कहता है ( तस्मै ) उसे ( भवाशर्वौ ) भव और शर्व ( उभौ ) दोनों ( परिक्रम्य ) घेर कर ( इषुम् ) उस पर बाण ( अस्यतः ) फेंकते हैं।

यो अस्या ऊधो न वेदाथो अस्या स्तनानुत।
उभयेनैवास्मै दुहे दातुं चेदशकद् वशाम् ॥ १८ ॥

भा०—( यः ) जो गौ का स्वामी ( अस्याः ) उसके ( ऊधः ) ऊधस, थान को ( अथो उत ) और ( अस्याः स्तनान् ) इसके स्तनों को भी ( न वेद ) नहीं जानता ( चेत् ) यदि वह ( दातुम् ) दान करने में ( अशकद् ) समर्थ है तो वह ( उभयेन एव ) थान और स्तन दोनों से ( अस्मै ) अपने स्वामी को ( दुहे ) दुग्ध प्रदान करती है।

दुरदभ्नैनमा शये याचितां च न दित्सति।
नास्मै कामाः समृध्यन्ते यामदत्त्वा चिकीर्षति ॥ १९ ॥

भा०—वह 'वशा' ( एनं ) उस स्वामी के पास ( दुरदभ्ना ) कठिनता से वश में आने वाली होकर ( आ शये ) रहती है जो ( याचितां च ) इसको मांगे जाने पर भी ( न दित्सति ) नहीं देना चाहता।

१९–( प्र० ) 'दुरितीनपाशये' [?] ( तृ० च० ) 'कामः समृध्यते यमः' इति पैप्प० सं०।

( अस्मै ) उसकी ( कामाः ) कामनाएं और मनोरथ ( न समृद्ध्यन्ते ) सम्पन्न, सफल नहीं होते ( याम् ) जिस वशा को ( अदत्वा ) दान न करके ( चिकीर्षति ) उसको अपने यहां पाले रखना चाहता है।

देवा वशामयाचन् मुखं कृत्वा ब्राह्मणम्।
तेषां सर्वेषामददद्धेडं न्ये/ति मानुषः ॥ २० ॥ ( २० )

भा०—( देवाः ) देवगण ( ब्राह्मणम् ) ब्राह्मण को ( मुखम् ) अपना मुख, प्रमुख अगुआ ( कृत्वा ) बना कर ( वशम् ) वशा को ( अयाचन् ) याचना करते हैं। ( अददत् ) वशा का दान न करता हुआ ( मानुषः ) मनुष्य ( तेषाम् सर्वेषाम् ) उन सबके ( हेडम् ) क्रोध और अनादर का ( नि एति ) पात्र होता है।

हेडं पशूनां न्ये/ति ब्राह्मणेभ्योऽददद् वशाम्।
देवानां निहितं भागं मर्त्यश्चेन्निप्रियायते ॥ २१ ॥

भा०—( देवानां निहितं भागं ) देवों के धरोहर रखे भाग को ( चेत् मर्त्यः ) यदि मनुष्य ( नि प्रियायते ) अपने काम में लाता है या दबा लेता तो वह ( ब्राह्मणेभ्यः ) ब्राह्मणों को ( वशाम् ) उस वशा का ( अददत् ) दान न करके ही ( पशूनाम् ) पशुओं के भी ( हेडं निएति ) क्रोध को प्राप्त करता है।

यदन्ये शतं याचेयुर्ब्राह्मणा गोपतिं वशाम्।
अथैनां देवा अब्रुवन्नेवं ह विदुषो वशा ॥ २२ ॥

भा०—( यद् ) यदि ( गो पतिम् ) गोपति के पास ( शतम् ) सौ ब्राह्मण जाकर ( वशाम् ) वशा की ( याचेयुः ) याचना करते हैं ( अथ )

२०–( प्र० ) 'वशो या नन्ति' इति पैप्प० सं०।
२१–( च० ) 'कृतारो नु मियायते' इति पैप्प० सं०।

तब ( एनाम् ) इस वशा को लक्ष्य करके ( देवा ) देवगण ( अब्रुवन् ) स्वयं बतलावें, निर्णय करें कि ( एव विदुष इ ) इस २ प्रकार के विद्वान् को ही ( वशा ) यह 'वशा' प्राप्त हो।

य एव विदुषेदुत्त्वायाऽन्येभ्यो ददद् वशाम्।
दुर्गा तस्मा अधिष्ठाने पृथिवी सहदेवता ॥ २३ ॥

भा०—जो स्वामी ( एव विदुष ) इस प्रकार के उत्तम विद्वान् को वशा का ( अदत्वा ) दान न करके ( अन्येभ्य ) औरों को ( वशाम् ) वशा का ( ददद् ) दान कर देता है तो ( तस्मा अधिष्ठाने ) उसके स्थान में ( सहदेवता ) उसके साथ की ओढ़ की देवता ( पृथिवी ) पृथिवी भी ( तस्मै दुर्गा ) उसके लिये दु खप्रद हो जाती है।

देवा वशामयाचन् यस्मिन्नग्रे अजायत।
तामेतां विद्यान्नारद सह देवैरुदाजत ॥ २४ ॥

भा०—( यस्मिन् ) जिस पुरुष के पास ( अग्रे ) प्रथम यह वशा ( अजायत ) उत्पन्न हुई ( देवा ) देवों ने उससे ही ( वशाम् अयाचन् ) 'वशा' को मांगा। ( नारद विद्यात् ) नारद पुरुषों का हितकारी विद्वान् तो यही जाने कि उसने ( ताम् एताम् ) उस वशा को ( देवै सह ) देवों के साथ ही ( उद् आजत ) हांक कर कर दिया था।

अनपत्यमल्पपशुं वशा कृणोति पूरुषम्।
ब्राह्मणैश्च याचितामथैनां निप्रियायते ॥ २५ ॥

भा०—जो पुरुष ( एनाम् ) इस वशा को ( ब्राह्मणै च ) ब्राह्मणों के ( याचिताम् ) मांग लेने पर भी ( नि प्रियायते ) अपना धन बनाये रखता

२३–( द्वि० ) 'अन्यस्मै दद्' इति पैप्प० सं०।
२४–( तृ० ) 'विद्वान्' इति लडविग् कामित '।
२५–( द्वि० ) 'पौरुषम्', ( च० ) 'नु प्रियायते' इति पैप्प० सं०।

भूतिम् च ) आयु और धन सम्पति को ( हीडिताः ) क्रोधित हुए ( देवा ) देवगण विद्वान् पुरुष ( वृश्चन्ति ) नाश कर डालते हैं ।

वशा चरन्ती बहुधा देवानां निहितो निधिः ।
आविष्कृणुष्व रूपाणि यदा स्थाम जिघांसति ॥ २९ ॥

भा०—( वशा ) वशा ( बहुधा ) नाना प्रकार से ( चरन्ती ) चलती हुई भी ( देवानां निहितः निधिः ) देवों की धरोहर, खज़ाना ही है । ( यदा ) जब वह वशा ( स्थाम ) अपने रहने के स्थान को ( जिघांसति ) मारती तोड़ती, फोड़ती है तभी वह ( रूपाणि ) नाना रूपों को, स्वभावों को ( आविः कृणुष्व ) प्रकट करती है ।

आविरात्मानं कृणुते यदा स्थाम जिघांसति ।
अथो ह ब्रह्मभ्यो वशा याञ्च्याय कृणुते मनः ॥३०॥ (२१)

भा०—( यदा ) जब ( स्थाम ) अपने रहने के स्थान को ( जिघांसति ) सींगों और लातों से तोड़ती फोड़ती है और ( आत्मानम् ) अपने स्वरूप को ( आविः कृणुते ) प्रकट कर देती है ( अथो ह ) तभी निश्चय से वह ( ब्रह्मभ्यः याञ्च्याय ) ब्राह्मणों द्वारा की गई याचना के लिये ( मनः कृणुते ) अपना चित्त करती है, विचारती है ।

मनसा सं कल्पयति तद् देवाँ अपि गच्छति ।
ततो ह ब्रह्माणो वशामुपप्रयन्ति याचितुम् ॥ ३१ ॥

भा०—जब वह अपने ( मनसा ) मन से ( संकल्पयति ) संकल्प कर लेता है ( तत् ) तब वह ( देवान् अपि गच्छति ) देवों, विद्वानों को भी प्राप्त हो जाती है । ( ततः ) उसके बाद ( ब्रह्माणः ) ब्राह्मण लोग ( वशाम् ) उस वशा को ( याचितुम् ) मांगने के लिये भी ( उप प्रयन्ति ) आ जाते हैं ।

---

२९-( च० ) 'जिगांसति' इति ह्विटनिकामितः पाठः । 'यदा' इति पैप्प० सं० ।
३०-( तृ० ) 'उतोह' इति पैप्प० सं० ।

स्वधाकारेण पितृभ्यो यज्ञेन देवताभ्यः ।

दानेन राजन्यो वशाया मातुर्हेडं न गच्छति ॥ ३२ ॥

भा०—( स्वधाकारेण ) स्वधा रूप अन्न प्रदान करने से ( पितृभ्यः ) पितृ लोगों के ( यज्ञेन ) यज्ञ से देवताओं के ( दानेन ) दान कर देने से ( राजन्यः ) राजा ( वशाया मातुः ) वशा रूप माता के ( हेडं न गच्छति ) क्रोध का पात्र नहीं होता।

पूर्वोक्त वशा का स्पष्टीकरण ।

वशा माता राजन्यस्य तथा संभूतमग्रशः ।

तस्या आहुरनर्पणं यद् ब्रह्मभ्यः प्रदीयते ॥ ३३ ॥

भा०--( वशा ) 'वशा' ( राजन्यस्य ) राजा की ( माता ) माता अर्थात् उसे बनाने और उत्पन्न करने वाली है। ( तथा ) उसी प्रकार ( अग्रशः संभूतम् ) पहले भी था कि ( यद् ) यदि वह 'वशा' ( ब्रह्मभ्यः, विद्वान् ब्राह्मणों को ( प्रदीयते ) प्रदान कर दी जाय तो इसको भी विद्वान् लोग ( तस्याः ) उस वशा का ( अनर्पणम् ) अनर्पण, अप्रदान ही ( आहुः ) कहते हैं।

यथाज्यं प्रगृहीतमालुम्पेत् स्रुचो अग्नये ।

एवा ह ब्रह्मभ्यो वशामग्नय आ वृश्चतेऽददत् ॥ ३४ ॥

भा०– ( यथा ) जिस प्रकार ( स्रुचः ) स्रुवा में ( अग्नये ) अग्नि के निमित्त ( प्रगृहीतम् ) लिये हुए ( आज्यम् ) घृत को ( आलुम्पेत् ) अग्नि में न डालकर वापिस ले ले इस प्रकार वह ( अग्नये आवृश्चते ) अग्नि के प्रति अपराध करता है उसी प्रकार ( ब्रह्मभ्यः ) विद्वान् ब्रह्मज्ञानियों को

३३-( तृ० ) 'तस्माद्' इति पैप्प० सं० ।

३४-(प्र०) 'यदाज्यं प्रतिगृह्य' (च०) 'अग्नये वृश्चतेव' इति पैप्प० सं० ।

( वशाम् ) वशा का ( अददत् ) दान न करता हुआ ( ब्रह्मभ्यः आ वृश्चते ) ब्रह्मज्ञानियों के प्रति अपराध करता है।

पुरोडाशवत्सा सुदुघा लोकेस्मा उप तिष्ठति ।
सास्मै सर्वान् कामान् वशा प्रददुषे दुहे ॥ ३५ ॥

भा०—( पुरोडाशवत्सा ) 'पुरोडाश' को बछड़ा बना कर ( सुदुघा ) उत्तम रीति से बहुत फल देने वाली 'वशा' ( लोके ) लोक में ( अस्मै ) इस राजा के लिये ( उपतिष्ठति ) आ उपस्थित होती है ( सा वशा ) वह 'वशा' ( अस्मै प्रददुषे ) इस अपने दान करने वाले को ( सर्वान् कामान् दुहे ) समस्त कामना करने योग्य फलों को उत्पन्न करती और सब मनोरथ पूर्ण करती है।

सर्वान् कामान् यमराज्ये वशा प्रददुषे दुहे ।
अथाहुर्नारकं लोकं निरुन्धानस्य याचिताम् ॥ ३६ ॥

भा० ( यम-राज्ये ) यम नियन्ता राजा के राज्य में ( वशा ) 'वशा' ( प्रददुषे ) अपने को उत्तम पात्र में प्रदान करने हारे के लिये ( सर्वान् ) कामान् ) समस्त मनोऽभिलषित फलों को ( दुहे ) उत्पन्न करती है। (अथा) और ( याचिताम् ) याचना करने पर भी मांगी गई उस वशा को ( निरुन्धानस्य ) याचक के प्रति दान न देकर, रोक रखने वाले के लिये ( नारकं लोकम् ) विद्वान् पुरुष 'नारक'=निकृष्ट—नीच पुरुषों से पूर्ण लोक ही उसके योग्य ( आहुः ) बतलाते हैं।

प्रवीयमाना चरति क्रुद्धा गोपतये वशा ।
वेहतं मा मन्यमानो मृत्योः पाशेषु बध्यताम् ॥ ३७ ॥

---

३५-( द्वि० ) 'लोकेऽस्योपे' ( तृ० ) 'सास्मै सर्वान् कामान् मंहे' इति पैप्प० सं० ।

३६-( तृ० ) 'तथाहु' इति पैप्प० सं० । १. 'नरकम् ।' इति पदपाठः ।

भा०—( प्रवीयमाना ) नाना सन्तति उत्पन्न करने का कर्म करती हुई, सांड से लगती हुई अर्थात् उत्पादक वीर्यवान् पुरुष, परमेश्वर की संगिनी होकर ( वशा ) 'वशा' ( गोपतये ) गोपति, स्वामी राजा के प्रति ( क्रुद्धा चरति ) बड़ी क्रुद्ध होकर विचरती है कि ( मा ) मुझ को ( वेहतम् ) गर्भघातिनी, वन्ध्या ( मन्यमानः ) मानता हुआ पुरुष ( मृत्योः ) मृत्यु के ( पाशेषु ) पाशों में ( वध्यताम् ) बांधा जाय ।

यो वेहतं मन्यमानोमा च पचते वशाम् ।
अप्यस्य पुत्रान् पौत्रांश्च याचयते बृहस्पतिः ॥ ३८ ॥

भा०—( यः ) जो ( वशाम् ) वशा को ( वेहतं मन्यमानः ) गर्भोपघातिनी गाय मानता हुआ ( अमा च ) अपने घर पर ही ( वशाम् ) वशा को ( पचते ) पका देता है ( अस्य पुत्रान् पौत्रान् च अपि ) उसके बेटों और पोतों तक को भी ( बृहस्पतिः ) बृहती वेद वाणी का पालक बृहस्पति परमेश्वर और विद्वान् ब्रह्मज्ञानी वेदज्ञ ( याचयते ) भीख मंगवाता है ।

महदेषाव तपति चरन्ती गोषु गौरपि ।
अथो ह गोपतये वशाददुषे विषं दुहे ॥ ३९ ॥

भा०—( गोषु ) गौओं में ( गौः अपि ) सामान्य गौ होकर भी ( चरन्ती ) विचरती हुई ( एषा ) यह वशा ( महत् तपति ) बड़ी पीड़ा अनुभव करती है ( अथो ) और ( अददुषे ) प्रदान न करने हारे ( गोपतये ) अपने पालक गोपति राजा को वह ( विषं दुहे ) विष दुहा करती है ।

---

३८–'अमाच', ( पु० च० ) 'वाप्यस्यपुत्रान पौत्राश्चातयते वृह-' इति पैप्प० सं० ।

३९–( तृ० ) 'ततोगोप' इति पैप्प० सं० ।

प्रियं पशूनां भवति यद् ब्रह्मभ्यः प्रदीयते।
अथो वशायास्तत् प्रियं यद् देवत्रा हविः स्यात् ॥४०॥ (२२)

भा०—( यद् ) यदि ( ब्रह्मभ्यः ) ब्रह्म के ज्ञानी ब्राह्मणों को वशा ( प्रदीयते ) प्रदान करदी जाती है तो ( पशूनाम् ) पशुओं का भी ( प्रियम् ) भला ही ( भवति ) होता है ( अथो ) और ( वशायाः ) वशा को भी ( तत् प्रियम् ) यह प्रिय लगता है ( यद् ) कि वह ( देवत्रा ) देवों के ( हविः ) दान योग्य पदार्थ ( स्यात् ) हो जाय।

या वशा उदकल्पयन् देवा यज्ञादुदेत्य।
तासां विलिप्त्यं भीमामुदाकुरुत नारदः ॥ ४१ ॥

भा०—( देवाः ) देवों ने ( यज्ञाद् ) यज्ञ से ( उद् एत्य ) ऊपर आकर ( याः वशाः ) जिन 'वशाओं' को ( उद् अकल्पयन् ) उत्तम स्वीकार किया। ( तासाम् ) उनमें से भी ( भीमाम् ) भीमा, भयानक, भय-प्रद, उग्र ( विलिप्त्यं ) 'विलिप्ति' को ( नारदः ) नारद, विद्वान् पुरुष ( उत् आकुरुत ) और भी उत्कृष्ट मानता है।

तां देवा अमीमांसन्त वशेया३मवशेति।
तामब्रवीन्नारद एषा वशानां वशतमेति ॥ ४२ ॥

भा०—(तां) उस 'भीमा विलिप्ति' के विषय में ( देवा अमीमांसन्त) देवगण भी मीमांसा, विवेचन करते हैं कि ( वशा इयम् ) वह 'वशा' है या ( अवशा इति ) 'अवशा' वशा से भिन्न, 'वशा' की सी है। (नारदः) नारद, विद्वान् (ताम्) उस भीमा विलिप्ति के विषय में कहता है कि (एषा) यह तो ( वशानाम् वशतमा ) वशा में भी सब से उत्तम वशा='वशतमा' है।

४१–( तृ० ) 'विलिप्तिम्' इति पैप्प० सं०।
४२–'वशेया ३ मवशा ३ इति' हैट्नेकामितः पाठः। ( प्र० ) 'देवा भीमा' (द्वि०) 'वशेय न्नवशेति' (च०) 'वशतमा' इति पैप्प० सं।

कति नु वृशा नारद यास्त्वं वेत्थं मनुष्युजाः ।

तास्त्वा पृच्छामि विद्वांसं कस्या नाश्नीयादब्राह्मणः ॥४३॥

भा०—हे ( नारद ) नारद ! ( कति नु वशा ) भला बतलाओ कितनी ऐसी 'वशा' हैं ( याः ) जिनको ( त्वं ) तू ( वेत्थ ) जानता है कि ये ( मनुष्यजाः ) मनुष्य-मननशील पुरुष से उत्पन्न हैं । ( ताः ) उनको ( त्वा विद्वांसम् ) तुम विद्वान् से ( पृच्छामि ) पूछता हूं और बतला उनमें से ( कस्याः ) किसका ( अब्राह्मणः ) अब्राह्मण, ब्राह्मण से अतिरिक्त लोग ( न अश्नीयात् ) भोग न करे ।

विलिप्त्या बृहस्पते या च सूतवशा वृशा ।

तस्या नाश्नीयादब्राह्मणो य आशंसेत भूत्याम् ॥ ४४ ॥

भा०—हे ( बृहस्पते ) बृहस्पते ! ( विलिप्तयः ) 'विलिप्ति' और ( या च ) जो 'सूतवशा' वशा को उत्पन्न करने वाली और ( वशा ) वशा, ( तस्याः ) इन तीनों का वह ( अब्राह्मणः ) ब्राह्मण, से अतिरिक्त पुरुष ( न अश्नीयात् ) भोग न करे ( यः ) जो ( भूत्याम् ) सम्पत्ति, समृद्धि की ( आशंसेत ) आशा करे, चाहे ।

नमस्ते अस्तु नारदानुष्ठु विदुषे वृशा ।

कृतमासां भीमतमा यामदत्त्वा पराभवेत् ॥ ४५ ॥

भा०—हे ( नारद ) नारद ! ( ते नमः अस्तु ) तुझे नमस्कार हो । और ( अनुष्ठु ) तत्काल ही ( विदुषे ) वशा को जान लेने वाले विद्वान् को ( वशा ) 'वशा' प्राप्त होनी चाहिये । अच्छा अब यह कहो कि (आसाम्)

---

४३-( तृ० ) 'कतिनामां भीमतमा' इति पैप्प० सं० ।

४४-( प्र० ) 'विलिप्तया', ( तृ० ) 'तासाम् ना' इति पैप्प० सं० ।

४५-( प्र० ) 'तेस्तु' ( द्वि० ) 'वशान्' इति पैप्प० सं० ।

इन उपरोक्त विलिप्ति, सूतवशा और वशा इन तीनों में से ( कतमा ) कौनसी ( भीमतमा ) सब से अधिक भयप्रद है ( याम् ) जिस को ( अदत्वा ) बिना दिये स्वामी ( पराभवेत् ) पराभव या अपमान या कष्ट और दरिद्रता को प्राप्त हो जा सकता है ।

विलिप्ती या बृहस्पतेथो सूतवंशा वशा ।
तस्या नाश्नीयादब्राह्मणो य आशंसत भूत्याम् ॥ ४६ ॥

भा०—हे ( बृहस्पते ) बृहस्पते ! ( या ) जो विलिप्ती और ( सूतवशा वशा ) सूतवशा और वशा है इत्यादि व्याख्या देखो [ मन्त्र सं० ४३ ]

त्रीणि वै वशाजातानि विलिप्ती सूतवशा वशा ।
ताः प्र यच्छेद् ब्रह्मभ्यः सोनाव्रस्कः प्रजापतौ ॥ ४७ ॥

भा०—( त्रीणि ) तीन ( वै ) ही ( वशाजातानि ) वशा के प्रकार या प्रभेद हैं ( विलिप्ती ) 'विलिप्ती' ( सूतवशा ) 'सूतवशा' और ( वशा ) "वशा" । ( ताः ) उन तीनों को ( यः ) जो ( ब्रह्मभ्यः ) ब्राह्मणों को ( प्रयच्छेत् ) प्रदान करता है ( सः ) वह ( प्रजापतौ ) प्रजापति के प्रति ( अनाव्रस्कः ) कोई अपराध नहीं करता ।

एतद् वो ब्राह्मणा हविरिति मन्वीत याचितः ।
वशां चेदेनं याचेयुर्या भीमाददुषो गृहे ॥ ४८ ॥

भा०—( अददुषः गृहे ) दान न करनेहारे के घर में ( या भीमा ) जो बड़ी भयानक है ऐसी ( वशां चेत् एनं याचेयुः ) वशा को उस स्वामी के पास जाकर यदि ब्राह्मणगण याचना करते हैं तो ( याचितः ) मांगने पर स्वामी ( इति मन्वीत ) ऐसा ही जाने और कहे हे ( ब्राह्मणाः ) ब्राह्मणो ! ( एतत् वः हविः ) यह तुमारे 'हवि' अर्थात् दान देने योग्य पदार्थ है ।

---

४६–' विलिप्ति बृहस्पतये याचम्सुत ' ( तृ० ) ' तासाम् ' इति पैप्प० सं० ।
४७–( द्वि० ) ' विलुप्ती ' इति पैप्प० सं० ।

देवा वशां पर्यवदन् न नोऽदादिति हीडिताः ।
एताभिर्ऋग्भिर्भेदं तस्माद् वै स पराभवत् ॥ ४९ ॥

भा०—( नः ) हमें स्वामी ( न अदात् ) इस वशा को प्रदान नहीं करता ( इति ) इस कारण से ( हीडिताः ) क्रुद्ध हुए ( देवाः ) देवगण ( एताभिः ) इन ( ऋग्भिः ) ऋचाओं से ( भेदम् ) भेद को ( परि-अवदन् ) मन्त्रणा करते हैं ( तस्मात् ) इसलिये ( वै ) निश्चय से ( सः ) वह अदाता स्वामी ( पराभवत् ) पराजय को प्राप्त होता है ।

उतैनां भेदो नाददाद् वशामिन्द्रेण याचितः ।
तस्मात् तं देवा आगसोऽवृश्चन्नहमुत्तरे ॥ ५० ॥

भा०—( उत ) और ( एनाम् ) इस ( वशां ) वशा को लक्ष्य करके ( इन्द्रेण ) इन्द्र द्वारा ( याचितः भेदः ) याचना किया गया 'भेद' भी ( वशाम् ) वशा को ( न अददात् ) न प्रदान करे ( तस्मात् ) इस कारण ( तं ) उस अदाता पुरुष को ( आगसः ) अपराध के कारण ( अहमुत्तरे ) युद्ध में ( अवृश्चन् ) मार काट डालते हैं ।

ये वशाया अदानाय वदन्ति परिरापिणः ।
इन्द्रस्य मन्यवे जाल्मा आ वृश्चन्ते अचित्त्या ॥ ५१ ॥

भा०—( ये ) जो ( परिरापिणः ) बकवादी, बुरी सलाह देने वाले लोग ( वशायाः ) वशा को ( अदानाय ) दान न करने के लिये ( वदन्ति ) कहा करते हैं वे ( जाल्माः ) दुष्ट पुरुष ( अचित्त्या ) अपने अज्ञान या

४९-( प्र० ) 'वशामुपवदन्' ( द्वि० ) 'ततो राज्ञा हेडितः,' ( तृ० ) 'भेदस्य' इति पैप्प० सं० ।
५०-'उतैनाम्' इति क्वचित्, पैप्प० सं० ।
५१-'वशाया-दाना' इति पैप्प० सं० ।

दुश्चित्तता के कारण ( इन्द्रस्य मन्यवे ) इन्द्र के मन्यु के द्वारा ( आ वृश्चन्ते ) विनष्ट हो जाते हैं ।

ये गोपतिं पराणीयाथाहुर्मा ददा इति ।
रुद्रस्यास्तां ते हेतिं परि यन्त्यचित्त्या ॥ ५२ ॥

भा०—( ये ) जो लोग ( गोपतिम् ) गौ के स्वामी को ( परा नीय ) दूर एकान्त में लेजा कर ( अथ ) बाद में ( आहु ) उससे कहते हैं कि तू ( मा ददा. इति ) वशा को दान मत कर ( ते ) वे ( अचित्त्या ) अपनी मूर्खता से ही ( रुद्रस्य ) रुद्र के ( अस्तां हेतिम् ) फेंके हुए बाण के ( परि-यन्ति ) शिकार हो जाते हैं ।

यदि हुतां यद्यहुताममा च पचते वशाम् ।
देवान्त्सब्राह्मणानृत्वा जिह्मो लोकान्निर्ऋच्छति ॥ ५३ ॥ ( २३ )

भा०—( यदि हुताम् ) यदि दान दी हो, ( यदि अहुताम् ) दान न दी हो तो भी यदि गोपति ( वशाम् अमा च पचते ) 'वशा' को अपने ही घर में पकाता है, वह ( सब्राह्मणान् ) ब्राह्मण सहित ( देवान् ) देवों के प्रति ( ऋत्वा ) अपराध करके ( जिह्म. ) कुटिलाचारी होकर ( लोकात् ) इस लोक से ( निर्ऋच्छति ) कष्ट पाकर निकलता है ।

पूर्वोक्त सूक्त का शब्दार्थ वाक्यरचनानुसार कर दिया है । इस सूक्त की संगति अथर्ववेद के १० काण्ड के १० सूक्त के साथ लगाने से इस सूक्त का भावार्थ स्पष्ट हो जाता है । वहां भी तीन वशाओं का वर्णन है । " वशा द्यौर्वशा पृथिवी वशा विष्णुः प्रजापतिः । " इसी प्रकार यहां भी विलिप्ति, सूतवशा और वशा इन तीन वशाओं का वर्णन है । इस सूक्त में

५२–( च० ) 'यन्त्यचेतसः' इति पैप्प० स० ।
५३–( तृ० ) 'स ब्राह्मणान्नृत्वा' इति बहुत्र ।

क्रम से नारद=विद्वान्, जीव। बृहस्पति=परमात्मा। विशेष विचार भूमिका भाग में करेंगे।

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

[ तत्रैकं सूक्तम्, ऋचश्च नवःपञ्चाशत्। ]

---

## [ ५ (१) ] ब्रह्मगवी का वर्णन।

अथर्वाचार्य ऋषिः। सप्त पर्यायसूक्तानि। ब्रह्मगवी देवता। तत्र प्रथमः पर्यायः १
१, ६ प्राजापत्याऽनुष्टुप्, २ भुरिक् साम्नी अनुष्टुप्, ३ चतुष्पदा स्वराड् उष्णिक्,
४ आसुरी अनुष्टुप्, ५ साम्नी पंक्तिः। षड्‌चं प्रथमं पर्यायसूक्तम् ॥

**श्रमे॑ण॒ तप॑सा सृ॒ष्टा ब्रह्म॑णा वि॒त्तर्ते श्रि॒ता ॥ १ ॥**

भा०—ब्रह्मगवी=ब्रह्म=ब्राह्मण की शक्तिमयी ब्रह्मवाणी (श्रमेण) श्रम और (तपसा) तप से (सृष्टा) बनी या उत्पन्न होती है। (ब्रह्मणा) ब्रह्म-वेद और ब्रह्म=ब्रह्मज्ञान के प्राप्त करने वाले तपस्वी पुरुष द्वारा (वित्ता) जानी और प्राप्त की जाती है (ऋते श्रिता) ऋत=परम सत्य-मय परमात्मा में आश्रित रहती है।

ब्रह्मगवी का स्वरूप देखो [ अथर्व० का० ५ । सू० १८, १९ ॥ ]

**स॒त्येनावृ॑ता श्रि॒या प्रावृ॑ता य॒शसा॒ परी॑वृता ॥ २ ॥**

भा०—यह ब्रह्म-वाणी (सत्येन आवृता) सत्य के बल से सुरक्षित होती है। (श्रिया) श्री, शोभा और कान्ति से (प्रावृता) ढकी होती और (यशसा परीवृता) वीर्य और तेज और सत्-ख्याति से घिरी होती है।

**स्व॒धया॒ परि॑हिता श्र॒द्धया॒ पर्यू॑ढा दी॒क्षया॑ गु॒प्ता य॒ज्ञे प्रति॑ष्ठिता लो॒को नि॒धन॑म् ॥ ३ ॥**

भा० - यह ( स्वधया ) स्वधा-अमृत शक्ति से ( परिहिता ) सुरक्षित, ( श्रद्धया परि ऊढा ) श्रद्धा से दृढ़ ( दीक्षया गुप्ता ) दीक्षा=दृढ संकल्प और बल से सुरक्षित ( यज्ञे ) यज्ञरूप परमेश्वर या प्रजापालक राजा पर आश्रित है। ( लोक. निधनम् ) यह लोक उसका आश्रय है।

ब्रह्म पदवायं ब्राह्मणोऽधिपतिः ॥ ४ ॥

भा०—( ब्रह्म ) ब्रह्म, वेद उसके ( पद-वायम् ) पद=स्वरूप को दर्शाने वाला, है और ( ब्राह्मणः ) ब्राह्मण, ब्रह्मज्ञ, वेदज्ञ उसका ( अधिपतिः ) स्वामी है।

तामाददानस्य ब्रह्मगवीं जिनतो ब्राह्मणं क्षत्रियस्य ॥ ५ ॥
अप क्रामति सूनृता वीर्यं पुण्या लक्ष्मीः ॥ ६ ॥ ( २४ )

भा०—( ताम् ) उस ब्रह्मगवी को ( आ ददानस्य ) लेनेहारे ( ब्राह्मणम् ) और ब्राह्मण को ( जिनतः ) बलात्कार करने वाले ( क्षत्रियस्य ) क्षत्रिय की ( सूनृता ) शुभ सत्य वाणी, ( वीर्यम् ) वीर्य, बल और ( पुण्या लक्ष्मीः ) पुण्य, पवित्र निष्पाप लक्ष्मी ( अपक्रामति ) उसे छोड़ कर भाग जाती है।

( २ )

ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च वाक् चेन्द्रियं च श्रीश्च धर्मश्च ॥७॥ ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं च विशश्च त्विषिश्च यशश्च वर्चश्च द्रविणं च ॥ ८ ॥ आयुश्च रूपं च नाम च कीर्तिश्च प्राणश्चापानश्च चक्षुश्च श्रोत्रं च ॥ ९ ॥ पयश्च रसश्चान्नं चान्नाद्यं चर्तं च सत्यं चेष्टं च पूर्तं च प्रजा च पशवश्च ॥ १० ॥ तानि सर्वाण्यप क्रामन्ति

१.-' आयुश्च श्रोत्रं च ' इति पैप्प० सं० ।

ब्रह्मगवीमाददानस्य जिनतो ब्राह्मणं क्षत्रियस्य ॥ ११ ॥ (२५)

भा०—( ब्राह्मणं जिनतः ) ब्राह्मण पर बलात्कार करने हारे और उससे ( ब्रह्मगवीम् आददानस्य ) ब्रह्मगवी, ब्रह्म=वेदवाणी को बलात् छीनने वाले ( क्षत्रियस्य ) क्षत्रिय का ( ओजः च तेजः च ) ओज, प्रभाव और तेज, ( सहः च बलम् च ) 'सहः' दूसरे को पराजित करने का सामर्थ्य और बल, सेनाबल ( वाक् च इन्द्रियम् च ) वाणी और इन्द्रियें, ( श्रीः च धर्मः च ) लक्ष्मी और धर्म, ( ब्रह्म च क्षत्रं च ) ब्रह्मबल, ब्राह्मणगण, क्षात्रबल उसके सहायक क्षत्रिय, ( राष्ट्रं च विशः च ) उसका राष्ट्र और उसके अधीन वैश्य प्रजाएं ( त्विषिः च यशः च ) उसकी त्विट् कान्ति दीप्ति और यश, ख्याति ( वर्चः च द्रविणम् च ) वर्चस्, वीर्य और धन ( आयुः च रूपं च ) आयु और रूप ( नाम च कीर्त्तिः च ) नाम और कीर्त्ति, ( प्राणः च अपानः च ) प्राण और अपान, ( चक्षुः च श्रोत्रं च ) चक्षु, दर्शनशक्ति और श्रोत्र, श्रवणशक्ति । ( पयः च रसः च ) दूध और जल ( अन्नं च, अन्नाद्यं च ) अन्न और अन्न के भोग करने का सामर्थ्य ( ऋतं च सत्यं च ) ऋत और सत्य ( इष्टं च पूर्त्तं च ) इष्ट, पूर्त्त, यज्ञ याग और कूपतडागादि धर्म के सब कार्य और ( प्रजा च पशवः च ) प्रजाएं और पशु ( तानि सर्वाणि ) वे सब ( अपक्रामन्ति ) उसको छोड़ कर चले जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं ।

( ३ )

ऋषिर्देवता च पूर्वोक्ते । १२ विराड्विषमा गायत्री, १३ आसुरी अनुष्टुप्, १४, २६ साम्नी उष्णिक्, १५ गायत्री, १६, १७, १९, २० प्राजापत्याऽनुष्टुप्, १८ याजुषी जगती, २१, २५ साम्नी अनुष्टुप्, २२ साम्नी बृहती, २३ याजुषी-त्रिष्टुप्, २४ आसुरीगायत्री, २७ आर्ची उष्णिक् । षोडशर्चं सूक्तम् ॥

११–'अपक्रामन्ति क्षत्रियस्य' इति पैप्प० सं० ।

मैषा भीमा ब्रह्मगव्य१घविषा साक्षात् कृत्या कूल्बजमावृता ॥१२॥

भा०—( सा एषा ) वह यह ( ब्रह्मगवी ) 'ब्रह्मगवी' ( ब्रह्मज्यस्य[1] ) ब्रह्मद्वेषी के लिये ( अघविषा ) ऐसी तीव्र विष से युक्त है जो किसी उपाय से नाश नहीं हो सकता। वह ( साक्षात् कृत्या ) ब्रह्मद्वेषी के लिये साक्षात् प्रत्यक्ष में हिंसा का घातक प्रयोग ही है जो ( कूल्वजम्=कु-उल्व जम् ) कुत्सित जनसमुदाय से उत्पन्न पुरुष पर ( आवृता ) आश्रित है अथवा ( कूल्वजं-मावृता ) वह घातक प्रयोग है घास फूस में लिपटा है। उल्व'=उन्दति समवैति इति उल्व। कुत्सित उल्व कूल्व' तस्माज्जातः कूल्वजः। कुत्सित समुदायोद्भतनेतृपुरुषः। तमावृता तमावृत्य तिष्ठतीत्यर्थः।

सर्वाण्यस्यां घोराणि सर्वे च मृत्यवः ॥ १३ ॥
सर्वाण्यस्यां क्रूराणि सर्वे पुरुषवधाः ॥ १४ ॥

भा०—ब्रह्मद्वेषी के लिये ( अस्याम् ) इसमें ( सर्वाणि ) सब प्रकार के ( घोराणि ) घोर, भयानक कर्म और ( सर्वे च मृत्यवः ) सब प्रकार के मृत्युभय विद्यमान होते हैं। ( अस्याम् ) इसमें ( सर्वाणि क्रूराणि ) सब प्रकार के क्रूरकर्म और ( सर्वे पुरुषवधाः ) समस्त प्रकार पुरुषों को मारने वाले हथियार अथवा सब प्रकार के पुरुषों के मारने के उपाय सम्मिलित हैं।

सा ब्रह्मज्यं देवपीयुं ब्रह्मगव्या/दीयमाना मृत्योः पड्वीश आ द्यति ॥ १५ ॥

भा०—( सा ब्रह्मगवी ) वह ब्रह्मगवी ( आदीयमाना ) पकड़ी जाकर ( ब्रह्मज्यं ) ब्राह्मण वेद और वेदज्ञों के विनाशक ( देवपीयुं ) देवों, विद्वान्

१२—' कूल्बा जमावृता ' इति पैप्प० सं०।

१. ब्रह्मज्यस्येति ( २७ ) अनुगच्छतीति मन्त्रादपकृष्यते।

१५—'-गव्या ऽदीय-' इति क्वचित्।

पुरुषों के हिंसक पुरुषों को (मृत्योः) मौत के (पड्वीशे) पञ्जे में या फांसे में (आद्यति) फांस कर खण्ड २ कर डालती है।

मेनिः शतवधा हि सा ब्रह्मज्यस्य क्षितिर्हि सा ॥ १६ ॥

भा०—(सा) वह 'ब्रह्मगवी' ब्रह्मघ्न के लिये (शतवधा) सैकड़ों प्रकार से वध करने वाली या सैकड़ों हथियारों से युक्त (मेनिः) वज्र ही है और (सा) वह (ब्रह्मज्यस्य) ब्रह्मघाती पुरुष को (क्षितिः हि) निश्चय से क्षय करने हारी है।

तस्माद् वै ब्राह्मणानां गौर्दुराधर्षा विजानता ॥ १७ ॥

भा०—(तस्मात्) इसलिये (वै) निश्चय से (विजानता) इस रहस्य को विशेष रूप से जानने वाले पुरुष द्वारा (ब्राह्मणानां गौः) ब्राह्मणों की 'गौ' (दुराधर्षा) कठिनता से धर्षण की जाती है। अर्थात् उपरोक्त बात को जानकर मनुष्य ब्राह्मण की गौ को भूल कर भी पीड़ा नहीं देता।

वज्रो धावन्ती वैश्वानर उद्वीता ॥ १८ ॥

भा०—ब्रह्मघ्न के लिये ब्रह्मगवी ही (धावन्ती) दौड़ती हुई दौड़ती है (वज्रः) वज्र तलवार होकर या (वैश्वानरः उद्वीता) अग्नि, विद्युत् रूप होकर ऊपर उठती या धधकती है।

हेतिः शफानुत्खिदन्ती महादेवोऽपेक्षमाणा ॥ १९ ॥

भा०—(हेतिः शफान् उत्खिदन्ती) अपने खुर ऊपर उठा २ कर मारती हुई, बाण या अस्त्र होकर जाती है और वह (महादेवः अपेक्षमाणा) दूर २ तक देखती हुई मानो साक्षात् महादेव के समान हो जाती है।

क्षुरपविरीक्षमाणा वाश्यमानाभि स्फूर्जति ॥ २० ॥

---

२०—'वाश्यमाना' इति पाठः।

भा०—( क्षुरपविः ) छुरे के धार के समान तीक्ष्ण होकर ( ईक्षमाणा ) सबको देखती है। ( वाश्यमाना ) घोर शब्द करती हुई ( अभिस्फूर्जति ) भारी गर्जना करती है।

मृत्युर्हिङ्कृण्वत्युग्रो देवः पुच्छं पर्यस्यन्ती ॥ २१ ॥

भा०—ब्रह्मघाती के लिये वह ( मृत्युः ) मृत्यु रूप होकर ( हिंकृण्वती ) मानो बंभारती है। ( उग्रः देवः ) उग्र देव, काल होकर मानो ( पुच्छं पर्यस्यन्ती ) पूंछ फटकार रही होती है।

सर्वज्यानिः कर्णौ वरीवर्जयन्ती राजयक्ष्मो मेहन्ती ॥ २२ ॥

भा०—ब्रह्मघाती के लिये ( सर्वज्यानिः ) वह सब प्राणियों का नाश करनेहारी होकर वह ( कर्णौ ) कानों को ( वरीवर्जयन्ती ) फटकार रही होती है। ( राजयक्ष्मः ) राजयक्ष्मा का भयंकर रोग बन कर मानो वह ( मेहन्ती ) मूत्र कर रही होती है।

मेनिर्दुह्यमाना शीर्षक्तिर्दुग्धा ॥ २३ ॥

भा०—( मेनिः ) वज्र या विद्युत् रूप होकर ( दुह्यमाना ) मानो ब्रह्मघ्न से दुही जाती है। और वह ( दुग्धा ) पूरी तरह से दुही जाकर वह ( शीर्षक्तिः ) सिर की तीव्र पीड़ा रूप हो जाती है।

सेदिरुपतिष्ठन्ती मिथोयोधः परामृष्टा ॥ २४ ॥

भा०—( उपतिष्ठन्ती ) समीप आती हुई वह ( सेदिः ) बल वीर्य का नाश करनेहारी होती है। जब ब्रह्मघाती द्वारा ( परामृष्टा ) कठोर स्पर्श प्राप्त करती है तो ( मिथोयोधः ) वह परस्पर युद्ध करने हारे सिपाही के समान भयंकर हो जाती है।

शरव्या मुखेऽपिनह्यमान ऋतिर्हन्यमाना ॥ २५ ॥

---

२१–' रुद्रश्रो ' इति क्वचित्।

भा०—ब्रह्मघ्न द्वारा ( मुखे ) मुख के ( अपिनह्यमाने ) बांधे जाने पर ( शरव्या ) तीक्ष्ण बाण के समान प्रहार करने हारी होती है। ( हन्यमाना ) जब वह इसे मारता है तो वह ( ऋतिः ) भारी पीड़ा होकर प्रकट होती है।

अघविषा निपतन्ती तमो निपतिता ॥ २६ ॥

भा०—ब्रह्मघ्न द्वारा ( निपतन्ती ) नीचे गिरती हुई वह ब्रह्मगवी ( अघविषा ) विना प्रतीकार के विष से पूर्ण होती है। ( निपतिता ) नीचे गिरी हुई वह साक्षात् ( तमः ) अन्धकार, मृत्यु के समान हो जाती है।

अनुगच्छन्ती प्राणानुप दासयति ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यस्य ॥२७॥(२६)

भा०—( ब्रह्मज्यस्य ) 'ब्रह्म'=ब्राह्मण और ब्रह्म-वेद की हानि करने वाले ब्रह्मद्वेषी पुरुष के ( अनुगच्छन्ती ) पीछे २ चलती हुई ( ब्रह्मगवी ) 'ब्रह्मगवी' उसके ( प्राणान् उप दासयति ) प्राणों का नाश करा डालती है।

( ४ )

ऋषिर्देवता च पूर्वोक्ते । २८ आसुरी गायत्री, २९, ३७ आसुरी अनुष्टुभौ, ३० साम्नी अनुष्टुप्, ३१ याजुषी त्रिष्टुप्, ३२ साम्नी गायत्री, ३३, ३४ साम्नी बृहत्यौ, ३५ भुरिक् साम्नी अनुष्टुप्, ३६ साम्न्युष्णिक्, ३८ प्रतिष्ठा गायत्री। एकादशर्चं चतुर्थं पर्यायसूक्तम् ॥

वैरं विकृत्यमाना पौत्राद्यं विभाज्यमाना ॥ २८ ॥

भा०—( विकृत्यमाना ) विविध रूपों से अंग २ काटी जाती हुई ब्रह्मद्वेषियों के लिये साक्षात् ( वैरम् ) वैर, आपस का कलह बनकर प्रकट होती है। ( विभाज्यमाना ) अंग २ काटकर आपस में बांटली जाती हुई ब्रह्मगवी ( पौत्राद्यम्[1] ) पुत्र, पौत्र आदि को खाजाने वाली हो जाती है।

२८–'पौत्रद्यम्' इति क्वचित् ।

१. 'पौत्र-आद्यम्' इति पदपाठः । 'पौत्र अद्यम्' ह्विटनिकामितः ।

देवहे॒तिर्ह्रि॒यमा॑णा व्यृ॒द्धिर्हृ॒ता ॥ २९ ॥

भा०—जब ब्रह्मद्वेषी लोग उस ब्रह्मगवी को ( ह्रियमाणा ) हरण कर रहे होते हैं तब वह ( देवहेतिः ) देव विद्वानों के अस्त्र के समान उसका नाश करती है। ( हृता ) जब वे उसका हरण कर चुकते हैं तब वह ( व्यृद्धिः ) उनके सम्पत्ति के नाश का कारण होती है।

पा॒प्माधि॑धी॒यमा॑ना॒ पारु॑ष्यमवधी॒यमा॑ना ॥ ३० ॥

भा०—( अधिधीयमाना ) ब्रह्मद्वेषी पुरुष द्वारा अधिकार में रखी हुई ब्रह्मगवी उसके लिये तो ( पाप्मा ) पाप के समान है, जो उसे भविष्यत् में कष्ट का कारण होगी। ( अवधीयमाना ) उससे तिरस्कार को प्राप्त होती हुई ब्रह्मगवी ( पारुष्यम् ) उसके ऊपर कठोर दण्ड के रूप में उसको आर्थिक, शारीरिक और वाचिक कठोर दण्ड का कारण होती है।

वि॒षं प्र॒यस्य॑न्ती त॒क्मा प्रय॑स्ता ॥ ३१ ॥

भा०—( प्रयस्यन्ती ) ब्रह्मगवी, ब्रह्मद्वेषी के द्वारा कष्ट उठाती हुई उसके लिये ( विषम् ) विष के समान प्राणनाशक है। ( प्रयस्ता ) अति कठिन कष्ट पाई हुई, सताई हुई वह ( तक्मा ) ज्वर के समान उसके जीवन को दुःखमय बना देनेहारी होती है।

अ॒घं प॒च्यमा॑ना दु॒ष्वप्न्यं॑ प॒क्वा ॥ ३२ ॥

भा०—ब्रह्मद्वेषी द्वारा ब्रह्मगवी ( पच्यमाना ) हांडी आदि में मांस अथवा भोजनादि के समान पकाई गई उसके लिये ( अघम् ) भयंकर पाप के समान अनिवार अपराध है। और ( पक्वा ) पकी हुई वह ( दुःष्वप्न्यम् ) बुरे भयकारी स्वप्न के समान रात्रि में भी उसे सुख से नींद न लेने देनेहारी, त्रासकारिणी होती है।

---

३१–' प्रयच्छन्ती ' इति क्वचित्।

मूलबर्हणी पर्याक्रियमाणा क्षितिः पर्याकृता ॥ ३३ ॥

भा०—ब्रह्मद्वेषी द्वारा ब्रह्मगवी ( पर्याक्रियमाणा ) कड़छी से लोटी-पोटी जाती हुई उसके ( मूलबर्हणी ) मूल के नाश करने वाली और ( पर्याकृता ) खूब कड़छी से लोटी-पोटी गई वही उसके लिये ( क्षितिः ) विनाशरूप है।

असंज्ञा गन्धेन शुगुद्ध्रियमाणाशीविष उद्धृता ॥ ३४ ॥

भा०—ब्रह्मद्वेषी द्वारा पकाई गई ब्रह्मगवी स्वयं ( गन्धेन ) उठते हुए मांस के गन्ध से वह ( असंज्ञा ) उसको निःश्चेतन और बेहोश करने वाली होती है। ( उद्ध्रियमाणा ) कड़छे से ऊपर निकाली जाती हुई उसके लिये ( शुक् ) शोकरूप है। ( उद्धृता ) ऊपर निकाली हुई ही ( आशीविषः ) दाढ़ों में जहर धारने वाले काल, सर्प के समान उसके लिये प्राणहर है।

अभूतिरुपह्रियमाणा पराभूतिरुपहृता ॥ ३५ ॥

भा०—( उपह्रियमाणा ) बलि के लिये लाई गई या पकाई जाने पर परोसी जाती हुई या भेट दी जाती हुई ब्रह्मगवी ब्रह्मद्वेषी के लिये ( अभूतिः ) अभूति अर्थात् समस्त सम्पत्ति के विनाश कर, विपत्ति को लाने वाली है और ( उपहृता ) लाई गई या परोसी गई या भेट दी गई 'ब्रह्मगवी' ( पराभूतिः ) उसको 'पराजय' करने वाली है।

शर्वः क्रुद्धः पिश्यमाना शिमिदा पिशिता ॥ ३६ ॥

भा०—( पिश्यमाना ) जब वह एक २ अंग करके काटी जा रही होती है या दांतों से चबाई जा रही होती है तब वह साक्षात् ( क्रुद्धः शर्वः ) क्रुद्ध शर्व, प्रलयकारी रुद्र के समान है। ( पिशिता ) जब वह अंग २ करके काटी जा चुकी या चबाई गई है तब वह ( शिमिदा ) उसके समस्त सुखों का नाशक भारी महामारी के समान है।

अर्तिरुह्यमाना निर्ऋतिराशिता ॥ ३७ ॥

भा०—'ब्रह्मगवी' ( अश्यमाना ) खाई या निगली जाती हुई ( अर्तिः ) ब्रह्मद्वेषी के लिये उसकी सत्ता मिटाने वाली है। और ( आशिता ) खाई गई ही वह ( निर्ऋतिः ) पाप देवता या मृत्यु के समान भयंकर है।

अशिता लोकाच्छिनत्ति ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यमस्माच्चामुष्माच्च ॥ ३८॥(२७)

भा०—(अशिता) खाई गई 'ब्रह्मगवी' ( ब्रह्मज्यम् ) ब्रह्म अर्थात् ब्राह्मण-ब्रह्मज्ञ विद्वान् के नाशकारी पुरुष को ( अस्मात् च अमुष्मात् च ) इस और उस ऐहिक और पारमार्थिक लोक से ( छिनत्ति ) उखाड़ फेंकती है।

( ५ )

अथर्वैवा च पूर्वोक्ते । ३९ साम्नी पङ्क्ति, ४० याजुषी अनुष्टुप्, ४१, ४६ भुरिक् साम्नी अनुष्टुप, ४२ आसुरी बृहती, ४३ साम्नी बृहती, ४४ पिपीलिका-मध्याऽनुष्टुप्, ४५ आर्ची बृहती। अष्टर्चं पञ्चम पर्यायसूक्तम् ॥

तस्या आहननं कृत्या मेनिराशसनं वलग ऊबध्यम् ॥ ३९ ॥

भा०—( तस्याः ) उस ब्रह्मगवी का ( आहनन ) मारना ( कृत्या ) घातकारी गुप्त प्रयोग के समान है। ( आशसनम् ) उसका टुकड़े २ करना ( मेनिः ) घोर वज्र के समान है ( ऊबध्यम् ) उसके भीतर का अन्नादि ( वलग ) गुप्त हत्या प्रयोग के समान है।

अस्वगता परिह्णुता ॥ ४० ॥

भा०—( परिह्णुता ) छुपा ली गई या अपने अधिकार से च्युत करदी गई 'ब्रह्मगवी' ( अस्वगता ) अपने गृह और धन संपत्ति से हाथ धो देना है।

---

३८-' लोकाच्छि ' इति क्वचित्।

३९-' वलगाहन ' इति पेप्प० सं०।

अग्निः क्रव्याद् भूत्वा ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यं प्रविश्यात्ति ॥ ४१ ॥

भा०—( ब्रह्मगवी ) 'ब्रह्मगवी' ( ब्रह्मज्यं ) ब्रह्मघ्न पुरुष में ( क्रव्यात् ) क्रव्य=कच्चा मांस खाने वाली, श्मशानाग्नि ( भूत्वा ) के समान घातक होकर ( प्रविशति ) प्रविष्ट होती है ।

सर्वास्याङ्गा पर्वा मूलानि वृश्चति ॥ ४२ ॥

भा०—( अस्य ) इस ब्रह्मद्वेषी के ( सर्वा अङ्गा ) समस्त अंगों और ( पर्वा ) पोरुओं और ( मूलानि ) मूलों को भी ( वृश्चति ) काट देती है ।

छिनत्त्यस्य पितृबन्धु परा भावयति मातृबन्धु ॥ ४३ ॥

भा०—( अस्य ) उस ब्रह्मघ्न के ( पितृबन्धु ) मां बाप और उनके बन्धुओं को ( छिनत्ति ) विनाश कर डालती है । और ( मातृबन्धु ) माता और उसके सम्बन्ध के बन्धुओं को भी ( पराभावयति ) उससे जुदा करके विनाश कर देती है ।

विवाहां ज्ञातीन्त्सर्वानपि क्षापयति ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यस्य क्षत्रियेणापुनर्दीयमाना ॥ ४४ ॥

भा०—(ब्रह्मगवी) 'ब्रह्मगवी' (क्षत्रियेण) क्षत्रिय अर्थात् राजबल द्वारा ( अपुनः दीयमाना ) यदि फिर भी लौटाई न जाय तो वह ( ब्रह्मज्यस्य ) ब्रह्मद्वेषी के ( सर्वान् विवाहान् ) समस्त विवाह सम्बन्धों और ( ज्ञातीन् ) समस्त ज्ञातिबन्धुओं को भी ( क्षापयति ) विनाश कर डालती है ।

अवास्तुमेनमस्वगमप्रजसं करोत्यपरापरणो भवति क्षीयते ॥४५॥

य एवं विदुषो ब्राह्मणस्य क्षत्रियो गामादत्ते ॥ ४६ ॥ ( २८ )

भा०—( यः ) जो ( एवम् ) इस प्रकार ( विदुषः ) विद्वान् ( ब्राह्मणस्य ) ब्राह्मण की ( गाम् ) 'गौ' को ( क्षत्रियः ) क्षत्रिय ( आदत्ते ) ले लेता है, वह ब्रह्मगवी ( एनम् ) उस को ( अवास्तुम् ) मकान रहित,

( अस्वगम् ) घरबाररहित और ( अप्रजसम् ) प्रजारहित ( करोति ) कर डालती है। और वह ( अपरापरणः भवति ) दूसरे किसी अपने पालन करने वाले सहायक से भी रहित हो, निस्सहाय हो जाता है और ( क्षीयते ) नाश को प्राप्त हो जाता, उजड़ जाता है।

( ६ )

ऋषिर्देवते च पूर्वोक्ते । ४७, ४९, ५१-५३, ५७-५९, ६१ प्राजापत्यानुष्टुभः, ४८ आर्षी अनुष्टुप्, ५० साम्नी बृहती, ५४, ५५ प्राजापत्या उष्णिक्, ५६ आसुरी गायत्री, ६० गायत्री । पञ्चदशर्चं षष्ठं पर्यायसूक्तम् ॥

क्षिप्रं वै तस्याहनने गृध्राः कुर्वत ऐलबम् ॥ ४७ ॥

भा०—( तस्य ) पूर्वोक्त ब्राह्मण को दुःख देने वाले दुष्ट पुरुष के ( आ हनने ) मारे जाने पर ( गृध्रा ) गीध ( क्षिप्रं वै ) बहुत शीघ्र ही ( ऐलबम् कुर्वते ) बड़ा कोलाहल करते हैं।

क्षिप्रं वै तस्यादहनं परि नृत्यन्ति केशिनीः
आघ्नानाः पाणिनोरसि कुर्वाणाः पापमैलबम् ॥ ४८ ॥

भा०—( क्षिप्रं वै ) और शीघ्र ही ( तस्य आदहनं परि ) उस की जलती चिता के चारों ओर ( केशिनीः ) लम्बे २ बालों वाली औरतें, बाल खोल २ कर उसके मरने का विलाप करती हुई ( पाणिना ) हाथों से ( उरसि ) छातियों पर ( आघ्नानाः ) दुहत्थड़ मार कर रोती चीखती हुई ( पापम् ) पापसूचक, या घोर ( ऐलबम् ) आर्तनाद ( कुर्वाणाः ) करती हुई ( परिनृत्यन्ति ) विकल नाच करती हैं।

क्षिप्रं वै तस्य वास्तुषु वृकाः कुर्वत ऐलबम् ॥ ४९ ॥

४७–' कुर्वतैलबम् ' इति पैप्प० सं० ।
४८–' ऐलबम् ' इति पैप्प० सं० ।
४९–' वास्तुषु गयान कुर्वतेऽस्तुगान् ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—( तस्य वास्तुषु ) उसके महलों में ( क्षिप्रं वै ) शीघ्र ही ( वृकाः ) चोर उचक्के और सियार भेड़िये ( एलवम् कुर्वते ) चीख पुकार, मचाया करते हैं ।

क्षिप्रं वै तस्यं पृच्छन्ति यत् तदासी३दिदं नु ता३दिति ॥५०॥

भा०—( क्षिप्रं वै ) और शीघ्र ही लोग ( तस्य ) उसके बारे में ( पृच्छन्ति ) आश्चर्य से ऐसे पूछा करते हैं ( यत् ) कि ( तद् आसीत् ) ओह! इसका तो वह अवर्णनीय वैभव था ( इदं नु ता३त् इति ) बस वह सब यही खण्डहर होकर ढेर हुआ पड़ा है ।

छिन्ध्याच्छिन्धि प्रच्छिन्ध्यपि क्षापय क्षापय ॥ ५१ ॥

आददानमाङ्गिरसि ब्रह्मज्यमुप दासय ॥५२ ॥

भा०—हे ( आङ्गिरसि ) अङ्गिरस=ब्राह्मण विद्वान् की शक्ति रूपे ! दुष्ट पुरुष को ( छिन्धि ) काट डाल, ( आच्छिन्धि ) सब ओर से काट डाल, (प्रच्छिन्धि) अच्छी प्रकार काट डाल । ( क्षापय क्षापय ) उजाड़ डाल, उजाड़ डाल । ( आददानम् उपदासय ) ब्रह्मगवी के लेने और नाश करने हारे को विनाश कर डाल ।

वैश्वदेवी ह्यु१च्यसे कृत्या कूल्बजमावृता ॥ ५३ ॥

भा०—हे आङ्गिरसि ! ब्रह्मगवि ! तू ( वैश्वदेवी हि ) निश्चय से वैश्व देवी 'प्रजापति' की परम शक्ति ( उच्यसे ) कहाती है तू ( कूल्बजम् ) कुत्सित जनसमुदाय से उत्पन्न सेना के आश्रय पर या तृणों के ढेर में (आवृता) गुप्त रूप से छिपी ( कृत्या ) कृत्या, हिंसा की गुप्त चाल के समान अनर्थकारिणी है ।

---

५०—'किलासीदिति' हिटनिकामितः पाठः ।

५२—'आदध्यान्' इति पैप्प० सं० ।

५३—'कूल्वामाताः' इति पैप्प० सं० ।

ओपन्ती समोपन्ती ब्रह्मणो वज्रः ॥ ५४ ॥

भा०—हे अघ्निरसि ! तू ( ओपन्ती ) दहन और सन्ताप करती हुई और ( सम् ओपन्ती ) खूब जलाती हुई ( ब्रह्मणः वज्रः ) ब्रह्म, ब्राह्मण की वज्र=तलवार के समान है ।

क्षुरपविर्मृत्युर्भूत्वा वि धाव त्वम् ॥ ५५ ॥

भा०—हे अघ्निरसि ! ब्रह्मगवि ! तू ( क्षुरपविः ) छुरे के तीक्ष्ण धार वाली होकर ब्रह्मद्वेषी के लिये ( मृत्युः भूत्वा ) मृत्यु होकर ( त्वम् ) तू ( धाव ) दौड़, चढ़ाई कर ।

आ दत्से जिनतां वर्च इष्टं पूर्तं चाशिषः ॥ ५६ ॥

भा०—हे ब्रह्मगवि ! तू ( जिनताम् ) हत्याकारियों के ( वर्चः ) तेज, ( इष्टम् ) यज्ञ याग के फल और ( पूर्तम् ) अन्य कूप, तड़ाग धर्मशाला आदि परोपकार के कार्यों के फल और ( आशिषः ) अन्य उनकी समस्त शुभ आशाओं और कामनाओं को तू ( आदत्से ) स्वयं लेकर विनाश कर डालती है ।

आदाय जीतं जीताय लोके॒ऽमुष्मिन् प्र यच्छसि ॥ ५७ ॥

भा०—( जीतं ) हिंसाकारी पुरुष को ( आदाय ) पकड़ कर तू ( अमुष्मिन् लोके ) मृत्यु के बाद के दूसरे परलोक में भी ( जीताय ) उससे हिंसा किये गये, उससे पीड़ित पुरुष के हाथों ( प्रयच्छसि ) सौंप देती है ।

अघ्न्ये पदवीर्भव ब्राह्मणस्याभिशस्त्या ॥ ५८ ॥

भा०—हे ( अघ्न्ये ) कभी न मारने योग्य और किसी से भी न मारने योग्य ! ब्रह्मगवि ! ( ब्राह्मणस्य अभिशस्त्या ) ब्राह्मण के विरुद्ध होने

५५–' विभावसुः ' इति पैप्प० सं० ।

५८–' अभिशस्त्या ' इति ह्विटनिकामितः ।

वाले द्रोह में तू उसकी ( पद्वीः ) पदवी, प्रतिष्ठा, मार्गदर्शक ( भव ) बन कर रह ।

मेनिः शरव्या भवाघाद्घविषा भव ॥ ५९ ॥

भा०—हे ब्रह्मगवि ! तू ( मेनिः ) वज्ररूप, ( शरव्या ) बाणरूप ( भव ) हो । तू ( अघात् ) सब अत्याचारों को खाजाने वाली और स्वयं ( अघविषा ) पापी के लिये अप्रतीकार्य विष रूप ( भव ) हो ।

अघ्न्ये प्र शिरो जहि ब्रह्मज्यस्य कृतागसो देवपीयोरराधसः ॥६०॥

भा०—( अघ्न्ये ) हे अघ्न्ये ! ब्रह्मगवि ! तू ( ब्रह्मज्यस्य ) ब्रह्मघाती, ( कृतागसः ) अपराधकारी ( देवपीयोः ) देव, विद्वानों के हिंसक ( अराधसः ) अनुदार, दुष्ट पुरुष के ( शिरः ) शिर को ( प्र जहि ) कुचल डाल ।

त्वया प्रमूर्णं मृदितमग्निर्दहतु दुश्चितम् ॥ ६१ ॥ ( २६ )

भा०—( त्वया ) हे ब्रह्मगवि ! तुझ द्वारा ( प्रमूर्णं ) खूब मारे गये, ( मृदितम् ) चकनाचूर किये गये ( दुश्चितम् ) उस दुष्ट बुद्धि वाले कुबुद्धि पुरुष को ( अग्निः दहतु ) अग्नि, सन्तापकारक राजा जला दे ।

( ७ )

ऋषिर्देवता च पूर्वोक्ते । ६२–६४, ६६, ६८–७०, प्राजापत्यानुष्टुभः, ६५ गायत्री, ६७ प्राजापत्या गायत्री, ७१ आसुरी पंक्तिः, ७२ प्राजापत्या त्रिष्टुप्, ७३ आसुरी उष्णिक् । द्वादशर्चं सप्तमं सूक्तम् ॥

वृश्च प्र वृश्च सं वृश्च दह प्र दह सं दह ॥ ६२ ॥

ब्रह्मज्यं देव्यघ्न्य आ मूलादनुसंदह ॥ ६३ ॥

---

६१–' तया प्रवृक्णो रचितमग्निर्दहतु दुष्कृतान् ' इति पैप्प० सं० ।

६३–' मूलान् ' इति क्वचित् ।

भा०—हे ( देवि अघ्न्ये ) दिव्य स्वभाव वाली देवि अघ्न्ये ! कभी न मारे जाने योग्य ब्रह्मगवी आप ( ब्रह्मज्यम् ) ब्रह्म, ब्राह्मण की हानि करने हारे पुरुष को ( वृश्च प्र वृश्च ) काट और अच्छी तरह से काट और ( सं वृश्च ) खूब अच्छी तरह से काट। ( दह, प्र दह, सं दह ) जला, अच्छी तरह से जला और खूब अच्छी तरह से जला डाल। उसको तो ( आमूलात् ) जड़ तक ( अनु सं दह ) फूंक डाल।

यथायाद् यमसादनात् पापलोकान् परावतः ॥ ६४ ॥
एवा त्वं देव्यघ्न्ये ब्रह्मज्यस्य कृतागसो देवपीयोरराधसः ॥ ६५ ॥
वज्रेण शतपर्वणा तीक्ष्णेन क्षुरभृष्टिना ॥ ६६ ॥
*प्र स्कन्धान् प्र शिरो जहि ॥ ६७ ॥*

भा०—हे ( देवि अघ्न्ये ) देवि अघ्न्ये ! ब्रह्मगवि ! ( यथा ) जिस तरह से वह ( यमसदनात् ) यमराज परमेश्वर के दण्डस्थान से ( परावतः ) परले ( पापलोकान् ) पाप के फलस्वरूप घोर लोकों को ( अयात् ) चला जावे ( एवा ) इस प्रकार तू ( कृतागसः ) पापकारी ( देवपीयोः ) देव, विद्वानों के शत्रु ( अराधसः ) अनुदार, घोर क्षुद्र ( ब्रह्मज्यस ) ब्रह्मघाती पुरुष के ( शिरः ) शिर और ( स्कन्धान् ) कन्धों को ( शतपर्वणा ) सौ पर्व वाले ( क्षुरभृष्टिना ) छुरे के धार से सम्पन्न ( तीक्ष्णेन ) तीखे, तेज ( वज्रेण ) वज्र से ( प्र जहि ) काट डाल।

लोमान्यस्य सं छिन्धि त्वचमस्य वि वेष्टय ॥ ६८ ॥
मांसान्यस्य शातय स्नावान्यस्य सं वृह ॥ ६९ ॥
*अस्थीन्यस्य पीडय मज्जानमस्य निर्जहि ॥ ७० ॥*
सर्वास्याङ्गा पर्वाणि वि श्रथय ॥ ७१ ॥

भा०—( अस्य ) उसके ( लोमानि सं छिन्धि ) लोम = काट डाल। ( अस्य त्वचम् ) उसकी त्वचा, चमड़े को ( वेष्टय ) उमेट डाल, उधेड़ डाल। ( अस्य मांसानि ) इसके मांस के लोथड़ों को काट डाल। ( अस्य

स्नावानि ) उसके स्नायुओं, नसों को ( सं वृह ) कचर डाल । ( अस्य अस्थीनि ) उसकी हड्डियों को ( पीडय ) तोड़ डाल । ( अस्य मज्जानम् ) उसके मज्जा, चर्बी को ( निर्जहि ) सर्वथा नाश कर डाल । ( अस्य ) उस के ( सर्वा पर्वाणि ) सब पोरू पोरू और ( अङ्गा ) अङ्ग २ ( वि श्रथय ) बिलकुल जुदा २ कर डाल ।

अग्निरेनं क्रव्यात् पृथिव्या नुदतामुदोषतु
वायुरन्तरिक्षान्महतो वरिम्णः ॥ ७२ ॥
सूर्य एनं दिवः प्र णुदतां न्योषतु ॥ ७३ ॥ ( ३० )

भा०—( एनं ) इसको ( क्रव्यात् अग्निः ) क्रव्य, कच्चा मांस खाने वाला श्मशान अग्नि ( पृथिव्याः नुदताम् ) पृथिवी से निकाल बाहर करे, और ( उत् ओषतु ) जला डाले और ( वायुः ) वायु ( महतः वरिम्णः ) इस बड़े भारी ( अन्तरिक्षात् ) अन्तरिक्ष से भी परे करे । ( सूर्यः ) सूर्य ( एनं ) उसको ( दिवः ) द्यौलोक से भी ( प्र नुदताम् ) परे निकाल दे और ( नि ओषतु ) नीचे २ जलावे, उसे संतप्त करे ।

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

[ पञ्चमं सूक्तम्, ऋचः त्रिसप्ततिः । ]



## इति द्वादशं काण्डं समाप्तम् ।

द्वादशे पञ्च सूक्तानि पर्यायाः सप्त पञ्चमे ।
पञ्चानुवाकाश्च ऋचश्चतुरूर्ध्वशतत्रयम् ॥



वेदवस्वङ्कचन्द्राब्दे ज्येष्ठे कृष्णे दले गुरौ ।
पञ्चम्यां द्वादशं काण्डं विराममगमत् क्रमात् ॥

इति प्रतिष्ठितविद्यालंकार-मीमांसातीर्थविरुदोपशोभित-श्रीमज्जयदेवशर्मणा विरचिते-
ऽथर्ववेदस्यालोकभाष्ये द्वादशं काण्डं समाप्तम् ।

❁ ओ३म् ❁

# अथ त्रयोदशं काण्डम्



## [ १ ] 'रोहित' रूप से परमात्मा और राजा का वर्णन।

ब्रह्मा ऋषिः। रोहित आदित्यो देवता। अध्यात्म सूक्तम्। ३ मरुतः, २८, ३१ अग्निः, ३१ बहुदेवता। ३-५, ९, १२ जगत्यः, १५ अतिजागतगर्भा जगती, ८ भुरिक्, १६, १७ पञ्चपदा ककुम्मती जगती, १३ अति शाक्वरगर्भातिजगती, १४ त्रिपदा पुर॰ परशाक्वरा विपरीतपादलक्ष्मा पङ्क्तिः, १८, १९ ककुम्मत्यतिजगत्यौ, १८ पर शाक्वरा भुरिक्, १९ पराभिजगती, २१ आर्षी निचृद् गायत्री, २२, २३, २७ प्रकृता विराट् परोष्णिक्, २८-३०, ५५ ककुम्मती बृहतीगर्भा, ५७ ककुम्मती, ३१ पञ्चपदा ककुम्मती शाक्वरगर्भा जगती, ३५ उपरिष्टाद् बृहती, ३६ निचृन्महा बृहती, ३७ परशाक्वरा विराड् अतिजगती, ४२ विराड् जगती, ४३ विराड् महा-बृहती, ४४ परोष्णिक्, ५९, ६० गायत्र्यौ, १, २, ६, ७, १०, ११, २०, २४, २५, ३२-३४, ३८-४१, ४२-५४, ५६, ५८ त्रिष्टुभः। षष्ट्यृचं सूक्तम्॥

उदे॑हि वाजि॒न् यो अ॒प्स्व॑१न्तरि॒दं रा॒ष्ट्रं प्र वि॑श सू॒नृता॑वत्।
यो रोहि॑तो॒ विश्व॑मि॒दं ज॒जान॒ स त्वा॑ रा॒ष्ट्राय॒ सुभृ॑तं बिभर्तु ॥१॥

भा०—हे (वाजिन्) बलपते, वीर्यवन् राजन्! (उत् एहि) तू ऊपर उठ, उदय को प्राप्त हो। (यः) जो (अप्सु अन्तः) प्रजाओं के

---

[१] १—(द्वि०) 'आविश' (च०) 'स नो राष्ट्रेषु सुधितान् दधातु' इति तै० ब्रा०। (तृ०) 'विश्वमा जजान' (च०) 'बिभर्तु' इति पैप्प० सं०।

योन्द में विद्यमान है वह तू ( सूनृतावत् ) उत्तम शुभ वाणी और व्यवस्था से युक्त ( इदं ) इस ( राष्ट्रं ) राष्ट्र में ( प्रविश ) प्रवेश कर और ( यः ) जो ( रोहितः ) अग्नि प्रदीप्त, लाल रंग के उज्ज्वल पोषक में सजा हुआ सूर्य के समान ( इदं ) इस ( विश्वम् ) समस्त राष्ट्र को ( जजान ) उत्पन्न करता या निर्माण करता है ( सः ) वह बड़ा व्यवस्थापक ( राष्ट्राय ) राष्ट्र के लिये ( सुभृतम् ) उत्तमता से भरण पालन करने में समर्थ ( त्वा ) मुझे ( बिभर्तु ) पालन पोषण करे।

'वाजिन्'—वीर्यं वै वाजाः। श० ३। ३। ४। ७॥ वाजो वै स्वर्गो लोकः। ता० १८। ७। १२॥ अन्नं वाजः। श० ५। १। ४। ३॥ अग्निर्वायुः सूर्यः ते वै वाजिनः। तै० १। ६। ३। ६॥ आदित्यो वाजी। तै० १। ३। ६। ४॥ इन्द्रो वै वाजी। ऐ० ३। १६॥

अध्यात्म में—हे ( वाजिन् ) इन्द्र आत्मन् ! ( उत् एहि ) ऊपर उठ, अभ्युदय को प्राप्त हो। ( सूनृतावत् ) शुभ ज्ञानमय ( राष्ट्रम् ) राजमान, प्रकाशस्वरूप ( इदम् ) इस प्रत्यक्ष गम्य अपने लिंग देह या स्वरूप में ( प्रविश ) प्रवेश कर। ( यः ) जो ( रोहितः ) समस्त संसार का बीज वपन करने और उत्पन्न करने वाला, 'रोहित' रजो भाव से युक्त उत्पादक परमात्मा ( अप्सु अन्तः ) मूल प्रकृति के परमाणुओं में से ( इदं विश्वं जजान ) इस समस्त संसार को उत्पन्न करता है ( सः ) वह ( राष्ट्राय सुभृतम् ) राजमान, प्रकाशस्वरूप अपने लिंग देह या तेजोरूप को उत्तम रीति से धारण करने वाले ( त्वा ) मुझे ( बिभर्तु ) पालन करे।

'राष्ट्रम्'—श्रीर्वै राष्ट्रम्। श० ६। ७। ३। ७॥ अर्थं हि राष्ट्रम्। तै० ७। २२॥ राष्ट्राणि वै विशः। ऐ० ८। २६॥ राष्ट्रं सप्तदशः स्तोमः। तै० १। १। ८। ५॥ प्रजापतिर्वै सप्तदशः स्तोमः। गो० उ० २। १३॥ सूर्यपदे-सप्तदशो वै प्रजापतिः संवत्सरः। ऐ० १। १॥ पिट् सप्तदशः। ता०

१८ । १० । ६ ॥ सप्तदशो वै पुरुषः दशप्राणाश्चत्वार्यङ्गान्यात्मा पञ्चदशो ग्रीवा षोडश्यः शिरः सप्तदशम् । श० ६ । २ । २ । ६ ॥

उद्वाज आ गन् यो अप्स्व१न्तर्विश आ रोह त्वद्योनयो याः ।
सोमं दधानोऽप ओषधीर्गाश्चतुष्पदो द्विपद आ वेशयेह ॥ २ ॥

भा०—( यः ) जो ( अप्सु अन्तः ) प्रजाओं के भीतर ( वाजः ) वीर्य या ज्ञानरूप होकर ( उद् आगन् ) ऊपर उठ जाता है, अभ्युदय को प्राप्त है वह हे क्षत्रिय ! वीर्यवन् राजन् ! तू ( विशः ) इन वैश्य प्रजाओं के ऊपर ( आरोह ) आरूढ होकर शासन कर । ( याः ) जो प्रजाएं ( त्वद्-योनयः ) तेरी योनि, आश्रय होकर तुझे उत्पन्न करनेहारी हैं । तू ( सोमं ) सर्वप्रेरक बल या राष्ट्र या ऐश्वर्य को ( दधानः ) धारण करता हुआ ( इह ) इस राष्ट्र में ( अपः ) उत्तम जलों, ( ओषधीः ) ओषधियों, ( गाः ) गौओं, ( चतुष्पदः ) चौपायों और ( द्विपदः ) मनुष्यों को भी ( आवेशय ) लाकर बसा ।

अध्यात्म में—हे आत्मन् ! तू ( वाजः ) वीर्यस्वरूप होकर प्राप्त हो । जो ( अप्सु अन्तः ) कर्मशील इन्द्रियों के भीतर विराजमान, तू ( विशः ) इन अन्तर्निविष्ट प्राणियों से भी ऊपर ( आरोह ) अधिष्ठातारूप से प्रजाओं में राजा के समान रह । ( याः त्वद्योनयः ) जो ये सब तेरे आश्रय हैं । तू ( सोमं दधानः ) वीर्य को धारण करता हुआ ओषधियों गौ आदि पशुओं और मनुष्यों को भी यहां चेतनरूप से बसा । ये सब चर अचर जगत् उस आत्मा का कौशल है ।

यूयमुग्रा मरुतः पृश्निमातर इन्द्रेण युजा प्र मृणीत शत्रून् ।
आ वो रोहितः शृणवत् सुदानवस्त्रिषप्तासो मरुतः स्वादुसंमुदः ॥३॥

पूर्वार्धं अथर्व० ५ । २१ । ११ प्र० द्वि० ।

---

२-(द्वि०) 'विशारोह' (तृ०) 'दधानोऽपः ओषधी-' (च०) 'द्विपादिह-' इति पैप्प० सं० ।
३-(तृ०) 'आ शृणोदभियावः सुदा-' इति पै० सं० ।

भा०—हे ( उग्राः मरुतः ) बलवान् उग्र रूप मरुत् गणो ! वायु के समान तीव्र वेगवान् एवं शत्रु के मृत्युकारक, भारी मार मारने वाले सैनिको ! ( यूयम् ) आप लोग ( पृश्निमातरः ) पृश्नि, पृथिवी को अपनी माता स्वीकार करते हुए ( इन्द्रेण युजा ) अपने साथ इन्द्र, राजा के सहित, ( शत्रून् प्र मृणीत ) शत्रुओं का विनाश करो। ( वः ) तुम्हारा ( रोहित ) लाल पोषाक पहने, एवं सबसे ऊपर आरूढ़ सूर्य के समान तेजस्वी राजा ( वः ) आप लोगों के विषय में ( आशृणवत् ) सुने कि आप लोग ( सु दानवः ) उत्तम कल्याण, दानशील ( त्रि-सप्तासः ) इक्कीसों प्रकार के ( मरुतः ) मरुद्गण ( स्वादुसंमुदः ) उत्तम २ भोगों में आनन्द लाभ कर रहे हो।

अध्यात्म में—( मरुतः ) हे प्राणगण या मुक्त जीवगण ! आप ( पृश्निमातरः ) पृश्नि, परमात्मा रूप माता से उत्पन्न हो, इन्द्र रूप आत्मा के साथ उसके वीर्य से काम-क्रोध आदि शत्रुओं का नाश करो। वह सर्वोपरि विराजमान रोहित परमात्मा आपको कल्याण-दानकारी ( त्रि-सप्तासः ) तीर्णतम मोक्ष प्रदेश में सर्पण करने हारे एवं ( स्वादुसंमुदः ) परमानन्द रस में आमोद करने हारे तुमको ( आ शृणवत् ) जाने।

रुहो रुरोह रोहित आ रुरोह गर्भो जनीनां जनुषामुपस्थम्।
ताभिः संरब्धमन्वविन्दन् षडुर्वीर्गातुं प्रपश्यन्निह राष्ट्रमाहाः ॥४॥

भा०—( रोहितः ) सूर्य जिस प्रकार ( रुहः रुरोह ) उच्च २ स्थानों को क्रम से चढ़ता चला जाता है, उसी प्रकार उदय को प्राप्त होता हुआ राजा भी ( रुहः आरुरोह ) उच्च २ स्थानों और अधिकारों को प्राप्त करता है। ( गर्भः ) गर्भ जिस प्रकार ( जनुषाम् ) प्राणियों के ( जनीनां )

४-( प्र० ) 'रोहं, रोह' ( द्वि० ) 'प्रजानिवृद्धिरन्तु' ( तृ० ) 'ताभिः समृद्धो अविदत्' इति हि० गा० ।

माताओं के ( उपस्थम् ) गोद भाग में ( आ रुरोह ) क्रम से पोषित होकर वृद्धि को प्राप्त होता है उसी प्रकार ( गर्भः ) राज्य शक्ति को अपने हाथ में ग्रहण करने में समर्थ राजा ( जनुषाम् ) प्राणियों या प्रजाजनों के बीच ( उपस्थम् ) उत्तम स्थान को ( आ रुरोह ) चढ़ कर प्राप्त करता है। ( ताभिः ) उन प्रजाओं के प्रयत्नों से ( संरब्धम् ) बनाये गये राष्ट्र को ( अनु अविन्दत् ) उनके अनुकूलता में ही प्राप्त करता हुआ ( षड् उर्वीः ) छहों विशाल दिशाओं में ( गातुम् ) अपने गमन मार्ग को ( प्रपश्यन् ) देखता हुआ ( राष्ट्रम् आ अहाः ) समस्त राष्ट्र को अपने वश में कर लेता है। रोहण प्रकार देखो यजु० [ अ० १० । १०-१४ ]

अध्यात्म पक्ष में—( रोहितः रुह रुरोह ) रोहित, सर्वोत्पादक परमात्मा आरोहणशील सब जीवों के ऊपर विराजमान है। ( जनीनाम् गर्भः इव ) माताओं गर्भ के समान ( जनुषाम् उपस्थम् आरुरोह ) वह समस्त प्राणियों के भीतर विराजमान है। ( ताभिः संरब्धम् अनु अविन्दत् षड् उर्वीः ) उन समस्त प्राणियों द्वारा जाना जाकर ही वह समस्त छहों दिशाओं में व्यापक दिखाई देता है। वह ( गातुं प्रपश्यन् इह राष्ट्रम् आ अहाः ) ज्ञान सर्वस्व का दर्शन कराता हुआ इस जगत् में राष्ट्र, अपने तेज को प्रदान करता है। या इस ब्रह्माण्ड में व्याप्त है।

आ ते॑ राष्ट्रमि॒ह रोहि॑तोऽहार्षी॒द् व्या॑स्थ॒न्मृधो॒ अभ॑यं ते अभूत्।
तस्मै॑ ते द्यावापृथि॒वी रे॒वती॑भिः॒ कामं॑ दुहाथामि॒ह शक्व॑रीभिः ॥५॥

भा०—हे प्रजाजन ! ( ते राष्ट्रम् ) तेरे राष्ट्र को ( रोहितः इह अहार्षीत् ) रोहित सर्वोपरि आरूढ, तेजस्वी राजा इस पृथ्वी पर स्वीकार

५-( च० ) 'दुहाताम्' इति च क्वचित्। 'अहार्षीद्राष्ट्रमिह रोहितो मृधो व्यास्थदभयं नो अस्तु। अस्मभ्यं द्यावापृथिवी शक्वरीभीराष्ट्रं दुहाथामिह रेवतीभिः' इति तै० ब्रा०।

करता है। वह ( मृधः ) शत्रुओं को ( वि आस्थत् ) नाना प्रकार से नाश करता है। तब ( ते अभयम् अभूत् ) तेरे लिये अभय होजाता है ( तस्मै ते ) उस तेरे लिये ( द्यावापृथिवी ) द्यौ और पृथिवी अपनी ( रेवतीभिः ) धनादि सम्पन्न ( शक्वरीभिः ) अति शक्तिशाली शक्तियों या प्रजाओं के साथ ( इह ) इस राष्ट्र में ( कामम् ) यथेच्छ ( दुहाथाम् ) मनोरथों को पूर्ण करें।

रोहि॑तो॒ द्यावा॑पृथि॒वी ज॑जान॒ तत्र॒ तन्तुं॑ परमे॒ष्ठी त॑तान।
तत्र॑ शिश्रिये॒ऽज एक॑पा॒दोऽदृं॑ह॒द् द्यावा॑पृथि॒वी बले॑न ॥ ६ ॥

भा०—( रोहितः ) सब के उत्पादक परमात्मा ने ( द्यावा पृथिवी ) द्यौ, आकाश और पृथिवी को ( जजान ) उत्पन्न किया है। ( तत्र ) वहां उन दोनों में ( परमेष्ठी ) प्रजापति परमात्मा ने ( तन्तुम् ) विस्तारशील प्रजा या प्रकृति को या वायुरूप सूत्र को ( ततान ) फैलाया, उत्पन्न किया। ( तत्र ) उस पर ( अजः ) अजन्मा ( एकपादः ) एक मात्र सर्वाश्रय, स्वरूपप्रतिष्ठ, परमात्मा ही स्वयं ( शिश्रिये ) उसमें आश्रय रूप से वर्तमान रहा, उसने ( बलेन ) अपने विक्षोभकारी बल से ( द्यावापृथिवी ) आकाश और पृथिवी को ( अदृंहत् ) दृढता से स्थापित कर दिया। अपने २ स्थान पर नियत कर दिया।

रोहि॑तो॒ द्यावा॑पृथि॒वी अ॑दृंह॒त् तेन॒ स्व॑ स्तभि॒तं तेन॒ नाकः॑।
तेना॒न्तरि॑क्षं॒ विमि॑ता॒ रजां॑सि॒ तेन॑ दे॒वा अ॒मृत॒मन्व॑विन्दन् ॥ ७ ॥

भा०—( रोहितः ) उस सर्वोत्पादक, सर्वोपरिविराजमान, परमेश्वर ने ( द्यावापृथिवी ) द्यौ और पृथिवी को ( अदृंहत् ) दृढ़ता से स्थिर किया। ( तेन ) उसने ही ( स्वः ) यह स्वर्गलोक, तेजोमय प्रकाशमान पिण्ड और

६-( तृ० ) 'एकपादो' इति पप्प० सं०। ( तृ० ) 'तस्मिन शि-' इति मै० सं०।
७-( तृ० च० ) 'सोऽन्तरिक्षे रजसो विमानस्तेन देवास्स्वरन्वविन्दन्' इति पै० सं०।

( तेन नाक ) उसने ही समस्त 'नाक', सुखमय लोक ( स्तभितम् ) थाम रक्खे हैं । और उसी से ( अन्तरिक्षम् ) अन्तरिक्ष यह वायुमय स्थान और ( रजांसि ) ये समस्त तारे आदि लोक ( विमिता ) नाना प्रकार के बनाये हैं ( तेन ) उसके अनुग्रह से ( देवाः ) दिव्यलोक सूर्य, चन्द्र, अग्नि वायु आदि पदार्थ और आत्मदर्शन करनेहारे विद्वान् लोग भी ( अमृतम् ) अमृत अविनाशी ब्रह्मपद को ( अनु अविन्दन् ) प्राप्त करते हैं ।

वि रोहितो अमृशद् विश्वरूपं समाकुर्वाणः प्ररुहो रुहश्च ।
दिवं रूढ्वा महता महिम्ना सं ते राष्ट्रमनक्तु पयसा घृतेन ॥८॥

भा०—हे राजन् ! वह ( रोहितः ) सर्वोत्पादक परमात्मा ( प्ररुहः ) उत्कृष्ट प्रदेशों ( रुहः च ) और उनके उत्पन्न करने के सामर्थ्यों को ( सम् आकुर्वाणः ) एकत्र करता हुआ ( विश्वरूपम् ) इस समस्त विश्व के स्वरूप को ( वि अमृशत् ) नाना प्रकार से बनाता है । और ( महता ) बड़ी भारी ( महिम्ना ) सामर्थ्य से ( दिवं ) द्यौलोक के भी ऊपर सूर्य के समान ( रूढ्वा ) अधिष्ठाता रूप से आरूढ़ होकर ( ते ) तेरे राष्ट्र, इस देदीप्यमान जगत् को ( पयसा ) अन्न आदि पुष्टिकारक पदार्थ या अपने वीर्य और ( घृतेन ) तेज से ( सम् अनक्तु ) भली प्रकार प्रकाशित करे ।

इसी प्रकार राजा भी अपने राष्ट्र में ( प्ररुहः रुहः च सम् आकुर्वाणः ) नाना प्रकार के ऊँचे नीचे पदों को बनाकर समस्त राष्ट्र के कार्य पर विचार करता है । और अपनी शक्ति से उच्चपद प्राप्त करके अपने तेज और स्नेह से राष्ट्र को समृद्ध और सम्पन्न करता है ।

यास्ते रुहः प्ररुहो यास्त आरुहो याभिरापृणासि दिवमन्तरिक्षम् ।
तासां ब्रह्मणा पयसा वावृधानो विशि राष्ट्रे जागृहि रोहितस्य ॥९॥

८-( प्र० ) ' विराट् रोहितो विपश्यः समाकुर्वा० ' ( तृ० ) ' दिवं
रूढ्वाय ' ( च० ) ' सं नो राष्ट्रं मुनक्तु पयसाघृतेन '

भा०—हे परमात्मन् ! ( याः ) जो ( ते ) तेरे ( रुहः ) उत्पादक शक्तियां बल (प्ररुहः) विशेष बल और (आरुहः) प्रत्यक्ष वृत्तियां हैं (याभिः) जिनसे तू ( दिवम् अन्तरिक्षम् ) द्यौः और अन्तरिक्ष लोकों को आपृणासि) पूर रहा है ( तासां ) उन महाशक्तियों के ( ब्रह्मणा ) महान् ( पयसा ) बल से स्वयं ( वावृधानः , सब से बड़ा होकर ( रोहितस्य ) तेरे सामर्थ्य से उत्पन्न जीव के ( राष्ट्रे ) चराचर जगत् में तू सदा ( जागृहि ) जागृत, सावधान रह । उनके कृतकर्मों के फलों की व्यवस्था कर ।

राजपक्ष में—हे राजन् ! जो तू प्रजाओं को नाना प्रकार की करके उनसे ऊंचे नीचे सब स्थानों को पूर देता है । तू उन प्रजाओं के ब्राह्मण बल से स्वयं बढ़कर अपने राष्ट्र में सावधान होकर रह ।

यास्ते॒ विश॒स्तप॑सः संबभू॒वुर्व॒त्सं गा॑य॒त्रीमनु॒ ता इ॒हागुः॑ ।
तास्त्वा॒ वि॑श॒न्तु॒ मन॑सा शि॒वेन॒ संमा॑ता व॒त्सो अ॒भ्ये॑तु॒ रोहि॑तः ॥ १० ॥ ( १ )

भा०—हे परमात्मन् ! ( याः ) जो ( ते ) तेरी ( विशः ) तेरे में प्रविष्ट प्रजाएं, ( तपसः ) तप, सत्य ज्ञान से ( सं बभूवुः ) विशेष रूप से सामर्थ्य-वान् या उत्पन्न हैं और वे ( वत्सं ) सब में निवास करने हारे तुझ्के और ( गायत्रीम् ) प्राणों का त्राण करनेहारी तेरी ही शक्ति के ( अनु ) पीछे २ ( ताः ) वे प्रजाएं ( इह ) इस लोक में ( अगुः ) गमन करती हैं ( ताः ) वे ( शिवेन मनसा ) शुभ चित्त से ( त्वा ) तुझ में ही ( विशन्तु ) प्रवेश कर जांय । और तू समस्त विश्व का ( सम्-माता ) एक मात्र बनाने

१०–( प्र० ) ' तपसा ' ( द्वि० ) ' गायत्रं वत्सननुतास्त आगुः ' ( तृ० ) ' मनसा स्वेन ' ( च० ) ' पुत्रो अभ्येतु ' इति मै० ब्रा० । ' वत्सोऽभ्येतु ' इति पै० सं० ।

द्वारा ( वत्सम् ) सब में बसने द्वारा, अन्तर्यामी ( रोहितः ) सर्वोत्पादक एवं तेजस्वी रूप में उनके ( अभि एतु ) साक्षात् हो।

राजपक्ष में— हे राजन्! ( याः ते विशः ) जो तेरी प्रजाएं ( तपसः सम्बभूवुः ) तप से सम्पन्न हो और ( गायत्रीम् अनु ) गायत्री मन्त्र के विचार द्वारा ( वत्सं ) हृदय में बसे परमात्मा का साक्षात् करते हैं अथवा ( गायत्रीम् अनु वत्सं ता इह अगुः ) गायत्री पृथिवी के साथ २ उसके वत्सरूप राजा या प्रजाजन को भी प्रेम से प्राप्त हैं। ( ताः ) वे तेरे प्रति ( मनसा शिवेन त्वा विशन्तु ) शुभ चित्त से तेरे पास आवें और तू ( रोहितः ) सर्वोपरि आरूढ ( संमाता वत्सः ) बछड़ा जिस प्रकार माता के पास जाता है उस प्रकार तुझको राजा बनाने वाले वे हैं उनके प्रति तू भी ( वत्सः ) उनके पोष्य बालक के समान ( अभ्येतु ) उनको प्राप्त हो।

ऊर्ध्वो रोहितो अधि नाके अस्थाद् विश्वा रूपाणि जनयन् युवा कविः।
तिग्मेनाग्निर्ज्योतिषा वि भाति तृतीये चक्रे रजसि प्रियाणि ॥११॥

भा०—( रोहितः ) 'रोहित' सर्वोत्पादक, तेजोमय, एवं सब को ऊपर ले जाने वाला परमात्मा ( ऊर्ध्वः ) सबसे ऊपर विराजमान ( नाके ) सुखमय मोक्ष में ( अधि अस्थात् ) विद्यमान है। वह ( युवा ) सदा युवा, समस्त सूक्ष्म भूतों को परस्पर मिलाने वाला ( कविः ) क्रान्त-दर्शी, मेधावी ( विश्वा ) समस्त प्रकार के ( रूपाणि ) रोचमान पदार्थों को ( जनयन् ) उत्पन्न करता हुआ ( अग्निः ) ज्ञान, प्रकाशस्वरूप अग्नि के समान ( तिग्मेन ) तीक्ष्ण ( ज्योतिषा ) ज्योति से ( विभाति ) विविध रूपों से प्रकाशमान होता है। और वही ( तृतीये ) अति अधिक तीर्णतम, सबसे ऊपर के ( रजसि ) लोक में भी ( प्रियाणि ) अति मनोहर पदार्थों को ( चक्रे ) उत्पन्न करता है।

११–( तृ० ) 'विभासि' इति पैप्प० सं०।

बृहन्नेन्नं सहस्रो वृषभो जातवेदा घृताहुतः सोमपृष्ठः सुवीरः ।
मा मा हासीन्नाथितो नेत् त्वा जहानि गोपोषं च मे वीरपोषं च धेहि ॥ १२ ॥

भा०—( जात-वेदाः ) समस्त पदार्थों को जानने हारा, वेदों का उत्पादक, वह परमेश्वर अग्नि के समान प्रकाशमान, ( वृषभः ) मेघ के समान समस्त काम्य सुखों का वर्षण करने वाला, ( सहस्रशृङ्गः ) सूर्य के समान सहस्रों शृङ्गरूप किरणों से युक्त, ( घृताहुतः ) घृत की आहुति से प्रदीप्त अग्नि के समान प्रकाशमान, तेजों को अपने भीतर धारण करने-हारा, ( सोमपृष्ठः ) जल को जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों से खेंचता है उसी प्रकार आनन्द को अपने भीतर धारण करने वाला, ( सुवीरः ) उत्तम वीर्य-वान् ( नाथितः ) सर्वैश्वर्य-वान् परमेश्वर ( मा ) मुझको ( मा हासीत् ) परित्याग न करे । और हे परमात्मन् ! ( त्वा ) तुझको ( इत् ) भी ( न जहानि ) मैं कभी न छोड़ूं । और तू ( मे ) मुझे ( गोपोषं ) गौ आदि पशुओं की सम्पत्ति और ( वीरपोषं च ) वीर पुत्रों और वीर पुरुषों की बल सम्पत्ति ( धेहि ) प्रदान कर ।

इसी प्रकार राजा सहस्रों शक्तियों से युक्त विद्वान्, तेजस्वी, वीर, राज-पदारूढ मुझ प्रजाजन को नाश न करे मैं उसका त्याग करके अराजक न होऊं, और वह हमें समृद्ध करे ।

रोहितो यज्ञस्य जनिता मुखं च रोहिताय वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि
रोहितं देवा यन्ति सुमनस्यमाना स मा रोहैः सामित्यै रोहयतु ॥ १३ ॥

१२–( द्वि० ) 'स्तोमपृष्ठो घृतवान्त्सुप्रतीकः', ( तृ० च० ) मानो हासीन्मेनेत् त्वा जहाम गोपोषं नो वीरपोषं च यच्छ । इति तै० ब्रा० । ( द्वि० ) 'घृताहुतिः सोमः' इति पैप्प० सं० ।
१३–( च० ) 'रोहयति' इति पैप्प० सं० ।

भा०—( रोहित ) रोहित सर्वोत्पादक परमात्मा ( यज्ञस्य ) यज्ञ का ( जनिता ) उत्पादक और ( मुखम् च ) मुख अर्थात् उसको प्रारम्भ करने हारा है । ( तम ) सर्वोत्पादक परमात्मा को मैं ( वाचा ) वाणी से और ( श्रोत्रेण ) कानों से और ( मनसा ) मन, चित्त से ( जुहोमि ) अपने भीतर धारण करता हूं उसकी उपासना करता हूं । ( देवा. ) दिव्य प्रकाश और ज्ञान से युक्त विद्वान् पुरुष ( सुमनस्यमाना ) शुभ, शुद्ध संकल्प, उत्तम मन होकर ( तम् रोहितम् ) उस सर्वोत्कृष्ट, सर्वोत्पादक परमात्मा के ही शरण मे ( यन्ति ) प्राप्त होते हैं ( स ) वह ( रोहि ) नाना जन्मों द्वारा या ( मा ) मुझे ( साम्त्वे ) अपने साथ मिला लेने के लिये ( रोहयतु ) उन्नत पद पर चढ़ावे । इसी प्रकार राजा राष्ट्र यज्ञ का प्रमुख है उसे हम स्वीकार करें । वह हमें समिति, सभा के सदस्य पद का प्रदान करे । हमें प्रतिनिधि आदि होने का अधिकार दे ।

रोहितो यज्ञं व्य॑दधाद् विश्वकर्मणे तस्मात् तेजांस्युप मेमान्यागुः ।
वोचेयं ते नाभिं भुवनस्याधि मज्मनि ॥ १४ ॥

भा०—( रोहितः ) रोहित, सर्वोत्पादक परमात्मा ( विश्वकर्मणे ) इस विश्व को रचने के लिये (यज्ञम्) यज्ञ, समस्त पञ्चभूतों के संसर्ग के कार्यों को ( वि अदधात् ) नाना प्रकार से करता है । ( तस्मात् ) उस परमेश्वर से ही ( मा ) मुझे ( इमानि तेजांसि ) ये समस्त तेज, तेजस्वी पदार्थ और मानसिक तेजोमय ज्ञान ( उप आ अगुः ) प्राप्त होते हैं । हे परमात्मन् ! मैं ( भुवनस्य ) समस्त उत्पन्न संसार के ( मज्मनि अधि ) प्रवर्तक बल के भी ऊपर अधिष्ठाता रूप से ( ते ) तेरे ही ( नाभिम् ) समस्त संसार को व्यवस्था में बांधने वाले महान् सामर्थ्य को ( वोचेयम् ) बतलाता हूं ।

---

१४-( प्र० ) 'विश्वाद्' इति पैप्प० स० ।

आ त्वा॑ रुरोह बृह॒त्यु॒॑त प॒ङ्क्तिरा॑ क॒कुब् वर्च॑सा जातवेदः ।
आ त्वा॑ रुरोहोष्णिहाक्ष॒रो व॑षट्का॒र आ त्वा॑ रुरोह॒ रोहि॑तो
रेत॑सा स॒ह ॥ १५ ॥

भा०—हे ( जातवेदः ) जातवेदः, ज्ञानप्रज्ञ ! सर्वज्ञ ज्ञानमय परमेश्वर ! ( बृहती ) बृहती, महान् लोकों का पालन करनेहारी शक्ति ३६ अक्षर की बृहती छन्द, गौ अश्वादि पशु सम्पत्ति, श्री, मन, प्राण, आत्मा ये सब ( त्वा आरुरोह ) तुझ पर आश्रित हैं । ( उत ) और ( पंक्तिः ) पंक्ति छन्द, ऊर्ध्वा दिशा, अन्न, प्रतिष्ठा आदि और ( ककुब् ) ककुप्छन्द, यह पुरुष और समस्त दिशाएं भी ( वर्चसा ) तेरे तेज की अधिकता के कारण ( त्वा आरुरोह ) तेरे ही आश्रय हैं । ( उष्णिहाक्षरः ) अट्ठाईस अक्षरों वाले उष्णिक् छन्द के अक्षर, आयु, ग्रीवा, चक्षु, बकरी और भेड़ों की सम्पत्ति आदि ( त्वा ) तुझ पर ( आरुरोह ) आश्रित हैं । ( वषट्कारः ) समस्त वाणी, ६ हों ऋतुओं का संचालक सूर्य, वाणी और प्राणापान, वज्र, ओज और बल, वायु विद्युत्, मेघ और उसका गर्जन आदि सभी ( त्वा आरुरोह ) तेरे ही आश्रय पर होता है । और ( रोहितः ) रोहित' सबका आश्रय, सर्वोत्पादक ( रेतसा सह ) सब के बीजमय उत्पादक सामर्थ्य से युक्त सूर्य भी तेरे पर ही आश्रित है ।

अ॒यं व॑स्ते॒ गर्भं॑ पृथि॒व्या दिवं॑ वस्ते॒ऽयम॒न्तरि॑क्षम् ।
अ॒यं ब्र॒ध्नस्य॑ वि॒ष्टपि॒ स्व॑र्लो॒कान् व्या॑नशे ॥ १६ ॥

भा०—( अयम् ) यह परमात्मा ( पृथिव्याः ) पृथिवी के ( गर्भं ) भीतरी भाग को भी ( वस्ते ) आच्छादित करता, उसमें भी व्यापक है ( दिवं वस्ते ) द्यौलोक को भी आच्छादित करता उसमें भी व्यापक है और

( अन्तरिक्षम् वस्ते ) अन्तरिक्ष लोक को भी आच्छादित करता अर्थात् उसमें भी व्यापक है । ( अय ) यह ( महस्य ) सूर्य के ( विष्टपि ) विशेष परितप्त भाग में भी व्यापक है वह ( स्व लोकान् ) स्व , आकाश के समस्त लोकों में ( वि आनशे ) नाना प्रकार से व्यापक है ।

वार्चस्पते पृथिवी नः स्योना स्योना योनिस्तल्पा नः सुशेवा ।
इहैव प्राण सख्ये नो अस्तु तं त्वा परमेष्ठिन् पर्यग्निरायुषा
वर्चसा दधातु ॥ १७ ॥

भा०—हे ( वाचस्पते ) वाणी के स्वामी परमेश्वर ! ( नः ) हमारे लिये ( पृथिवी ) यह पृथिवी ( स्योना ) सुखकारिणी हो । और हमारे लिये ( योनि स्योना ) हमारा निवासस्थान सुखकारी हो । ( नः ) हमारे ( तल्पा ) सोने के बिस्तरे भी ( सुशेवा ) सुखपूर्वक सेवन करने योग्य हों । ( नः ) हमारा ( प्राण ) प्राण ( इह एव ) यहां ही, इस देह में ही ( नः सख्ये अस्तु ) हमारे साथ मित्रभाव में रहे । अथवा—( प्राण ) सबका प्राणस्वरूप परमेश्वर ( इह एव ) इस लोक में हमारे साथ ( सख्ये अस्तु ) मित्र भाव में रहे । हे ( परमेष्ठिन् ) परमेष्ठिन् ! प्रजापते ! ( तं त्वा ) उस तुझको ( अग्नि ) अग्नि के समान तेजस्वी, ज्ञानी पुरुष ( आयुषा ) अपने दीर्घ आयु और ( वर्चसा ) तेज और बल से ( दधातु ) अपने में धारण करें ।

वार्चस्पत ऋतवः पञ्च ये नौ वैश्वकर्मणाः परि ये संबभूवुः ।
इहैव प्राण सख्ये नो अस्तु तं त्वा परमेष्ठिन् परि रोहित
आयुषा वर्चसा दधातु ॥ १८ ॥

१७–( प० ) ' परमेष्ठि पर्यहं वर्चसा परिदधामि ' इति पैप्प० स० ।
१८–( प्र० ) ' योनौ ' इति क्वचित् । ' येन, ' इति ह्विटनिकामित. ।

भा०—हे ( वाचस्पते ) वाचस्पते ! परमात्मन् ! ( ये ) जो ( पञ्च ) हमारे शरीरों का परिपाक करने हारे या पांच ( ऋतवः ) ऋतुएं, वर्ष में ऋतुओं के समान शरीर में पांच ज्ञानेन्द्रियें ( नौ ) हमारे ( वैश्वकर्मणाः ) समस्त कर्मों और क्रियाओं को करने हारे होकर ( ये ) जो ( परि संबभूवुः ) उत्पन्न होते हैं वे पांचों इन्द्रियें और ( प्राणः ) प्राण ( इह एव ) इस देह में ही ( नः सख्ये अस्तु ) हमारे साथ मित्रभाव में रहें। हे ( परमेष्ठिन् ) परमेष्ठिन् ! प्रजापते ! सर्वोत्पादक ! ( तं त्वा ) उस तुमको ( रोहितः ) रोहित, उच्चगति को प्राप्त ज्ञानी पुरुष सूर्य के समान ( आयुषा वर्चसा ) आयु और तेज से ( दधातु ) धारण करे।

वाचस्पते सौमनसं मनश्च गोष्ठे नो गा जनय योनिषु प्रजाः।
इहैव प्राणः सख्ये नो अस्तु तं त्वा परमेष्ठिन् पर्यहमायुषा वर्चसा दधामि ॥ १९ ॥

भा०—हे ( वाचः पते ) परमेश्वर ! राजन् ! ( मनः च ) हमारे मनमें ( सौमनसम् ) शुभ संकल्प और ( नः गोष्ठे गाः ) हमारी गो-शालाओं में गौवें और ( योनिषु प्रजाः ) स्त्रियों और गृहों में प्रजाएं और ( इह एव ) इस देह में भी ( नः सख्ये प्राणः ) हमारे मित्र-भाव में हमारा प्राण ( अस्तु ) रहे। हे ( परमेष्ठिन् ) प्रजापते ! ( अहम् ) मैं ( तं त्वा ) उस तुझको ( वर्चसा आयुषा ) अपने तेज और दीर्घ जीवन से अपने में ( दधामि ) धारण करता हूं।

परि त्वा धात् सविता देवो अग्निर्वर्चसा मित्रावरुणावभि त्वा।
सर्वा अरातीरवक्रामन्नेहीदं राष्ट्रमकरः सूनृतावत् ॥ २० ॥ (२)

१९–( पं० ) 'पर्यहं वर्चसा दधातु' इति पैप्प० सं०।
२०–( प्र० द्वि० ) 'देवोऽसि' इति पैप्प० सं०।

भा०—( सविता देव. ) सबका उत्पादक और प्रेरक प्रकाशमान, सर्वप्रद, परमेश्वर ( त्वा ) तेरी ( परि पातु ) सब ओर से रक्षा करे। ( अग्निः ) अग्नि के समान तेजस्वी पुरुष ( वर्चसा त्वा परिपातु ) अपने तेज से तेरी रक्षा करे। ( मित्रावरुणौ त्वा अभि ) मित्र और वरुण, स्नेहीजन और शत्रु वारक सेनापति तेरी दोनों ओर से रक्षा करें। और तू पुरुष राजा के समान ( सर्वाः ) समस्त ( अराती ) शत्रु सेनाओं को ( अवक्रामन् ) अपने नीचे पददलित करता हुआ ( राष्ट्रम् ) राष्ट्र को ( सूनृतावत् ) उत्तम, ऋत= ज्ञान और सत्यव्यवहार और सद्-व्यवस्था से युक्त ( अकरः ) बना।

यं त्वा पृषती रथे प्रष्टिर्वहति रोहित ।
शुभा यासि रिणन्नपः ॥ २१ ॥

ऋ० ८ । ६ । २८ ॥

भा०—हे ( रोहित ) रोहित, उच्च पदारूढ ! तेजस्विन् ! लाल पोशाक में सुसज्जित राजन् ! ( यम् त्वा ) जिस तुझको ( रथे ) रथ में लगी ( पृषती ) चित्र विचित्र वर्ण की ( प्रष्टि. ) घोड़ी ( वहति ) ले जाती है और सूर्य जिस प्रकार ( अपः रिणन् ) मेघ के जलों को परे हटाता हुआ सुन्दर किरणों से फैलता है उसी प्रकार तू ( अप. ) समस्त प्रजाओं को ( रिणन् ) परे हटाता हुआ ( शुभा ) अति सुन्दर रूप से ( यासि ) राष्ट्र में गमन करता है।

अध्यात्म में—हे ( रोहित ) उत्पन्न जीव या उच्च गति प्राप्त जीव ! ( रथे य त्वा पृषती प्रष्टिः वहति ) रथ=रमण साधन इस देह में रसों का स्पर्श करने वाली व्यापक चिति शक्ति तुझे ऊर्ध्व मार्ग में ले जाती है तब ( अप. रिणन् ) समस्त कर्मों, कर्मबन्धनों को पार करके ( शुभा यासि ) शुभ मार्ग, कल्याण मार्ग, मोक्ष में गमन करता है।

---

२१–( प्र० ) 'यदेषा पृषती' ( तृ० ) 'यान्ति शुभ्रा रिणन्नपः' इति ऋ० ।
तत्र पुनर्वत्सः काण्व ऋषिः । मरुतो देवताः ।

अनुव्रता रोहिणी रोहितस्य सूरिः सुवर्णा बृहती सुवर्चाः ।
तया वाजान् विश्वरूपां जयेम तया विश्वाः पृतना अभि ष्याम ॥२२॥

भा०—( रोहिणी ) उन्नतिशील प्रकृति या प्रजा ( रोहितस्य ) उन्नतिशील या सर्वोत्पादक परमेश्वर या राजा के ( अनुव्रता ) आज्ञा के अनुकूल चलने हारी हो । वह ईश्वर या राजा स्वयं ( सूरिः ) विद्वान् है तो उसकी शक्ति ( सुवर्णा ) उत्तम वर्ण वाली, शुभ कर्मों से युक्त और ईश्वर या राजा ( सुवर्चाः ) उत्तम तेजस्वी है तो प्रकृति प्रजा भी ( बृहती ) सदा वृद्धिशील या महान् है । उससे हम ( विश्वरूपाम् ) नाना प्रकार के ( वाजान् ) बल, सामर्थ्यों और धनों को ( जयेम ) प्राप्त करें और ( तया ) उसके बल पर ही ( विश्वाः ) समस्त ( पृतनाः ) संसार की प्रजाओं या शत्रु सेनाओं का ( अभि ष्याम ) विजय करें । अर्थात् प्रकृति के वशीकार से समस्त शत्रुओं पर विजय करें ।

इदं सदो रोहिणी रोहितस्यासौ पन्थाः पृषती येन याति ।
तां गन्धर्वाः कश्यपा उन्नयन्ति तां रक्षन्ति कवयोऽप्रमादम् ॥२३॥

भा०—( रोहितस्य ) रोहित, परमेश्वर का ( इदं सदः ) यही विश्व, निवासस्थान, आश्रय है कि यह ( रोहिणी ) उसकी परम शक्ति या प्रकृति और उसका ( असौ ) यह ( पन्थाः ) मार्ग है ( येन ) जिस मार्ग से ( पृषती ) चित्र वर्णा व्यापक प्रकृति ( याति ) गति करती है । ( तां ) उसको ( गन्धर्वाः ) वेद वाणी के धारण करने वाले ( कश्यपाः ) प्रकाश के पालक, ज्ञानी लोग ( उन्नयन्ति ) ज्ञान करते हैं, धारण करते हैं और ( ताम् ) उसका ( कवयः ) क्रान्त-दर्शी विद्वान् लोग ( अप्रमादम् ) प्रमाद रहित होकर ( रक्षन्ति ) रक्षा करते हैं । राजा के पक्ष में स्पष्ट है ।

२२-( द्वि० ) 'सूरिः सुवर्णा' इति पैप्प० सं० ।

सूर्यस्याश्वा हरयः केतुमन्तः सदा वहन्त्यमृताः सुखं रथम् ।
घृतपावा रोहितो भ्राजमानो दिवं देवः पृषतीमा विवेश ॥ २४ ॥

भा०—( सूर्यस्य ) जिस प्रकार सूर्य के ( हरयः ) शीघ्रगामी किरण ( केतुमन्तः ) ज्ञान कराने वाले प्रकाश से युक्त होकर ( अमृताः ) अमर स्वरूप होकर ( सदा ) नित्य ( रथम् ) सूर्य के पिण्ड को ( सुखं वहन्ति ) सुखपूर्वक धारण करते हैं और जिस प्रकार सूर्य के समान तेजस्वी राजा के ( केतुमन्तः हरयः रथं सुखं वहन्ति ) झण्डों से सुशोभित घोड़े रथ को सुखपूर्वक ढोते हैं, उसी प्रकार इस सबके प्रकाशक ( सूर्यस्य ) सूर्यरूप परमात्मा के ( केतुमन्तः हरयः ) ज्ञान साधनों से युक्त 'हरि' अज्ञान-हारी जीव ( अमृताः ) सदा अमर रह कर ( सुखं रथं वहन्ति ) सुखपूर्वक अपना देह धारण करते हैं । और ( भ्राजमानः ) प्रकाशमान ( रोहितः ) रोहित सर्वोत्पादक ( देवः ) देव परमेश्वर ( दिवं ) सूर्य जिस प्रकार द्यौलोक में प्रवेश करता है उसी प्रकार वह स्वयं ( घृतपावा ) प्रकाश और ज्ञान का पालक होकर ( पृषतीम् आ विवेश ) उस चित्रवर्णा, प्रकृति के भीतर प्रवेश करता है । उसमें अपनी शक्ति आधान करता है । राजा के पक्ष में पृषती, समृद्ध प्रजा है । शेष स्पष्ट है ।

यो रोहितो वृषभस्तिग्मशृङ्गः पर्यग्निं परि सूर्यं बभूव ।
यो विष्टभ्नाति पृथिवीं दिवं च तस्माद् देवा अधि सृष्टीः सृजन्ते ॥ २५ ॥

भा०—( यः ) जो ( रोहितः ) रोहित, सर्वोत्पादक ( वृषभः ) सबसे बलशाली, सब कामनाओं का वर्षक ( तिग्मशृङ्गः ) सूर्य के समान तीक्ष्ण किरणों से युक्त अथवा पापियों को तीखे साधनों से पीड़ित करने वाला, ( अग्निम् परि ) अग्नि से भी ऊपर और ( सूर्यम् परि ) सूर्य के भी ऊपर

२५-( प्र० ) 'अथ रोहितो' इति पैप्प० सं० ।

( बभूव ) विद्यमान है और ( यः ) जो ( पृथिवीम् ) पृथिवी को और ( दिवम् च ) द्यौलोक को भी ( वि स्तभ्नाति ) नाना प्रकारों से थामे हुए है ( तस्मात् ) उस परमेश्वर से ही ( देवाः ) समस्त देवगण, पांचों भूत, तन्मात्राएं आदि ( सृष्टीः ) नाना सृष्टियों को ( अधि सृजन्ते ) उत्पन्न करते हैं। उसी प्रकार राजा सर्व-श्रेष्ठ, तीक्ष्ण बलवाला, सूर्य के समान तेजस्वी होकर सब प्राणियों के ऊपर विराजता है।

रोहि॑तो॒ दिव॒मारु॑ह॒न्मह॒तः पर्य॑र्ण॒वात् ।
सर्वा॑ रुरोह॒ रोहि॑तो॒ रुहः॑ ॥ २६ ॥

भा०—( महतः ) बड़े भारी ( अर्णवात् ) समुद्र से ( परि ) ऊपर जिस प्रकार सूर्य ऊपर उठता है उसी प्रकार ( रोहितः ) प्रकाशवान् जीवन्मुक्त आत्मा ( अर्णवात् परि दिवम् ) भवसागर से ऊपर द्यौ या मोक्ष स्थान को ( आरुहत् ) प्राप्त करता है और वह ( रोहितः ) अति तेजस्वी होकर ( सर्वाः रुहः ) सब उच्च भूमियों और प्रतिष्ठाओं और लोकों को ( रुरोह ) प्राप्त करता है। उसी प्रकार राजा, प्रजा और सेना सागर से ऊपर उठकर सब सम्पत्तियों को प्राप्त करता है।

वि मि॑मीष्व॒ पय॑स्वतीं घृ॒ताचीं॑ दे॒वानां॑ धे॒नुरन॑पस्पृगे॒षा ।
इन्द्रः॒ सोमं॑ पिबतु॒ क्षेमो॑ अस्त्व॒ग्निः प्र स्तौ॑तु॒ वि मृधो॑ नुदस्व ॥ २७ ॥

भा०—हे ज्ञानवन् ! ( पयस्वतीम् ) दूध वाली, ( घृताचीम् ) घृत से पूर्ण जिस प्रकार गाय को आदर की दृष्टि से देखा जाता है उसी प्रकार तू ( पयस्वतीम् ) पयः=ज्ञान से पूर्ण ( घृताचीम् ) तेज से युक्त ऋतम्भरा विशोका, ज्योतिष्मती प्रज्ञा को ( वि मिमीष्व ) विशेष रूप से ज्ञान कर,

२७–( द्वि० ) ' स्पृगेषा ', इति पैप्प० सं० । विमिमे त्वा पयस्वतीं देवानां धेनु सुदुघामनपस्फुरन्तीम् । ' इन्द्रः सोमम् पिबतु क्षेमोऽस्तु नः ' इति आप० श्रौ० सू० ।

प्राप्त कर । ( एषा ) यह ( देवानाम् ) देवों, विद्वानों और इन्द्रियों की ( अनपस्पृक् ) सदा साथ रहने वाली, एवं अक्षय अथवा सुशील ( धेनुः ) रस पान कराने वाली कामधेनु के समान है । ( इन्द्र ) ऐश्वर्य, विभूति सम्पन्न आत्मा ( सोमं पिबतु ) सोम पान करे । ( क्षेमः अस्तु ) कल्याण हो, ( अग्निः ) ज्ञानी प्रकाशमान योगी पुरुष उस दशा में ( प्र स्तौतु ) उत्तम रीति से प्रभु की स्तुति करे और इस प्रकार तू ( मृधः ) चित्त के भीतरी शत्रुओं को ( वि नुदस्व ) विविध उपायों से दूर कर ।

समिद्धो अग्निः संमिधानो घृतवृद्धो घृताहुतः ।
अभीषाड् विश्वाषाडग्निः सपत्नान् हन्तु ये मम ॥ २८ ॥

भा०—( अग्निः ) अग्नि के समान तेजस्वी ब्रह्ममय अग्नि इस आत्म में अब ( सम्-इद्ध ) खूब अच्छी प्रकार प्रदीप्त हो गया है और वह ( घृत-वृद्धः ) घृत से बढ़ी हुई और ( घृताहुत ) घृत की आहुति से प्रदीप्त अग्नि के समान ( सम् इधान. ) सदा अच्छी प्रकार जलता ही रहे, वही ( अभी-षाट् ) सर्वत्र सब पदार्थों को विजय करने वाला, ( विश्वाषाड् ) समस्त विश्व का विजय करने हारा परमेश्वर भी विजयी राजा के समान ( सप-त्नान् ) शत्रुओं को ( ये मम ) जो मेरे प्रति द्वेष बुद्धि रखते हैं उनको ( हन्तु ) मारे, नाश करे ।

हन्त्वेनान् प्र दहत्वरिर्यो नः पृतन्यति ।
क्रव्यादाग्निना वयं सपत्नान् प्र दहामसि ॥ २९ ॥

भा०—अग्नि के स्वभाव का तेजस्वी पुरुष ( एनान् ) इन शत्रुओं को ( हन्तु ) मारे और ( यः ) जो ( अरिः ) शत्रु ( नः ) हमें ( पृतन्यति ) सेना लेकर हमारा विनाश करता है उसको वह पूर्वोक्त अग्नि ( प्र दहतु ) अच्छी प्रकार भस्म करे । ( क्रव्यादा ) क्रव्य=कच्चा मांस खाने वाले

२९—' दहत्वरिर्यो ' इति पैप्प० सं० ।

( अग्निना ) शवाग्नि के समान अति क्रूर स्वभाव के पुरुष द्वारा ( वयं ) हम ( सपत्नान् ) शत्रुओं को ( प्र दहामसि ) जला दिया करें, भस्म कर दिया करें, उनका मूलोच्छेद कर दें।

अवाचीनानव जहीन्द्र वज्रेण बाहुमान्।
अधा सपत्नान् मामकानग्नेस्तेजोभिरादिषि ॥ ३० ॥ ( ३ )

भा०—हे ( इन्द्र ) राजन् और हे आत्मन्! तू ( वज्रेण ) वज्र, ज्ञानरूप वज्र से ( बाहुमान् ) बाहुवाला, शत्रुओं के बाधन करने में समर्थ साधनसम्पन्न होकर ( अवाचीनान् ) अपने नीचे दबे हुए अन्तः शत्रु कामादि वर्ग को ( अव जहि ) और भी नीचे पटक कर विनाश कर। ( अधा ) और ( मामकान् ) 'अहम्' अर्थात् आत्मा के या मेरे ( सपत्नान् ) समान अधिकार का दावा करने वाले शत्रुओं को ( अग्नेः ) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर हृदय के सम्राट् के ( तेजोभिः ) तेजों के बल से ( आदिषि ) अपने वश करता हूं। राजा और ईश्वर दोनों पक्षों में स्पष्ट है।

अग्ने सपत्नानधरान् पादयास्मद् व्यथया सजातमुत्पिपानं बृहस्पते।
इन्द्राग्नी मित्रावरुणावधरे पद्यन्तामप्रतिमन्यूयमानाः ॥ ३१ ॥

भा०—हे ( अग्ने ) अग्ने! ज्ञानमय प्रभो! तू ( सपत्नान् अधरान् पादय ) हमारे शत्रुओं को नीचे गिरादे। और ( अस्मत् सजातम् ) हमारे समान बलवाले ( उत्-पिपानम् ) और हमसे ऊंचे होते हुए को हे ( बृहस्पते ) महान् लोकों के स्वामिन्! बृहस्पते! राजन्! ( व्यथय ) पीड़ित कर। हे ( इन्द्राग्नी ) इन्द्र और हे अग्ने! ( मित्रावरुणौ ) हे मित्र और वरुण वे शत्रु लोग ( अ-प्रति-मन्यूयमानाः ) हमारे प्रति क्रोध रहित या निष्फल क्रोध वाले होकर ( अधरे पद्यन्ताम् ) नीचे गिरें।

३०–( च० ) 'तेजोभिरादधे' इति पैप्प० सं०।

३१–'उदिपानं' इति पैप्प० सं०।

दिवं च रोह पृथिवीं च रोह राष्ट्रं च रोह द्रविणं च रोह।
प्रजां च रोहामृतं च रोह रोहितेन तन्वं१ सं स्पृशस्व ॥ ३४ ॥

भा०—हे मनुष्य! तू (दिवं च रोह) द्यौलोक, प्रकाशमय स्थान, मोक्ष को प्राप्त हो। (पृथिवीम् च रोह) साधन सम्पन्न होकर इस पृथिवी लोक को प्राप्त कर, अपने वश कर। (राष्ट्रं च रोह) राष्ट्र को प्राप्त कर। (द्रविणम् च रोह) द्रविण, धन सम्पत्ति को भी प्राप्त कर। (प्रजाम् च रोह) प्रजा को प्राप्त कर। (अमृतम् च रोह) अमृत=शत वर्ष के दीर्घ जीवन या अन्न को प्राप्त कर और जीवन की समाप्ति पर अपने (तन्वं) स्वरूप, देह या आत्मा को (रोहितेन) सर्वोत्पादक या प्रकाशमान परमात्मा के साथ (संस्पृशस्व) अच्छी प्रकार जोड़ दे। राजा के पक्ष में-अमृत=अन्न। रोहित=राजोचित वेशभूषा, वैभव।

ये देवा राष्ट्रभृतो॒ऽभितो यन्ति सूर्यम्।
तैष्टे रोहितः संविदानो राष्ट्रं दधातु सुमनस्यमानः ॥ ३५ ॥

भा०—(ये देवाः) जो देव, विद्वान् लोग (राष्ट्रभृतः) राष्ट्र या तेज को धारण करने वाले हैं और (अभितः सूर्यम्) सूर्य के चारों ओर ग्रहों के समान सर्वप्रेरक राजा के चारों ओर (यन्ति) गति करते हैं हे पुरुष! (तैः) उनसे (संविदानः) उत्तम सत् मन्त्रणा करता हुआ (रोहितः) उच्च पदारूढ़ राजा (सुमनस्यमानः) शुभ चित्त, शुभ संकल्प होकर (ते) तेरे (राष्ट्रं) राष्ट्र का (दधातु) पोषण करे।

उत् त्वा॑ य॒ज्ञा ब्रह्मपूता वहन्त्यध्वगतो हरयस्त्वा वहन्ति।
तिरः समुद्रमति रोचसेऽर्णवम् ॥ ३६ ॥

---

३५—'दधात्वस्मभ्यं सुमनस्यमानः' (तृ०) 'रोचसे अर्णवम्' इति पैप्प० सं०।
३६—(द्वि०) 'बभूविन गोभिर् कल्याणीभिः' (तृ०) 'हविर्नाति ... लानि' इति पैप्प० सं०।

भा०—हे रोहित ! परमेश्वर ! ( त्वा ) तुझे ( ब्रह्मपूताः ) ब्रह्म वेद मन्त्रों से पवित्र ( यज्ञाः ) यज्ञ ( वन् वहन्ति ) धारण करते हैं, तेरा गौरव दर्शाते हैं। ( हरयः ) हरण करने वाले घोड़े, जिस प्रकार मार्ग में रथ को ढोले जाते हैं, या सूर्यकिरणें जिस प्रकार आकाश में सूर्य को वहन करती हैं उसी प्रकार ( अध्वगताः हरयः ) मोक्ष मार्ग पर विचरण करने वाले=हरि मुक्त जीवगण ( त्वा वहन्ति ) तुझे अपने हृदय में धारण करते हैं। जीवात्मन् ! तू ( समुद्रम् तिर ) समस्त कामनाओं को प्रदान करने वाले, समस्त आनन्दों के सागर परमात्मा को प्राप्त करके ( अर्णवम् अति ) अन्तरिक्ष को पार करके सूर्य के समान, तू भी इस संसार सागर को पार करके ( रोचसे ) अति प्रकाशित होता है। राजा के पक्ष में—हरय=विद्वान् या अश्व। यज्ञ=राष्ट्र।

रोहिते द्यावापृथिवी अधि श्रिते वसुजिति गोजिति संधनाजिति। सहस्रं यस्य जनिमानि सप्त च वोचेयं ते नाभिं भुवनस्याधि मज्मनि ॥ ३७ ॥

भा०—( वसुजिति ) समस्त प्राणियों और उनके बसने के लोकों को अपने वश करने हारे, ( गोजिति ) इन्द्रियों, प्राणों, समस्त सूर्य लोकों को अपने वश करने वाले और ( सं धनाजिति ) समस्त उत्तम धन=विभूति और ऐश्वर्यों को वश करने वाले ( रोहिते ) सर्वोत्पादक 'रोहित' परमेश्वर में ( द्यावापृथिवी अधिश्रिते ) द्यौ और पृथिवी लोक आश्रित हैं। ( यस्य ) जिसके ( जनिमानि ) स्वरूप ( सहस्रं ) सहस्र, अति बलशील या सहस्रों लोकों से युक्त समस्त विश्व और ( सप्त च ) सात प्राण हैं। मैं तो ( भुवनस्य ) समस्त कार्यसंसार के ( अधि मज्मनि ) अधिष्ठातृरूप बल पर ( ते नाभिम् ) तेरे ही केन्द्रस्थ, मुख्य बल को ( वोचेयम् ) कहता हूँ। राजा के पक्ष में—द्यावापृथिवी—नरनारी और राजा प्रजा।

यशा यांसि प्रदिशो दिशश्च यशाः पशूनामुत चर्षणीनाम् ।
यशाः पृथिव्या अदित्या उपस्थेहं भूयासं सवितेव चारुः ॥३८॥

भा०—( यशाः ) हे ईश्वर ! हे राजन् ! यशस्वी होकर तू ( प्रदिशः दिशः च ) मुख्य दिशाओं और उप-दिशाओं में भी ( यासि ) प्रयाण करता है । ( पशूनाम् ) पशुओं ( उत ) और ( चर्षणीनाम् ) मनुष्यों के बीच में भी तू ही ( यशाः ) सबसे अधिक यशस्वी है । ( अदित्याः ) अदिति या अखण्ड ( पृथिव्याः ) पृथिवी के ( उपस्थे ) गोद में मैं भी ( यशाः ) यशस्वी होकर ( सविता इव ) सूर्य के समान ( चारुः ) प्रकाशमान, उत्तम ( भूयासम् ) होकर रहूं ।

अमुत्र सन्निह वेत्थेतः संस्तानि पश्यसि ।
इतः पश्यन्ति रोचनं दिवि सूर्यं विपश्चितम् ॥ ३६ ॥

भा०—( अमुत्र सन् ) हे प्रभो ! आप दूर रहकर ( इह वेत्थ ) यहां को जान लेते हो और ( इतः सन् ) यहां रह कर भी ( तानि ) उन २ दूर के कार्यों को ( पश्यन्ति ) देखते हो । ( दिवि सूर्यम् ) द्यौलोक में सूर्य के समान प्रकाशमान एव ( विपश्चितम् ) समस्त कार्मो को जानने वाले मेधावी, आपको ( रोचनम् ) प्रकाशमान रूप में ( इतः ) इस लोक को तत्त्वदर्शी ( पश्यन्ति ) साक्षात् दर्शन करते हैं ।

देवो देवान् मर्चयस्यन्तश्चरस्यर्णवे ।
समानमग्निमिन्धते तं विदुः कवयः परे ॥ ४० ॥ ( ४ )

---

३८—( प्र० ) दिशोनु ( च० ) 'अग्निमिवेव' इति पैप्प० सं० ।
३६—( तृ० ) 'यतः पश्यन्ति' इति पैप्प० सं० ।
४०—( द्वि० ) 'मर्त्यस्त्वन्ताश्चरस्यर्णो' इति पैप्प० सं० । 'देवनर्चयसि' इति क्वचित्कोशान्तिः ।

भा०—हे प्रभो ! तू ( देव ) प्रकाशमान एवं सब जगत् का विजाता होकर ( देवान् ) समस्त दिव्य पदार्थों को ( मर्चयसि ) चला रहा है और स्वय ( अर्णवे ) इस महान् आकाश को भी ( चरसि ) व्याप्त है । विद्वान् क्रान्तदर्शी लोग ( समानम् अग्निम् ) उसके समान तेज स्वरूप अग्नि का ही यज्ञों में (इन्धते) प्रदीप्त करते हैं और ( परे कवय. ) दूसरे क्रान्तदर्शी लोग ( तम् ) उसी का ( विदु ) साक्षात् ज्ञान करते हैं । राजा के पक्ष में—देव राजा । देवान् शासकों को । अर्णवे राष्ट्र मे । अग्नि–अग्रणी नेता ।

अव परेण पर एनावरेण पदा वत्सं बिभ्रती गौरुदस्थात् ।
सा कद्रीची कं स्विदर्धं परागात् क्वस्वित् सूते नहि यूथे अस्मिन् ॥४१

अथर्व० ९ । १० । १७ ॥

भा०—( गौ वत्सम् ) गौ जिस प्रकार अपने ( पदा ) चरण से ( वत्स बिभ्रती ) वत्स बछड़े को धारण करती हुई उसको अपना रसपान कराती है उसी प्रकार ( परेण अव ) परम पद मोक्ष से या दूरसे दूर लोक से ( अव ) समीप से समीपतम स्थान तक और ( एना अवरेण पर ) इस समीपतम स्थान से अतिदूर प्रदेश तक व्यापक ( वत्स ) बसनेहारे ससार या जीव लोक को ( पदा ) अपने ज्ञान या व्यापक सामर्थ्य से ( बिभ्रती ) धारण करती हुई ( गौ ) वह परमेश्वरी शक्तिरूप कामधेनु ( उद् अस्थात् ) खड़ी है । ( सा ) वह परम शक्ति ( कद्रीची ) किस प्रकार की है ? ( क स्विद् अर्धम् ) किस महान् समृद्ध परम पुरुष में ( परा अगात् ) आश्रित है ? और ( क स्वित् ) वह कहां, किस आश्रय पर ( सूते ) सृष्टि उत्पन्न करती है ( नहि अस्मिन् यूथे ) वह 'गौ' परमेश्वरी शक्तिरूप कामधेनु इस सामान्य गोयूथ अर्थात् विकाररूप महदादि में से नहीं है ।

एकपदी द्विपदी सा चतुष्पद्यष्टापदी नवपदी बभूवुषी ।
सहस्राक्षरा भुवनस्य पङ्क्तिस्तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ति ॥४२॥

अथर्व० ९ । १० । २१ ॥ ऋ० १ । १६४ । ४१ ॥

भा०—वह ( एकपदी ) एक चरण वाली, एक रूप, एकपाद्, एक मात्र है और वह ( द्विपदी ) दो पदों वाली है अर्थात् चेतन और अचेतन, सत्, त्यत्, निरुक्त अनिरुक्त, सत् असत् या व्यक्त अव्यक्त ये दो स्वरूप उसके दो पद हैं। ( सा चतुष्पदी ) वह चार पद, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष वाली अथवा चतुष्पाद् ब्रह्मरूप है। वही ( अष्टापदी ) आठ पदों वाली चार वर्णों, चार आश्रमों से सम्पन्न अथवा भूमि, आपः, आदि आठ प्रकृतियों से युक्त है, और ( सा ) वह ( नवपदी ) नव प्राणरूप, नव-पदों से युक्त ( बभूवुषी ) रहती हुई ( भुवनस्य ) समस्त संसार के लिये ( सहस्राक्षरा ) हज़ारों अक्षय शक्तियों को देने वाली है। वही ( भुवनस्य ) भुवन, सृष्टि की ( पंक्तिः ) परिपाक क्रिया करनेहारी है। ( तस्याः अधि ) उससे ही ये ( समुद्राः ) बड़े २ रससागर समुद्र भी ( विक्षरन्ति ) बह रहे हैं।

आरोहन् द्याम॒मृतः प्राव॑ मे॒ वचः॑ ।
उत् त्वा॑ य॒ज्ञा ब्रह्म॑पूता वहन्त्यध्व॒गतो॒ हर॑यस्त्वा वहन्ति ॥४३॥

भा०—हे परमात्मन्! तू ( द्याम् ) द्यौः प्रकाशमय मोक्षलोक को ( आरोहन् ) प्राप्त करता हुआ ( अमृतः ) सदा अमृत स्वरूप तू ( मे वचः ) मेरी प्रार्थना रूपवाणी को ( प्र अव ) उत्तम रीति से पूर्ण कर। ( त्वा ) तुझ को ( ब्रह्मपूताः ) वेद मन्त्रों से पवित्र ( यज्ञाः ) समस्त यज्ञ ( उद् वहन्ति ) उत्कृष्ट रूप से धारण करते हैं। अथवा ( ब्रह्मपूताः यज्ञाः ) ब्रह्मज्ञान से पवित्र यज्ञ अर्थात् आत्मागण तुझे ( वहन्ति ) प्राप्त करते हैं और ( अध्वगतः ) मोक्ष मार्ग में जाने वाले ( हरयः ) मुक्त जीव भी ( त्वा वहन्ति ) तुझ प्राप्त करते हैं।

वेद॒ तत् ते॑ अमर्त्य॒ यत् त॑ आक्र॒मणं॑ दि॒वि ।
यत् ते॑ स॒धस्थं॑ पर॒मे व्यो॑मन् ॥ ४४ ॥

४३–' ब्रह्मपूता वहन्ति पूतं पितरान्' इति पैप्प० सं०।

भा०—हे ( अमर्त्य ) मरण धर्म से रहित, कभी न मरनेहारे आत्मन् ! ( तत् ) उस ( ते ) अपने, तेरे स्वरूप को ( वेद ) तू जान ( यत् ) जिससे ( ते ) तेरा ( दिवि ) तेजोमय मोक्षलोक में ( आक्रमणम् ) गमन हो। और उसको भी जान ( यत् ) जो ( ते ) तेरे ( सधस्थम् ) सदा साथ रहने वाला परम आत्मा ( परमे व्योमन् वि ओमन् ) परम विविध रक्षा करनेहारे मोक्ष में विद्यमान है।

सूर्यो द्यां सूर्यः पृथिवीं सूर्य आपोति पश्यति।
सूर्यो भूतस्यैकं चक्षुरा रुरोह दिवं महीम् ॥ ४५ ॥

भा०—वह महान् ( सूर्यः ) सूर्य परमेश्वर ( द्याम् ) द्यौलोक को, वही ( सूर्यः पृथिवीम् ) सूर्य पृथ्वी को और वही ( सूर्यः आपः ) सूर्य समस्त 'आप' प्रकृति के मूल सूक्ष्म परमाणुओं को भी ( अति पश्यति ) सूक्ष्मरूप से उनमें व्याप्त होकर उनको देख रहा है। ( भूतस्य ) इस उत्पन्न जगत् का ( एकं ) एकमात्र ( चक्षुः ) द्रष्टा और दर्शक भी वही ( सूर्यः ) सूर्य परमेश्वर है वह ( महीम् दिवम् ) विशाल द्यौलोक में अथवा पृथ्वी और द्यौलोक में ( आरोह ) व्याप्त है।

रोहित का महान् यज्ञ।

उर्वीरासन् परिधयो वेदिर्भूमिरकल्पत।
तत्रैतावग्नी आधत्त हिमं घ्रंसं च रोहितः ॥ ४६ ॥

भा०—( उर्वीः ) विशाल बड़ी २ दिशाएं ( परिधयः ) पृथ्वीरूप वेदि के परकोट ( आसन् ) हैं और वे ( भूमिः ) भूमि ( वेदिः ) वेदि ( अकल्पत ) बन गई। ( तत्र ) उस भूमिरूप वेदि में ( एतौ ) इन दो प्रकार के ( अग्नी ) अग्नियों को ( रोहितः ) सर्वोत्पादक परमेश्वर ( आधत्त ) स्थापित करता है, उनमें से एक ( हिमम् ) हिम और दूसरा ( घ्रंसम् ) घ्रंस, सर्दी और गर्मी।

हिमं घ्रंसं चाधाय यूपान् कृत्वा पर्वतान् ।

वर्षाज्यावग्नी ईजाते रोहितस्य स्वर्विदः ॥ ४७ ॥

भा०—परमेश्वर ( हिमं घ्रंसं च आधाय ) हिम=शीतकाल और घ्रंस=ग्रीष्मकाल इन दोनों का आधान करके और ( पर्वतान् यूपान् ) पर्वतों को 'यूप' नामक स्तम्भरूप ( कृत्वा ) रचकर ( वर्षाज्यौ अग्नी ) इन दोनों अग्नियों में वर्षारूप घृत को प्राप्त करके ( स्वर्विदः ) स्वः=प्रकाश और परितापक सूर्य को प्राप्त करनेहारे ( रोहितस्य ) सर्वोत्पादक प्रजापति के (ईजाते) यज्ञ का सम्पादन करते हैं ।

स्वर्विदो रोहितस्य ब्रह्मणाग्निः समिध्यते ।

तस्माद् घ्रंसस्तस्माद्धिमस्तस्माद् यज्ञोऽजायत ॥ ४८ ॥

भा०—( स्वर्विदः ) प्रकाश और तापदायक सूर्य को अपने वश करने हारे ( रोहितस्य ) सर्वोत्पादक, तेजस्वी प्रजापति के ( ब्रह्मणा ) ब्रह्म-वेद के ज्ञान के अनुसार अथवा उसकी महान् शक्ति से ( अग्निः ) यह महान् अग्नि सूर्य ( सम्-इध्यते ) प्रदीप्त होता है । ( तस्मात् ) उससे ही ( घ्रंसः ) यह ग्रीष्म और ( तस्माद् ) उससे ही ( हिमः ) शीत और ( तस्मात् ) उससे ही ( यज्ञः ) यह महान् संवत्सररूप यज्ञ ( अजायत ) उत्पन्न हुआ करता है ।

ब्रह्मणाग्नी वावृधानौ ब्रह्मवृद्धौ ब्रह्माहुतौ ।

ब्रह्मेद्धावग्नी ईजाते रोहितस्य स्वर्विदः ॥ ४९ ॥

भा०—( ब्रह्मणा ) ब्रह्म वेद से ( वावृधानौ ) निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होते हुए पूर्वोक्त 'हिम' और 'घ्रंस' ( ब्रह्मवृद्धौ ) ब्रह्म, वेद ज्ञान से परिवृद्ध

४७–' अग्नीजाते ' इति पैप्प० सं० ।

४८–( द्वि० ) ' समाहितः ' इति पैप्प० सं० ।

४९–' ब्रह्मणाग्निः संविदानो ब्रह्मवृद्धो ब्रह्माहुतः ' इति पैप्प० सं० ।

और ( ब्रह्माहुतौ ) ब्रह्म, वेदज्ञ विद्वान् द्वारा आहुति दिये गये ( ब्रह्मेद्धौ ) ब्रह्म द्वारा प्रदीप्त अग्नियों के समान ( स्वर्विद रोहितस्य ) स्व = प्रकाश स्वरूप आत्मा को प्राप्त करने वाले ( रोहितस्य ) मोक्षपद पर आरूढ़ आदित्य समान योगी के भी योग यज्ञ को ( ईजाते ) सम्पादन करते हैं।

सत्ये अन्यः समाहितोऽप्स्वन्यः समिध्यते।
ब्रह्मेद्धावग्नी ईजाते रोहितस्य स्वर्विदः ॥ ५० ॥ ( ५ )

भा०—दिन और रात इन दोनों में ( अन्यः ) एक ( सत्ये ) सत्य, ज्ञान, न्याय व्यवस्था में ( सम् आहित ) अति सावधान होकर विराजता है और ( अन्य ) दूसरा 'वरुण' ( अप्सु ) प्रजाओं में दुष्टों का तापकारी होने से अग्नि के समान ( सम् इध्यते ) उसी प्रकार प्रदीप्त होता है। वे दोनों ही ( ब्रह्मेद्धौ ) ब्रह्म वेद और वेदज्ञ ब्राह्मणों द्वारा प्रदीप्त अग्नि के समान तेजस्वी होकर ( स्वर्विदः ) स्वर्ग के समान सुखप्रद आत्मा या राष्ट्र को लाभ करने वाले ( रोहितस्य ) सर्वोपरि आरूढ़ उज्ज्वल रक्तवर्ण तेज को धारण करने वाले योगी और राजा के योग और राष्ट्र यज्ञ को ( ईजाते ) सम्पादन करते हैं।

अध्यात्म में—प्राण और अपान इनमें से एक सत्य ज्ञान प्राप्त करता दूसरा कर्मेन्द्रियों में युक्त रहता है। वे दोनों इस देह में ब्रह्म सुख तक पहुंचने वाले योगी के लिये ब्रह्माग्नि से दीप्त होकर यज्ञ सम्पादन करते हैं।

यं वातः परि शुम्भति यं वेन्द्रो ब्रह्मणस्पतिः।
ब्रह्मेद्धावग्नी ईजाते रोहितस्य स्वर्विदः ॥ ५१ ॥

भा०—( यं ) जिस मित्र को ( वात ) प्राण वायु ( परि शुम्भति ) अलङ्कृत करता है और ( यं ) जिस अपान को ( इन्द्रः ब्रह्मणस्पतिः )

५०–( द्वि० ) 'समाहित स य अग्नि समाहितः' इति पैप्प० सं०।
५१–( द्वि० ) 'यमिन्द्रो' इति पैप्प० सं०।

ब्रह्म-वेद, अन्न और प्राण का पालक इन्द्र साक्षात् जीवात्मा सुशोभित करता है वे दोनों हिम और 'घ्रंस' (ब्रह्मेद्धौ) ब्रह्म, वेद द्वारा प्रज्वलित अग्नियों के समान स्वयं प्रदीप्त होकर (स्वर्विदः) स्वः प्रकाशस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त होने वाले (रोहितस्य) मोक्षपद में आरूढ़ योगी के देह में (ईजाते) यज्ञ का सम्पादन करते हैं।

वेदिं भूमिं कल्पयित्वा दिवं कृत्वा दक्षिणाम्।
घ्रंसं तदग्निं कृत्वा चकार विश्वमात्मन्वद् वर्षेणाज्येन रोहितः ॥५२॥

भा०—(भूमिम्) भूमि को (वेदिम्) वेदि (कल्पयित्वा) बनाकर और (दिवम्) द्यौलोक को (दक्षिणाम्) 'दक्षिणा' वेदि (कृत्वा) करके और (घ्रंसम्) 'घ्रंस' को (तदग्निम्) दक्षिणवेदि में अग्नि (कृत्वा) बनाकर (रोहितः) सर्वोत्पादक परमात्मा (वर्षेण आज्येन) वर्षारूप 'आज्य' या घृत से (विश्वम्) समस्त विश्व को (आत्मन्वद्) अपनी चेतना शक्ति से युक्त (चकार) करता है।

वर्षमाज्यं घ्रंसो अग्निर्वेदिर्भूमिरकल्पत।
तत्रैतान् पर्वतानग्निर्गीर्भिरूर्ध्वाँ अकल्पयत् ॥ ५३ ॥

भा०—इस महान् यज्ञ में (वर्षम् आज्यम्) वर्षा 'आज्य' या घृत और वीर्य के समान है। (अग्निः घ्रंसः) घ्रंस=ग्रीष्म का सूर्य ही अग्नि के समान है (वेदिः भूमि अकल्पयत्) और भूमि को वेदि बनाया गया है। (तत्र) और उस विश्वमय विराट् यज्ञ में (एतान् पर्वतान्) इन पर्वतों को (अग्निः) अग्निरूप परमेश्वर (गीर्भिः) अपनी उद्गिरण करने वाली शक्तियों से (ऊर्ध्वान्) ऊर्ध्व, ऊँचे स्थलों को (अकल्पयत्) बनाता है। पृथ्वी की भीतरी अग्नि ज्वालामुखी रूप से फूट २ कर भूतल को निपात करती है। पृथ्वी के स्तर टूट २ कर पर्वत और खोहें बनती हैं।

गीर्भिरूर्ध्वान् कल्पयित्वा रोहितो भूमिमब्रवीत्।
त्वयीदं सर्वं जायतां यद् भूतं यच्च भाव्यम् ॥ ५४ ॥

भा०—(गीर्भिः) अपनी उच्चारण करने वाली वाणियों से (ऊर्ध्वान्) उच्च प्रदेशों को (कल्पयित्वा) रचकर (रोहित) सर्वोत्पादक परमात्मा (भूमिम्) भूमि के प्रति (अब्रवीत्) कहता है कि (यद् भूतं) जो उत्पन्न हुए और (यत् च भाव्यम्) जो उत्पन्न होने योग्य पदार्थ हैं (इदं सर्वम्) यह सर्व (त्वयि) तुझ में ही (जायताम्) उत्पन्न हों।

स यज्ञः प्रथमो भूतो भव्यो अजायत।
तस्माद्ध जज्ञ इदं सर्वं यत् किं चेदं विरोचते रोहितेन ऋषिणाभृतम् ॥ ५५ ॥

भा०—(स यज्ञः) वह महान् यज्ञ (प्रथमः) सब से प्रथम, सब से श्रेष्ठ (भूत) महान् संसार रूप में उत्पन्न और (भव्यः) और निरन्तर होने वाला (अजायत) सम्पन्न हुआ। (तस्माद्) उस महान् यज्ञ से (इदं सर्वं जज्ञे) यह समस्त संसार उत्पन्न हुआ (यत् किं च) जो कुछ भी (इदं विरोचते) यह नाना प्रकार से शोभा दे रहा है और (रोहितेन) जिसको रोहित सर्वोत्पादक (ऋषिणा) और सूर्य के समान तेजस्वी ऋषि, सर्व मन्त्रद्रष्टा, अन्तर्यामी परमेश्वर (आभृतम्) धारण कर रहा है।

यश्च गां पदा स्फुरति प्रत्यङ् सूर्यं च मेहति।
तस्य वृश्चामि ते मूलं न च्छायां करवोऽपरम् ॥ ५६ ॥

भा०—(यः) जो पुरुष (गां च) गौ को, वाणी को, या पृथ्वी को (पदा) चरण से (स्फुरति) ठुकराता, उसका अपमान करता है

५४–(च०) 'भव्यम्' इति पैप्प० सं०।
५५–'अत्रेदम्' इति पैप्प० सं०।

और ( सूर्यम् च ) सूर्य के ( प्रत्यङ् ) सामने ( मेहति ) मूत्र करता है ऐसे ( ते तस्य ) तुझ पुरुष के ( मूलं ) मूल को मैं ( वृश्चामि ) विनाश करता हूं जिससे ( परम् ) उसके बाद ( छायाम् ) इस प्रकार की अपमानजनक क्रिया ( न करवः ) तू न कर पावे।

यो माभिच्छायमत्येषि मां चाग्निं चान्तरा।
तस्य वृश्चामि ते मूलं न च्छायां करवोऽपरम् ॥ ५७ ॥

भा०—हे पुरुष ! ( यः ) जो तू ( मां ) मुझ गुरु को ( अभिच्छायम् ) अपनी छाया मुझ पर फेंकता हुआ ( अत्येषि ) मेरा अतिक्रमण करे और ( मां अग्निम् च अन्तरा ) और यदि मुझ शिष्य और अग्नि और तद्रूप आचार्य के बीच में से गुज़रे ( तस्य ते ) ऐसे तेरे ( मूलम् ) मूल को ( वृश्चामि ) काट डालूं जिससे तू ( अपरम् ) फिर ऐसा ( छायाम् ) अपमानजनक क्रिया ( न करवः ) न करे।

यो अद्य देव सूर्य त्वां च मां चान्तरायति।
दुष्वप्न्यं तस्मिञ्छमलं दुरितानि च मृज्महे ॥ ५८ ॥

भा०—हे ( देव ) परमेश्वर, राजन्, गुरो ! हे ( सूर्य ) सूर्य, सूर्य के समान प्रकाशक ! ( यः ) जो ( अद्य ) आज ( त्वां च मां च अन्तरा ) तेरे और मेरे बीच में ( आयति ) आ जाय ( तस्मिन् ) उसमें ( दुष्वप्न्यं ) बुरे स्वप्न देने वाले ( शमलम् ) पाप वासना और ( दुरितानि च ) दुष्ट संकल्पों को ( मृज्महे ) लगा दें।

मा प्र गाम पथो वयं मा यज्ञादिन्द्र सोमिनः।
मान्तः स्थुर्नो अरातयः ॥ ५९ ॥ ऋ० १० । ५७ । १ ॥

५८—'तस्मिन् दुष्वप्न्यं सर्वं' इति क्षेम० सं०।

भा०—हम लोग ( पथः ) सत् मार्ग से ( मा प्र गाम ) कभी विच-लित न हों। हे ( इन्द्र ) परमेश्वर ! ( सोमिन ) सोम-वाले परमानन्दरूप ( यज्ञात् ) यज्ञ, परमेश्वर की उपासना से ( वयम् मा ) हम कभी च्युत न हों। और ( अन्तः ) भीतर ( नः अरातयः ) हमारे काम क्रोध आदि शत्रु लोग हम पर ( मा स्थुः ) कभी आक्रमण और वश न करें।

यो यज्ञस्य प्रसाधनस्तन्तुर्देवेष्वाततः ।
तमाहुतमशीमहि ॥ ६० ॥ ( ६ )

ऋ० १० । ५७ । २ ॥

भा०—( यः ) जो ( यज्ञस्य ) इस पूर्वोक्त महान् विश्वमय यज्ञ का ( प्रसाधनः ) संचालन करने हारा ( तन्तुः ) तन्तु के समान सबको बांधने हारा होकर ( देवेषु ) समस्त प्राणों और समस्त लोकों और दिव्य पदार्थों में ( आततः ) फैला हुआ है ( तम् ) उस ( आहुतम् ) अति आदर योग्य, पूजनीय आनन्दमय प्रभु को हम ( अशीमहि ) सेवन करें, उसका दिये का भोग करें। या उसी आनन्द-रस को अपनी आत्मा में आहुति करके उसका भोग करें।

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

[ तत्र सूक्तमेकं, षष्टिश्च ऋचः । ]

---

## [ २ ] रोहित, परमेश्वर और ज्ञानी ।

ब्रह्मा ऋषिः । अध्यात्मं रोहितादित्यो देवता । १, १२–१५, ३९–४१ अनुष्टुभः, २, ३, ८, ४३ जगत्यः, १० आस्तारपंक्तिः, ११ बृहतीगर्भा, १६, २४ आर्षी

---

५९, ६०—ऋग्वेदे बन्धुः सुबन्धुः श्रुतबन्धुर्विप्रबन्धुश्च गौपायना ऋषयः, विश्वे-देवा देवताः ।

गायत्री, २५ ककुम्मती आस्तार पंक्तिः, २६ पुरोद्व्यति जागता भुरिक् जगती, २७ विराड् जगती, २९ बार्हतगर्भाऽनुष्टुप्, ३० पञ्चपदा उष्णिग्गर्भाऽति जगती, ३४ आर्षी पंक्तिः, ३७ पञ्चपदा विराड्गर्भा जगती, ४४, ४५ जगत्यौ [ ४४ चतुष्पदा पुरः शाक्वरा भुरिक्, ४५ अति जागतगर्भा ] । षट्चत्वारिंशदृचं सूक्तम् ॥

उदस्य केतवो दिवि शुक्रा भ्राजन्त ईरते ।
आदित्यस्य नृचक्षसो महिव्रतस्य मीढुषः ॥ १ ॥

भा०—( मीढुषः ) समस्त संसार के जीवन-सेचन करने हारे ( महिव्रतस्य ) महान् कर्म, जगत् के सर्जन, पालन, संहार आदि कार्यों के करने वाले ( आदित्यस्य ) सूर्य के समान सबको अपने वश में कर लेने वाले ( नृचक्षसः ) सर्व मनुष्यों के कर्म, कर्म फलों के द्रष्टा ( अस्य ) इस परमात्मा के ( शुक्राः ) शुद्ध कान्ति सम्पन्न ( भ्राजन्तः ) सर्वत्र प्रकाशक, दीप्तिमान ( केतवः ) ज्ञापक किरणों के समान प्रज्ञान युक्त चिह्न ( उद् ईरते ) उदित होते और साक्षात् होते हैं ।

दिशां प्रज्ञानां स्वरयन्तमर्चिषा सुपक्षमाशुं पतयन्तमर्णवे ।
स्तवाम सूर्यं भुवनस्य गोपां यो रश्मिभिर्दिश आभाति सर्वाः ॥२॥

भा०—( दिशाम् ) दिशाओं को जिस प्रकार सूर्य अपने तेज से प्रकाशित करता है उसी प्रकार ( अर्चिषा ) अपनी ज्ञानज्योति से ( प्रज्ञानां ) योगियों की ऋतम्भरा प्रज्ञाओं को ( स्वरयन्तम् ) प्रकाशित करते हुए, ( सुपक्षम् ) शोभन रीति से सबके आश्रय-दाता और ( अर्णवे ) महान् विस्तृत आकाश में जिस प्रकार सूर्य अपने तेज से व्याप्त होता और गति करता है उसी प्रकार ( अर्णवे ) अर्णव, ज्ञान-सागर रूप में ( आशुम् )

[ २ ] २–' दिशां प्रज्ञानं ' इति पैप्पलादशाखाभिमतः । 'प्रज्ञानं स्वरयन्तो अर्चि-' ( ऋ० ) ' दिशाभाति ' इति पैप्प० सं० ।

सर्वव्यापक एवं (पतयन्तम्) योगियों को ज्ञान कराते हुए (भुवनस्य) समस्त संसार के (गोपाम्) परिपालक (सूर्यम्) उस सूर्य की (स्तवाम) हम स्तुति करते हैं (यः) जो (रश्मिभिः) किरणों के समान व्यापक और सब जगत् के वश करने वाली शक्तियों से (सर्वाः दिशः) समस्त दिशाओं को (आभाति) प्रकाशित करता है।

यत् प्राङ् प्रत्यङ् स्वधया यासि शीभं नानांरूपे अहंनी कर्षि मायया।
तदादित्य महि तत् ते महि श्रवो विश्वं परि भूम जायसे ॥ ३ ॥

भा०—हे परमात्मन्! (यत्) जो तू (प्राङ्) पूर्व दिशा में और (प्रत्यङ्) पश्चिम दिशा में (स्वधया) अपनी धारणा शक्ति से (शीभम्) अति शीघ्रता से (यासि) सूर्य के समान गति करता या व्यापता है और (मायया) अपनी 'माया' दिव्य ज्ञानशक्ति से (नानारूपे) नाना प्रकार के (अहनी) दिन और रात (कर्षि) बनाता है (तत्) वही है (आदित्य) सबके आदानकारक परमात्मन्! (महि) तेरा महान् कार्य है। और (तत्) वह तेरी अचिन्त्य (महि) महान् (श्रवः) कीर्ति है (यत्) कि (एकः) तू अकेला ही (विश्वं भूम) समस्त संसार के ऊपर (परिजायसे) सूर्य के समान प्रकाशक और जीवनप्रद रूप में सामर्थ्यवान् होकर विराजता है।

विपश्चितं तरणिं भ्राजमानं वहन्ति यं हरितः सप्त बह्वीः।
स्रुताद् यमत्रिर्दिवमुन्निनाय तं त्वा पश्यन्ति परियान्तमाजिम् ॥ ४ ॥

भा०—(बह्वीः) नाना संख्या वाली या बड़ी बड़ी (सप्त) सात दिशाएं जिस प्रकार सूर्य को धारण करती हैं उसी प्रकार सात (हरितः) हरण करने वाली प्राण वृत्तियां (यं वहन्ति) जिस आत्मा को वहन या

४–(तृ० च०) 'स्रुतादि मत्रिर्दिवमुन्नयाय तं त्वा पश्येम परियन्तमाजिम्' इति पैप० सं०।

धारण करती हैं और ( यम् ) जिसको ( अत्रिः ) सर्वव्यापक सर्व जगत् को अपने में लीन करने-हारा ( स्रुतात् ) प्रस्रवण-शील गतिशील संसार से ( दिवम् ) द्यौलोक, मोक्ष में ( उत् निनाय ) ले जाता है ( तं ) उस ( त्वा ) तुझे ( विपश्चितम् ) ज्ञान, कर्म के संचय करने-हारे ( तरणिम् ) संसार को पार करने वाले, मुक्त ( भ्राजमानम् ) अति देदीप्यमान तेजस्वी आत्मा को विद्वान् लोग अपना ( आजिम् ) प्राप्त करने योग्य चरम-सीमा स्वरूप परब्रह्म के प्रति ( परियान्तम् ) गमन करते हुए ( पश्यन्ति ) साक्षात् दर्शन करते हैं।

मा त्वां दभन् परियान्तमाजिं स्वस्ति दुर्गाँ अति याहि शीभंम्।
दिवं च सूर्य पृथिवीं च देवीमहोरात्रे विमिमानो यदेषि ॥ ५ ॥

भा०—हे आत्मन् सूर्य ! ( आजिम् ) चरम सीमा, मोक्ष पद तक ( परियान्तम् ) पहुंचते हुए ( त्वा ) तुझको ( मा दभन् ) हिंसक काम क्रोध आदि मानस शत्रु तुझे न मारें। तू ( दुर्गान् ) कठिन २ दुर्गम स्थानों और अवसरों, प्रलोभनों को भी ( शीभम् ) अतिशीघ्र ( अतियाहि ) पार कर। ( स्वस्ति ) तेरा मोक्ष मार्ग में सदा कल्याण हो। तू ( यद् ) जब ( अहो-रात्रे वि मिमानः ) दिन रात्रि को नाना प्रकार से बनाता, बिताता हुआ है ( सूर्य ) सूर्य समान तेजस्विन् योगिन् ! ( दिवं ) द्यौलोक के समान प्रकाशमान और ( पृथिवीम् च ) पृथिवी लोक के समान सर्वाश्रय परमात्मा के पास ( एषि ) पहुंचता है।

स्वस्ति ते सूर्य चरसे रथाय येनोभावन्तौ परियासि सद्यः।
यं ते वहन्ति हरितो वहिष्ठाः शतमश्वा यदि वा सप्त बह्वीः ॥ ६ ॥

५-( प्र० ) 'पर्यन्तम्', ( द्वि० ) 'सुगेन दुर्गम्' इति पैप्प० सं०।
६-( प्र० ) 'चतुरयासि' ( द्वि० ) 'पर्यासि' ( च० ) 'समारोह सुखास्यम्' इति पैप्प० सं०।

भा०—हे सूर्य! सूर्य के समान देदीप्यमान आत्मन्! ( ते रणाय स्वस्ति ) तेरे रमणकारी उस स्वरूप के लिये 'स्वस्ति' है अर्थात् वह बहुत उत्तम है। ( येन ) जिससे ( उभौ अन्तौ ) दोनों सीमाओं को (सद्यः) शीघ्र ही ( परियासि ) प्राप्त होता है। और ( ते ) तेरे ( यम् ) जिस स्वरूप को ( वहिष्ठाः ) वहन करने-हारी ( हरितः ) अति शीघ्रगामिनी, रश्मियों के समान चित्त-वृत्तियां या प्राण-वृत्तियों या ( शतम् ) सौ, सैकड़ों ( अश्वाः ) व्यापन शील किरणें और ( बह्वीः ) बड़ी विशाल ( सप्त ) सात दिशाएं जिस प्रकार सूर्य को धारण करती हैं उसी प्रकार उस आत्मा को ( शतम् अश्वाः ) सौ व्यापनशील हृदयगत नाड़ियां और ( सप्त बह्वीः ) सात मुख्य प्राण जिसको ( वहन्ति ) धारण करते हैं।

'शतं चैका हृदयस्य नाड्यः तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका'। इति उप०। 'सप्तास्या रेवतीरेवदूष' इति ऋ०।

सुखं सूर्य रथमंशुमन्तं स्योनं सुवह्निमधि तिष्ठ वाजिनम्।
यं ते वहन्ति हरितो वहिष्ठाः शतमश्वा यदि वा सप्त बह्वीः ॥७॥

भा०—हे ( सूर्य ) सूर्य! सूर्य समान तेजस्विन् आत्मन्! तू ( सुखम् ) सु=उत्तम ख=ज्ञानेन्द्रिय और प्राणेन्द्रिय के मार्गों से युक्त, ( अंशुमन्तं ) अंशु=रासों के समान उत्तम सुसम्बद्ध मनोरश्मियों से सम्पन्न, ( स्योनं ) सुखकारी ( सुवह्निम् ) सुख से एक लोक से लोकान्तर में वहन करने वाले ( वाजिनम् ) वाज अर्थात् बल से सम्पन्न ( रथम् ) उस रथ रूप भौतिक और अभौतिक सूक्ष्म रथ पर ( अधितिष्ठ ) विराजमान हो। ( ते यम् ) तेरे जिस रथ को ( वहिष्ठाः ) वहन करने में समर्थ ( हरितः ) गति-शील प्राण ( अश्वाः शतम् ) व्यापक, शत नाड़ियां ( यदि वा ) अथवा ( बह्वीः सप्त ) अति बलवती सात प्राण वृत्तियां ( वहन्ति ) धारण करती हैं।

७-( द्वि० ) 'स्योनोऽस्य वह्निम्' इति पैप्प० सं०।

सप्त सूर्यो हरितो यातवे रथे हिरण्यत्वचसो बृहतीरयुक्त ।
अमोचि शुक्रो रजसः परस्ताद् विधूय देवस्तमो दिवमारुहत् ॥८॥

भा०—( सूर्यः ) सूर्य, सूर्य के समान तेजस्वी आत्मा ( सप्त ) सात ( हिरण्यत्वचसः ) सुवर्ण के समान तेजोमय आवरण वाली ( बृहतीः ) बड़ी, विशाल कार्य करने में समर्थ सात ( हरितः ) हरण-शील प्राण-शक्तियों को ( यातवे ) अपनी जीवन यात्रा के लिये ( रथे ) अपने रमण साधन देह में घोड़ों को रथों के समान ( अयुक्त ) जोड़ता है और वही ( रजसः परस्तात् ) सब लोकों के परे विद्यमान सूर्य के समान ( शुक्रः ) अति शुचि, दीप्तिमान् होकर ( रजसः परस्तात् ) रजो गुण से परे ( अमोचि ) मुक्त हो जाता है और वही ( तमः ) तमः=अन्धकार के समान तमोगुण को ( विधूय ) दूर करके ( दिवम् ) द्यौलोक या प्रकाशस्वरूप मोक्षमय धाम परमेश्वर को ( आरुहत् ) प्राप्त होता है ।

उत् केतुना बृहता देव आगन्नपावृक् तमोभि ज्योतिरश्रेत् ।
दिव्यः सुपर्णः स वीरो व्यख्यददितेः पुत्रो भुवनानि विश्वा ॥ ९ ॥

भा०—( देवः ) प्रकाशमान आत्मा सूर्य के समान ( बृहता केतुना ) बड़े भारी प्रज्ञान से ( उत् आगन् ) ऊपर आता है, उदित होता है और वह ( तमोभिः ) अन्धकारों और तामस आवरणों से ( अपावृक् ) सर्वथा मुक्त होकर ( ज्योतिः ) परम ज्योति, परमेश्वरीय प्रकाश को ( अश्रेत् ) धारण करता है । वह प्रकाशवान् आत्मा ( अदितेः ) उस महान् अखण्ड परमेश्वरी शक्ति का ( पुत्रः ) पुत्र होकर उसके अनुग्रह से अनुगृहीत होकर

८–( प्र० ) 'सप्त शूरः' ( तृ० ) 'शुक्रः' ( द्वि० ) 'स्वयुक्त' इति पैप्प० सं० ।

९–( तृ० ) 'सुपर्णः स्थविरो' ( च० ) 'आदित्याः पुत्रं नाथकामम्-धामनीता' इति पैप्प० सं० ।

( दिव्य ) दिव्य शक्ति से युक्त ( सुपर्ण ) उत्तम ज्ञान से सम्पन्न होकर ( विश्वा भुवनानि ) समस्त लोकों को सूर्य के समान ( वि अपश्यत् ) विविध प्रकार से प्रकाशित करता है।

उद्यन् रश्मीना तनुष विश्वा रूपाणि पुष्यसि।
उभा समुद्रौ क्रतुना वि भासि सर्वाल्लोकान् परिभूर्भ्राजमानः ॥१०(७)

भा०—हे आदित्य आत्मन् ! तू ( उद्यन् ) उदित होता हुआ सूर्य के समान ही ( रश्मीन् ) रश्मियों को ( आ तनुषे ) चारों ओर फैलाता है और ( विश्वा रूपाणि ) समस्त रूपों=प्राणियों को ( पुष्यसि ) पुष्ट करता है और ( क्रतुना ) ज्ञान और कर्म सामर्थ्य से ( भ्राजमानः ) अति प्रकाश होकर ( सर्वान् लोकान् परिभूः ) समस्त लोकों में व्यापक या गतिमान् सूर्य के समान कामचारी होकर ( उभा समुद्रौ ) दोनों समुद्रों, इह और अमुक दोनों लोकों को ( विभासि ) प्रकाशित करता है। आदित्यो ह वै बाह्यः प्राण उदयति। एष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः। इत्यादि प्रश्न० उप० ३। ८॥

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परि यातोर्णवम्।
विश्वान्यो भुवना विचष्टे हैरण्यैरन्यं हरितो वहन्ति ॥ ११ ॥

अथर्व० ७। ८१। १॥ १४। १। २३॥

भा०—( एतौ ) ये दोनों ( क्रीडन्तौ ) खेलते हुए ( शिशू ) दो बालकों के समान परमात्मा और आत्मा दोनों ( मायया ) माया-अलौकिक बुद्धि से ( अर्णवं परियातः ) समुद्र तक पहुंचते हैं उन दोनों में से ( अन्यः ) एक ( विश्वा ) समस्त ( भुवन ) लोकों को साक्षीरूप से ( विचष्टे ) देखता है ( अन्यं ) दूसरे को ( हैरण्यैः ) हिरण्य अभिरमणीय

१० ( द्वि० ) 'अना सर्वा विरराजसि' इति पैप्प० सं०।

११—( च० ) 'ऋतूंरन्यो विदधज्जायते नवः' इति अथर्व० ७। ८। १। २॥

इन्द्रिय आदि गम्य, भोग्य विषयों द्वारा ( हरितः ) हरणशील प्राणगण ( वहन्ति ) धारण करते हैं।

दिवि त्वात्रिरधारयत् सूर्या मासाय कर्तवे।

स एषि सुधृतस्तपन् विश्वा भूतावचाकशत् ॥ १२ ॥

भा०—हे (सूर्य) सूर्य आत्मन्! (अत्रिः) सर्वव्यापक एवं प्रलयकाल में सबको अपने भीतर ले लेने वाला परमात्मा ( त्वां ) तुझ को ( दिवि ) द्यौ-लोक में सूर्य के समान ( मासाय[1] ) मास=उत्तमकर्म या तपस्या के ( कर्तवे ) करने के लिये ( दिवि ) प्रकाशमान मोक्षलोक में ( अधारयत ) स्थापित करता है। ( सः ) वह ( एषः ) यह सूर्य के समान ( विश्वा भूता ) ( सुधृतः ) उत्तम रीति से धृत, स्थिर होकर ( तपन् ) तेज से परितप्त होकर समस्त प्राणियों के प्रति ( अवचाकशत् ) प्रकाशित होता है, उनको ज्ञान प्रदान करता है।

उभावन्तौ समर्षसि वत्सः संमातराविव ।

नन्वे३तदितः पुरा ब्रह्म देवा अमी विदुः ॥ १३ ॥

भा०—( वत्सः ) बच्चा जिस प्रकार ( मातरौ इव ) माता पिता दोनों के प्रति ( सम् ) समान भाव से प्रेम में आकर्षित होकर जाता है उसी प्रकार हे मुमुक्षो आत्मन्! तू ( उभौ अन्तौ सम् अर्षसि ) दोनों अन्त=चरम आत्मा और परमात्मा दोनों के प्रामुख्य स्वरूपों को प्राप्त होता है। ( ननु ) निश्चय से ( एतत् ) इस परम ध्येयस्वरूप को ( पुरा ) पूर्व-काल के ( अमी देवाः ) वे पारंगत विद्वान् पुरुष ( ब्रह्म विदुः ) ब्रह्मरूप से साक्षात् करते और जानते हैं।

यत् समुद्रमनु श्रितं तत् सिषासति सूर्यः ।

अध्वास्य विततो महान् पूर्वश्चापरश्च यः ॥ १४ ॥

१. मसी परिमाणे दिवादिः।

भा०—( सूर्य ) सूर्य के समान तेज से युक्त आत्मा ( तत् ) उस परमरस को ( निपालति ) प्राप्त करना चाहता है ( यत् ) जो ( समुद्रम् अनुश्रितम् ) समुद्र के समान आनन्दरस के सागर परमेश्वर में विद्यमान है। ( अस्य ) इस तक पहुंचने के लिये ( य ) जो ( पूर्व ) पूर्व, जो पहले चला आया है और ( य अपर च ) जो 'अपर' आगे भी चलना है वह समस्त ( अध्वा ) मार्ग ( महान् वितत ) बड़ा भारी उसके समक्ष विस्तृत है। अर्थात् ब्रह्म का मार्ग महान् है जिसका आगा और पीछा दोनों विशाल हैं पूर्णब्रह्म का मार्ग अनन्त है।

त समाप्नोति जूतिभिस्ततो नाप चिकित्सति ।
तेनामृतस्य भक्ष देवानां नाव रुन्धते ॥ १५ ॥

भा०—वह योगी सूर्य के समान तेजस्वी आत्मा भी ( जूतिभि ) अपने ही मानस ज्योतियों या ज्ञान के अति वेगों से ( तम् ) उस सुदूर वर्त्ती परब्रह्म मार्ग को ( सम् आप्नोति ) प्राप्त कर लेता है ( तत ) तब वह ( न अपचिकित्सति ) उसे त्याग कर फिर कुमार्ग या संशय या भ्रम मे नहीं जाता। ( तेन ) इसी कारण लोग ( देवाना ) विद्वान् लोगों के निमित्त ( अमृतस्य ) अन्न के ( भक्ष ) भोग को ( न अवरुन्धते ) नहीं रोकते।

उदु त्य जातवेदस देव वहन्ति केतव ।
दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥ १६ ॥

अथर्व० २० । ४७ । १३ ॥ ऋ० १ । ५० । १ । यजु० ७ । ४१ ॥

भा०—( केतव ) ज्ञान वान् पुरुष ( त्य जातवेदसम् ) उस परम सर्वज्ञ परमेश्वर 'जातवेदा' का ( उद् वहन्ति ) उत्तम लोक में प्राप्त करते

१५–( द्वि० ) 'जिगमति' ( च० ) 'तेनामृतस्य भक्षं देवानां नाव रुन्धते' इति पैप्प० स० ।

१६ ( प्र० ) ऋग्वेदेऽस्य सूक्तस्य प्रस्कण्व काण्व ऋषि । सूर्यो देवता ।

हैं और ( विश्वाय सूर्यम् ) समस्त संसार के प्रेरक सूर्य परमात्मा को ( दृशे ) साक्षात् दर्शन करने का यत्न करते हैं ।

अप त्ये तायवो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभिः ।
सूराय विश्वचक्षसे ॥ १७ ॥

ऋ० १ । ५० । २ ॥ अथर्व० २० । ४७ । १४ ॥

भा०—( विश्वचक्षसे ) समस्त विश्व को देखने वाले या समस्त विश्व को अपने प्रकाश से प्रदीप्त करने वाले ( सूराय ) सूर्य के तीव्र प्रकाश के कारण ( यथा ) जिस प्रकार ( अक्तुभिः ) अपने दीप्तियों या अन्धकारमय रात्रियों सहित ( अपयन्ति ) विलुप्त हो जाते हैं उसी प्रकार ( विश्वचक्षसे सूराय ) सर्वद्रष्टा सूर्य के समान योगी के प्रबल प्रभाव से ( त्ये ) वे नाना प्रकार के ( तायवः ) चोर स्वभाव, अज्ञान अन्धकार के गहरे पर्दे में छिप कर विषय वासना रूप से आत्मा को छलने, लुभाने वाले भोग और वञ्चनाकारी लोग भी ( अपयन्ति ) भाग जाते हैं ।

अदृश्रन्नस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ अनु ।
भ्राजन्तो अग्नयो यथा ॥ १८ ॥

ऋ० १ । ५० । ३ ॥ यजु० ८ । ४० । अथर्व० २० । ४७ । १५ ॥

भा०—( अस्य ) इस परमात्मा के ( केतवः ) ज्ञान कराने-हारे विद्वान् पुरुष भी ( रश्मयः ) सूर्य की किरणों के समान ( जनान् अनु ) सर्व साधारण-जनों के हित के लिये उनमें ( वि अदृश्रन् ) नाना प्रकार से दिखाई देते हैं । वे तो इस लोक में साक्षात् ( यथा ) जिस प्रकार ( भ्राजन्तः ) चम-चमाते प्रकाशमान ( अग्नयः ) अग्नि हों उस प्रकार तपस्वी, तेजस्वी होकर रहते हैं ।

१८-( प्र० ) ' अदृश्रमस्य ' इति ऋ० ।

तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य ।
विश्वमा भासि रोचन ॥ १९ ॥

ऋ० १ । ५० । ४ ॥

भा०—हे ( रोचन ) प्रकाशस्वरूप, सर्व प्रकाशक आत्मन् ! परमात्मन् ! तू ( तरणिः ) सबको तराने हारा ( विश्वदर्शत ) सूर्य के समान सबको दर्शाने वाला, एवं सब संसार के लिये परम दर्शनीय है । और हे ( सूर्य ) सर्वोत्पादक सूर्य ! तू ही ( ज्योतिः कृत् असि ) समस्त सूर्य चन्द्र नक्षत्र आदि ज्योतियों के रचने हारा है । तू सचमुच ( विश्वम् आभासि ) समस्त विश्व को प्रकाशित करता और सर्वत्र स्वयं प्रकाशित होता है ।

' तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ' । उप० ।

प्रत्यङ् देवानां विशः प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषीः ।
प्रत्यङ् विश्वं स्व॒र्दृशे ॥ २० ॥ ( ८ )

ऋ० १ । ५० । ५ ॥

भा०—हे आत्मन् ! तू ( देवानां ) देवों, इन्द्रियों या प्राणों की बनी ( विशः ) प्रजा और ( मानुषीः विशः ) मनुष्य प्रजाओं के भी ( प्रत्यङ् ) साक्षात् होकर ( उद् एषि ) उदित होता है । ( स्वः ) समस्त सुखमय लोक को ( दृशे ) साक्षात् दर्शन कराने के लिये ( विश्वम् ) समस्त विश्व के भी ( प्रत्यङ् ) प्रति तुम अपना साक्षात् दर्शन देते हो ।

येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु ।
त्वं वरुण पश्यसि ॥ २१ ॥

ऋ० १ । ५०

१९–( तृ० ) ' रोचनम् ' इति ऋ० ।

२०–( द्वि० ) 'मानुषान्' इति ऋ० ।

भा०—हे ( पावक ) परमपावन परमात्मन् ! हे ( वरुण ) सर्व-श्रेष्ठ एवं सबसे वरण करने योग्य ! ( येन चक्षसा ) जिस दया की दृष्टि से ( भुरण्यन्तम् ) प्रजा के भरण पोषण करने वाले पुरुष को और ( जनान् अनु ) मनुष्यों को ( त्वं ) तू ( पश्यसि ) देखता है उसी से हमें भी देख।

वि द्यामेषि रजस्पृथ्वहर्मिमानो अक्तुभिः।
पश्यन् जन्मानि सूर्य ॥ २२ ॥ ऋ० १ । ५० । ७ ॥

भा०—हे ( सूर्य ) प्रेरक, उत्पादक आत्मन् ! जिस प्रकार सूर्य ( अक्तुभिः ) अपने दीप्तियों से ( अहः मिमानः ) दिन को मापता हुआ आकाश में उदित होता है उसी प्रकार तू भी ( अक्तुभिः ) अपने ज्योतिर्मय ज्ञान साधन इन्द्रियों से ( पृथु रजः ) महान्, विस्तृत लोकों को ( मिमानः ) ज्ञान करता हुआ और ( जन्मानि ) नाना जन्मों को ( पश्यन् ) देखता हुआ ( द्याम् ) उस प्रकाशमान ब्रह्ममय लोक को ( वि एषि ) विशेष रूप से प्राप्त होता है।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ॥ गीता ॥

सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य।
शोचिष्केशं विचक्षणम् ॥ २३ ॥ ऋ० १ । ५० । ८ ॥

भा०—हे ( सूर्य ) सूर्य के समान तेजस्विन् आत्मन् ! ( शोचिष्केशम् ) दीप्ति के आवरण या स्वरूप से युक्त ( विचक्षणम् ) विशेष रूप से ज्ञान दर्शन करने हारे विज्ञान वान् आत्मा रूप ( त्वा ) तुझको हे ( देव ) दर्शन-वान् आत्मन् ! ( सप्त हरितः ) सात हरण-शील, वेगवान् प्राण ( वहन्ति ) धारण करते हैं।

---

२२–' उद् यामेषि ' इति साम० । ' रजस्पृथ्वहानि ' इति ऋ० ।
२३–( तृ० ) ' विचक्षण ' इति ऋ० । ' पुरुप्रिय ' इति मै० सं० ।

अयुक्त सप्त शुन्ध्युवः सूरो रथस्य नप्त्यः ।
ताभिर्याति स्वयुक्तिभिः ॥ २४ ॥ ऋ० १ । ५० । ९ ॥

भा०—( सूरः ) सूर्य के समान सर्व प्रेरक ज्ञान-वान् आत्मा ( रथस्य ) रमण साधन इस देहरूप 'रथ' के ( नप्त्यः ) साथ सम्बद्ध ( सप्त ) सात ( शुन्ध्युवः ) अति वेग युक्त, शुद्ध प्राणों को ( अयुक्त ) अपने अधीन योग मार्ग में नियुक्त या समाहित करता है, और ( ताभिः ) उन प्राणों से ही ( स्वयुक्तिभिः ) अपने योग के आठों उपायों से ( याति ) परम पद तक प्राप्त करता है ।

रोहितो दिवमारुहत् तपसा तपस्वी ।
स योनिमैति स उ जायते पुनः स देवानामधिपतिर्बभूव ॥२५॥

भा०—( रोहितः ) रोहित, तेजस्वी सूर्य के समान आत्मा ( तपसा ) तप से ( तपस्वी ) तपस्वी होकर ( दिवम् ) प्रकाशमान परमेश्वर या मोक्ष को ( आरुहत् ) प्राप्त होता है । वही पुनः ( योनिम् एति ) योनि या इस लोक या जन्म स्थान, मनुष्य आदि योनि को प्राप्त होता है । ( सः उ पुनः जायते ) वह ही पुनः २, बार २ उत्पन्न होता है ( सः ) वह ही ( देवानाम् ) प्राण विषयों में क्रीडा करने वाले प्राणों का ( अधिपतिः ) स्वामी ( बभूव ) होता है ।

परमात्मा पक्ष में—रोहित, सर्वोत्पादक, परमेश्वर अपने तप से तपस्वी है । वह ( योनिम् ) योनि प्रकृति को प्राप्त होकर जगत् का प्रादुर्भाव करता है और समस्त अग्नि ' वायु ' आदि देवों का स्वामी हो रहता है ।

---

२४-( द्वि० ) ' नप्त्यः ' इति साम० ।
२५-( प्र० ) ' दिवमाक्रमीत् ' इति पैप्प० सं० ।

यो विश्वचर्षणिरुत विश्वतोमुखो यो विश्वतस्पाणिरुत विश्वतस्पृथः ।
सं बाहुभ्यां भरति सं पतत्रैर्द्यावापृथिवी जनयन् देव एकः ॥२६॥

ऋ० १० । ८१ । ३ ॥ यजु० १७ । १९ ॥

भा०—( यः ) जो परमात्मा ( विश्वचर्षणिः ) समस्त जगत् का द्रष्टा, सब ओर चक्षु से सम्पन्न ( उत ) और ( विश्वतोमुखः ) सब ओर को मुखों वाला है । ( यः विश्वतः पाणिः ) जिसके सर्वत्र हाथ हैं और जो, ( विश्वतस्पृथः ) सर्वत्र व्याप्त है वह ( एकः देवः ) एक मात्र सब का द्रष्टा सब का प्रकाशक उपास्य-देव विश्व के प्राणियों पर दया करके ( द्यावा-पृथिवी ) द्यौ और पृथिवी इन दोनों में विद्यमान समस्त चराचर संसार को ( पतत्रैः ) कारकों द्वारा ( संजनयन् ) भली प्रकार उत्पन्न करता हुआ ( बाहुभ्याम् ) अपनी बाहुओं से, अपने हाथों से मानो सब को ( सं भरति ) भली प्रकार भरण पोषण करता है ।

एकपाद् द्विपदो भूयो वि चक्रमे द्विपात् त्रिपादमभ्येति पश्चात् ।
द्विपाद्ध षट्पदो वि चक्रमे त एकपदस्तन्वं समासते ॥ २७ ॥

पूर्वार्धः १० । ११७ । ८ ( प्र० द्वि० ) अथर्व १३ । ३ । २५ ।

भा०—( एकपाद् ) 'एकपात्' एक चरण वाला ( द्विपदः भूयः विचक्रमे ) दो चरण वाले से अधिक गति करता है । और ( द्विपात ) 'द्विपात्' दो चरण वाला ( त्रिपादम् ) 'त्रिपात्' या तीन चरण वाले को ( पश्चात् ) पीछे से आकर भी ( अभि एति ) पकड़ लेता है । ( द्विपात् ह )

२६-( प्र० ) 'विश्वतोऽक्षिरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्' ( तृ० ) 'सं बाहुभ्यां धमति' ( च० ) 'द्यावाभूमी' इति ऋ० । 'यो विश्वचक्षु'रिति मै० सं० । ( तृ० ) 'नमति' इति पै० सं० । 'धमत्' इति मै० सं० ।

' द्विपात् ' दो चरण वाला ( षट्पदः भूयः विचक्रमे ) ' षट्पद ' से भी अधिक वेग से चलता है और ( ते ) वे सब ( एकपद ) 'एकपात्' एक चरण वाले के ( तन्वं ) 'तनु' शरीर के आश्रय पर ही ( सम् आसते ) विराजते हैं ।

वायुरेकपात् तस्य आकाशं पादः । गो० पू० २ । ८ ॥ आदित्यद्विपात् तस्येमे लोकाः पादाः । गो० पू० २ । ८ ॥ चन्द्रमा द्विपात् तस्य पूर्वपक्षा परपक्षौ पादौ । गो० पू० २ । ८ ॥ द्विपाद्वा अयं पुरुषः । श० २ । ३ । ४ । ३३ ॥ अग्निः षट्पादस्तस्य पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौ एव ओषधिवनस्पतय इमानि भूतानि पादाः । गो० पू० २ । ९ ॥ अर्थात् वायु चन्द्र से भी शीघ्र गामी है और चन्द्र सूर्य को राशि संक्रमण में पीछे से आ पकड़ता है । और यह द्विपात् पुरुष समस्त अग्नि को अपने वश करता है ये सब 'एकपात्' परमात्मा या 'वायु' सब प्राणों के प्राण पर आश्रित हैं ।

अतन्द्रो यास्यन् हरितो यदास्थाद् द्वे रूपे कृणुते रोचमानः ।
केतुमानुद्यन्त्सहमानो रजांसि विश्वा आदित्य प्रवतो वि भासि ॥२८॥

भा०—हे ( आदित्य ) आदित्य ! आदित्य के समान तेजस्वी आत्मन् ! सूर्य जिस प्रकार ( विश्वा रजांसि सहमानः ) समस्त लोकों और धूलिपटलों को अपने तेज से दूर करता हुआ ( केतुमान् ) रश्मियों से युक्त होकर ( प्रवतः ) दूर से ही प्रकाशित होता है उसी प्रकार तू भी ( विश्वा रजांसि ) समस्त प्रकार के रजों, विकारों को ( सहमानः ) अपने तपोबल से दूर करता हुआ ( उद्यन् ) उनसे ऊपर उठता हुआ ( केतुमान् ) ज्ञानवान् होकर ( प्रवतः ) दूर से ( विभासि ) प्रकाशित होता, प्रसिद्ध होता है । और जिस प्रकार ( अतन्द्रः ) विना अस्त हुए सूर्य दिशाओं में गति करता है सो ( द्वे रूपे कृणुते ) दो रूप दिन और रात्रि के प्रगट करता है उसी प्रकार

२८–( द्वि० ) ' दिवि रूप कृणुषे रोचमानः ' इति पैप्प० सं०

आदित्य योगी भी ( अतन्द्रः ) तन्द्रा रहित, आलस्य रहित होकर ( यास्यन् ) मोक्ष-मार्ग में गति करने की इच्छा करता हुआ ( यदा ) जब ( हरितः ) अपने हरणशील प्राणों को ( आस्थात् ) वश करता है तब ( रोचमानः ) अति प्रकाशमान होता हुआ ( द्वे रूपे ) दो रूपों को ( कृणुते ) प्रकट करता है । दो रूप=सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात, निर्बीज और सबीज ।

बण्म॒हाँ अ॑सि सूर्य॒ बडा॑दित्य म॒हाँ अ॑सि ।

म॒हांस्ते॑ मह॒तो म॑हि॒मा त्वमा॑दित्य म॒हाँ अ॑सि ॥ २९ ॥

ऋ० ८ । १०१ । ११ ॥ यजु० ३३ । ३९ ॥ अथर्व० २० । ५८ । ३ ॥

भा०—( बट् ) सत्य निश्चय से हे ( सूर्य ) सूर्य के तेजस्विन् आत्मन् ! तू ( महान् असि ) महान् है । हे ( आदित्य ) आदित्य समान आत्मन् ! ( बट् ) सचमुच ( महान् असि ) तू महान् है ( महतः ते ) तुझ महान् की ( महान् महिमा ) बड़ी महिमा है । ( त्वम् ) तू हे ( आदित्य ) सूर्य के समान प्रकाशक परमेश्वर ! तू ( महान् असि ) 'महान्' सब से बड़ा है ।

रोच॑से दि॒वि रोच॑से अ॒न्तरि॑क्षे पत॑ङ्ग पृथि॒व्यां रोच॑से रोच॑से अ॒प्स्व॑न्तः । उ॒भा स॑मु॒द्रौ रुच्या॒ व्या॑पिथ दे॒वो दे॑वासि महि॒षः स्व॒र्जित् ॥ ३० ॥ ( ६ )

भा०—हे ( पतङ्ग ) ज्ञान-ऐश्वर्य को प्राप्त आत्मन् ! तू सूर्य के समान ( दिवि ) द्यौ आकाश में या ज्ञानमय मोक्षपद में ( रोचसे ) प्रकाशित होता है । ( अन्तरिक्षे ) अन्तरिक्ष में सूर्य के समान तू अन्तः-करण में प्रकाशित होता है, ( पृथिव्याम् ) इस पृथिवी पर ( रोचसे )

२९–( तृ० च० ) 'महस्ते सतो महिमा पनस्तमो अद्धा देव महान् असि' इति ऋ०, यजु० । 'महिमा पनिष्टम अद्धा देव महान् असि' इति साम० ।

३०–'स्वर्विद्' इति ह्वि० सं० ।

प्रकाशित होता है ( अप्सु अन्त ) प्रकृति के सूक्ष्म परमाणुओं और प्रजाओं के भीतर भी तू ( रोचसे ) शोभा देता है । और तू ( रुचा ) अपनी रुचि= कान्ति से ( उभौ समुद्रौ ) दोनों समुद्रों को सूर्य के समान ही दोनों लोकों को ( व्यापिथ ) व्याप्त होता है और हे ( देव ) देव ! प्रकाशमन् ! तू ही ( देवः ) उपास्यदेव ( महिष ) सब से महान् और ( स्वर्जित् ) स्व, ज्ञान और प्रकाशमय लोकों को अपने वश करनेहारा है ।

अर्वाङ् परस्तात् प्रयतो व्यध्व आशुर्विपश्चित् पतयन् पतङ्गः ।
विष्णुर्विचित्तः शवसाधितिष्ठन् प्र केतुना सहते विश्वमेजत् ॥३१॥

भा०—( पतङ्ग ) योग सिद्ध ऐश्वर्य विभूति को प्राप्त होनेहारा सूर्य के समान योगी आत्मा ( अर्वाङ् ) नीचे या समीप, उरे या आगे ( परस्तात् ) दूर, परे और ( व्यध्वे ) विशेष मार्ग के बीच में भी ( प्रयत. ) उत्तम रीति से प्राणायाम, यम, नियम आदि अष्टांगों में जितेन्द्रिय होकर ( आशु ) कार्य करने में शीघ्रकारी प्रयत्न, वेगवान् ( विपश्चित ) ज्ञानसम्पन्न मेधावी होकर ( पतयन् ) विभूति और ऐश्वर्यवान् होता हुआ या सत्य मार्ग में जाता हुआ ( विष्णुः ) अपने ही अन्तरात्मा में प्रविष्ट होकर विष्णु-स्वरूप, ध्यानी ( विचित्त ) विशेष रूप से संज्ञानवान्, सम्यग्दर्शी होकर ( शवसा ) अपने बल, सामर्थ्य से ( अधितिष्ठन् ) मन पर वश करता हुआ ( केतुना ) अपने ज्ञान तेज से ( विश्वम् एजत् ) समस्त गतिमान् जगत् को ( प्रसहते ) अपने वश करता है ।

चित्रश्चिकित्वान् महिषः सुपर्ण आरोचयन् रोदसी अन्तरिक्षम् ।
अहोरात्रे परि सूर्यं वसाने प्रास्य विश्वा तिरतो वीर्याणि ॥ ३२ ॥

३१–( प्र० ) 'अर्वाङ्' इति पैप्प० सं० ।

३२–( द्वि० ) 'रोदसीम्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(चित्रः) समस्त संसार के संचय करने हारा (चिकित्वान्) ज्ञानी (महिषः) महान् (सुपर्णः) उत्तम पालन शक्ति से युक्त (रोदसी) द्यौ पृथिवी और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को (रोचयत्) प्रकाशित करता है (सूर्यं) सूर्य को (परिवसाने) आश्रय करके रहने वाले (अहोरात्रे) दिन और रात भी (अस्य) इस परमेश्वर के (विश्वा वीर्याणि) समस्त वीर्यों को (प्र तिरतः) बतलाते हैं, बढ़ाते हैं।

तिग्मो विभ्राज॑न् तन्वं१ शिशा॑नोऽरंगमा॒सः प्र॒वतो॒ ररा॑णः ।
ज्योति॑ष्मान् प॒क्षी म॑हि॒षो व॑यो॒धा विश्वा॒ आस्था॑त् प्र॒दिशः॒ कल्प॑मानः ॥ ३३ ॥

भा०—(तिग्मः) अति तीक्ष्ण (विभ्राजन्) विशेष रूप से देदीप्यमान (तन्वं शिशानः) अपने आपको तपस्या से अति तीक्ष्ण करता हुआ (अरंगमासः प्रवतः) अत्यन्त गति करने वाले (प्रवतः) मार्गों से (रराणः) शीघ्रता से रमण करता हुआ (ज्योतिष्मान्) ब्रह्ममय ज्योति से युक्त होकर (पक्षी) आत्म-परिग्रह या दमन-शक्ति से युक्त होकर (महिषः) महान् आत्मा (वयोधाः) बल और प्राण को धारण करने में समर्थ होकर (विश्वाः) समस्त (प्रदिशः) दिशाओं को सूर्य के समान स्वयं समस्त ज्ञान साधन इन्द्रियों को (कल्पमानः) विरचता एवं सामर्थ्यवान् करता हुआ (आस्थात्) स्थिर रूप से विराजमान रहता है।

चि॒त्रं दे॒वानां॑ के॒तुरनी॑कं॒ ज्योति॑ष्मान् प्र॒दिशः॒ सूर्य॑ उ॒द्यन् ।
दि॒वा॒क॒रोऽति॑ द्यु॒म्नैस्तमां॑सि॒ विश्वा॑तारीद् दुरि॒तानि॑ शु॒क्रः ॥३४॥
ऋग्० १० । १०७ । १३ ॥

भा०—(देवानां) देव, क्रीडाशील, विषयग्राही इन्द्रियों का (केतुः) ज्ञान प्रदान करने वाला (चित्रम्) विचित्र या सञ्चित (अनीकम्)

२३–' छन्दः शिशानोऽरंगमासु प्रवतोरराणाः ' इति पैप्प० सं० ।

बलस्वरूप ( ज्योतिष्मान् ) तेजस्वी, ज्ञान ज्योति और योग तेज से सम्पन्न, विशोका, ज्योतिष्मती प्रज्ञा से सम्पन्न योगी ( सूर्य ) सूर्य समान अति-तेजस्वी होकर ( उद्यन् ) उदित होता है जिस प्रकार सूर्य ( शुक्रैः ) अपने तेजों या किरणों से ( तमांसि दिवा करोति ) अन्धकारों को दिन के प्रकाशों में बदल देता है उसी प्रकार वह योगी भी समस्त ( तमांसि ) तामस कार्यों को भी अपने ( शुक्रै ) ज्ञानमय प्रकाशों से ( दिवा करोति ) दिन के समान श्वेत करता है अर्थात् कृष्ण-कर्मों को शुक्लकर्मों में बदल देता है। तब वह स्वयं ( शुक्रः ) शुक्र, दीप्तिमान् तेजस्वी, शुक्लकर्मा योगी होकर ( विश्वा दुरितानि ) समस्त पाप-कर्मों को ( तारिषत् ) तर जाता है।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवत् ज्ञानं प्रकाशयति तत् परम् ॥ गी० ५ । १६ ॥
यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ गी० १३ । ३३ ॥
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥ गी० ४ । ३६ ॥

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आप्राद् द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥३५॥
यजु० ७।४२॥१३।४६॥ अथर्व० २०।१०७।१४ ॥ ऋ० १।११५।१॥

भा०—( देवानाम् ) विद्वानों के लिये ( चित्रम् ) अति अद्भुत, ( अनीकम् ) बल, ( मित्रस्य ) मित्र, सबको स्नेह करने वाले ( वरुणस्य ) सर्व ( अग्नेः ) ज्ञानी पुरुष को ( चक्षुः ) सर्व पदार्थों को दर्शाने वाली आंख वही परमात्मा ( जगत् ) जंगम और ( तस्थुषः ) स्थावर का भी ( आत्मा ) आत्मा, अन्तर्यामी परमात्मा ( द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम् ) द्यौ, पृथिवी और अन्तरिक्ष को भी ( आप्राद् ) पूर्ण, व्याप्त कर रहा है।

३५–( तृ० ) ' आप्राश्ना ' इति ऋ० ।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥ गी० १३ । २२ ॥
समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ १३ । २७ ॥

उच्चा पतन्तमरुणं सुपर्णं मध्ये दिवस्तरणिं भ्राजमानम् ।
पश्याम त्वा सवितारं यमाहुरजस्रं ज्योतिर्यदविन्ददत्रिः ॥ ३६ ॥

भा०—( उच्चा पतन्तम् ) ऊँचे पद, मोक्ष को जाते हुए ( अरुणम् ) ज्योतिर्मय ( सुपर्णं ) उत्तम ज्ञान सम्पन्न ( दिवः मध्ये ) द्यौलोक के बीच में सूर्य के समान ( भ्राजमानम् ) अति देदीप्यमान ( तरणिम् ) सर्व दुःख-तारक ( सवितारम् ) सर्व प्रेरक, सर्वोत्पादक ( त्वाम् ) तुझको ( अजस्रम् ) अविनाशी, नित्य ( ज्योतिः ) ज्योति के रूप में ( पश्याम ) हम साक्षात् करें ( यत् ) जिसको ( अत्रिः ) सबको अपने भीतर लीलने वाला मुख्य प्राण ( अविन्दत् ) धारण करता है ।

दिवस्पृष्ठे धावमानं सुपर्णमदित्याः पुत्रं नाथकाम उप यामि भीतः ।
स नः सूर्य प्र तिर दीर्घमायुर्मा रिषाम सुमतौ ते स्याम ॥ ३७ ॥

भा०—( दिवस्पृष्ठे ) द्यौलोक, आकाश के ऊपरि देश में ( धावमानं ) गति करते हुए सूर्य के समान देदीप्यमान, उस मोक्षमय तेजोमय लोक में गति करते हुए ( सुपर्णम् ) उत्तम ज्ञान और पालना से युक्त, ( अदित्याः पुत्रम् ) अदिति के पुत्र आदित्य योगी अथवा अखण्ड ब्रह्म के उपासक आत्मा को स्वयं ( नाथकामः ) ऐश्वर्य प्राप्त करने की इच्छा करता हुआ ( भीतः ) मृत्यु से भयभीत होकर ( उपयामि ) उसकी शरण जाता हूँ । हे ( सूर्य ) सूर्य ! तत्समान तेजस्विन् आत्मन् ! ( सः ) वह तू

३६–( तृ० ) 'पश्येम त्वा' इति पैप्प० सं० ।

( नः ) हमें ( दीर्घम् आयु ) दीर्घ आयु ( प्रतिर ) प्रदान कर हम ( ते सुमतौ ) तेरी उत्तम बुद्धि या ज्ञानोपदेश के अधीन ( स्याम ) रहें और ( मा रिषाम ) कभी पीड़ित न हों।

सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पतंतः स्वर्गम्।
स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य संपश्यन् याति भुवनानि विश्वा ॥३८॥
अथर्व० १०। ८। १८॥ १३। २। १४॥

भा०—( सहस्र-अह्न्यम् ) हजारों दिनों या युगों में बीतने योग्य ( स्वर्गम् ) विस्तृत आकाश भाग में ( पततः ) जाते हुए सूर्य के समान ( हरेः ) अति दीप्तवर्ण एवं गतिशील, परम आत्मा के ( पक्षौ ) दोनों पक्ष, दोनों मार्ग, रात दिन ( वियतौ ) विशेष रूप से नियम बद्ध हैं। ( सः ) वह ( सर्वान् देवान् ) समस्त देवों, प्राणों को ( उरसि ) अपने छाती पर, अपने हृदय में ( उपदद्य ) धारण करके ( विश्वा भुवनानि ) समस्त लोकों को ( सं पश्यन् ) देखता हुआ ( याति ) विचरण करता है।

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिंयुगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः।
अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ गी० ८। १७। १८॥

रोहितः कालो अभवद् रोहितोऽग्रे प्रजापतिः।
रोहितो यज्ञानां मुखं रोहितः स्वराभरत् ॥ ३९॥

---

३८–( तृ० ) 'स विश्वान् देवान्' इति पैप्प० सं०।

३९–( प्र० ) 'रोहितो लोको भवत्' ( च० ) 'रोहितो ज्योतिरुच्यते' इति पैप्प० सं०।

भा०—( रोहितः ) रोहित, सर्वोत्पादक, तेजस्वी वह परम आत्मा ही ( कालः ) कालस्वरूप ( अभवत् ) है। ( अग्रे ) सृष्टि के पूर्व में ( रोहितः ) वही सर्वोत्पादक परमेश्वर ( प्रजापतिः ) प्रजापति, प्रजा का पालक धाता था। ( रोहितः यज्ञानाम् मुखम् ) 'रोहित' ही यज्ञों का मुख था और उसी ( रोहितः ) रोहित ने ( स्वः आभरत् ) समस्त स्वर्ग या आनन्दधाम को भरपूर कर रखा है।

अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतो मुखः।
मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ॥ गी० १० । ३३ ॥

रोहितो लोको अभवद् रोहितोत्यतपद् दिवम्।
रोहितो रश्मिभिर्भूमिं समुद्रमनु संचरत् ॥ ४० ॥ ( १० )

भा०—( रोहितः ) रोहित ही ( लोकः अभवत् ) यह दृश्यमान जगत् समस्त पदार्थों का दर्शक लोक है अर्थात् यह उसी की शक्ति का विकास है। ( रोहितः ) वह सर्वोत्पादक ही ( दिवम् ) सूर्य का ( अति अतपत् ) अति तीव्रता से तपाता है। ( रोहितः ) 'रोहित' ही सूर्य के समान ( रश्मिभिः ) अपनी शक्तिमय रश्मियों से ( भूमिम् समुद्रम् अनु ) भूमि और समुद्र पर भी ( अनु संचरत् ) विचरता है, नाना प्रकार से प्रकट होता है।

सर्वा दिशः समचरद् रोहितोधिपतिर्दिवः।
दिवं समुद्रमाद् भूमिं सर्वं भूतं वि रक्षति ॥ ४१ ॥

भा०—( दिवः ) द्यौलोक, सूर्य का भी स्वामी ( रोहितः ) रोहित परमेश्वर ( सर्वाः दिशः सम् अचरत् ) समस्त दिशाओं में व्यापक है क्योंकि

४०–( प्र० ) 'रोहितो भूतो भवत्' ( तृ० ) 'भूम्यन्' इति पैप्प० सं०।
४१–( प्र० ) 'संचरति' ( द्वि० ) 'सो अपि' ( तृ० ) 'भूम्यं', ( च० ) 'सर्वलोकान् वि' इति पैप्प० सं०।

( दिवम् ) आकाश ( समुद्रम् ) समुद्र ( आत् भूमिम् ) और भूमि को भी व्यापक कर यही ( सर्वम् ) समस्त ( भूतम् ) उत्पन्न प्राणिसंसार की वह ( वि रक्षति ) विविध प्रकार से रक्षा करता है ।

आरोहञ्छुक्रो बृहतीरतन्द्रो द्वे रूपे कृणुते रोचमानः ।
चित्रश्चिकित्वान् महिषो वातमाया यावतो लोकानभि यद् विभाति ॥ ४२ ॥

भा०—( शुक्रः ) अति तेजस्वी, सूर्य जिस प्रकार ( बृहती ) आकाश के महान् प्रदेशरूप दिशाओं के ऊपर ( आरोहन् ) चढ़कर ( रोचमानः ) अति कान्तिमान् होकर भी ( द्वे रूपे कृणुते ) दो रूप दिन और रात्रि को प्रकट करता है उसी प्रकार ( शुक्र ) शुक्र, तेजस्वी शुक्ल योगी, आत्मा ( बृहतीः ) प्राणों या अन्य आत्माओं पर ( आरोहन् ) आरूढ़ होकर उनपर वश करता हुआ ( अतन्द्र ) आलस्य रहित होकर निद्रावृत्ति पर भी वश करके ( रोचमानः ) अति तेजस्वी होकर ( द्वे रूपे कृणुते ) दो रूप सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात को प्रकट करता है। वह ( चित्रः ) अद्भुतरूप ( चिकित्वान् ) ज्ञानी ( महिषः ) आत्मा ( वातम् आयाः ) वात=प्राण के बल पर गति करता हुआ ( यावतः ) जितने भी लोक हैं उन सब ( लोकान् अभि ) लोकों में ( विभाति ) विशेषरूप से प्रकाशित होता है। वहां विचरता है। प्राणाः वै बृहत्यः। ऐ० ३। १४॥ आत्मा वै बृहती। तां० ७। ८॥

४२–( तृ० ) 'वातमापः' इति ह्विटनिः कामितः। 'वातमायः' इति ब्लूमफिल्ड-कामितः पदपाठः। 'आरोहन् शुक्रो बृहतीरतन्द्रो अमर्त्यः कृणुषे वीर्याणि' द्वि० च०। 'सुपर्णो महिष वातरंह या सर्वांल्लोकानभि०' इति पैप्प० सं०।

अभ्य१॒॑न्यदे॑ति॒ पर्य॒न्यद॑स्यते॒ऽहोरा॒त्राभ्यां॑ महि॒षः कल्प॑मानः ।
सूर्यं॑ व॒यं रजा॑सि क्षि॒यन्तं॑ गातु॒विदं॑ हवामहे॒ नाध॑माना: ॥ ४३ ॥

भा०—जिस प्रकार सूर्य ( अन्यत् अभि एति ) दिन रात दोनों में से जब एक 'दिन' भाग पर आरूढ़ होता है और ( अन्यत् परि अस्यते ) तब दूसरे रात्रि भाग को सदा परे हटाता है और इस प्रकार वह ( महिषः ) महान् सूर्य ( अहोरात्राभ्याम् ) दिन रात दोनों से ( कल्पमानः ) सामर्थ्यवान् होता है, उसी प्रकार शक्तिशाली परमेश्वर दिन और रात्रि के समान उदय अस्त होने वाले जगत् के सर्ग प्रलय दोनों स्थितियों में से जब एक पर आरूढ़ होता है तो दूसरे को दूर करता है। इस प्रकार ( वयम् ) हम ( नाधमानाः ) उपासना करते हुए उपासक लोग ( रजांसि ) रजोगुण में ( क्षियन्तम् ) निवास करते हुए ( सूर्यम् ) सब के प्रेरक, प्रकाशक ( गातुविदम् ) समस्त ज्ञान और यज्ञ या संसार के अपने भीतर ले लेनहारे परमेश्वर की ( हवामहे ) स्तुति करते हैं।

पृ॒थि॒वि॒प्रो म॑हि॒षो नाध॑मानस्य गा॒तुरद॑ब्धचक्षुः॒ परि॒ विश्वं॑ ब॒भूव॑ ।
विश्वं॑ सं॒पश्य॑न्त्सुवि॒दत्रो॒ यज॑त्र इ॒दं शृ॑णोतु॒ यद॒हं ब्रवी॑मि ॥ ४४ ॥

भा०—( महिषः ) वह महान् परमात्मा ( पृथिवीप्रः ) समस्त पृथिवी को नाना भोग्य-पदार्थों से पूर्ण करने वाला ( नाधमानस्य गातुः ) याचना प्रार्थना करने वाले अपने स्तुतिकर्ता उपासक के लिये जाने योग्य मार्ग के समान और ( अदब्धचक्षुः ) अविनाशी, सर्वद्रष्टा चक्षु के समान ( विश्वं परि बभूव ) इस विश्व में व्यापक है। वह परमेश्वर ( विश्वं सम्पश्यन् )

४३-( प्र० ) 'एतिपर्यन्यदास्यतेऽहोरात्राभ्यां-' ( च० ) 'नाधमानाः' इति पैप्प० सं०।

४४-( प्र० ) 'नाधमानस्य' ( द्वि० ) 'अदब्धचक्षुः परिविश्वभूव' ( च० ) 'शिवाय नस्तन्वा सन्तु पश्चात्' इति पैप्प० सं०।

विश्व को भली प्रकार देखता हुआ ( सुविदत्रः ) उत्तम ज्ञान और कल्याण दानशील और ( यजत्रः ) उपासना करने योग्य है वह ( यद् ) जो कुछ ( अहम् ) मैं ( ब्रवीमि ) कहूं ( इदं ) उसको ( शृणोतु ) सुने ।

पर्यस्य महिमा पृथिवीं समुद्रं ज्योतिषा विभ्राजन् परि द्यामन्तरिक्षम्
सर्वं संपश्यन्त्सुविदत्रो यजत्र इदं शृणोतु यदहं ब्रवीमि ॥ ४५ ॥

भा०—( अस्य ) इस परमात्मा की ( महिमा ) महिमा, बड़ा भारी सामर्थ्य ( पृथिवीम् परि समुद्रम् परि ) पृथिवी और समुद्र दोनों पर व्याप्त है । वह ( ज्योतिषा ) ज्योति, परम तेज से ( द्याम् परि अन्तरिक्षम् परि ) द्यौ और अन्तरिक्ष दोनों में व्यापक है । ( सर्वम् सम्पश्यन्० ) इत्यादि पूर्ववत् ।

अबोध्यग्निः समिधा जनानां प्रति धेनुमिवायतीमुषासम् ।
यह्वा इव प्र वयामुज्जिहानाः प्र भानवः सिस्रते नाकमच्छ ॥४६॥(११)

ऋ० ५ । १ । १ ॥ यजु० १५ । २४ ॥ साम० १ । ७३ ॥

भा०—( जनानाम् ) मनुष्यों की ( समिधा ) काष्ठ से प्रज्वलित अग्नि-होत्र की अग्नि प्रातःकाल के अवसर ( अबोधि ) जागती है, ( धेनुम् इव ) और जिस प्रकार बछड़ा दूध पिलाने वाली गाय के प्रति चला जाता है उसी प्रकार वह अग्नि प्रबुद्ध होकर मानो ( आयतीम् ) प्राप्त होती हुई उषा के पास पहुंचती है । ( यह्वाः ) जिस प्रकार शिशु पक्षी ( उज्जिहानाः ) उड़ते २ ( वयाम् प्र ) शाखा पर चले जाते हैं उसी प्रकार सूर्य के ( भानवः ) किरण ( अच्छ ) भली प्रकार ( नाकम् प्र सिस्रते ) नाक आकाश तक पहुंचते हैं ।

---

४५–( द्वि० तृ० ) ' महीगाधारयत् सह सत्रमाना उषासितु प्रसरद् कनि-ष्ठम् ' इति पैप्प० सं० ।

४६–( च० ) ' सम्रते ' इति पैप्प० सं० । ' सस्रते ' इति साम० ।

अध्यात्म में—( जनानां समिधा अग्निः अबोधि ) जब विद्वान् जनों का अभि अग्निरूप आत्मा उत्तम सम्यक् ज्ञान से प्रबुद्ध होता है। तब ( धेनुम् प्रति इव ) जिस प्रकार बछड़ा गाय के प्रति जाता है उसी प्रकार उनका आत्मा ( आयतीम् उषासम् प्रति ) प्राप्त होती हुई विशोका ज्योतिष्मती प्रज्ञा की तरफ़ बढ़ता है। ( यह्वा इव वयाम् ) जिस प्रकार पक्षीगण शाखा पर जाते हैं उसी प्रकार ( भानवः ) कान्तिमान्, मुक्त योगी ( नाकम् प्रसिस्रते ) सुखमय परमात्मा की ओर गति करते और उसीका अवलम्ब लेते हैं।

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

[ तत्रैकं सूक्तम्, षड्चत्वारिंशदृचः । ]



[ ३ ] रोहित, आत्मा ज्ञानवान् राजा और परमात्मा का वर्णन ।

ब्रह्मा ऋषिः । अध्यात्मम् । रोहित आदित्यो देवता । १ चतुरवसानाष्टपदा आकृतिः, २—४ त्र्यवसाना षट्पदा [ २, ३ अष्टिः, २ भुरिक्, ४ अति शाक्वरगर्भा धृतिः ], ५—७ चतुरवसाना सप्तपदा [ ५, ६ शाक्वरातिशाक्वरगर्भा प्रकृतिः ७ अनुष्टुप् गर्भाति धृतिः ], ८ त्र्यवसाना षट्पदा अत्यष्टिः, ९—१९ चतुरवसाना [ ९—१२, १५, १७ सप्तपदा भुरिग् अतिधृतिः, १५ निचृत्, १७ कृतिः, १३, १४, १६, १८ अष्टपदा, १३, १४ विकृतिः, १६, १८, १९ आकृतिः, १९ भुरिक् ], २०, २२ त्र्यवसाना अष्टपदा अत्यष्टिः, २१, २३—२५ चतुरवसाना अष्टपदा [ २४ सप्तपदा-कृतिः, २१ आकृतिः, २३, २५ विकृतिः ] । षड्विंशत्यृचं सूक्तम् ॥

य इमे द्यावापृथिवी जजान यो द्रापिं कृत्वा भुवनानि वस्ते ।
यस्मिन् क्षियन्ति प्रदिशः षडुर्वीर्याः पतङ्गो अनु विचाकशीति ।
तस्य देवस्य क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति ।
उद् वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान् ॥१॥

भा०—( यः ) जो ( इमे ) इन दोनों ( द्यावापृथिवी ) द्यौ, आकाश और पृथिवी को ( जजान ) उत्पन्न करता है और ( यः ) जो ( भुवनानि ) समस्त लोकों को अपना ( द्रापिम् ) वस्त्र या चोला बनाकर उनमें ( वस्ते ) निवास करता है। अथवा ( यः द्रापिं कृत्वा भुवनानि वस्ते ) जो जो अपने आपको समस्त लोकों का आवरण वस्त्र बनाकर समस्त भुवनों को आच्छादित करता है। ( यस्मिन् ) जिसमें ये ( षट् ) छः ( उर्वीः ) विशाल ( प्रदिशः ) दिशाएं ( क्षियन्ति ) निवास करती हैं ( याः, अनु ) जिनमें ( पतङ्गः ) नित्य गतिशील सूर्य उस परमात्मा की शक्ति से अनुप्राणित होकर ( विचाकशीति ) विशेषरूप से प्रकाशित होता है। ( यः ) जो पुरुष ( एवं विद्वांसं ) इस प्रकार विद्वान् ( ब्राह्मणं ) ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण का जिनाति विनाश करता है ( एतद् ) यह ( आगः ) अपराध ( तस्य ) उस ( क्रुद्धस्य देवस्य ) क्रुद्ध देव परमेश्वर के प्रति ही है। हे ( रोहित ) रोहित, लोहित, तेजस्विन्, राजन्! तू ( ब्रह्मज्यस्य ) ब्रह्मघाती को ( उद्वेपय ) कम्पा दे, ( प्रक्षिणीहि ) नाश करदे और उस पर ( पाशान् प्रति मुञ्च ) पाश डाल कर बांध ले।

यस्माद् वाता॑ ऋतुथा पव॑न्ते यस्मा॑त् समुद्रा अधि॑ विक्षर॑न्ति।
तस्यं देवस्यं । ० । ० ॥ २ ॥

भा०—( यस्मात् ) जिस परमेश्वर के बल से ( वाताः ) वायुएं ( ऋतुथा ) ऋतुओं के अनुकूल ( पवन्ते ) बहा करती हैं और ( यस्मात् ) जिस मूल से या जिसके आश्रय पर ( समुद्राः ) समुद्र, नदियों के प्रवाह ( अधि विक्षरन्ति ) विविध दिशाओं में प्रवाहित होते हैं। ( तस्य देवस्य० ) इत्यादि पूर्ववत्।

यो मा॒रय॑ति प्रा॒णय॑ति॒ यस्मा॑त् प्रा॒णन्ति॒ भुव॑नानि॒ विश्वा॑।
तस्यं० ॥ ३ ॥

भा०—जो (यः) परमेश्वर (मारयति) सबको मारता है (प्राणयति) और प्राण देता, जिलाता है और (यस्मात्) जिस आदिकारण से (विश्वा भुवनानि) समस्त उत्पन्न होने वाले लोक और प्राणि भूत (प्राणन्ति) प्राण धारण करते हैं (तस्य०) उस० इत्यादि पूर्ववत्।

यः प्राणेन द्यावापृथिवी तर्पयत्यपानेन समुद्रस्य जठरं यः पिपर्ति। तस्य० ॥ ४ ॥

भा०—(यः) जो परमेश्वर (प्राणेन) प्राण शक्ति से (द्यावापृथिवी) आकाश और पृथिवी को और देह में मस्तक से चरण तक को (तर्पयति) तृप्त करता और (यः) जो (अपानेन) 'अपान' शक्ति से (समुद्रस्य) समुद्र के (जठरं) भीतरी भाग को एवं देह में मल मूत्रादि त्यागने वाले द्वारों के उदर या मध्य भाग को (पिपर्ति) पालन पोषण करता है (तस्य०) इत्यादि पूर्ववत्।

यस्मिन् विराट् परमेष्ठी प्रजापतिरग्निर्वैश्वानरः सह पङ्क्त्या श्रितः। यः परस्य प्राणं परमस्य तेज आददे। तस्य० ॥ ५ ॥

भा०—(यस्मिन्) जिस सर्वाश्रय परमात्मा में (विराट्) विराट् पृथिवी, (परमेष्ठी) परमेष्ठी, आपः, (प्रजापतिः) प्रजापति, वायु (अग्नि) अग्नि (वैश्वानरः) समस्त प्राणियों में व्यापक आकाश और आत्मा (सह पङ्क्त्या) अपने पांचों ज्ञानेन्द्रियों के विषयों सहित (श्रितः) आश्रित है। और (यः) जो (परस्य) पर दूसरा भुवन के (प्राणम्) प्राण और (परमस्य) परम सर्वोच्च सूर्य के भी (तेजः) तेज को (आददे) स्वयं धारण करता है (तस्य०) उस० इत्यादि पूर्ववत्।

इयं पृथिवी विराट्। गो० उ० ६। २॥ आपो वै प्रजापतिः परमेष्ठी ता हि परमे स्थाने तिष्ठन्ति। श० ८। २। ३। १३॥ स आपोऽभवत्। परमाद्वा एतास्थानाद् वर्षति यद् दिवस्तत्परमेष्ठी नाम। श० ११। १। ६१॥

एतद् वै प्रजापतेः प्रत्यक्षं रूपं यद् वायुः । कौ० १९।२॥ स एषवायुः प्रजापति रेभ्युभेऽन्तरिक्षे समन्तं पर्येत् । श० ८।३।४।१५॥ एष वै बहुलो वैश्वानरो यदाकाशः । श० १०।६॥१।६॥

यस्मिन् षडुर्वीः पञ्च दिशो अधि श्रिताश्चतस्र आपो यज्ञस्य त्रयोऽक्षराः । यो अन्तरा रोदसी क्रुद्धश्चक्षुषैक्षत । तस्मै० ॥ ६ ॥

भा०—( यस्मिन् ) जिस में ( षट् उर्वीः ) छहों विशाल दिशाएं और ( चतस्रः ) चार ( आपः ) आप =आप्त प्रजाएं और ( यज्ञस्य ) यज्ञ देवोपासन के निदर्शक ( त्रयः ) तीन ( अक्षराः ) अक्षरविनाशी वेद ( श्रिताः ) आश्रय लिये हुए हैं । और ( यः ) जो ( रोदसी अन्तरा ) आकाश और भूमि के मध्य में ( क्रुद्धः ) अति रोषयुक्त, दुष्टों के प्रति सदा कोपकारी होकर ( चक्षुषा ) अपने प्रकाशमान सूर्य रूप चक्षु से मानो निरन्तर ( ऐक्षत ) देखा करता है ( तस्मै० ) इत्यादि पूर्ववत् ।

यो अन्नादो अन्नपतिर्बभूव ब्रह्मणस्पतिरुत यः ।
भूतो भविष्यद् भुवनस्य यस्पतिः । तस्मै० ॥ ७ ॥

भा०—( यः ) जो स्वयं परमेश्वर ( अन्नादः ) समस्त विश्व को अपना अन्न बना कर खाजाता है और स्वयं ( अन्नपतिः बभूव ) अन्नमय समस्त लोकों का पति=स्वामी है ( उत ) और ( यः ) जो ( ब्रह्मणः पतिः ) ब्रह्मवेद का स्वामी है । ( भूतः भविष्यद् ) जो स्वयं भूत और भविष्यत् रूप होकर ( भुवनस्य ) इस भुवन, उत्पन्न होने वाले वर्तमान जगत् का भी ( यः पतिः ) जो स्वामी है । ( तस्मै० ) इत्यादि पूर्ववत् । अन्नं वै सर्वेषां भूतानाम् आत्मा । गो० उ० १।२।२॥

---

७–' भूतो भविष्यन् ' इति ह्विटनिकामितः ।

अहोरात्रैर्विमितं त्रिंशदङ्गं त्रयोदशं मासं यो निर्मिमीते ।
तस्यं० ॥ ८ ॥

भा०—( अहोरात्रैः ) दिन और रातों से ( विमितम् ) विशेष रूप से परिमित ( त्रिंशद्-अङ्गं ) तीस अङ्ग अर्थात् अवयवों से बने ( त्रयोदशं मासम् ) १३ वें मास को भी ( यः ) जो पूरी तरह से ( निर्मिमीते ) बना देता है वह व्यवस्थापक परमेश्वर है । ( तस्य० ) इत्यादि पूर्ववत् ।

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत् पतन्ति ।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्य । तस्यं० ॥ ९ ॥

भा०—( सुपर्णाः ) शोभन रीति से गमन करने हारे पक्षियों के समान सात्विक ज्ञान से युक्त ( हरयः ) अति उज्वल रूप, अज्ञाननाशक मुक्तात्मा जन, सूर्य-किरणों के समान ( अपः वसानाः ) ज्ञान रूप जलों को धारण करते हुए ( कृष्णम् ) सूर्य के समान आकर्षणकारी ( नियानम् ) सबके परम गन्तव्य, परमेश्वर और ( दिवम् ) प्रकाशमय मोक्ष लोक की तरफ ( उत्पतन्ति ) ऊर्ध्व गति करते हैं । और पुनः मोक्ष काल के उपरान्त ( ऋतस्य ) परम आत्म-ज्ञान के ( सदनात् ) आश्रय से ( आ ववृत्रन् ) पुनः इस लोक में लौट आते हैं । ( तस्य० ) इत्यादि पूर्ववत् ।

यत् ते चन्द्रं कश्यप रोचनावद् यत् संहितं पुष्कलं चित्रभानु ।
यस्मिन्त्सूर्या आर्पिताः सप्त साकम् । तस्यं० ॥ १० ॥ ( १२ )

भा०—हे ( कश्यप ) सर्वद्रष्टा पश्यक ! परमेश्वर ( यत् ) जो ( ते ) तेरा ( चन्द्रम् ) सर्व आह्लादकारी ( रोचनावत् ) दीप्तियुक्त ( पुष्कलम् ) पुष्टिकारी, बलप्रद, अतिअधिक ( संहितम् ) एकत्र संचित ( चित्रभानु ) विविध कान्तिमय, दीप्तिमय, प्रकाशस्वरूप रूप है ( यस्मिन् ) जिसमें

१०-( द्वि० ) 'पुष्करम्' इति क्वचित् ।

( सूर्यः ) सूर्य के समान देदीप्यमान, तेजस्वी ( सप्त ) सात भुवन और प्राण भी ( साकम् ) एक साथ ही ( अर्पिताः ) आश्रित हैं। ( तस्य० ) इत्यादि पूर्ववत्।

बृहदेनमनु वस्ते पुरस्ताद् रथंतरं प्रति गृह्णाति पश्चात्।
ज्योतिर्वसाने सदमप्रमादम्। तस्यं० ॥ ११ ॥

भा०—(एनम् पुरस्तात्) इसको आगे से ( बृहत् ) 'बृहत्' महान्, द्यौः आकाश ( अनुवस्ते ) आच्छादित करता है और ( पश्चात् ) पीछे से ( रथन्तरम् ) रथन्तर=पृथिवी ( प्रतिगृह्णाति ) सम्भाले रहती है। दोनों ( ज्योतिः ) उस ज्योतिःस्वरूप रोहित परमात्मा को (वसाने) वस्त्र के समान धारण या आच्छादित करते हुए (अप्रमादम्) विना प्रमाद के, सुदृढ, जगमग ( सदम् ) मकान के समान बने हैं। ( तस्य० इत्यादि ) पूर्ववत्।

'द्यौर्वै बृहत्' । श० ६ । १ । २ । ३७ ॥ रथन्तरं हि इयं पृथिवी । श० १ । ७ । २ । १७ ॥ अध्यात्म में—प्राणो बृहत् । तां० ७ । ६ । १४ । १७ ॥ मनो वै बृहत् । ए० ४ । २८ ॥ वाग् वै रथन्तरम् । तां० ७ । ६ । १७ ॥ अपानो रथन्तरम् । तां० ७ । ६ । १४ । १७ ॥ यथा वै पुत्रो ज्येष्ठ एवं वै बृहत् प्रजापतेः । तां० ७ । ६ । ६ ॥

बृहदन्यतः पक्ष आसीद् रथंतरमन्यतः सबले सध्रीची।
यद् रोहितमजनयन्त देवाः। तस्यं० ॥ १२ ॥

भा०—उस 'रोहित' आत्मा का ( अन्यतः पक्षः ) एक तरफ का पक्ष, बाजू ( बृहत् ) यह 'बृहत्' द्यौ या प्राण ( आसीत् ) है और ( अन्यतः ) दूसरी ओर का पक्ष ( रथन्तरम् ) 'रथन्तर' पृथिवी और अपान है। ये दोनों ( सबले ) बल से युक्त और ( सध्रीची ) सदा साथ रहने वाले हैं। ( यद् ) जब ( रोहितम् ) आत्मा को ( देवाः ) देवगण, पञ्च-

भूत आदि और उनके बने सूक्ष्म इन्द्रियगण और राजा को प्रजा के विद्वान्गण, ( अजनयन्त ) प्रकट रूप से उत्पन्न करते हैं।

स वरुणः सायमग्निर्भवति स मित्रो भवति प्रातरुद्यन्।
स सविता भूत्वान्तरिक्षेण याति स इन्द्रो भूत्वा तपति मध्यतो दिवम्। तस्यं० ॥ १३ ॥

भा०—( सः ) वह सर्वश्रेष्ठ 'वरुणः' सबके वरण करने योग्य, सब का वारक परमेश्वर ही ( सायम् ) सायङ्काल, अन्धेरा आजाने के अवसर पर ( अग्निः भवति ) अग्नि के समान प्रकाशक होता है। ( सः ) वह ( प्रातः ) प्रातःकाल के अवसर पर ( उद्यन् ) उदित होते हुए सूर्य के समान सब का ( मित्रः ) परम स्नेही, सर्वोपकारक ( भवति ) होता है। ( सविता ) सूर्य जिस प्रकार ( अन्तरिक्षेण याति ) अन्तरिक्ष से गमन करता है उसी प्रकार वह भी ( सविता ) सब का प्रेरक होकर ( अन्तरिक्षेण ) अन्तरिक्ष भाग, भीतरी अन्तःकरण द्वारा वह सर्वत्र व्यापक रहता है। वही ( इन्द्रः ) सर्वैश्वर्यवान् ( भूत्वा ) होकर ( दिवम् मध्यतः ) आकाश के बीच सूर्य के समान ( तपति ) प्रतप्त होता है। ( तस्य० ) इत्यादि पूर्ववत्।

सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम्।
स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य संपश्यन् याति भुवनानि विश्वा।
तस्यं० ॥ १४ ॥

भा०—व्याख्या देखो अथर्व० १० । ८ । १८ ॥ और १३ । २ । ३८ ॥ में।

अयं स देवो अप्स्वन्तः सहस्रमूलः पुरुशाको अत्त्रिः।
य इदं विश्वं भुवनं जजान। तस्यं० ॥ १५ ॥

१५–' पुरुशाकः ' इति हिर्नाककामितः।

भा०—( य ) जो ( इदम् ) इस ( विश्वम् ) समस्त ( भुवनम् ) संसार, लोक को ( जजान ) उत्पन्न करता है ( अयं स देव ) वह देव यह है जो ( अप्सु अन्तः ) समस्त प्रजाओं, लोकों और प्रकृति के मूल परमाणुओं के भीतर व्यापक और ( सहस्रमूल ) सहस्रों पदार्थों या समस्त जगत् का मूल आधार या मूल कारण ( पुरुशाक ) महान् शक्तिशाली और ( अत्त्रि ) इसको प्रलयकाल में स्वयं लीलने वाला है। जन्माद्यस्य यतः ॥ वेदान्त सूत्र १ । १ । २ ॥ ( तस्य० ) इत्यादि पूर्ववत्।

शुक्रं वहन्ति हरयो रघुष्यदो देवं दिवि वर्चसा भ्राजमानम् ।
यस्योर्ध्वा दिवं तन्वस्तपन्त्यर्वाङ् सुवर्णैः पटरैर्वि भाति ।
तस्यै० ॥ १६ ॥

भा०—( दिवि ) आकाश में ( वर्चसा ) तेज से ( भ्राजमानम् ) देदीप्यमान ( देवम् ) उस सर्वप्रकाशक ( शुक्रम् ) शुद्ध ज्योतिर्मय, परमेश्वर को ( रघुष्यदः ) अति तीव्र, वेगवान् ( हरयः ) किरणों के समान गतिशील लोक या मुमुक्षुजन ( वहन्ति ) अपने में धारण करते या प्राप्त करते हैं। और ( यस्य ) जिसके बनाये ( ऊर्ध्वाः ) ऊपर विद्यमान ( तन्वः ) पिण्ड, ज्योतिर्मय सहस्रों लोक ( दिवं तपन्ति ) आकाश को प्रकाशित करते हैं और जो ( अर्वाङ् ) नीचे के प्रदेश में भी ( सुवर्णैः ) उत्तमवर्ण के ( पटरैः =पटलैः ) तेजोमय सूर्यों से ( विभाति ) विविध प्रकार से शोभा देता है। ( तस्य० इत्यादि ) पूर्ववत्।

येनादित्यान् हरितः संवहन्ति येन यज्ञेन बहवो यन्ति प्रजानन्तः ।
यदेकं ज्योतिर्बहुधा विभाति । तस्य० ॥ १७ ॥

भा०—( येन ) जिस के बल से प्रेरित होकर ( हरितः ) हरणशील वेगवती शक्तियां ( आदित्यान् ) सूर्यों को ( सं वहन्ति ) निरन्तर चला रही

है, ( येन यज्ञेन ) जिस यज्ञरूप सब के उपास्य-देव के संग से ( बहवः ) बहुत से मुक्त जीव ( प्रजानन्तः ) उत्कृष्ट ज्ञान से सम्पन्न होकर ( यन्ति ) मोक्षधाम को प्राप्त होते हैं । ( यद् ) जो ( एकम् ) एकमात्र ( ज्योतिः ) ज्योति होकर स्वयं ( बहुधा ) नानारूपों से ( वि भाति ) प्रकाशित होता है ( तस्य० ) इत्यादि पूर्ववत् ।

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा ।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः ।
तस्य० ॥ १८ ॥ अथर्व० ९ । ९ । २ ॥ ऋ० १ । १६४ । २ ॥

भा०—( सप्त ) सात शीर्षगत प्राण ( एकचक्रम् रथम् ) एक कर्त्ता से युक्त रथ को ( युञ्जन्ति ) उसमें जुतकर वहन करते हैं । और ( एकः ) एक ( अश्वः ) उन सब का भोक्ता ( सप्तनामा ) सातों का नाम धारण करके उनको ( वहति ) धारण करता है । ( त्रिनाभि चक्रम् ) तीन सत्व, रजः, तमः इनमें बंधा हुआ, तीन नाभियों से युक्त चक्र=कर्त्ता वह आत्मा ( अजरम् ) कभी न जीर्ण होने वाला ( अनर्वम् ) बिना घोड़े के चलनेहारे चक्र के समान स्वयं भी ( अनर्वम् ) दूसरे किसी अन्य प्रेरक की सहायता न लेता हुआ स्वयं चेतन विद्यमान है ( यत्र ) जिसमें ( इमा ) ये ( विश्वा भुवनानि ) समस्त लोक और इन्द्रिय आदिगण ( तस्थुः ) स्थिर हैं । ( तस्य० ) इत्यादि पूर्ववत् । अथवा—( एकचक्रम् रथम् ) एक मात्रकर्त्ता और रमण करने योग्य आत्मा में ( सप्त युञ्जन्ति ) सात चक्षु आदि प्राण ( युञ्जन्ति ) जब योग देते हैं, संयुक्त हो या समाहित होकर रहते हैं तब वह ( एकः अश्वः सप्तनामा वहति ) एक ही भोक्ता सातों का नाम धारण करके स्वयं उनको धारण करता है । " श्रोत्रस्य श्रोत्रमुत मनसो मनो वाचो ह वाचमुत प्राणस्य प्राणः " इति केनोपनिषद् व्याख्या देखो अथर्व० ९ । ९ । २ ॥

अष्टधा युक्तो वहति वह्निरुग्रः पिता देवानां जनिता मतीनाम् ।
ऋतस्य तन्तुं मनसा मिमानः सर्वा दिशः पवते मातरिश्वा ।
तस्यं० ॥ १९ ॥

भा०—( देवाना पिता ) देवों, समस्त दिव्यगुण धारण करने वाले महदादि का ( पिता ) पालक और ( मतीनां ) मननशील समस्त चेतन प्राणियों या स्तुतियों, वेदवाणियों, स्तम्भनकारी शक्तियों का ( जनिता ) उत्पादक, उनको प्रादुर्भाव करने वाला ( उग्रः ) अति भयंकर, महान् बल-शाली ( वह्नि ) सबको वहन करनेहारा परमात्मा ( अष्टधा युक्तः ) आठ रूपों से विविध प्रकार से संयुक्त होकर समस्त ससार को ( वहति ) धारण कर रहा है । (ऋतस्य) सत्यमय यज्ञ के ( तन्तुं ) सूत्र को अपने ( मनसा ) मन -शक्ति, संकल्प से ही ( मिमानः ) निर्माण करता हुआ ( मातरिश्वा ) मातृ=सबकी धारक प्रकृति में भी व्यापक परमेश्वर ( सर्वाः दिशः पवते ) समस्त दिशाओं में व्याप्त है ।

अष्टधा युक्त.—भूमिरापोऽनलो वायु. खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ गी० । अ० ७ । ४ ॥

'जनिता मतीनाम्'—अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मेपराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ गी० ७ । ५ ॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ॥

सम्यञ्चं तन्तुं प्रदिशोऽनु सर्वा अन्तर्गायत्र्याममृतस्य गर्भे ।
तस्यं० ॥ २० ॥

भा०—( सम्यञ्चं ) सर्वव्यापक उस ( तन्तुम् ) विस्तृत, परम सूक्ष्म सूत्र के (अनु) आश्रय पर ही ( सर्वा. प्रदिशः ) समस्त दिशाएं आश्रित हैं । वे उसी ( गायत्र्याम् अन्तः ) समस्त जीव संसार के प्राणों के रक्षा करनेहारी

शक्ति के भीतर और ( अमृतस्य गर्भे ) अमृत, परम मोक्षमय देव के (गर्भे) गर्भ में विद्यमान हैं ।

'जगन्ति यस्यां सविकासमासत ।' माघः ॥

निम्रुचस्तिस्रो व्युषो ह तिस्रस्त्रीणि रजांसि दिवो अङ्ग तिस्रः ।
विद्मा ते अग्ने त्रेधा जनित्रं त्रेधा देवानां जनिमानि विद्म ।
तस्यं० ॥ २१ ॥

भा०—(तिस्रः) तीन (निम्रुचः) अस्त काल हैं । (तिस्रः) तीन (व्युषः) उषाकाल हैं । (त्रीणि रजांसि) तीन रजस् हैं । ( अङ्ग ) हे जिज्ञासो ( तिस्रः दिवः ) तीन द्यौ=आकाश हैं । हे ( अग्ने ) अग्ने ! ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ( ते ) तेरे ( त्रेधा ) तीन प्रकार के ( जनित्रम् ) प्रकट होने के स्वरूप को हम ( विद्म ) जानें । और इसी प्रकार ( देवानाम् ) समस्त देवों के ( त्रेधा जनिमानि ) तीन २ प्रकार के प्रादुर्भाव होने के रूपों को भी ( विद्म ) जानें । ( तस्य० ) इत्यादि पूर्ववत् ।

' रजांसि '—इमे वै लोकाः रजांसि । श० ६ । ३ । १ । १८ ॥ द्यौर्वै तृतीयं रजः । श० ६ । ७ । ४ । ५ ॥ तिस्रः दिवः, अग्निर्विद्युत् सूर्यः । अहर्व्युष्टिः । तै० ३ । ८ । १६ । ४ ॥ रात्रिर्व्युष्टिः । श० १३ । २ । १ । ६ ॥ अध्यात्म, अधिदैविक, अधिभौतिकभेदेन तिस्रो व्युषः, तिस्रो निम्रुचः ।

वि य और्णोत् पृथिवीं जायमान आ समुद्रमदधादन्तरिक्षे ।
तस्यं० ॥ २२ ॥

भा०—( यः ) जो ( जायमानः ) सृष्टिरूप में अपनी शक्ति को प्रकट करता हुआ ( पृथिवीम् ) पृथिवी को ( वि और्णोत् ) विविध आवरणों से आच्छादित करता है । वह इस पृथिवी के ( आ ) चारों ओर ( समुद्रम् ) समुद्र को ( अदधात् ) स्थापित करता है । समुद्र सहित पृथिवी को

( अन्तरिक्षे अदधात् ) अन्तरिक्ष में स्थापित करता है ( तस्य० ) इत्यादि पूर्ववत् ।

त्वमग्ने क्रतुभिः केतुभिर्हितो३ऽर्कः समिद्ध उदरोचथा दिवि ।
किमभ्यार्चन्मरुतः पृश्निमातरो यद् रोहितमजनयन्त देवाः ।
तस्य० ॥ २३ ॥

भा०—( केतुभिः ) अपने ज्ञापक किरणों से ( हितः ) धारित ( अर्कः ) सूर्य के समान ( समिद्धः ) अतिदीप्त तेजोमय ( अर्कः ) सब के अर्चना-योग्य होकर हे ( अग्ने ) ज्ञानमय ! प्रकाशस्वरूप ! तू अपने ( केतुभिः ) प्रज्ञापक, ज्ञान करानेहारे ( क्रतुभिः ) कर्मों से ( दिवि ) महान् आकाश में ( उद् अरोचथाः ) सर्वोपरि चमकता है ।

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
यो३ऽस्येशे द्विपदो यश्चतुष्पदः । तस्य० ॥ २४ ॥

भा०—प्रथम तीन चरणों की व्याख्या देखो, अथर्व० ४ । २ । १ ॥ ( तस्य० इत्यादि ) पूर्ववत् ।

एकपाद् द्विपदो भूयो वि चक्रमे द्विपात् त्रिपादमभ्येति पश्चात् ।
चतुष्पाच्चक्रे द्विपदामभिस्वरे संपश्यन् पङ्क्तिमुपतिष्ठमानः ।
तस्य देवस्य क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति ।
उद् वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य मुञ्च पाशान् ॥ २५ ॥

ऋ० १० । ११७ । ८ ॥

भा०—प्रथम दो चरणों की व्याख्या देखो अथर्व० १३ । २ । २७ ( प्र० द्वि० ) ॥ और ( चतुष्पाद् ) चार पैर वाला ( द्विपदाम् ) दो पैर वालों के ( अभिस्वरे ) शासन में ( पंक्तिम् ) पांच की पंक्ति को ( संपश्यन् ) देखता हुआ और ( उपतिष्ठमानः ) उसकी सेवा में उपस्थित होकर ( चक्रे )

कार्य करता है। अध्यात्ममें—चतुष्पाद् अन्तःकरणचतुष्टय 'द्विपद' मनुष्यों के कर्म-ज्ञानमय आत्म के शासन में रहकर पांचों ज्ञानन्द्रियों को वश करता है। अथवा चतुष्पात् ब्रह्म, स्वयं मनुष्यों के अभिस्वरे=प्रकाशमय हृदय में ( पंक्तिम् ) कर्मों के परिणतफल को देखता हुआ स्वयं उसको प्राप्त होता है. ( तस्य० ) इत्यादि पूर्ववत्।

**कृष्णायाः पुत्रो अर्जुनो रात्र्या वत्सो जायत।**
**स ह द्यामधि रोहति रुहो रुरोह रोहितः ॥ २६ ॥ ( १४ )**

भा०—( कृष्णायाः पुत्रः ) कृष्णा रात्रि के ( पुत्रः ) पुत्र ( अर्जुनः ) श्वेत. दिन होता है और जैसे ( रात्र्याः ) रात्रि का (वत्सः) आच्छादक पुत्र दिन या सूर्य ( अजायत ) उत्पन्न होता है। ( सः ) वह ( द्याम् ) आकाश में ( अधिरोहति ) ऊपर चढ़ता है। वैसे ( रोहितः ) रोहित. लोहित, ज्ञानवान्, दीप्तिमान्, शुक्र जीव ( रुहः रुरोह ) समस्त उत्तम लोकों को प्राप्त करता है। इसी प्रकार राजा भी लाल वस्त्रों को धारण करता हुआ ( कृष्णायाः ) पृथ्वी का पुत्र होकर ( रुहः ) समस्त उच्च पदों को प्राप्त करता है।

रात्रिर्वै कृष्णा शुक्लवत्सा तस्या असावादित्यो वत्सः। श० ६। २। ३। ३० ॥ अर्जुनो ह वै नाम इन्द्रो यदस्य गुह्यं नाम। श० ५। ४। ३। ७ ॥

अध्यात्ममें—सबको आकर्षण करने वाली परमशक्ति परमेश्वरी का पुत्र ही 'अर्जुन' यह जीव है। वह 'द्यौ' मोक्षपद को प्राप्त होता है वह ( रुहो रुरोह ) समस्त लोकों को प्राप्त होता है।

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

[ तत्रैकं सूक्तम्, षड्विंशतिर्ऋचः। ]



## [ ४ (१) ] रोहित, परमेश्वर का वर्णन ।

ब्रह्मा ऋषिः । अध्यात्मं रोहितादित्यो देवता । त्रिष्टुप् छन्दः । पञ्चपर्याया । मन्त्रोक्ता देवता । १–११ प्राजापत्यानुष्टुप्, १२ विराड्गायत्री, १३ आसुरी उष्णिक् । अथैकादशर्चं प्रथमं पर्यायसूक्तम् ॥

स एति सविता स्व॑र्दिवस्पृष्ठे॑ऽवचाकशत् ॥ १ ॥

भा०—( सः ) वह ( सविता ) सूर्य के समान ज्योतिष्मान् ( स्वः ) परम सुखमय मोक्षलोक में ( एति ) व्याप्त है ( दिवः पृष्ठे ) द्यौ, आकाश के उच्चतम भाग में सूर्य के समान वह प्रकाशमय मोक्षधाम में ( अवचाकशत् ) प्रकाशित है ।

र॒श्मिभि॒र्नभ॒ आभृ॑तं महे॒न्द्र ए॒त्यावृ॑तः ॥ २ ॥

भा०—सूर्य की ( रश्मिभिः ) किरणों से ( नभः ) अन्तरिक्ष भाग जिस प्रकार ( आभृतम् ) पूर्ण हो जाता है उसी प्रकार परम आत्मा के प्रकाश ज्योतियों से ( नभः ) अप्रकाशमान समस्त जड़ जगत् ( आभृतम् ) पूर्णरूप जगमगाता है । और (महेन्द्रः ) वह महान्, इन्द्र ऐश्वर्यवान् ( आवृतः एति ) प्रकाश से आवृत विभूतिमान् होकर समस्त लोकों से आवृत है ।

स धा॒ता स वि॑ध॒र्ता स वा॒युर्नभ॒ उच्छ्रि॑तम् । ० ॥ ३ ॥

भा०—( सः धाता ) वह सब का पालक पोषक, ( सः विधर्ता ) वह सब को विशेषरूप से धारण करने वाला या विविध प्रकारों से धारण करने वाला है । ( सः वायुः ) वह सर्वव्यापक, सबका प्रेरक, सूत्रात्मा, प्राणों का प्राण 'वायु' है । वही ( नभः ) सब को एक सूत्र में बांधने वाला 'नभ' है । वही ( उच्छ्रितम् ) सब से अधिक ऊंचा है । ( महेन्द्रः एति आवृतः ) वही सब लोकों में विराट् महैश्वर्यवान्, महाराज होकर प्रकट होता है ।

सो॑ऽर्य॒मा स वरु॑णः स रु॒द्रः स म॑हादे॒वः । ० ॥ ४ ॥

भा०—( सः ) वह ( अर्यमा ) सर्वश्रेष्ठ, स्वामी, समस्त गतिमान् पदार्थों का नियन्ता, न्यायकारी 'अर्यमा' है ( स वरुणः ) वह सर्वश्रेष्ठ, सर्ववरणीय, सबका वारक 'वरुण' है। ( सः रुद्रः ) वह स्वयं सब के कष्टों पर आंसू बहाने वाला, करुणामय, दुष्टों को रुलाने वाला, सर्वोपदेशक सर्वव्यापक 'रुद्र' है। ( सः महादेवः ) वह महान् उपास्यदेव, देवों का भी देव है।

सो अग्निः स उ सूर्यः स उं एव मंहायमः । ० ॥ ५ ॥

भा०—( सः अग्निः ) वह सर्वप्रकाशक, सर्वव्यापक, सबों का अग्रणी तेजोमय ज्ञानवान् 'अग्नि' है। ( सः उ सूर्यः ) वह ही सूर्य, सबका, प्रेरक उत्पादक, प्रकाशक है। ( स उ एव महायमः ) वह ही महान् नियन्ता 'महायम' है।

तं वत्सा उप तिष्ठन्त्येकशीर्षाणो युता दश । ० ॥ ६ ॥

भा०—( तम् ) उस आत्मा के समीप ( वत्साः ) दश पुत्र जिस प्रकार ( एकशीर्षाणः ) एक अपने शिरो भाग पर स्थित मुख्य गृहपति या पिता के अधीन रहते हैं उसी प्रकार ( दश वत्साः ) दश वत्स वास करने हारे प्राण ( एकशीर्षाणः ) एक शिरो भाग में विद्यमान होकर ( उप तिष्ठन्ति ) उसके अधीन होकर रहते हैं। परमात्मपक्ष में—वायु, आदित्य, दिशा, ओषधि, वनस्पति, चन्द्रमा, मृत्यु, आपः आदि दशों प्राणों के मूलपदार्थ लेने या दश दिशाएं दश वत्स हैं।

पश्चात् प्राञ्च आ तन्वन्ति यदुदेति वि भासति । ० ॥ ७ ॥

भा०—वे दशों प्राण ( पश्चात् ) पीछे से ( प्राञ्चः ) आगे को ( आ तन्वन्ति ) फैलते हैं, भीतर से बाहर को आते हैं ( यत् ) जब वह आदित्यसम प्राणात्मा ( उद् एति ) उदित होता है और तब वह ( वि भासति ) विविधरूपों में प्रकाशित होता है।

तस्यैष मारुतो गणः स एति शिक्याकृतः ॥ ८ ॥

भा०—( तस्य ) उस आत्मा का ( एष ) यह ( मारुत गणः ) मरुत् सम्बन्धी गण है । ( सः ) वह प्राणगण और देवगण ( शिक्याकृतः एति ) माना इस मूर्धा में और उस महान् परमात्मा में ऐसे प्रतीत होता है जैसे एक छिक्के में धरा हो ।

रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः ॥ ९ ॥

भा०—व्याख्या देखो इसी सूक्त की २य ऋचा ।

तस्येमे नव कोशा विष्टम्भा नवधा हिताः ॥ १० ॥

भा०—( तस्य ) उस आत्मा के ( इमे ) ये साक्षात् ( नव कोशाः ) नव कोश हैं । वे ही ( नवधा ) नव प्रकार के ( विष्टम्भाः ) विविधरूप से उसके स्तम्भन करने वाले, रोकने वाले, बन्धनरूप में (हिताः) स्थित हैं ।

स प्रजाभ्यो वि पश्यति यच्च प्राणति यच्च न ॥ ११ ॥

भा०—( सः ) वह ( यत् च प्राणति ) जो प्राण लेता है ( यत् च न ) और जो प्राण नहीं लेता उन ( प्रजाभ्यः ) समस्त प्रजाओं को ( विपश्यति ) विशेषरूप से देखता है । या समस्त प्रजाओं के हित के लिये उन पर निरीक्षण करता है । 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' । उप० ।

'प्रजाभ्यः' द्वितीयार्थे चतुर्थी । हितार्थे इति ह्विटनि ।

तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव ॥ १२ ॥

भा०—( तम् ) उसको ही ( इदं ) यह समस्त ( सहः ) शक्ति ( निगतम् ) पूर्णरूप से प्राप्त है । ( सः एषः एकः ) वह यह एक ही है । ( एकवृत् ) एकमात्र स्वयं समर्थ और ( एक एव ) ऐश्वर्य में एक, अद्वितीय ही है ।

एते अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति ॥ १३ ॥ ( १२ )

भा०—( एते देवाः ) ये समस्त देव, दिव्य पदार्थ और देव, विद्वान्गण ( अस्मिन् ) उस परमेश्वर में ही (एकवृतः भवन्ति) एकत्र हो, उसमें आश्रित होकर रहते हैं।

## ( २ ) अद्वितीय परमेश्वर का वर्णन।

१४ भुरिक् साम्नी त्रिष्टुप्, १५ आसुरी पंक्तिः, १६, १९ प्राजापत्याऽनुष्टुप्, १७, १८ आसुरी गायत्री। अष्टर्चं द्वितीयं पर्यायसूक्तम् ॥

कीर्तिश्च यशश्चाम्भश्च नभश्च ब्राह्मणवर्चसं चान्नं चान्नाद्यं च ॥१४॥
य एतं देवमेकवृतं वेद ॥ १५ ॥

भा०—वही परमेश्वर ( कीर्तिः च ) कीर्ति और ( यशः च ) यश, वीर्य और ( अम्भः च ) 'अम्भ' व्यापक सृष्टि का आदि मूलकारण जल और ( नभः च ) नभस्=महान् आकाश या बल ( ब्राह्मणवर्चसम् च ) ब्रह्मतेज, ब्रह्मवर्चस् ( अन्नं च ) अन्न और ( अन्नाद्यं च ) अन्नादि पदार्थों का भोग सामर्थ्य ये सब उस पुरुष को प्राप्त होते हैं। ( यः एतं देवं ) जो विद्वान् उस उपास्यदेव परमेश्वर को ( एकवृतम् वेद ) एक रूप से सदा वर्त्तमान, अखण्ड, एक रसरूप में जानता है।

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते । ० ॥ १६ ॥
न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते । ० ॥ १७ ॥
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते । ० ॥ १८ ॥

भा०—वह परमेश्वर (न द्वितीयः) न दूसरा है, (न तृतीयः) न तीसरा, ( चतुर्थः न अपि उच्यते ) और चौथा भी नहीं कहा जाता। (न पञ्चमः) न पांचवां है ( न षष्ठः ) न छठा, (न सप्तमः) सातवां भी नहीं ( उच्यते ) कहा जाता। ( न अष्टमः ) न आठवां है, (न नवमः) न नवां और ( दशमः

अपि न उच्यते ) दशवां भी नहीं कहा जाता। प्रत्युत वह सब से 'प्रथम' सर्वश्रेष्ठ सब से अद्वितीय और सब से मुख्य है।

स सर्वस्मै वि पश्यति यच्च प्राणति यच्च न । ० ॥ १९ ॥
तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव । ० ॥ २० ॥
सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति । ० ॥ २१ ॥ ( १६ )

भा०—( यत् च प्राणति ) जो वस्तु प्राण लेता है और ( यत् च न ) जो प्राण नहीं भी लेता ( सर्वस्मै ) उस सब चराचर पदार्थ को ( स वि पश्यति ) वह विशेषरूप से देखता है। ( तम् इदं नि-गतम् ) उसमें यह समस्त जगत् आश्रित है। ( स सहः ) वह परमात्मा शक्तिस्वरूप सबका सञ्चालक प्रवर्तक है। ( एष एक ) वह एक ही है। ( एकवृद् ) वह एक-रस, अखण्ड चेतनस्वरूप है। और वह ( एक एव ) एक ही अद्वितीय है। ( सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति ) उस सर्व शक्तिमान् परमात्मा में समस्त वस्तु आदि लोक ( एकवृत. ) एकमात्र आश्रय में विद्यमान, उसी में लीन होकर रहता है।

( ३ ) परमेश्वर का वर्णन ।

२१ भुरिक् प्राजापत्या त्रिष्टुप्, २३ आर्ची गायत्री, २५ न्यपदा आसुरी गायत्री, २६ आर्ची अनुष्टुप्, २७, २८ प्राजापत्याऽनुष्टुप । सप्तर्चं तृतीयं पर्यायसूक्तम् ॥

ब्रह्म च तपश्च कीर्तिश्च यशश्चाम्भश्च नभश्च ब्राह्मणवर्चसं चान्नं चान्नाद्यं च ॥ २२ ॥
भूतं च भव्यं च श्रद्धा च रुचिश्च स्वर्गश्च स्वधा च ॥ २३ ॥
य एतं देवमेकवृतं वेद ॥ २४ ॥

भा०—( यः एतं देवम् ) जो इस देव को ( एकवृतं वेद ) एकमात्र, अखण्ड, एकरस, चेतनरूप से वर्तमान जान लेता है उसको ( ब्रह्म च )

साक्षात् ब्रह्म-वेद, ( तपः च ) तप, ( कीर्तिः च ) कीर्ति, ( यशः च ) यश, ( अम्भः चः ) व्यापकशक्ति, ( नभः च ) बल, प्रबन्धकशक्ति, ( ब्राह्मण-वर्चसम् ) ब्राह्मणों का ब्रह्मतेज ( अन्नं च ) अन्न और ( अन्नाद्यं च ) अन्न आदि का भोग सामर्थ्य, इसी प्रकार ( भूतं च ) भूतकाल ( भव्यं च ) भव्य, भविष्यत् ( श्रद्धा च ) सत्य धारणा ( रुचिः ) रुचि, कान्ति, यथेष्ट अभिलाषा, ( स्वर्गः च ) सुखमय लोक ( स्वधा च ) और 'अमृत' मोक्षपद भी प्राप्त होता है ।

स एव मृत्युः सोऽमृतं सोऽभ्वं १ स रक्षः ॥ २५ ॥
स रुद्रो वसुवनिर्वसुदेये नमोवाके वषट्कारोनु संहितः ॥२६॥

भा०—( सः एव मृत्युः ) वह परमात्मा ही ( मृत्युः ) सब प्राणियों के प्राणों को देह से जुदा करने वाला 'मृत्युः' है । ( सः अमृतम् ) वही परमेश्वर 'अमृत' प्राणप्रद है । ( सः अभ्वम् ) वह 'अभ्व' कभी न पैदा होने वाला या महान् स्तुति योग्य है । ( सः रक्षः ) वही सब का रक्षक है । ( सः रुद्रः ) वह 'रुद्र' है । ( सः वसुवनिः ) वह समस्त वास करने हारे जीवों और लोकों का एकमात्र भजन करने और आजीविका देने वाला है । साक्षात् 'अग्नि' रूप है, और वही ( वसुदेये ) यज्ञ में देय=दान करने योग्य आहुति में ( नमोवाके ) और 'नमः' वचन पूर्वक करने योग्य ईश्वरप्रार्थना स्तुति आदि ब्रह्मयज्ञ में भी ( वषट्कारः ) नमः और 'स्वाहा' और वषट् वौषट् आदि स्वरूप होकर ( अनुसंहितः ) निरन्तर स्मरण किया जाता है ।

'वसुः'—यज्ञो वै वसुः । श० १ । ७ । १ । ९ । १४ ॥ स एषोऽग्निरत्र वसुः । श० ६ । ३ । २ । १ ॥ इन्द्रो वसुधेयः । श० १ । ८ । २ । १६ ॥ अग्निर्वै वसुवनिः । श० १ । ८ । २ । १६ ॥ यज्ञो वै नमः । श० ७ । ४ । १ । ३० ॥ पर्जन्यो नमः । श० ९ । ३ । १ । १९ ॥ वाग् वै रेतः

रेत एव एतत् सिञ्चसि । पद् इति अतयो वै पद् । तदृतुषु एतद् रेत सिञ्चति यदेव दमटकार । श० १ । ७ । २ । २१ ॥

तस्येमे सर्वे यातव उप प्रशिषमासते ॥ २७ ॥

तस्यामू सर्वा नक्षत्रा वशे चन्द्रमसा सह ॥ २८ ॥ ( १७ )

भा०—( तस्य ) उसके ( प्रशिषम् ) शासन को ( सर्वे ) सब ( यातव ) गतिमान सूर्य ग्रह आदि पिण्ड और समस्त जगम प्राणी भी ( उप आसते ) मानते हैं । ( तस्य वशे ) उसके वश में ( चन्द्रमसा सह ) चन्द्रमा सहित ( अमू ) य ( सर्वा ) समस्त ( नक्षत्रा ) नक्षत्रगण भी हैं ।

( ४ ) परमेश्वर का वर्णन ।

२९, ३३, ३९, ४०, ४१ आसुरीगायत्र्य , ३०, ३२, ३५, ३६, ४२ प्राजापत्याऽनुष्टुभः, ३१ विराड गायत्री ३४ ३७, ३८ साम्न्युष्णिह , ४२ साम्नी-बृहती, ४३ आर्षी गायत्री, ४४ साम्न्यनुष्टुप् । सप्तर्चं चतुर्थं पर्यायसूक्तम् ॥

स वा अह्नोऽजायत तस्मादहरजायत ॥ २९ ॥

भा०—( स वै ) वह सूर्य जिस प्रकार ( अह्न अजायत ) दिन मे उत्पन्न होता है और ( तस्माद् ) उस सूर्य से ( अह ) दिन ( अजायत ) उत्पन्न होता है उसी प्रकार इस प्रत्यक्ष ससार के रूप स ब्रह्म का सत्ता प्रकट होती है और वास्तव में उस परमेश्वर स यह जगत् अपनी सत्ता को प्रकट करता है । अर्थात् उस से उत्पन्न होता है ।

स वै रात्र्या अजायत तस्माद् रात्रिरजायत ॥ ३० ॥

भा०—( स वा ) वह सूर्य जिस प्रकार ( रात्र्या अजायत ) रात्रि के उत्तर काल में उदित होकर रात्रि से उत्पन्न होता प्रतीत है और सूर्य के अस्त हो जाने पर रात्रि के आजाने से ( तस्माद् रात्रि अजायत ) उस सूर्य से रात्रि होती प्रतीत होती है उसी प्रकार वह परमेश्वर उस महा प्रलय

की घोर रात्रि से ही जाना जाता है, वस्तुतः उस परमेश्वर से ही वह प्रलय काल की रात्रि भी उत्पन्न होती है।

स वा अन्तरिक्षादजायत तस्मादन्तरिक्षमजायत ॥ २१ ॥

भा०—( सः वा अन्तरिक्षाद् अजायत ) वह सूर्य जिस प्रकार अन्तरिक्ष के होते हुए बाद में वह भी अन्तरिक्ष से होता प्रतीत होता है और ( तस्माद् ) उस सूर्य की सत्ता को देख कर अन्तरिक्ष की सत्ता प्रतीत होती है। उसी प्रकार अन्तरिक्ष से परमेश्वर की सत्ता है और वस्तुतः उस परमेश्वर से ही अन्तरिक्ष उत्पन्न होता है।

स वै वायोरजायत तस्माद् वायुरजायत ॥ २२ ॥

भा०—( वै ) इसी प्रकार ( सः ) वह परमेश्वरी शक्ति ( वायोः ) वायु से ( अजायत ) प्रादुर्भूत या प्रकट होती है। और ( वायुः ) यह वायु ( तस्मात् अजायत ) उस परमेश्वर से उत्पन्न होता है।

स वै दिवोऽजायत तस्माद् द्यौरध्यजायत ॥ २३ ॥

भा०—( वै ) निश्चय से ( दिवः ) द्यौलोक, महान् आकाश से ( सः अजायत ) वह प्रकट होता है ( तस्माद् ) उससे ( द्यौः अधि अजायत ) द्यौ, वह महान् आकाश उत्पन्न होता है।

स वै दिग्भ्योऽजायत तस्माद् दिशोऽजायन्त ॥ २४ ॥

भा०—( सः वै दिग्भ्यः अजायत ) उस परमेश्वर का सत्व दिशाओं में प्रकट होता है और ( तस्मात् ) उस परमेश्वर से ( दिशः अजायन्त ) दिशाएं उत्पन्न होती हैं।

स वै भूमेरजायत तस्माद् भूमिरजायत ॥ २५ ॥

भा०—उसी प्रकार ( सः वै भूमेः अजायत ) वह भूमि से प्रकट होता है, ( तस्माद् भूमिः अजायत ) और उससे यह भूमि उत्पन्न होती है।

स वा अ॒ग्नेर॑जायत॒ तस्मा॑द॒ग्निर॑जायत ॥ ३६ ॥

भा०—( सः वा अग्नेः अजायत ) जिस प्रकार सूर्य अग्नि तत्व से उत्पन्न होता है और ( तस्माद् अग्निः अजायत ) उस सूर्य से अग्नि उत्पन्न होता है इसी प्रकार वह परमेश्वर अग्नि की महान् शक्ति से स्वयं प्रकट होता और अग्नि उसी से उत्पन्न होता है।

स वा अ॒द्भ्यो॑ऽजायत॒ तस्मा॒दापो॑ऽजायन्त ॥ ३७ ॥

भा०—( सः वा अद्भ्यः अजायत ) वह सूर्य जिस प्रकार जलों से उत्पन्न होता है और ( तस्माद् आपः अजायन्त ) सूर्य से वे जल वर्षाधारा रूप से उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार वह परमेश्वर ( अद्भ्यः अजायत ) जलों से प्रकट होता है और वे जल उस परमेश्वर से उत्पन्न होते हैं।

स वा ऋ॒ग्भ्यो॑ऽजायत॒ तस्मा॒दृचो॑ऽजायन्त ॥ ३८ ॥

भा०—( सः वा ) वह परमेश्वर ( ऋग्भ्यः अजायत ) ऋचाओं से प्रकट होता है और ये ( ऋचः ) ऋचाएं ( तस्मात् अजायन्त ) उससे ही उत्पन्न होती हैं।

स वै य॒ज्ञाद॑जायत॒ तस्मा॑द् य॒ज्ञो॑ऽजायत ॥ ३९ ॥

भा०—( सः वै यज्ञाद् अजायत ) वह यज्ञ से प्रकट होता है और उससे यज्ञ उत्पन्न होता है।

स य॒ज्ञस्तस्य॑ य॒ज्ञः स य॒ज्ञस्य॒ शिर॑स्कृतम् ॥ ४० ॥

भा०—( सः यज्ञः ) वह परमेश्वर स्वयं यज्ञस्वरूप, साक्षात् प्रजापति है। ( तस्य ) उसका स्वरूप ही ( यज्ञः ) यज्ञ है। ( सः ) वह परमेश्वर 'ओ३म्' रूप से ( यज्ञस्य ) यज्ञ का ( शिरः कृतम् ) शिरोभाग बना हुआ है। सैषा एकाक्षरा ऋग् ( ओ३म् ) तपसोऽग्रे प्रादुर्बभूव। .... एवं च यज्ञस्य पुरस्तात् युज्यते एषा पश्चात् सर्वेतः एतया यज्ञस्तायते। इति गोपथ० १। २२॥

स स्तनयति स वि द्योतते स उ अश्मानमस्यति ॥ ४१ ॥

भा०—( सः स्तनयति ) वही परमेश्वर मेघ होकर गर्जता है ( स वि-द्योतते ) वह विद्युतरूप से चमकता है । ( सः उ ) और वह ही ( अश्मानम् अस्यति ) ऊपर से ओला बरसाता है ।

पापाय वा भद्राय वा पुरुषायासुराय वा ॥ ४२ ॥
यद्वा कृणोष्योषधीर्यद्वा वर्षसि भद्रया यद्वा जन्यमवीवृधः ॥४३॥
तावांस्ते मघवन् महिमोपो ते तन्वः शतम् ॥ ४४ ॥
उपो ते बध्वे बद्धानि यदि वासि न्यर्बुदम् ॥ ४५ ॥

भा०—( पापाय वा पुरुषाय ) पापी पुरुष के सुख के लिये (भद्राय वा पुरुषाय ) भद्र, कल्याणकारी सज्जन पुरुष के लिये, ( असुराय वा ) या केवल प्राणादि में रमण करने वाले भोगी विलासी पुरुष या बलवान् पुरुष के लिये तू ( यद् वा ) जो कुछ भी ( ओषधीः ) अन्नादि ओषधियों को ( कृणोषि ) उत्पन्न करता है ( यद् वा वर्षासि ) और जो भी तू वर्षाता है और ( यद् वा ) जो भी तू ( जन्यम् ) उत्पन्न होने वाले प्राणियों की ( अवीवृधः ) वृद्धि करता है, हे ( मघवन् ) सर्वैश्वर्य के स्वामी परमेश्वर ! ( तावान् ) उतना सब ( ते महिमा ) तेरा ही महान् ऐश्वर्य है, तेरी ही महिमा है । ( उपो ) और ये सब भी ( ते ) तेरे ही ( शतम् तन्वः ) सैकड़ों स्वरूप हैं । ( उपो ) ये सब भी ( ते ) तेरे ही ( बध्वे=बद्धे ) कोटि संख्यात्मक देह में ( बद्धानि ) करोड़ों सूर्य बंधे हैं । ( यदि वा ) या यों कहें कि स्वयं ( नि-अर्बुदम् ) 'खर्बों' संख्या में तू ही ( असि ) है ।

( ५ ) परमेश्वर का वर्णन ।

४६ आसुरी गायत्री, ४७ यवमध्या गायत्री, ४८ साम्नी उष्णिक्, ४९ निचृत् साम्नी बृहती, ५० प्राजापत्यानुष्टुप्, ५१ विराट् गायत्री । षड्चात्मकं सूक्तं पर्यायसूक्तम् ।

---

४५—' बध्वे बद्धानि ', ' बद्धे बद्धानि ', 'बद्धे बद्धानि' इत्यादि बहुधा पाठाः ।

भूयानिन्द्रो नमुराद् भूयानिन्द्रासि मृत्युभ्यः ॥ ४६ ॥

भा०—(इन्द्र) ऐश्वर्यवान् परमात्मा (नमुराद् भूयान्) नमुर अर्थात् मृत्यु के न होने अर्थात् अमर रहने से भी अधिक ऐश्वर्यवान् है और हे इन्द्र! परमेश्वर तू (मृत्युभ्य) सब मौतों से भी (भूयान्) बड़ा और अधिक शक्तिशाली है।

भूयानराभ्याः शच्याः पतिस्त्वमिन्द्रासि विभूः प्रभूरिति त्वोपास्महे वयम् ॥ ४७ ॥

भा०—हे इन्द्र! परमेश्वर तू (अराव्याः भूयान्) अराति=दरिद्रता या कृपणता से भी अधिक बलशाली अधिक ऐश्वर्यवान् है। (शच्याः पतिः त्वम् असि) समस्त शक्ति का स्वामी तू स्वयं है। (विभूः प्रभूः इति) 'विभू' नाना सामर्थ्यों से सम्पन्न और 'प्रभू' उत्तम सामर्थ्यवान् इन नामों से (वयम्) हम (त्वा उपास्महे) तेरी उपासना करते हैं।

नमस्ते अस्तु पश्यत पश्य मा पश्यत ॥ ४८ ॥

भा०—हे (पश्यत) दर्शनीय, अथवा सर्वद्रष्टः! पश्यन! परमात्मन्! (ते नमः अस्तु) तुझे हमारा नमस्कार हो। हे (पश्यत) सर्वद्रष्टः! (मा पश्य) मुझे अपने उपासक को दया कर देखिये।

अन्नाद्येन यशसा तेजसा ब्राह्मणवर्चसेन ॥ ४९ ॥

भा०—और दया करके आप मुझे (अन्नाद्येन) अन्न आदि के भोग सामर्थ्य, (यशसा) वीर्य, (तेजसा) तेज और (ब्राह्मणवर्चसा) ब्राह्मण, वेद के विद्वानों के बल से बढ़ाइये।

अम्भो अमो महः सह इति त्वोपास्महे वयम् ॥ ० ॥ ० ॥ ५० ॥

---

५०–५४–(१ ॥ १ ॥ ० ॥) उभयोर्ह्वि-डोः स्थाने 'नमस्ते अस्तु' इति 'अन्नाद्येन' इ च मन्त्रद्वय वैदिकैः परिपठ्यते।

भा०—हे परमात्मन् ! ( वयम् ) हम ( त्वा ) आपकी ( अम्भः ) 'अम्भः' सर्वव्यापक शान्त जल के समान सर्वप्राणप्रद, ( अमः ) ज्ञान-स्वरूप ( महः ) महान् तेजस्वरूप, परमपूजनीय ( सहः ) 'सहः' सर्ववशयिता ( इति ) इन गुणों से ( उपास्महे ) उपसना करते हैं।

अम्भो अरुणं रंजतं रजः सह इति त्वोपास्महे वयम् ।०।०॥५१॥(१६)

भा०—हे परमात्मन् ! ( वयम् ) हम ( अम्भः ) जल के समान सब प्राणों के उत्पादक ( अरुणम् ) प्रकाशस्वरूप ( रजतम् ) चित्त के अनुरञ्जक, आनन्दस्वरूप, ( रजः ) समस्त लोकों और ऐश्वर्य विभूतियों से सम्पन्न, ( सहः ) सब के वश करनेहारे, परम बलस्वरूप ( इति ) इन गुणों और रूपों से ( त्वा उपास्महे ) तेरी उपसना करते हैं।

( ६ )

५२, ५३ प्राजापत्यानुष्टुभौ, ५४ आर्षी गायत्री, शेषास्त्रिष्टुभः । पञ्चर्चं पर्यायसूक्तम् ॥

उरुः पृथुः सुभूर्भुव इति त्वोपास्महे वयम् । ० । ० ॥ ५२ ॥

भा०—हे परमात्मन् ! ( वयम् ) हम लोग ( उरुः ) 'उरु' सर्वशक्तिमान्, महान् ( पृथुः ) अति विस्तृत, सर्वव्यापक 'पृथुः' ( सुभूः ) उत्तम शक्तिरूप में समस्त पदार्थों में वर्तमान 'सुभू' ( भुवः ) अन्तरिक्ष के समान व्यापक या सर्वत्र का उत्पादक 'भुवः' इत्यादि गुणों और रूपों से ( त्वा उपास्महे ) हम तेरी उपासना करते हैं।

प्रथो वरो व्यचो लोक इति त्वोपास्महे वयम् । ० । ० ॥ ५३ ॥

भा०—हे परमात्मन् ! ( वयम् ) हम ( त्वा ) तुझ को ( प्रथः ) सब से अधिक विस्तृत, 'प्रथः', ( वरः ) सब से वरणीय, सर्वश्रेष्ठ 'वर', ( व्यचः ) सबसे महान्, सब में व्यापक 'व्यचः', ( लोकः ) सबका द्रष्टा, 'लोकः' इन नामों गुणों और रूपों से (त्वा उपास्महे) तेरी उपासना करते हैं।

भवद्वसुरिदद्वसुः संयद्वसुरायद्वसुरिति त्वोपास्महे वयम् ॥०॥०॥५४॥

भा०—हे परमेश्वर ! ( वयम् ) हम ( त्वा ) आपको ( भवद्वसुः ) समस्त उत्पन्न होने हारे चर अचर पदार्थों में वसने हारे सर्वान्तर्यामी 'भवद्-वसु' ( इदद्वसुः ) परम ऐश्वर्यवान् सूर्यादि पदार्थों में भी वास करने हारे, 'इदद् वसु' ( संयद्-वसुः ) समस्त ऐश्वर्य को एकत्र एक काल में धारण करने वाले 'संयद्-वसु' और ( आयद् वसुः ) समस्त लोकों को वश करने हारे, केन्द्रस्थ महा सूर्यों के भी भीतर शक्ति रूप से बसने वाले 'आयद्-वसु' ( इति ) इन नामों, गुणों और रूपों से भी ( त्वा उपास्महे ) तेरी उपासना करते हैं।

नमस्ते अस्तु पश्यत पश्य मा पश्यत ॥ ५५ ॥
यशसा तेजसा ब्राह्मणवर्चसेन ॥ ५६ ॥ ( २० )

ऋचौ ४८, ४९ ॥

भा०—व्याख्या देखो पञ्चम पर्याय सूक्त के ४८, ४९ मन्त्र ॥

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

[ तत्र षट्पर्यायैरुक्तम् एकं सूक्तम् , ऋचश्च षट्पञ्चाशत् ]

# इति त्रयोदशं काण्डं समाप्तम् ।

चतुर्भिरनुवाकैश्च सूक्तैश्चापि चतुर्मितैः ।
अष्टाशीतिशतेनर्भिः पूर्यतेऽसौ त्रयोदश ॥

वाणवस्वङ्कचन्द्राब्दाषाढकृष्णाष्टमीतिथौ ।
शशाङ्केऽथर्वणः काण्डं त्रयोदशमपूर्यत ॥

इति प्रतिष्ठितविद्यालङ्कार-मीमांसातीर्थविरुदोपशोभित-श्रीमज्जयदेवशर्मणा विरचितेऽथर्वणो ब्रह्मवेदस्यालोकभाष्ये त्रयोदशं काण्डं समाप्तम् ।

---

५५–' भवद्वसुरिदद्वसु- ' इति ह्विटनिकामितः ।

❀ ओ३म् ❀

# अथ चतुर्दशं काण्डम्

## [ १ ] गृहाश्रम प्रवेश और विवाह-प्रकरण ।

सावित्री सूर्या ऋषिका । आत्मा देवता । [ १–५ सोमस्तुतिः ], ६ विवाहः, २३ सोमार्कौ, २४ चन्द्रमाः, २५ विवाहमन्त्राशिषः, २५, २७ वधूवासःसंस्पर्शमोचनौ, १–१३, १६–१८, २२, २६–२८, ३०, ३४, ३५, ४१–४४, ५१, ५२, ५५, ५८, ५६, ६१–६४ अनुष्टुभः, १४ विराट् प्रस्तारपंक्तिः, १५ आस्तारपंक्तिः, १९, २०, २३, २४, ३१–३३, ३७, ३९, ४०, ४५, ४७, ४९, ५०, ५३, ५६, ५७, [ ५८, ५९, ६१ ] त्रिष्टुभः, ( २३, ३१, ४५ बृहतीगर्भाः ), २१, ४६, ५४, ६४ जगत्यः, ( ५४, ६४ भुरिक् त्रिष्टुभौ ), २९, ३५ पुरस्ताद्बृहत्यौ, ३४ प्रस्तारपंक्तिः, ३८ पुरोबृहती त्रिपदा परोष्णिक्, [ ४८ पथ्यापंक्तिः ], ६० पराऽनुष्टुप् । चतुःषष्ट्यृचं सूक्तम् ॥

सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः ।
ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधि श्रितः ॥ १ ॥

ऋ० १० । ८५ । १ ॥

भा०—( सत्येन ) सत्यने या सत्य=सत्त्ववान्, सूर्य के समान तेजस्वी पुरुष ने ( भूमिः ) भूमि को ( उत् तभिता ) उठा रक्खा है । ( सूर्येण ) सूर्य ने ( द्यौः उत्तभिताः ) द्यौः, आकाश, आकाशस्थ पिण्डों को ( उत् तभिता ) उठा रक्खा है । ( ऋतेन ) 'ऋत'=तप के बल से ( आदित्याः ) आदित्य, ऋतुगण ( तिष्ठन्ति ) स्थिर रहते हैं । ( दिवि ) प्रकाशमान सूर्य

---

[ १ ] १–( प्र० ) 'सत्येनोत्त-' इति पैप्प० सं० ।

के आश्रय पर ( सोमः ) सोम, चन्द्र ( आश्रितः ) आश्रित है । ( दिवि सोम अधिश्रितः ) प्रकाशमान सूर्य के समान तेजस्वी पुरुष में सोम= वीर्य आश्रित है ।

सोमे॑नादि॒त्या ब॒लिन॒: सोमे॑न पृथि॒वी म॒ही ।
अथो॒ नक्ष॑त्राणामे॒षामु॒पस्थे॒ सोम॒ आहि॑तः ॥ २ ॥

ऋ० १० । ८५ । २ ॥

भा०—( आदित्याः ) आदित्य ब्रह्मचारीगण ( सोमेन ) वीर्य के बल से ( बलिन ) बलवान् रहते हैं । ( सोमेन ) सोम, वीर्य के बल पर ही ( पृथिवी ) यह पृथिवी, भूमिरूप स्त्री भी ( मही ) पूज्य, बड़ी शक्तिशालिनी है । ( अथो ) और ( एषाम् ) इन ( नक्षत्राणाम् ) नक्षत्रों के ( उपस्थे ) समीप, बीच में ( सोमः ) चन्द्र के समान ( नक्षत्राणाम् ) अपने स्थान से च्युत न होने वाले दृढ़ तपस्वियों के बीच भी ( सोमः ) वीर्य ही ( आहितः ) स्थित होता है ।

सोमं॑ मन्यते पपि॒वान् यत् सं॑पि॒षन्त्योष॑धिम् ।
सोमं॒ यं ब्र॒ह्माणो॑ वि॒दुर्न तस्या॑श्नाति॒ पार्थि॑वः ॥ ३ ॥

ऋ० । १० । ८५ । ३ ॥

भा०—( पपिवान् ) सोमपान करने वाला पुरुष ( सोमं ) उसको ही सोम ( मन्यते ) समझ लेता है ( यत् ) जिसे लोग ( ओषधिम् ) ओषधि रूप में ( सं पिषन्ति ) पीसा करते हैं । परन्तु ( यम् ) जिस वेदज्ञान को ( ब्राह्मणाः ) ब्रह्मवेत्ता, वेदज्ञ पुरुष ( सोमम् ) सोम रूप से ( विदुः ) जानते हैं ( तस्य ) उसको ( पार्थिवः ) पृथिवीवासी पुरुष या राजा भी ( न अश्नाति ) भोग नहीं करता । ' वेदानां दुह्यं भृग्वङ्गिरसः सोमपानं

३–( च० ) ' नाश्नाति कश्चन ' इति ऋ० । ( द्वि० ) ' पिंषन्ति ' इति क्वचित् । ' पिशन्ति ' इति पैप्प० सं० ।

मन्यते । सोमात्मको ह्ययं वेदः । तदप्येतद् ऋचोक्तं सोमं मन्यते पपिवान्० ।' इति गो० ब्रा० पू० २ । ९ ॥

यत् त्वा सोम प्र पिबन्ति तत आ प्यायसे पुनः ।
वायुः सोमस्य रक्षिता समानां मास आकृतिः ॥ ४ ॥
ऋ० १० । ८५ । ५ ॥

भा०—( यत् ) जब ( त्वा ) तुझे हे ( सोम ) सोम ! ( प्रपिबन्ति ) लोग भरपूर होकर पी लेते या भोग लेते हैं ( ततः ) तिस पर भी तू (पुनः) फिर ( आप्यायसे ) बढ़कर समृद्ध हो जाता है । ( वायुः ) वायु, प्राण वायु ( सोमस्य ) सोम=वीर्य का ( रक्षिता ) रक्षक है । जैसे ( समानां ) वर्षों का ( मासः ) मास ही ( आकृतिः ) बनाने वाला होता है । अर्थात् जिस प्रकार चन्द्रमा क्षीण हो होकर पुनः बढ़कर पूरा हो जाता है उसी प्रकार क्रम से पूरा वर्ष भी व्यतीत हो जाता है । इसी प्रकार शरीर में वीर्य का व्यय होकर भी पुनः संचय हो जाता है । और इसी प्रकार मासों से पुनः २ वर्ष व्यतीत होते जाते हैं ।

आच्छद्विधानैर्गुपितो बार्हतैः सोम रक्षितः ।
ग्राव्णामिच्छृण्वन् तिष्ठसि न ते अश्नाति पार्थिवः ॥ ५ ॥
ऋ० १० । ८५ । ४ ॥

भा०—हे ( सोम ) सोम ! वीर्यवान् पुरुष या वीर्य ! तू ( आच्छद्विधानैः ) चारों तरफ़ के प्रकोट, आवरणों की रचनाओं से ( गुपितः ) राजा के समान सुरक्षित है और ( बार्हतैः ) बड़े २ शक्तिशाली पुरुषों द्वारा ( रक्षितः ) रक्षा किया गया है । ( ग्राव्णाम् ) उपदेष्टा लोगों के उपदेशों और व्याख्यानों को ( इत् ) ही ( शृण्वन् ) सुनता हुआ ( तिष्ठसि ) तू विराजमान है । ( पार्थिवः ) राजा भी ( ते ) तेरा ( न अश्नाति ) भोग नहीं करता । पुमान् वै सोमः स्त्री सुराः । तै० १ । ३ । ३ । ३ ॥

४–( प्र० ) ' यत् त्वा देव ' इति ऋ० ।

चित्तिरा उपबर्हणं चक्षुरा अभ्यञ्जनम् ।
द्यौर्भूमिः कोश आसीद् यदयात् सूर्या पतिम् ॥ ६ ॥
ऋ० १० । ८५ । ७ ॥

भा०—(यद्) जब (सूर्या) सूर्य की कान्ति के समान चित्त को प्रेरणा करने वाली स्वयंवरा नवयुवति कन्या (पतिम्) पति को (अयात्) प्राप्त होती है उस समय (चित्ति) चित्त का सकल्प ही (उपबर्हणम्) सेज पर सिर टेकने के लिये लगे सिरहाने के समान सुखदायी (आ.) होता है। और (चक्षु.) चक्षु—चक्षु से उत्पन्न प्रेम का राग ही (अभि अञ्जनम्) गात्र के ऊपर लगाने के लिये सुगन्ध तैलादि के समान शान्तिदायक (आ) होता है (द्यौः भूमिः) आकाश और भूमि (कोशः आसीत्) ये दोनों कोश=खजाने बन जाते हैं।

अधिदैवत में—सूर्या, उषा जब अपने पति के पास आती है तब 'चित्ति' संकल्प उसका सिरहाना, चक्षु उसका गात्रलेप, पृथ्वी और आकाश उसके खजाने हैं।

रैभ्यासीदनुदेयी नाराशंसी न्योचनी ।
सूर्याया भद्रमिद् वासो गाथयैति परिष्कृता ॥ ७ ॥
ऋ० १० । ८५ । ६ ॥

भा०—(सूर्यायाः) सूर्या, कन्या की (रैभी) रैभी नामक ऋचा (अनुदेयी) विदाई के समय का दहेज हो। और (नाराशंसी) नाराशंसी इतिहास कथा (न्योचनी) गृह प्रवेश के समय पहनने योग्य ओढ़नी या आभूषण (आसीत्) हो और (सूर्यायाः) सूर्या के समान कान्तिमती कन्या का (वासः) वस्त्र ही (भद्रम् इत्) अति कल्याणकारी सुखकारी और सुन्दर ही हो, इस प्रकार वह (गाथया परिष्कृता) गाथा, श्लोक, मन्त्रपाठ आदि से सुशोभित होकर तब वधू पति के घर (एति) आवे।

---

७–' परिष्कृताम् ' इति पैप्प० सं०।

स्तोमा आसन् प्रतिधयः कुरीरं छन्द ओपशः ।
सूर्याया अश्विना वराग्निरासीत् पुरोगवः ॥ ८ ॥

ऋ० १० । ८५ । ८ ॥

भा०—जब ( स्तोमाः ) वेद के स्तुतिपाठ, ( प्रतिधयः ) उस कन्या के 'प्रतिधि' प्रतिपालक हों। और ( सूर्यायाः ) कन्या की ( छन्दः ) अभिलाषा ( कुरीरम् ) करने योग्य, अपने पति से मिलने की परम अभिलाषा - मैथुन' ( ओपशः ) और उसके समीप शयन या सहवास की हो। इसके बाद ( अश्विना ) रात दिन के समान सदा परस्पर साथ रहने वाले वे दोनों ( वरा ) एक दूसरे को वरण करने वाले हों। और उसके इस कार्य में ( अग्निः ) अग्नि और उसके समान ज्ञान प्रकाश से युक्त आचार्य ही ( पुरोगवः ) उसका पुरोहित या साक्षी ( आसीत् ) हो। यहां महर्षि दयानन्दकृत संस्कारविधि में विवाह संस्कार के योग्य काल का निर्णय देखने योग्य है।

" जब कन्या रजस्वला होकर पृष्ठ २६-२७ में लिखे प्रमाणे शुद्ध हो जाय तब जिस दिन गर्भाधान की रात्रि निश्चित की हो उसमें विवाह करने के लिये प्रथम ही सब सामग्री जोड़ रखनी चाहिये। " इति दयानन्द संस्कारविधि १४ संस्क० पृ० १४२-४३ ॥

कुरीरम्—क्रियते तत् कुरीरः—मैथुनं वा। इति दयानन्द उणादिभाष्ये। उणा० ४ । ३३ ॥ ओपशः—आङ् उपपूर्वात् शेतेरसुन्। ओपशः सहशयनम्।

सोमो वधूयुरभवदश्विनास्तामुभा वरा ।
सूर्यां यत् पत्ये शंसन्तीं मनसा सवितादंदात् ॥ ९ ॥

८—( प्र० ) 'परिधयः' इति पैप्प० सं० ।
९—( च० ) 'दधात' इति पैप्प० सं० ।

भा०—जब ( सोमः ) सोम, वीर्यवान् पुरुष ( वधूयुः ) वधू की कामना से युक्त ( अभवत् ) होवे। तब ( अश्विना ) स्त्री पुरुष ( उभा ) दोनों ( वरा ) परस्पर एक दूसरे का वरण करने वाले ( आस्ताम् ) होवें। और ( यत् ) जब दोनों की अभिलाषा पूरी तरह से हो तब ( पत्ये ) पति को ( शंसन्तीम् ) अभिलाषा करने वाली ( सूर्याम् ) कन्या को ( सविता ) उसका उत्पादक पिता ( मनसा ) अपने मन. संकल्प द्वारा ( अददात् ) दान करे, पति के हाथ सौंप दे।

मनो अस्या अन आसीद् द्यौरासीदुत च्छदिः।
शुक्रावनड्वाहावास्तां यदयात् सूर्या पतिम् ॥ १० ॥

भा० —( यद् ) जब ( सूर्या ) कन्या ( पतिम् ) पति के पास (अयात्) जावे तब (अस्याः) इस कन्या का पति के पास जाने के लिये ( मनः अनः आसीत् ) मन अर्थात् चित्त या संकल्प ही रथ हो। (उत) और (द्यौः) द्यौः, आकाश या वाग् वाणी ही उस पूर्वोक्त संकल्पमय मनोरथ की ( छदिः ) ऊपर की छत के समान आवरण ( आसीत् ) हो। ( अनड्वाहौ ) उस मनोरथरूप रथ को ढोने वाले बैलों के स्थान पर ( शुक्रौ ) दोनों स्त्री पुरुष के शुक्र और रज हों। अथवा ब्रह्मचर्य से सञ्चित वीर्य ही उस मनोरथ के पूर्ण करने वाला हो जिससे अगला गृहस्थ सम्पन्न हो। या दोनों स्वयं ही ( शुक्रौ ) शुद्ध चित्त, कान्तिमान् होकर उस गृहस्थ रथ के उठाने वाले हों।

ऋक्सामाभ्यामभिहितौ गावौ ते सामनावैताम्।
श्रोत्रं ते चक्रे आस्तां दिवि पन्थाश्चराचरः ॥ ११ ॥
ऋ० १० । ८५ । ११ ॥

---

१०–( च० ) 'सूर्या गृहम्' इति ऋ०।

११–( च० ) 'श्रोत्र ते' ( द्वि० ) 'सामनाविताः' इति ऋ०। 'उपहितौ' इति पैप्प० सं०।

भा०—( ऋक्सामाभ्याम् ) ऋग्वेद और सामवेद दोनों से ( अभि-हितौ ) बँधे हुए (ते) तेरे मनोरथ रथ के (गावौ) पूर्वोक्त दोनों बैल सामनौ) समान चित होकर ( एताम् ) चलें । हे कन्ये ! ( ते श्रोत्रे ) दोनों कान ( ते ) तेरे मनोरथ रथ के ( चक्रे ) दो चक्र ( आस्ताम् ) रहें । ( दिवि ) द्यौ या वाणी में तेरे उस मनोरथ रथ का ( चराचरः ) समस्त चराचर संसार ( पन्थाः ) मार्ग है ।

शुची ते चक्रे यात्या व्यानो अक्ष आहतः ।
अनो मनस्मयं सूर्यारोहत् प्रयती पतिम् ॥ १२ ॥

ऋ० १० । ८५ । १२ ॥

भा०—हे कन्ये ! ( ते यात्याः ) तेरे अपने पति के गृह जाते हुए ( चक्रे शुची ) शुद्ध कान्तिमान् पूर्वोक्त दो चक्र हों और ( अक्षे ) अक्ष=धुरेरूप से ( व्यानः ) व्यान वायु जो हृदय की नाड़ियों में विविध प्रकार से गति करता है वह ( आहतः ) लगा हो । ( पतिम् प्रयती ) अपने पती के पास जाती हुई ( सूर्या ) सूर्य की उषा के समान शुद्ध कान्ति से युक्त कन्या ( मनःमयम् ) मनोमय, संकल्प से बने मानस-रथ पर ( आरो-हत् ) चढ़े ।

सूर्यायां वहतुः प्रागात् सविता यमवासृजत् ।
मघासु हन्यन्ते गावः फल्गुनीषु व्युह्यते ॥ १३ ॥

ऋ० १० । ८५ । १३ ॥

भा०—( सविता ) उत्पादक पिता ( यम् ) जिस दहेज को ( अवा-सृजत् ) प्रदान करता है वही ( सूर्यायाः ) सूर्या=कन्या का ( वहतुः ) दहेज ( प्र अगात् ) आगे जाय । ( मघासु[1] ) मघा नक्षत्रों के योग में ( गावः )

१३-( तृ० ) 'अघासु' ( च० ) 'अर्जुन्योः पर्युह्यते' इति ऋ० ।

१, मघाः नक्षत्राणि सिंहराशौ । फल्गुन्यश्चापि तत्रैव । अर्जुनी फल्गुनी च पर्यायौ ।

सूर्य की किरणें भी ( हन्यन्ते ) मारी जाती हैं, मन्दी हो जाती हैं और इसी कारण ( फल्गुनीषु ) फल्गुनी नक्षत्रों के योग में ( व्युह्यते ) विवाह किया जाता है।

यदश्विना पृच्छमानावयातं त्रिचक्रेण वहतुं सूर्यायाः।
कैकं चक्रं वामासीत् क्व देष्ट्राय तस्थथुः॥ १४॥

ऋ० १० । ८५ । १४ प्र० द्वि०, १५ तृ० च०॥

भा०—हे ( अश्विनौ ) दिन रात्रि के समान सदा एक दूसरे के पीछे चलने हारे विवाहित वर वधुओ! ( सूर्यायाः ) सूर्या-उषा के समान कान्तिमती कन्या के ( वहतुं ) दहेज को लेकर जब ( त्रिचक्रेण ) तीन चक्रों वाले रथ पर सवार होकर ( यद् ) जब ( पृच्छमानौ ) अपना मार्ग पूछते हुए ( अयातं ) जावें तो ( वाम् ) हे स्त्री पुरुषो! तुम्हारा ( एकं चक्रं क आसीत् ) एक चक्र कहां होता है और ( देष्ट्राय ) उपदेष्टा के ज्ञानोपदेश के श्रवण करने के लिये तुम दोनों ( क तस्थथुः ) किस स्थान पर खड़े हुआ करते हो।

यदयातं शुभस्पती वरेयं सूर्यामुप।
विश्वे देवा अनु तद् वामजानन् पुत्रः पितरमवृणीत पूषा॥१५॥

ऋ० १० । ८५ । १५ प्र० द्वि० १४ तृ० च०॥

भा०—हे ( शुभस्पती ) शोभा के मालिको! वरवधुओ! तुम दोनों जब ( उपसूर्याम् ) सूर्या=कन्या के ( वरेयम् ) वरण कार्य के अवसर पर, विवाह संस्कार के अवसर पर ( यत् ) जब तुम दोनों ( अयातम् ) आते

१५-( च० ) 'पुत्रः पितराववृणीत पूषा' इति ऋ०। 'पितरावृणीत' इति पैप्प० सं०। 'माता च पिता च पितरौ', 'पितरम्' इति छान्दसमेकवचनम्। पैप्पलाद गत. 'पितरा-पितरौ' इति तस्यैव व्याख्यानम्।

हो ( तत् ) तब ( विश्वेदेवाः ) समस्त विद्वान् पुरुष ( वाम् ) तुम दोनों वर वधू के विषय में ( अजानन् ) भली प्रकार जान लें और तुम दोनों के विवाह कर लेने की अनुमति दें। और तब ( पूषा पुत्रः ) हृष्ट पुष्ट पुत्र अपने ( पितरम् ) उत्पादक माता पिता को ( अवृणीत ) प्राप्त करे।

अर्थात् योग्य वयस् पर विवाह होने पर दोनों के हृष्ट पुष्ट पुत्र उत्पन्न होते हैं। वे दोनों हृष्ट पुष्ट पुत्र के मां बाप बनते हैं।

द्वे ते चक्रे सूर्ये ब्रह्माण ऋतुथा विदुः।
अथैकं चक्रं यद् गुहा तदद्धातय इद् विदुः॥ १६॥

ऋ० १०। ८५। १६॥

भा०—हे ( सूर्ये ) सूर्ये! सौभाग्यवति कन्ये! ( ते ) तेरे मनरूप रथ के ( द्वे चक्रे ) श्रोत्र या कान रूप दोनों चक्रों को ( ब्रह्माणः ) ब्रह्म के जानने वाले वेदज्ञ विद्वान् ( ऋतुथा ) ऋतुकाल के अवसर पर ( विदुः ) भली प्रकार जानते हैं। ( अथ ) और ( एकचक्रम् ) एक चक्र ( यत् ) जो ( गुहा ) गुहा में, हृदय के भीतर छिपा है ( तत् ) उसको भी ( अद्धातय इत् ) विद्वान् लोग ही ( विदुः ) जानते हैं। कन्या की अभिलाषा वर-प्राप्ति की होती है, व० अपने कानों से योग्य वरों की कथा श्रवण करती है और चित्त से योग्य वर को गुणती है। दोनों कान और चित्त ये तीन चक्र हैं जिनसे वह मनोरथ रूप रथ पर चढ़कर पति को प्राप्त करती है।

अर्यमणं यजामहे सुबन्धुं पतिवेदनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनात् प्रेतो मुञ्चामि नामुतः॥ १७॥

ऋ० ७। ५९। १२॥

१७–' त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् ' ( च० ) ' मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ' इति ऋ०। ( प्र० ) तथा ' सुगन्धिं पतिवेदनम् ' ( च० ) 'इतोमुक्षीय मामुतः' इति यजु०। (च०) 'मुञ्चामि नामुतः' इति पैप्प० सं०।

भा०—हम कन्या पक्ष के लोग (अर्यमणम्) सर्वश्रेष्ठ न्यायकारी, (पतिवेदनम्) पति को प्राप्त करानेहारे, (सुबन्धुम्) उत्तम बन्धुस्वरूप परमेश्वर की (यजामहे) पूजा करते हैं। (उर्वारुकम्) खरबूजा जिस प्रकार अपनी बेल से टूटकर आपसे आप अलग हो जाता है उसी प्रकार मैं कार्यकर्ता (इतः) इस पितृगृह से (प्रमुञ्चामि) इस कन्या को पृथक् करता हूं (अमुतः) उस पतिबन्धन से (न) कभी पृथक् न करूं। बल्कि उसके साथ जोड़ता हूं।

प्रेतो मुंञ्चामि नामुतः सुबद्धाममुतंस्करम्।
यथेयमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रा सुभगासति॥ १८॥

ऋ० १०। ८५। २५॥

भा०—मैं कन्या का पिता (इतः) इस पितृकुल से (प्रमुञ्चामि) सर्वथा इस कन्या को पृथक् करता हूं। (अमुतः) दूसरे इस के पति सम्बन्ध से इसको (न प्रमुञ्चामि) कभी अलग न करूं। प्रत्युत (अमुतः) अमुक इस दूर के पति के साथ इसको (सुबद्धाम्) खूब अच्छी प्रकार प्रतिबद्ध (करम्) कर देता हूं। (यथा) जिससे हे (इन्द्र) इन्द्र! परमेश्वर (इयम्) यह (सुभगा) उत्तम सौभाग्यवाली कन्या (मीढ्वः) वीर्य सेचन में समर्थ पति के साथ रहकर (सुपुत्रा) उत्तम पुत्र वाली (असति) हो।

प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद् येन त्वाबध्नात् सविता सुशेवाः।
ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोके स्योनं ते अस्तु सहसंभलायै॥१९॥

ऋ० १०। ८५। २४ प्र० द्वि०॥

१८–(प्र०) 'प्रेतो मुञ्चाति नामुत' इति पैप्प० सं०। (प्र०) 'मुञ्चाति' (द्वि०) 'करत' इति आप० मन्त्रपाठः।

१९–(द्वि०) 'सुशेव.' इति ऋ०। (च०) 'अरिष्टां त्वा सह पत्या दधामि' इति ऋ०।

भा०—हे कन्ये ! ( त्वा ) तुझको मैं पति, ( वरुणस्य ) सर्वश्रेष्ठ, तेरे रक्षक परमेश्वर या वरुण प्रजापति पिता के ( पाशात् ) उस बन्धन से ( प्र मुञ्चामि ) छुड़ाता हूं ( येन ) जिस बन्धन से ( त्वा ) तुझे ( सुशेवा ) उत्तम रीति से सेवा करने योग्य ( सविता ) तेरे पिता ने ( अबध्नात् ) बांधा था। हे कन्ये ! ( ऋतस्य योनौ ) परम सत्य ज्ञान और यज्ञ के स्थान और ( सुकृतस्य ) पुण्य और सत्याचरण के ( लोके ) लोक, गृहस्थाश्रम में ( सहसंभलायै[1] ) पति के साथ सदा सुमधुर भाषण करने वाली, मञ्जुभाषिणी या संभल सहित ( ते ) तुझको ( स्योनम् ) सुख (अस्तु) प्राप्त हो।

भर्गस्त्वेतो नयतु हस्तगृह्याश्विना त्वा प्र वहतां रथेन।
गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमा वदासि ॥२०॥(२)

भा०—हे कन्ये ! पुत्रि ! ( त्वा ) तुझको ( भगः ) ऐश्वर्यवान् सौभाग्यशील वर ( इतः ) इस पितृगृह से ( हस्तगृह्य ) हाथ से पकड़ कर, पाणिग्रहण करके ( नयतु ) ले जावे। ( अश्विना ) अश्व पर आरूढ़ वर और उसका भाई दोनों ( त्वा ) तुझको ( रथेन ) रथ पर बैठकर ( प्र वहताम् ) ले जायें। हे कन्ये ! तू गृहपत्नी होकर ( गृहान् गच्छ ) घर को जा। ( यथा ) जिससे ( त्वं ) तू ( गृहपत्नी ) गृहस्वामिनी ( असः ) हो ( वशिनी ) सबको वश करनेहारी, सब के हृदयहारिणी ( त्वं ) तू ( विदथम् ) ज्ञान से भरे वचन ( आवदासि ) कहा कर।

---

१. मल्ल, भल्ल, परिभाषणहिंसादानेषु ( भ्वादिः )। इमाम् विष्यामि वरुणस्य पाशं यमबध्नात् सविता सुकेतः। धातुश्च योनौ सुकृतस्य लोके स्योनं मे सह पत्या करोमि। इति तै० सं०। ( च० ) 'सहपत्नी नभू' इति [illegible] मं०।

२०–( प्र० ) 'पूषा त्वेतो' इति ऋ०।

इह प्रियं प्रजायै ते समृध्यतामस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि ।
एना पत्या तन्वं१ सं स्पृशस्वाथ जिर्विर्विदथमा वदासि ॥ २१ ॥

भा०—हे वधु[1] ( ते ) तेरी ( प्रजायै ) प्रजा, सन्तान के लिये ( प्रियम् ) प्रिय, उत्तम २, मनोहारी, तुझे प्रिय लगने वाले पदार्थ ( सम् ऋध्यताम् ) अच्छी प्रकार अधिक मात्रा में प्राप्त हों । ( अस्मिन् गृहे ) इस घर में ( गार्हपत्याय ) गार्हपत्य, गृहपति के कार्य, गार्हपत्य अग्नि की सेवा और गृहस्थकार्य के लिये ( जागृहि ) तू सदा जाग, सावधान रह । और ( एना पत्या ) इस पति के संग ( तन्व ) अपने शरीर को ( सं स्पृशस्व ) स्पर्श करा, आलिङ्गन कर । ( अथ ) और उसके बाद ( जिर्विः ) शरीर में वृद्ध और अधिक उमर की बूढ़ी होकर या सत्योपदेष्ट्री माता होकर ( विदथम् ) ज्ञानोपदेश ( आ वदासि ) किया कर ।

इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम् ।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वस्तकौ ॥ २२ ॥

भा० - हे वरवधू ! तुम दोनों ( इह एव ) इस गृहस्थ आश्रम में ( स्तं ) रहो । ( मा वियौष्टम् ) कभी वियुक्त न हुआ करो । ( पुत्रैः ) पुत्रों ( नप्तृभिः ) नातियों से ( क्रीडन्तौ ) खेलते हुए ( मोदमानौ ) आनन्द प्रसन्न रहते हुए ( सु अस्तकौ ) उत्तम गृह से सम्पन्न होकर ( विश्वम् आयुः ) अपनी पूर्ण आयु का ( वि अश्नुतम् ) विशेष रूप से या विविध प्रकार से भोग करो ।

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परि यातोर्णवम् ।
विश्वान्यो भुवना विचष्ट ऋतूँरन्यो विदधज्जायसे नवः ॥ २३ ॥

---

[1] २१–( प्र० ) 'प्रजायां' ( तृ० च० ) 'सुम्नाथा जीर्विर्विदथमावदाथ:' 'जीर्वी' इति आप० ।

२२–( च० ) 'स्वे गृहे' ( द्वि० ) 'दीर्घमायु' इति ऋ० ।

भा०—सूर्य चन्द्र और आत्मा, परमात्मा पक्ष में पूर्व अथर्व० ७ । ८१ । १ ॥ और १३ । २ । ११ ॥ में कह आये हैं । यहां पतिपत्नि के सम्बन्ध में कहते हैं । ( एतौ ) ये दोनों ( शिशू ) एकत्र शयन करने हारे पति पत्नी ( पूर्वापरम् ) एक दूसरे के आगे और पीछे, पतिपत्नीभाव से ( मायया ) माया, परस्पर के प्रेम लीला से ( चरतः ) विचरण करते हैं और ( क्रीडन्तौ ) नाना प्रकार से क्रीडा विहार करते हुए ( अर्णवम् ) संसार-सागर के पार ( परि यातः ) जाते हैं । उन दोनों में ( अन्यः ) एक ( विश्वा भुवना ) समस्त लोकों को ( विचष्ट ) विविध रूप से देखता है । और ( अन्यः ) दूसरा चन्द्रमा के समान ही ( ऋतून् विदधत् ) ऋतुओं, ऋतु कालों को धारण करती हुई ( नवः ) सदा नवीन शरीर वाली, सुन्दर रूप ( जायते ) होजाती है ।

नवोनवो भवसि जायमानोह्नां केतुरुषसामेष्यग्रम् ।
भागं देवेभ्यो वि दधास्यायन् प्र चन्द्रमस्तिरसे दीर्घमायुः ॥२४॥

भा०—हे सूर्य के समान तेजस्वी पुरुष ! तू ( अह्नाम् ) दिनों का ( केतुः ) प्रज्ञापक, ज्ञाता होकर ( जायमानः ) पुत्र रूप से उत्पन्न होता हुआ ( उषसाम् अग्रम् ) उषाओं के प्रारम्भ में सूर्य के समान ( नवः नवः भवसि ) नये २ रूप में प्रकट होता है । और तू हे गृहस्थ ! नित्य ( देवेभ्यः ) विद्वानों अतिथि आदि देव के समान पूज्य पुरुषों के लिये ( भागं ) अन्न आदि सेवन योग्य पदार्थ ( विदधासि ) विविध प्रकार से प्रदान करता है और ( आयन् ) सबको प्राप्त होकर हे ( चन्द्रमः ) चन्द्र के समान आह्लादकारिन् व पत्नि ! तू सबको ( दीर्घाम् आयुः ) दीर्घ जीवन ( प्रतिरसे ) प्रदान करती है ।

पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वा स मातरम् ।
तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते ।
तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः । ऐ० ७ । १३ ॥

परा देहि शामुल्यं/ ब्रह्मभ्यो वि भंजा वसु ।
कृत्यैषा पद्वती भूत्वा जाया विशते पतिम् ॥ २५ ॥

भा०—हे नवविवाहित पुरुष ! तू ( शामुल्यम् ) शमन करने योग्य मानस दुर्भाव या मलिनता को ( परा देहि ) दूर करदे । और ( ब्रह्मभ्य ) विद्वान् ब्राह्मणों को ( वसु ) धन का ( वि भज ) विविध रूपों में दान कर । ( एषा जाया ) यह जाया, स्त्री साक्षात् ( पद्वती ) चरणों वाली ( कृत्या ) सेना के समान हिंसाकारिणी ( भूत्वा ) होकर ( पतिम् ) पति के गृह में ( विशते ) प्रवेश करती है । विद्वानों को गृह पर बुलाकर उनके ज्ञानोपदेशों द्वारा चित्त के मलिन भावों को दूर करे । नहीं तो गृहों में नववधू ही कलह का कारण हो जाती है ।

नीललोहितं भवति कृत्यासक्तिर्व्य/ज्यते ।
एधन्ते अस्या ज्ञातयः पतिर्बन्धेषु बध्यते ॥ २६ ॥

भा०—हे नवविवाहित ! जब इस नवविवाहिता वधू का हृदय ( नील-लोहितम् ) नीला, लाल या शबल, तामस और राजस भावों से युक्त, मलिन ( भवति ) हो जाता है तब उसकी ( कृत्या आसक्ति ) हिंसा के कार्य में आदर या भोगप्रवृत्ति ( वि अज्यते ) स्पष्ट हो जाती है । तब ( अस्या ज्ञातय ) उस कन्या के बन्धु बान्धव भी ( एधन्ते ) बढ़ते हैं और ( पति ) पति ( बन्धेषु ) बन्धनों में ( बध्यते ) बंधता है ।

अश्लीला तनूर्भवति रुशती पापयामुया ।
पतिर्यद् वध्वो३ वाससः स्वमङ्गमभ्यूर्णुते ॥ २७ ॥

---

२५–( तृ० ) 'भूत्वी' इति ऋ० । ( प्र० ) 'परादेहि शावल्य' इति आप० ।
२६–( प्र० ) 'नीललोहिते भवत ' इति आप० ।
२७–( प्र० ) 'अश्रीरा' ( च० ) 'स्वाङ्गमभिधित्सते' इति ऋ० । ( प्र० ) 'अश्रीरातनू, ' ( च० ) 'वाससा' इति च बहुत्र ।

भा०—( यद् ) यदि ( वध्वः ) वधू के ( वाससः ) वस्त्र से ( पतिः ) पति ( स्वम् अङ्गम् ) अपना शरीर ( अभि ऊर्णुते ) आच्छादित करे तो ( अमुया ) इस ( पापया ) पाप या बुरी रीति से ( रुशती ) सुन्दर शोभा युक्त ( तनूः ) शरीर भी ( अश्लीला ) गन्दा, मलिन, शोभा रहित ( भवति ) हो जाता है । पति कभी अपनी स्त्री के उतरे हुए कपड़े न पहना करे ।

आशसनं विशसनमथो अधिविकर्तनम् ।
सूर्यायाः पश्य रूपाणि तानि ब्रह्मोत शुम्भति ॥ २८ ॥

भा०—( सूर्यायाः ) पुत्र प्रसव करने में समर्थ युवति के ( रूपाणि ) रूपों को ( पश्य ) देख । उस में रजस्वला होने के समय अङ्गों का ( आशसनम् ) कटना ( विशसनम् ) फटना और ( अधि विकर्त्तनम् ) चिरना आदि होता है । ( तानि ) उन सब दोषों और मलिनता के कार्यों को ( ब्रह्मा उत ) ब्रह्मा, विधाता परमेश्वर या ब्रह्मज्ञानी विद्वान् ही ( शुम्भति ) संस्कार द्वारा उसको शुद्ध करता है ।

तृष्टमेतत् कटुकमपाष्ठवद् विषवन्नैतदत्तवे ।
सूर्यां यो ब्रह्मा वेद स इद् वाधूयमर्हति ॥ २९ ॥

भा०—उस दशा में ( एतत् ) स्त्री का शरीर ( तृष्टम् ) तृषा, उष्णता का रोग उत्पन्न करता है ( कटुकम् ) कटु, देह पर चिरमराहट की फुन्सियां आदि विषम कष्ट उत्पन्न करता है ( अपाष्ठवद् ) घृणित वस्तु के समान और ( विषवत् ) विष से युक्त होता है । उस समय ( एतत् ) स्त्री का शरीर ( अत्तवे न ) भोग करने योग्य नहीं होता । ( यः ) जो ( ब्रह्मा ) ब्रह्मवेत्ता विद्वान् इस प्रकार ( सूर्याम् ) सन्तानोत्पन्न करने में समर्थ कन्या के लक्षण ( वेद ) जानता है या जो सूर्या कन्या को पति के हाथ प्राप्त करादे

२८–( च० ) 'ब्रह्मानु शुन्धति' इति ऋ० ।
२९–'कटुकमेतत्' ( तृ० ) 'विद्वान्' इति

वह ब्रह्मा था। जो सूर्या सूक्त को जानता हो ( स. इत् ) उसको ही (वाधूयम्) वाधूय=वधू के विवाह के अवसर के वस्त्र लेने ( अर्हति ) उचित हैं।

स इत् तत् स्योनं हरति ब्रह्मा वासः सुमङ्गलम्।
प्रायश्चित्तिं यो अध्येति येन जाया न रिष्यति ॥ ३० ॥ ( ३ )

भा०—( सः इत् ) वह ब्रह्मवेत्ता ही ( तत् ) उस ( सुमङ्गलम् ) शुभ, मङ्गलसूचक ( वासः ) वस्त्र को ( स्योनम् ) सुखपूर्वक ( हरति ) ले लेता है ( यः ) जो ( प्रायश्चित्तिम् ) प्रायश्चित्तीय विधि को ( अध्येति ) पढ़ता है ( येन ) जिससे ( जाया ) पत्नी ( न रिष्यति ) पति के प्रति हानिकारक नहीं होती।

प्रायश्चित्त विधान, गर्भाधान संस्कार में ओ३म् 'अग्ने प्रायश्चित्ते०' इत्यादि २० मन्त्र हैं। 'वरितव्रतः सूर्याविदे वधूवस्त्रं दद्यात्' इति आश्व० गृ० सू० । १ । ८ । १३ ॥ गर्भाधान के पूर्व तीन रात्रि, १२ रात्रि या एक वर्ष का ब्रह्मचर्य व्रत करके बाद में वधू के वस्त्र सूर्याविद् ब्राह्मण को दान करे।

युवं भगं सं भरतुं समृद्धमृतं वदन्तावृतोद्येषु।
ब्रह्मणस्पते पतिमस्यै रोचय चारु संभलो वदतु वाचमेताम् ॥३१॥

भा०—हे स्त्री पुरुषो! ( युवं ) तुम दोनों ( ऋतोद्येषु ) अपने सत्य भाषण के व्यवहारों में सदा ( ऋतं वदन्तौ ) सत्य का भाषण करते हुए ( समृद्धं ) खूब समृद्ध, धन सम्पन्न ( भगम् ) ऐश्वर्य को ( सं भरतम् ) भली प्रकार प्राप्त करो। हे ( ब्रह्मणस्पते ) ब्रह्म, वेद के परिपालक विद्वन्! ( अस्यै ) इस कन्या के ( पतिम् ) पति के प्रति ( रोचय ) रुचि उत्पन्न करा, ऐसा उपदेश कर जिससे वह अपने पति को अधिक स्नेह से चाहे। और ( संभलः ) उत्तम मधुर भाषण करने वाला विद्वान् ( एताम् ) इस ( वाचम् ) स्नेह भरी वाणी को ( चारु ) भली प्रकार ( वदतु ) कहे।

---

३१–( द्वि० ) 'मृध्योद्येन' ( च० ) 'शुमलो' इति पैप्प० सं०।

इहेदसाथ न परो गमाथेमं गावः प्रजया वर्धयाथ ।
शुभं यतीरुस्रियाः सोमवर्चसो विश्वे देवाः क्रन्निह वो मनांसि ॥३२॥

भा०—हे ( गावः ) गौवो या गमन करने योग्य स्त्रियो ! तुम ( इह इत् ) यहां ही पतिगृह में ( असाथ ) रहो । तुम ( परः ) दूर देश में ( न गमाथ ) मत जाओ । ( इमं ) इस अपने पालक को ( प्रजया ) उत्तम सन्तान से (वर्धयाथ) बढ़ाओ । हे (उस्रियाः) गौवो, या उत्तम आचार वाली स्त्रियो ! आप लोग ( शुभं यतीः ) सुन्दरता से इधर उधर विचरती हुई ( सोमवर्चसः ) सोम, चन्द्र के समान कान्ति वाली, श्वेत और लाल वर्ण की या सौम्य होकर रहो । ( विश्वे देवाः ) समस्त विद्वान् श्रेष्ठ पुरुष ( वः ) तुम्हारे ( मनांसि ) चित्तों को ( इह क्रन् ) यहां ही लगाये रखें ।

इमं गावः प्रजया सं विशाथायं देवानां न मिनाति भागम् ।
अस्मै वः पूषा मरुतश्च सर्वे अस्मै वो धाता सविता सुवाति ॥३३॥

भा०—हे ( गावः ) गौओ ! या गमन योग्य स्त्रियो, भूमियो ! ( इमं ) इस नवगृहस्थ को ( प्रजया ) प्रजा से ( सं विशाथ ) प्राप्त होओ । ( अयम् ) यह गृहस्थ ( देवानाम् ) देवों, पूज्य विद्वानों और अतिथियों के ( भागम् ) भाग को ( न मिनाति ) नहीं मारता, लोप नहीं करता । ( वः ) तुमको ( पोषा ) पुष्ट करने वाला पोषक और ( सर्वे च ) समस्त ( मरुतः ) वैश्यगण या विद्वान् पुरुष ( अस्मै ) इस गृहपति के निमित्त तुम्हें देते हैं । और ( वः धाता ) तुम्हारा पालक और ( सविता ) उत्पादक पिता और परमेश्वर भी तुमको ( अस्मै सुवाति ) इसके हाथों तुम्हें देता है ।

अनृक्षरा ऋजवः सन्तु पन्थानो येभिः सखायो यन्ति नो वरेयम् ।
सं भगेन समर्यम्णा सं धाता सृजतु वर्चसा ॥ ३४ ॥

---

३३–( प्र० ) ' सं विशध्वम् ' इति पैप्प० सं० ।

३४–' सन्तु पन्थाः ' इति ऋ० ।

भा०—( येभिः ) जिन मार्गों से ( नः सखायः ) हमारे मित्रगण ( वरेयम् ) कन्या वरण के उत्सव के लिये ( यन्ति ) जावें वे ( पन्थानः ) मार्ग ( अनृक्षराः ) कांटों से रहित और ( ऋजवः ) सरल, सूधे ( सन्तु ) हों। ( भगेन ) ऐश्वर्यसम्पन्न धनाढ्य पुरुषों और ( अर्यम्णा ) अर्यमा, श्रेष्ठ राजा के ( सम् सम् ) साथ मिलकर ( धाता ) विधाता, मार्ग बनाने वाला शिल्पी उन मार्गों को ( वर्चसा ) प्रकाश से ( स सृजतु ) अच्छी प्रकार युक्त करे। या ( धाता ) परमात्मा हमें धनाढ्य पुरुषों और ( अर्यम्णा ) न्यायकारी राजा सहित ( सं सृजतु ) युक्त करे।

यच्च वर्चो अक्षेषु सुरायां च यदाहितम्।
यद् गोष्वश्विना वर्चस्तेनेमां वर्चसावतम् ॥ ३५ ॥

भा०—( यत् च ) और जो ( वर्चः ) तेज या बल, चित्ताकर्षण बल ( अक्षेषु ) अक्षों, पासों में या प्रेमियों की आखों में है, ( यत् च ) और जो बल (सुरायाम्) चित्त को हरने वाली स्त्री या (सुरायाम्) सुरा पात्र में ( आहितम् ) भरा है और ( यद् वर्चः गोषु ) जो तेज, धन, समृद्धि और पुष्टिकारक घी दूध आदि सुस्वादु पदार्थों या गौओं में विद्यमान है (तेन) उन सब तीनों प्रकार के तेजों से हे ( अश्विना ) स्त्री पुरुषो, तुम सब ( इमाम् ) इस सौभाग्यवती नववधू को ( अवतम् ) सुशोभित करो।

येन महानग्न्या जघनमश्विना येन वा सुरा।
येनाक्षा अभ्यषिच्यन्त तेनेमां वर्चसावतम् ॥ ३६ ॥

भा०—( येन ) जिस ( वर्चसा ) तेज या चित्ताकर्षक मनोहरता से ( महानग्न्याः ) बड़ी नंगी=महावेश्या का ( जघनम् ) भोगस्थान युक्त है और (येन वा) जिस चित्ताकर्षक गुण से (सुरा) सुरा, मद्य या स्त्री परिपूर्ण

३६—' महानग्न्याः ' इति सर्वत्र प्रायिकः पाठः । ' महानग्न्याः ' इति ह्विटनिग्रीफिथाभिमतः ।

है और ( येन ) जिस चित्ताकर्षक गुण से ( अक्षाः ) जूए के पासे या इन्द्रियें (अभिअसिच्यन्त) भरे पूरे रहते हैं (तेन) उस (वर्चसा) चित्ताकर्षक गुणमय तेज से ( इमां ) इस स्त्री को हे ( अश्विनौ ) स्त्री पुरुषो या कन्या या वर के माता पिताओ तुम भी ( अवतम् ) सुशोभित करो ।

साधारण लोग जिस चित्ताकर्षण से वेश्या, मद्य और जूओं में झुकते हैं वह सब प्रलोभक चित्ताकर्षक गुण उस नववधू में प्राप्त हों जिससे नव-विवाहित अपनी स्त्री को त्याग कर अन्य व्यसनों में मनोयोग न दे ।

यो अनिध्मो दीदयदप्स्वंन्तर्यं विप्रांस ईडंते अध्वरेषु ।
अपां नपान्मधुमतीरपो दा याभिरिन्द्रो वावृधे वीर्यावान् ॥ ३७ ॥

भा०—( यः ) जो अग्नि परमेश्वर ( अनिध्मः ) विना इंधन के जलों में विद्यमान् विद्युत् के समान समस्त प्रजाओं में ( दीदयत् ) प्रकाशित होता है, ( यं ) जिसकी ( अध्वरेषु ) यज्ञों में ( विप्रासः ) विद्वान् मेधावी पुरुष ( ईडते ) उपासना करते हैं । वह ( अपां नपात् ) प्रजाओं का परि-पालक, प्रभु, परमेश्वर ( मधुमतीः ) मधु=जीवन और ज्ञान=आनन्दरस से परिपूर्ण ( अपः ) प्रजाएं, सत्कर्म और सद् बुद्धियां ( दाः ) प्रदान करे । ( याभिः ) जिनसे ( वीर्यावान् ) वीर्यवान् पुरुष ( वावृधे ) बढ़ता है ।

इदमहं रुशन्तं ग्राभं तनूदूषिमपोहामि ।
यो भद्रो रोचनस्तमुदंचामि ॥ ३८ ॥

भा०—( इदम् ) यह ( अहम् ) मैं ( रुशन्तं ) नाश करने वाले, ( तनुदूषिम् ) शरीर के दूषित करने वाले और ( ग्राभं ) शरीर को जकड़ने वाले रोग को ( अप ऊहामि ) शरीर से दूर करता हूं । और ( यः ) जो

३७–( च० ) 'वीर्याय' इति ऋ० ।

३८–'तनुदूपिनधिनुदामि' ( तृ० च० ) 'यः शिवो भद्रो रोचनस्तेनत्वा-गपिनुदामि' इति पैप्प० सं० ।

( भद्रः ) सुखकारी ( रोचनः ) सुन्दर वर्ण है ( तम् ) उसको ( उद् अचामि ) ऊपर छिड़कता हूं ।

वर वधू के उबटन आदि से शरीर के मल को दूर करें और उत्तम शरीर वर्ण करने के पदार्थों का उपयोग करें ।

अस्यै ब्राह्मणाः स्नपनीर्हरन्त्ववीरघ्नीरुदजन्त्वापः ।
अर्यम्णो अग्निं पर्येतु पूषन् प्रतीक्षन्ते श्वशुरो देवरश्च ॥३९॥

भा०—( ब्राह्मणाः ) ब्रह्म, वेद के जानने हारे विद्वान् पुरुष ( अस्यै ) इस कन्या को ( स्नपनीः ) नहलाने के योग्य ( अपः ) जलों को ( आहरन्तु ) लावें और वे ही ( अवीरघ्नीः ) वीर्य और सन्तान को नाश न करने वाले ( अपः ) जलों और उत्तम उपदेशों और कर्मों को ( उद् अजन्तु ) प्राप्त करावें । कन्या स्नानादि करके ( अर्यम्णः ) अर्यमा, परमेश्वर या राजा के प्रतिनिधि ( अग्निम् ) अग्नि की ( परि एतु ) प्रदक्षिणा करे और ( पूषन्[1] ) पूषा-वर और ( श्वशुरः ) कन्या का भावी ससुर और ( देवरः च ) देवर, पति का छोटा भाई दोनों और अन्य सम्बन्धी ( प्रतीक्षन्त ) उसकी प्रतीक्षा करें, उसे देखा करें ।

बोधायन गृह्यसूत्रे—अथैनां प्रदक्षिणमग्निं पर्याणयति अर्यम्णो अग्निं परियन्तु क्षिप्रं प्रतीक्षन्तां श्वश्रुवो देवराश्च । इति ॥

शं ते हिरण्यं शमु सन्त्वापः शं मेथिर्भवतु शं युगस्य तर्द्म ।
शं त आपः शतपवित्रा भवन्तु शमु पत्या तन्वं १ सं स्पृशस्व ॥४०॥ (८)

३९–( द्वि० ) 'उदयन्तु' इति ह्विटनिः । अस्यै ब्राह्मणा स्नानं हरन्तु अवीरघ्नीरुदचन्त्वापः ।

१. 'पूषन् सुपां सुलुक्' इति विभक्तिलोपः । अर्यम्णोऽग्निं परियन्तुक्षिप्रम् प्रतीक्षन्तां श्वश्रुवो देवराश्चेति आपस्त० मन्त्रपाठ । ( तृ० ) 'पर्येतु ओपम्' इति ह्विटनिरामितः ।

भा०—हे नववधु ! ( ते ) तुझे ( हिरण्यं शम् ) यह सुवर्णादि का आभरण सुखकारी हो । ( आपः शम् उ सन्तु ) जल भी तुझे सुखकारक हों । ( मेथिः ) परस्पर का संग-लाभ भी तुझे सुखकारक हो । और ( युगस्य ) तुम युगल हुए जोड़े का ( तर्म ) परस्पर का आघात प्रतिघात भी ( शम् ) सुखकारी हो । ( ते ) तुझे हे वधु ! ( शतपवित्राः ) सैकड़ों प्रकार से पवित्र करने वाले ( आपः ) जल और स्वच्छ जलों के समान पवित्र आप्तजन तुझे ( शम् भवन्तु ) कल्याणकारी हों । और तू ( शम् उ ) सुखपूर्वक हो । अपने ( पत्या ) पति के शरीर के साथ अपने ( तन्वं ) शरीर का ( संस्पृशस्व ) स्पर्श कर। पूर्व काल में विवाह में काष्ठस्तम्भ ( मेथि ) गाड़ा जाता था, उसके साथ भी स्त्री को बांधते थे और बैलों के जूए का स्पर्श भी कराते थे । वे रूढ़ियां केवल कर्मकाण्ड की थीं, जिनमें काष्ट-स्तम्भ पुरुष का और जुआ सुसंगत स्त्री पुरुष का प्रतिनिधि है ।

खे रथस्य खेनसः खे युगस्य शतक्रतो ।
अपालामिन्द्र त्रिष्पूत्वाकृणोः सूर्यत्वचम् ॥ ४१ ॥

भा०—हे ( शतक्रतो ) सैकड़ों कर्म करनेहारे परमात्मन् ! हे शत-प्रज्ञ आचार्य ! तू ( रथस्य ) रथ अर्थात् रमण करने योग्य शरीर के ( खे ) छिद्र इन्द्रियों में और ( अनसः ) प्राणमय जीवन के ( खे ) अवकाश भाग, जीवन काल में और ( युगस्य ) परस्पर मिलकर जोड़ा बने युगल पति पत्नि के ( खे ) गृह में, हे इन्द्र परमेश्वर ( अपालाम् ) अपाला=अपला युवती स्त्री को ( त्रिः पूत्वा ) मन, वाणी और कर्म, तीनों प्रकार से पवित्र करके ( सूर्यत्वचम् ) सूर्य के समान कान्ति वाली ( अकृणोः ) कर देता है ।

४१–( तृ० ) 'पूत्वी' इति ऋ० ।

आशासाना सौमनसं प्रजां सौभाग्यं रयिम् ।
पत्युरनुव्रता भूत्वा सं नह्यस्वामृताय कम् ॥ ४२ ॥

भा०—(सौमनसम्) उत्तम चित्त, (प्रजाम्) उत्तम सन्तान, (सौभाग्यम्) उत्तम सौभाग्य और (रयिम्) धन समृद्धि की (आशासाना) आशा करती हुई हे वधु ! तू (पत्युः) अपने पति के (अनुव्रता) अनुकूल वर्त्तनेहारी (भूत्वा) होकर (अमृताय) अमृत, पूर्ण १०० वर्ष की आयु प्राप्त करने अथवा सुख, प्राण, अमृत या प्रजा लाभ के लिये (सं नह्यस्व) अपने को कटिबद्ध कर, तैयार हो।

यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा ।
एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य ॥ ४३ ॥

भा० —(नदीनां) नदियों के बीच में (यथा) जिस प्रकार (सिन्धुः) समुद्र सब से बड़ा होने के कारण (साम्राज्यं सुषुवे) उन पर शासन करता है उसी प्रकार (वृषा) वीर्यसेचन में समर्थ युवक पति हे स्त्रि ! तेरे लिये (साम्राज्यम् सुषुवे) साम्राज्य बनाता है। उसका वह स्वयं महाराजा है। (एवा) उसी प्रकार (त्वम्) तू (पत्युः अस्तम्) पति के घर (परेत्य) पहुंच कर (साम्राज्ञी) महारानी (एधि) बन कर रह।

सम्राज्ञ्येधि श्वशुरेषु सम्राज्ञ्युत देवृषु ।
ननान्दुः सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्र्वाः ॥ ४४ ॥

भा०—हे वधु ! तू (श्वशुरेषु) श्वशुरों में (सम्राज्ञी एधि) महारानी होकर रह। (उत देवृषु सम्राज्ञी) और देवरों के बीच में भी महा-

४२-(द्वि० च०) 'प्रचेवद्दुरथोर्वल्म् । इन्द्राण्यनुव्रता मन्त्रोऽमृतायकम् ॥' इति पैप्प० सं० ।

४३-' सम्राज्ञी श्वशुरे भव, सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव। ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधिदेवृषु ' इति ऋ० ।

राणी बनकर रह। ( ननान्दुः सम्राज्ञी ) ननद के समक्ष भी तू महाराणी के समान आदरयुक्त होकर रह। ( उत श्वश्र्वाः सम्राज्ञी ) और सास की दृष्टि में भी महाराणी बनकर रह।

या अकृ॑न्तुन्नव॑यु॒न् याश्च॑ तत्नि॒रे या दे॒वीरन्ताँ॑ अ॒भितो॒ऽद॑दन्त।
तास्त्वा॑ ज॒रसे॒ सं व्य॑य॒न्त्वायु॑ष्मती॒दं परि॑ धत्स्व॒ वासः॑ ॥ ४५ ॥

भा०—हे ( आयुष्मति ) दीर्घ आयु वाली श्रीमति ! वरानने ! (याः) जिन साड़ियों को ( देवीः ) घर की उत्तम देवियों ने स्वयं ( अकृन्तन् ) काता, ( अवयन् ) स्वयं बुना, ( याः च ) और जिनको ( तत्निरे ) ताना और ( याः ) जिनके ( अभितः अन्तान् ) दोनों तरफ़ के अंचरों को ( ददन्त ) गांठ देकर बनाया ( ताः ) वे साड़ियाँ ( त्वा ) तुझको ( जरसे ) वृद्धावस्था तक ( सं व्ययन्तु ) आच्छादित करें। हे आयुष्मति ! ( इदं ) यह ( वासः ) वस्त्र ( परिधत्स्व ) पहन ले।

जी॒वं रु॑दन्ति॒ वि न॑यन्त्यध्व॒रं दी॒र्घामनु॒ प्रसि॑तिं दीध्यु॒र्नरः॑।
वा॒मं पि॒तृभ्यो॒ य इ॒दं स॑मीरि॒रे मयः॒ पति॑भ्यो॒ जन॑ये परि॒ष्वजे॑ ॥४६॥

ऋ० १० । ४० । १० ॥

भा०—( जीवं रुदन्ति ) विदाई के अवसर पर लोग अपने प्रेमी जीव के लिये रोया करते हैं। इसी कारण वे ( अध्वरं ) पवित्र यज्ञ कर्म को

---

४५–( प्र० ) ' या अकृन्तत ' ( द्वि० ) ' याश्च देवीस्तन्तू न मितोनतन्थ ' इति पा० गृ० सू०। ' देव्योऽन्तान् ' ( तृ० ) ' तास्त्वादेवीर्जरसा संव्ययस्व ' पा० गृ० सू०, मै० मा०। गृह्यसूत्रेषु ' अभितोऽतन्थ ' इति स पाठः। ' अभितोऽदन्त ' इत्यनुकृत्यमनृतः। 'अभितस्ततन्वे'ति सन्ध्यानुसारः पाठः।

४६–( प्र० ) ' विनयन्ते अध्वरं ' ( द्वि० ) 'दीधियुः' ( तृ० ) ' समेरिरे जनयः ' इति ऋ०।

( वि नयन्ति ) स्पर्श कर देते हैं। ( नरः ) नेता लोग ( दीर्घाम् ) लम्बे दीर्घकाल के लिये लोग ( प्रमितिम् ) भविष्य के फांसे को ( दीध्युः ) विचारा करते हैं। वास्तव में ( ये ) लोग ( पितृभ्यः ) माता पिताओं के लिये ( इदम् ) इस विवाहरूप ( वामम् ) सुन्दर कार्य को ( सम् ईरिरे ) रचते हैं वे ( पतिभ्यः ) पतियों के लिये ( जनये ) अपनी स्त्री के ( परिष्वजे ) आलिंगन का ( मयः ) सुख भी उत्पन्न करते हैं। ऐसे अवसर पर अपने सम्बन्धियों की विदाई के लिये नहीं रोना चाहिये।

स्योनं ध्रुवं प्रजायै धारयामि तेऽश्मानं देव्याः पृथिव्या उपस्थे।
तमा तिष्ठानुमाद्या सुवर्चा दीर्घं त आयुः सविता कृणोतु ॥४७॥

भा०—हे वधु! ( देव्याः ) देवी ( पृथिव्याः ) पृथिवी की ( उपस्थे ) गोद में ( ते ) तेरी ( प्रजायै ) उत्तम प्रजा के लिये ( स्योनं ) सुखकारक ( ध्रुवम् ) स्थिर ( अश्मानं ) शिलाखण्ड को ( धारयामि ) स्थापित करता हूं। ( तम् आतिष्ठ ) उस शिला पर पैर रखकर खड़ी होजा। ( अनुमाद्याः ) तू प्रसन्न हो। ( सुवर्चाः ) उत्तम तेज वाली हो। ( सविता ) सर्वोत्पादक परमेश्वर ( ते आयुः ) तेरी आयु को ( दीर्घम् ) दीर्घ ( कृणोतु ) करे।

येनाग्निरस्या भूम्या हस्तं जग्राह दक्षिणम्।
तेन गृह्णामि ते हस्तं मा व्यथिष्ठा मया सह प्रजया च धनेन च ॥४८॥

भा०—हे वधु! ( येन ) जिस प्रयोजन से ( अग्निः ) अग्नि, राजा ( अस्याः ) इस ( भूम्याः ) भूमि, पृथिवी का ( दक्षिणं हस्तम् ) दायां हाथ ( जग्राह ) स्वयं ग्रहण करता है ( तेन ) उसी प्रयोजन से मैं पति ( ते ) तेरे ( दक्षिणं हस्तं ) दायें हाथ को ( गृह्णामि ) ग्रहण करता हूं। हे वधु!

४७-( प्र० ) 'ध्रुवं स्योनं' ( तृ० ) 'तमारोहानुमाद्यासुवीरा' ( द्वि० ) 'पृथिव्याम्, त्वायुः' इति पैप्प० सं०।

( मा व्यथिष्ठाः ) तू दुःखित मत हो । ( मया सह ) मेरे साथ ( प्रजया ) प्रजा और ( धनेन च ) धन से समृद्ध हो ।

देवस्ते सविता हस्तं गृह्णातु सोमो राजा सुप्रजसं कृणोतु ।
अग्निः सुभगां जातवेदाः पत्ये पत्नीं जरदष्टिं कृणोतु ॥ ४९ ॥

भा०—हे वधु ! ( देवः ) देव, वीर्यदान करने में समर्थ ( सविता ) प्रजा का उत्पादक युवक वर ( ते हस्तं ) तेरे हाथ को ( गृह्णातु ) ग्रहण करे । और ( सोमः ) उत्पादक, ( राजा ) देदीप्यमान कान्तिमान् तेजस्वी पुरुष तुझे ( सुप्रजसम् कृणोतु ) उत्तम प्रजा से युक्त करे । ( जातवेदाः ) विद्वान्, प्रज्ञावान्, ( अग्निः ) ज्ञानप्रकाशक अग्नि=आचार्य ( पत्ये ) पति के लिये ( पत्नीं ) पत्नी को ( सुभगाम् ) सुभगा, सौभाग्यवती और ( जरदष्टिम् ) वृद्धावस्था तक जीवन निर्वाह करने में समर्थ ( कृणोतु ) करे ।

गृह्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः ।
भगो अर्यमा सविता पुरंधिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः ॥५०॥ (५)

ऋ० १० । ८५ । ३६ ॥

भा०—हे वधु ! मैं वर ( ते हस्तम् ) तेरे हाथको ( सौभगत्वाय ) सौभाग्य की वृद्धि के लिये ( गृह्णामि ) ग्रहण करता हूं । ( यथा ) जिससे तू ( मया पत्या ) मुझ पति के साथ ( जरदष्टिः ) जरावस्था तक जीवित ( असः ) रह । ( भगः ) ऐश्वर्यवान्, ( अर्यमा ) न्यायकारी, ( सविता ) सर्वोत्पादक परमेश्वर और तुम्हारे पिता और ( पुरंधिः ) समस्त पुर=पूर्ण जगत् को धारण करने वाला परमेश्वर या ( पुरन्धिः ) ये स्त्रियें और ( देवाः ) ये देव, विद्वान्गण ( त्वा ) तुझको ( गार्हपत्याय ) गृहपति, गृहस्थ के कार्य के लिये ( मह्यम् अदुः ) मुझे सौंपते हैं ।

५०–( प्र० ) 'गृभ्णामि' इति ऋ० । 'सुभगत्वाय' इति आपस्त० ।

भगस्ते हस्तमग्रहीत् सविता हस्तमग्रहीत् ।
पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृहपतिस्तव ॥ ५१ ॥

भा०—हे वधु ! ( ते हस्तम् ) तेरे हाथ को ( भग. ) ऐश्वर्यसम्पन्न युवा ( अग्रहीत् ) ग्रहण करता है । ( सविता ) प्रजा के उत्पादन करने में समर्थ पुरुष ( हस्तम् ) तेरे हाथको ( अग्रहीत् ) ग्रहण करता है । ( त्वम् ) तू ( धर्मणा ) धर्म से मेरी ( पत्नी ) गृहपत्नी है । और ( अहम् ) मैं ( धर्मणा ) धर्म से ( तव ) तेरा ( गृहपति. ) गृहपति, गृहस्वामी हूं ।

ममेयमस्तु पोष्या मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिः ।
मया पत्या प्रजावति सं जीव शरदः शतम् ॥ ५२ ॥

भा०—( मम ) मेरी ( इयम् ) यह वधू ( पोष्या ) पोषण करने योग्य ( अस्तु ) हो । हे वधू ! ( त्वा ) तुझको ( बृहस्पति ) वेद के विद्वान् आचार्य और समस्त संसार के स्वामी परमेश्वरने ( मह्यम् ) मेरे हाथ ( अदात् ) सौंपा है । हे ( प्रजावति ) उत्तम प्रजा उत्पन्न करने में समर्थ भाविनी प्रजावति ! तू ( मया पत्या ) मुझ पति के साथ ( शतम् ) सौ ( शरद ) वर्ष तक ( सं जीव ) भली प्रकार जीवन धारण कर ।

त्वष्टा वासो व्यदधाच्छुभे कं बृहस्पतेः प्रशिषा कवीनाम् ।
तेनेमां नारीं सविता भगश्च सूर्यामिव परि धत्तां प्रजया ॥ ५३ ॥

ऋ० १० । ८५ । खिलेषु ।

---

५१-( प्र० ) ' धाता ते ' ( द्वि० ) 'सविता मे' ( तृ० च० ) 'अग्ने हस्त०, अर्यमाते हस्त० ' इति पैप्प० सं० ।

५२-( तृ० ) ' प्रजावती ' इति क्वचित् । ( प्र० ) ' ध्रुवैधि पोष्ये मयि ' इति ऋ० खिलेषु ।

५३-( तृ० ) ' नार्यं ' इति पैप्प० सं० ।

भा०—( बृहस्पतेः ) महान् ब्रह्माण्ड और वेद के परिपालक परमेश्वर और आचार्य और अन्य ( कवीनाम् ) क्रान्तदर्शी, दीर्घदर्शी विद्वानों की ( प्रशिषा ) आज्ञा से ( त्वष्टा ) शिल्पी ने ( शुभे ) शोभा के लिये ही (वासः) वस्त्र और निवासगृह भी ( व्यदधात् कम् ) बनाये हैं ( तेन ) इसलिये ( सविता ) सर्वोत्पादक और ( भगः च ) ऐश्वर्यवान् प्रभु ( इमां नारीम् ) इस स्त्री को ( सूर्याम् इव ) अपनी जगद्-उत्पादनकारिणी शक्ति के समान ही ( प्रजया ) प्रजा से ( परिधत्ताम् ) युक्त करे ।

इन्द्राग्नी द्यावापृथिवी मातरिश्वा मित्रावरुणा भगो अश्विनोभा ।
बृहस्पतिर्मरुतो ब्रह्म सोमं इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु ॥ ५४ ॥

भा०—(इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्नि, मेघ और अग्नि, विद्युत् (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी ( मातरिश्वा ) आकाश में व्यापक वायु ( मित्रावरुणा ) मित्र और वरुण, प्राण और अपान (भगः) ऐश्वर्यशील, सूर्य, (उभा अश्विना) दोनों अश्विगण, दिन और रात्रि अथवा नर नारी ( बृहस्पतिः ) वेदों का स्वामी परमेश्वर ( मरुतः ) विद्वान् प्रजाएं ( ब्रह्म ) वेद ज्ञान ( सोमः ) उत्पादक यह सोम नामक पति ये सब ( इमाम् नारीम् ) इस स्त्री को ( प्रजया वर्धयन्तु ) प्रजा से बढ़ती दें ।

बृहस्पतिः प्रथमः सूर्यायाः शीर्षे केशाँ अकल्पयत् ।
तेनेमामश्विना नार्रीं पत्ये सं शोभयामसि ॥ ५५ ॥

भा०—( बृहस्पतिः ) ब्रह्माण्ड के स्वामी परमेश्वर ने ( प्रथमः ) प्रथम ही ( सूर्यायाः ) पुत्र प्रसव करने में समर्थ स्त्री-जाति के ( शीर्षे ) शिरपर ( केशान् ) केशों को ( अकल्पयत ) बनाया है । ( तेन ) उस कारण ही

---

५४–( च० ) 'नार्य' इति पैप्प० सं० ।
५५–( प्र० ) 'प्रथमः' इत्यपि क्वचित्, इति ह्विटनिकामितम् ।

हे ( अश्विना ) स्त्री पुरुषो ! ( इमाम् नारीम् ) इस स्त्री को ( पत्ये ) पति के चित्ताकर्षण के लिये हम ( संशोभयामसि ) भली प्रकार सुशोभित करें।

इदं तद्रूपं यदवस्त योषा जाया जिज्ञासे मनसा चरन्तीम्।
तामन्वर्तिष्ये सखिभिर्नवग्वैः क इमान् विद्वान् वि चचर्त पाशान् ॥५६

भा०—( इदम् तत् रूपम् ) यह वह बाह्य सुन्दर रूप है ( यत् ) जिसको ( योषा ) नवयुवती प्रायः ( अवस्त ) धारण किया ही करती है। परन्तु मैं ( मनसा ) सच्चे मनसे ( चरन्तीम् ) सत् आचरण करती हुई ( जायाम् ) अपनी पत्नी को ( जिज्ञासे ) ठीक २ प्रकार से जान लेना चाहता हूं। मैं ( नवग्वैः ) नवीन सुन्दर गति वाले या नवागत ( सखिभिः ) मित्रों सहित ( ताम् ) उसका ( अनु अर्तिष्ये ) अनुगमन करूंगा। उसके पीछे २ जाऊंगा। ( इमान् पाशान् ) इन प्रेम के पाशों को ( कः ) कौन ( विद्वान् ) जानता हुआ ज्ञानी पुरुष ( वि चचर्त ) काट सकता है।

अहं वि ष्यामि मयि रूपमस्या वेददित् पश्यन् मनसः कुलायम्।
न स्तेयमद्मि मनसोदमुच्ये स्वयं श्रथ्नानो वरुणस्य पाशान् ॥५७॥

भा०—( अहम् ) मैं ( अस्याः ) इसके ( रूपम् ) रूपको ( पश्यन् ) देख कर और मैं ( मयि ) अपने में ( अस्याः ) इसके ( मनसः ) चित्तके ( कुलायम् ) विश्रामार्थ बने घोंसले के समान आश्रयस्थान ( वेदत् इत् ) जानता हुआ ही ( विष्यामि ) इसके सम्बन्ध में विविध प्रकार से विचार करता हूं कि मैं ( स्तेयम् ) कभी चुराकर ( न अद्मि ) न खाऊं। मैं ( स्वयं ) अपने आप ( वरुणस्य ) वरुण-राजा के समान श्रेष्ठ पुरुष के ( पाशान् ) पाशों को, व्यवस्था बन्धनों को ( श्रथ्नानः ) अपने ऊपर बांधता

५६-( द्वि० ) 'अनुवर्तिष्ये' इत्यस्य क्वाचित्क संहितापाठः। 'अन्वर्तिष्ये' सन्धिरछान्दस।

५७-( च० ) 'पाशम्' इति पैप्प० सं०।

हुआ ( मनसा उद् अमुच्ये ) अपने चित्त से उसे मुक्त करता हूं, स्वतन्त्र करता हूं। अथवा—( वरुणस्य पाशान् स्वयं श्रथ्नानः ) वरुण परमेश्वर के बनाये दुष्टों को दण्ड देने वाले पाशों को शिथिल करता हुआ अपने को चौर्य आदि पापों से ( उद् अमुच्ये ) मुक्त करता हूं।

प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद् येन त्वाबध्नात् सविता सुशेवाः।
उरुं लोकं सुगमत्र पन्थां कृणोमि तुभ्यं सहपत्न्यै वधु ॥ ५८ ॥

भा०—हे ( वधु ) प्रियतमे वधु ! ( त्वा ) तुझको ( वरुणस्य ) परमात्मा या उत्पादक प्रभु के उस ( पाशात् ) पाश से ( प्र मुञ्चामि ) भली प्रकार मुक्त करूं ( येन ) जिससे ( सुशेवाः ) उत्तम सेवा करने योग्य सुखप्रदाता ( सविता ) उत्पादक प्रभु या पिता ( त्वा अबध्नात् ) तुझे पितृ-ऋण रूप बंधन से बांधता है। ( उरुम् लोकम् ) इस विशाल लोक को और ( अत्र ) इस लोक में विस्तृत ( पन्थाम् ) जीवन-मार्ग को मैं ( सहपत्न्यै ) सहधर्मचारिणी ( तुभ्यम् ) तुझ अपनी स्वामिनी के लिये ( सुगम् ) सुगम, सुख से जाने योग्य ( कृणोमि ) करता हूं।

उद्यच्छध्वमप रक्षो हनाथेमां नारीं सुकृते दधात।
धाता विपश्चित् पतिमस्यै विवेद भगो राजा पुर एतु प्रजानन् ॥ ५९ ॥

भा०—हे वीर पुरुषो ! ( उद् यच्छध्वम् ) अपने शस्त्रों को उठाओ। और ( रक्षः ) राक्षस, दुष्ट पुरुष को ( अप हनाथ ) मार भगाओ। ( इमाम् नारीम् ) इस नारी को ( सुकृते ) पुण्य कार्य या पुण्य पुरुष के हाथ ( दधात ) प्रदान करो। ( विपश्चित् ) ज्ञानवान् बुद्धिमान् ( धाता ) विधाता, पिता ( अस्यै ) इसके योग्य ( पतिम् ) पति को ( विवेद ) जाने, प्राप्त करे। ( भगः ) ऐश्वर्यवान् ( राजा ) चित्तको अनुरंजन करने में समर्थ

५८—' इमां विष्यामि वरुणस्य पाशं तेन त्वा ' ( तृ० ) 'सुगमिन' ( च० ) ' सहपत्नी वधूः ' इति पैप्प० सं०।

( प्रजानन् ) ज्ञानी पुरुष ( पुरः एतु ) कन्या का पाणिग्रहण करने के लिये आगे आवे ।

भगस्ततक्ष चतुरः पादान् भगस्ततक्ष चत्वार्युष्पलानि ।
त्वष्टा पिपेश मध्यतोनु वर्ध्रान्त्सा नो अस्तु सुमङ्गली ॥ ६० ॥

भा०—( भगः ) ऐश्वर्यवान् पुरुष इस पलंग के ( चतुरः पादान् ) चारों पैरों को ( ततक्ष ) गढ़ता या गढ़वाता है और ( भगः ) ऐश्वर्यवान् पुरुष ही ( चत्वारि ) चार ( उष्पलानि-उपदानि ) पायों पर लगने वाले दयड़ों को ( ततक्ष ) बनवाता है । ( त्वष्टा ) शिल्पी पुरुष ( मध्यतः अनु ) बीच के ( वर्ध्रान् ) रस्सियों को ( पिपेश ) सुन्दर २ बनाता है । ( सा ) वह नववधू ( सुमङ्गली ) शुभ मङ्गल वस्त्र धारण करती हुई ( नः ) हमारे सौभाग्य के लिये ( अस्तु ) हो ।

सुकिंशुकं वहतुं विश्वरूपं हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रम् ।
आ रोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पतिभ्यो वहतुं कृणु त्वम् ॥६१॥
ऋ० १० । ८५ । २० ॥

भा०—हे ( सूर्ये ) सावित्रि ! सूर्य ! कन्ये ! ( सुकिंशुकम् ) उत्तम उत्तम बनावटी मोर आदि पक्षियों की आकृति से सुसज्जित, ( विश्वरूपं ) नाना प्रकार के, ( हिरण्यवर्णम् ) सुवर्ण के रंग के सुनहरे, ( सुवृतम् ) सुंदर बने हुए ( सुचक्रम् ) उत्तम चक्रों से युक्त ( वहतुम् ) रथ पर ( आरोह ) चढ़ । और ( पतिभ्यः ) पतियों और देवरों के लिये ( त्वम् ) तू ( वहतुम् )

६०–( द्वि० ) 'चत्वार्युष्पदानि' ( तृ० ) 'मध्यतो वर्ध्राम्' इति पैप्प० सं० । 'उष्पलानि' इति ह्विटनिकामितः ।

६१–( प्र० ) 'सुकिंशुक शल्मलीम्' ( च० ) 'पतये वहतुं कृणुष्व' इति पैप्प० सं० । ( द्वि० ) 'सुवर्णवर्णं सुवृत', 'अमृतस्य नाभिम्' इति मै० ब्रा० । ( तृ० ) 'सुकृतस्य लोके' इति पैप्प० सं० ।

इस रथको ( अमृतस्य लोकं ) अमृत के लोक के समान ( स्योनम् ) सुख-कारी बना ।

अभ्रातृघ्नीं वरुणापशुघ्नीं बृहस्पते ।

इन्द्रापतिघ्नीं पुत्रिणीमास्मभ्यं सवितर्वह ॥ ६२ ॥

भा०—हे ( वरुण ) वरुण ! परमेश्वर ! हे ( बृहस्पते ) बृहस्पते, विश्व-पते ! हे इन्द्र ! हे ( सवितः ) जगत् उत्पादक परमेश्वर ( अस्मभ्यम् ) हमारे लिये इस वधू को ( अभ्रातृघ्नीम् ) भ्राता का नाश न करने वाली ( अप-शुघ्नीम् ) पशुओं का नाश न करने वाली और ( अपतिघ्नीम् ) पति का नाश न करने वाली ( पुत्रिणीम् ) पुत्र संतान वाली बना कर ( अस्मभ्यं वह ) हमें प्राप्त करा ।

मा हिंसिष्टं कुमार्यं स्थूणे देवकृते पथि ।

शालाया देव्या द्वारं स्योनं कृण्मो वधूपथम् ॥ ६३ ॥

भा०—हे स्त्री पुरुष ! ( कुमार्यम् ) कुमारी कन्या को ( देवकृते ) देव, परमेश्वर के बनाये ( स्थूणे ) इस स्थिर ( पथि ) संसार-मार्ग में ( मा हिंसिष्टम् ) मत मारो । हम लोग ( देव्याः शालायाः ) दिव्यगुण से युक्त शाला के ( द्वारम् ) द्वार को और ( वधूपथम् ) नववधू के मार्ग को भी ( स्योनम् कृण्मः ) सदा सुखकारी शान्तिमय बनाया करें ।

ब्रह्मापरं युज्यतां ब्रह्म पूर्वं ब्रह्मान्ततो मध्यतो ब्रह्म सर्वतः ।

अनाव्याधां देवपुरां प्रपद्य शिवा स्योना पतिलोके वि राज ॥६४॥ (६)

भा०—( अपरम् ) पश्चात् भी ( ब्रह्म ) वेदविहित कर्म ( युज्यताम् ) हुआ करे । ( पूर्वम् ब्रह्म ) पहले भी ब्रह्म=वैदिक कर्म या वेदपाठ हो

६२–( द्वि० ) 'अपतिघ्नीं' ( तृ० च० ) 'इन्द्रापुत्रिणीं लक्ष्मन्तं वानस्यै सवितः सुव' इति आपस्त० ।

( अन्ततः ब्रह्म ) अन्त में भी ब्रह्म=वेदपाठ हो ( मध्यतः ब्रह्म, सर्वतः ब्रह्म ) बीच में और सब समय में वेदपाठ हो । ( अनाव्याधाम् ) पीड़ा, हिंसा आदि कष्टों से रहित ( देवपुराम् ) विद्वान् श्रेष्ठ पुरुषों की नगरी को ( प्रपद्य ) प्राप्त होकर ( पतिलोके ) पतिलोक में ( शिवा ) शुभ कल्याणकारिणी और ( स्योना ) सबको सुखकारिणी होकर ( विराज ) पतिगृह में मानपूर्वक निवास कर ।

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

[ तत्रैकं सूक्तम्, चतुःषष्टिश्च ऋचः । ]

## [ २ ] पति पत्नी के कर्त्तव्यों का वर्णन ।

सावित्री सूर्या ऋषिका । सूर्य स्वयमात्मतया देवता । [ १० यक्ष्मनाशन, ११ दम्पत्योः परिपन्थिनाशन ], ५, ६, १२, ३१, ३७, ३९, ४० जगत्यः, [ ३७, ३९ भुरिक् त्रिष्टुभौ ], ९ व्यवसाना षट्पदा विराड् अत्यष्टिः, १३, १४, १७–१९, [ ३५, ३६, ३८ ], ४१, ४२, ४६, ६१, ७०, ७४, ७५ त्रिष्टुभः, १५, ५१ भुरिजौ, २० पुरस्ताद् बृहती, २३, २४, २५, ३२ पुरोबृहती, २६ त्रिपदा विराड् नामगायत्री, ३३ विराड् आस्तारपङ्क्तिः, ३५ पुरोबृहती त्रिष्टुप्, ४३ त्रिष्टुब्गर्भा पङ्क्तिः, ४४ प्रस्तारपङ्क्तिः, ४७ पथ्याबृहती, ४८ सतः पङ्क्तिः, ५० उपरिष्टाद् बृहती निचृत्, ५२ विराट् परोष्णिक्, ५९, ६०, ६२ पथ्यापङ्क्तिः, ६८ पुरोष्णिक्, ६९ त्र्यवसाना षट्पदा अतिशक्वरी, ७१ बृहती, १–४, ७–११, १६, २१, २२, २७–३०, ३४, ४५, ४९, ५३–५८, ६३–६७, ७२, ७३ अनुष्टुभः । पञ्चसप्तत्यृचं सूक्तम् ॥

तुभ्यमग्ने पर्यवहन्त्सूर्यां वहतुना सह ।
स नः पतिभ्यो जायां दा अग्ने प्रजया सह ॥ १ ॥

ऋ० १० । ८५ । ३८ ॥

[ २ ] १–( द्वि० ) 'पुनः' इति ऋ०, पैप्प० सं० ।

भा०—हे ( अग्ने ) ज्ञानवान् परमेश्वर ! और आचार्य ( तुभ्यम् अग्रे ) तेरे समक्ष हम युवक लोग ( वहतुना सह ) दहेज और रथ के सहित ( सूर्याम् ) वरणीय सवित्री कन्या को ( परि अवहन् ) परिणय करते हैं। ( सः ) वह तू ( नः पतिभ्यः ) हम पतियों को ( प्रजया सह ) प्रजा सहित ( जायाम् ) स्त्री, पत्नी को ( दाः ) प्रदान कर।

'सूर्याम्' 'जायाम्', 'पतिभ्यः' इत्याद्येकवचन बहुवचनं जात्याख्यायाम्।

पुनः पत्नीमग्निरदादायुषा सह वर्चसा।
दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवाति शरदः शतम् ॥ २ ॥

ऋ० १० । ८५ । ३९ ॥

भा०—( पुनः ) कन्या के पिता के देने के उपरान्त भी ( पत्नीम् ) पत्नी को ( अग्निः ) ज्ञानी पुरोहित और परमेश्वर ( आयुषा वर्चसा सह ) आयु और तेजः सहित ( अदाद् ) कन्या को प्रदान करता है। ( अस्याः ) इसका ( यः पतिः ) जो पति है वह ( दीर्घायुः ) दीर्घ आयु वाला होकर ( शतं शरदः ) सौ बरसों तक ( जीवाति ) जीवे।

सोमस्य जाया प्रथमं गन्धर्वस्तेऽपरः पतिः।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ॥ ३ ॥

ऋ० १० । ८५ । ४० ॥

भा०—( प्रथमम् ) पहले ( जाया ) स्त्री ( सोमस्य ) सोम की होती है। हे जाये ! ( ते ) तेरा ( अपरः ) दूसरा ( पतिः ) पति ( गन्धर्वः ) गन्धर्व है। और ( ते ) तेरा ( तृतीयः पतिः ) तीसरा पति ( अग्निः ) अग्नि है। और ( मनुष्यजाः ) मनुष्यों से उत्पन्न पति ( तुरीय ) चौथे नम्बर पर हैं।

३–( प्र० द्वि० ) 'सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः' इति ऋ०। तत्र ऋ० ( च० ) 'तुरीयोदं मनुष्यजाः' इति पा० गृ० सू०।

महर्षि दयानन्द के मत में—स्त्री का प्रथम पति 'सोम', दूसरा नियोगज 'गन्धर्व', तीसरा नियोगज 'अग्नि' और शेष सब चौथे से लकर ११ वें तक नियुक्तपति 'मनुष्य' नाम से कहाते हैं [ सत्यार्थ समु० ४ ]

याज्ञवल्क्यस्तु—सोम शौचं ददावासां गन्धर्वश्च शुभां गिरम् ।
पावकः सर्वमेध्यत्वम् मेध्या वै योषितो ह्यतः ॥

तत्र मिताक्षरा—परिणयनात् पूर्वं सोमगन्धर्ववह्नयः स्त्रीर्भुक्त्वा तासां शौचमधुरवचनसर्वमेध्यत्वानि दत्तवन्तः । तस्मात्स्त्रियः स्पर्शालिङ्गनादिषु मेध्याः शुद्धाः स्मृताः ।

वसिष्ठस्मृतिश्च—पूर्वं स्त्रियः सुरैर्भुक्ताः सोमगन्धर्ववह्निभिः ।
गच्छन्ति मानुषान् पश्चात् नैता दुष्यन्ति धर्मतः ॥
तासां सोमो ददच्छौचं गन्धर्वः शिक्षितां गिरम् ।
अग्निश्च सर्वभक्षत्वं तस्मान्निष्कल्मषाः स्त्रियः ॥
( २८ । ५, ६ )

आठ वर्ष तक सोम भोगता है, रजोदर्शन के पूर्व तक गन्धर्व और रजोदर्शन में अग्नि भोगता है । फलतः स्त्री शरीर में जल, वायु, अग्नि तीनों तत्वों के विशेष योग को सोम, गन्धर्व और अग्नि देवों का भोग कहा है । नियोग पक्ष में—महर्षि दयानन्द का अभिप्राय भी स्पष्ट है ।

सोमो ददद् गन्धर्वाय गन्धर्वो दंदुग्नये ।
र॒यिं च॑ पु॒त्रांश्चा॑दाद॒ग्निर्मह्य॒मथो॑ इ॒माम् ॥ ४ ॥
ऋ० १० । ८५ । ४१ ॥

भा०—( सोमः ) सोम कन्या को ( गन्धर्वाय ददद् ) गन्धर्व के हाथ प्रदान करता है । ( गन्धर्वः ) गन्धर्व ( अग्नये ददद् ) उसे अग्नि के हाथ

४—' सोमोऽददद्गन्धर्वाय गन्धर्वोऽग्नये ददात् । रयिञ्च पुत्रांश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम् ' इति मै० सा० ।

प्रदान करता है ( अग्निः ) अग्नि ( रयिम् ) वीर्य या रज और पुत्रों को ( ददद् ) प्रदान करता हुआ ( इमाम् ) इस कन्या को ( अथो ) तदनन्तर ( मह्यम् अदाद् ) मुझ पति को प्रदान करता है ।

आ वा॑मगन्त्सुम॒तिर्वा॑जिनीवसू॒ न्य॑श्विना हृ॒त्सु कामा॑ अरंसत ।
अभू॑तं गो॒पा मि॑थु॒ना शु॑भस्पती प्रि॒या अ॑र्य॒म्णो दुर्याँ॑ अशीमहि ॥५॥
ऋ० १० । ४० । १२ ॥

भा०—( सुमतिः ) उत्तम मति ( वाम् ) तुम दोनों स्त्री पुरुषों को ( आ अगन् ) प्राप्त हो । हे ( अश्विनौ ) पति पत्नी, स्त्री पुरुष ! आप दोनों ( वाजिनीवसू ) वाजिनी—वीर्यशक्ति को धन के समान सञ्चय कर वीर्यवान् होकर ( शुभःपती ) शोभा, अपनी शरीर की सुन्दरता की रक्षा करते हुए, ( गोपा ) अपनी इन्द्रियों की रक्षा करते हुए ( मिथुना ) परस्पर संयुक्त, जोड़ा होकर गृहस्थ के मैथुन धर्म से ( अभूतम् ) रहो । और हम सब लोग ( अर्यम्णः ) श्रेष्ठ राजा और परमेश्वर के ( प्रियाः ) प्रिय होकर ( दुर्यान् ) गृहों के सुखों का ( अशीमहि ) भोग करें ।

सा म॑न्द॒साना मन॑सा शि॒वेन॑ र॒यिं धे॑हि॒ सर्व॑वीरं वच॒स्य॑म् ।
सु॒गं ती॒र्थं सु॑प्रपा॒णं शु॑भस्पती स्था॒णुं प॑थि॒ष्ठामप॑ दुर्म॒तिं ह॑तम् ॥६॥
ऋ० १० । ४० । १३ ॥

भा०—( सा ) वह स्त्री ( शिवेन ) सुखी, कल्याण से पूर्ण ( मनसा ) चित्त में (मन्दसाना) स्तुति और गुणानुवाद करती हुई ( वचस्यम् ) प्रशंसनीय ( सर्ववीरं ) समस्त पुत्रों से युक्त ( रयिम् ) बल और धन को ( धेहि )

५–' अरंसत ' इति ऋ० ।
६–( प्र० द्वि० ) ' ता मन्दसाना मनुषोदुरोण आधत्तंरयि सहवीरं वचस्यवे ' ( तृ० ) ' कृतं तीर्थं ' ( च० ) ' पथेष्ठाम् ' इति ऋ० । तत्रैव ( द्वि० ) ' दशवीरं ' इति आपस्त० ।

धारण करो। हे ( शुभस्पती ) नगर की शोभा युक्त पदार्थों के स्वामी स्त्री पुरुषो ! आप दोनों ( तीर्थं सुगम् ) सुख से विहार करने योग्य जलाशय और ( सुप्रपाणम् ) सुख से जलपान करने योग्य घाट बनवाओ और ( पथिष्ठाम् ) मार्ग में खड़े ( स्थाणुम् ) वृक्षों को लगवाओ और ( दुर्मतिम् ) दुष्ट बुद्धि या दुःख के अनुभव को, शरीर के, दुःख की दशा को ( हतम् ) दूर करो।

या ओषधयो या नद्यो३ यानि क्षेत्राणि या वना।
तास्त्वा वधु प्रजावतीं पत्ये रक्षन्तु रक्षसः ॥ ७ ॥

भा०—( या ओषधयः ) जितनी ओषधियां हैं, ( याः नद्यः ) जो नदियां हैं, ( यानि क्षेत्राणि ) जितने क्षेत्र हैं, ( या वनानि ) जितने वन हैं ( ताः ) वे सब हे वधु ! ( पत्ये ) पति के हित के लिये ( प्रजावतीं त्वाम् ) प्रजा से युक्त गर्भिणी तुझको ( रक्षसः ) विघ्नकारी, गर्भोपघातक दुष्ट पुरुष और बाधक कारण से ( रक्षन्तु ) रक्षा करें।

एमं पन्थामरुक्षाम सुगं स्वस्तिवाहनम्।
यस्मिन् वीरो न रिष्यत्यन्येषां विन्दते वसु ॥ ८ ॥

भा०—हम लोग ( इमं पन्थाम् ) इस मार्ग को ( आरुक्षाम् ) प्राप्त करें, उसपर चलें जो ( सुगम ) सुख से चलने योग्य और ( स्वस्तिवाहनम् ) जिसपर सुख से रथ, घोड़े और हाथी आदि चल सकें। ( यस्मिन् ) जिस में ( वीरः ) वीर्यवान् पुरुष, राजा ( न रिष्यति ) कभी क्लेश नहीं पाता प्रत्युत ( अन्येषां ) औरों के ( वसु ) धन आदि सम्पत्ति और आवास योग्य गृह आदि पर भी ( विन्दते ) अधिकार प्राप्त करता है।

---

७–'यानि धन्वानि ये वनाः' ( च० ) 'प्रन्येभुम्चत्वंहसः' इति आपस्त०।

८–( प्र० द्वि० ) 'सुगं पन्थानमारुक्षामरिष्टं स्वास्ति-' इति आपस्त०।

इदं सु मे नरः शृणुत ययाशिषा दंपती वाममंश्नुतः ।
ये गन्धर्वा अप्सरसंश्च देवीरेषु वानस्पत्येषु येधि तस्थुः ।
स्योनास्ते अस्यै वध्वै भवन्तु मा हिंसिषुर्वहतुमुह्यमानम् ॥ ९ ॥

भा०—हे ( नरः ) नेता पुरुषो ! ( मे ) मेरा ( इदम् ) यह प्रार्थना वचन ( सु शृणुत ) भली प्रकार सुनो । ( यया ) जिस ( आशिषा ) आशीर्वाद या आशा से ( दम्पती ) स्त्री पुरुष, वर वधू ( वामम् ) रमणीय, धनको सुखपूर्वक ( अश्नुतः ) भोग करते हैं । ( ये ) जो ( गन्धर्वाः ) पृथ्वी या वाणी के धारण करनेहारे पुरुष और ( देवीः अप्सरसश्च ) उत्तम ज्ञानपूर्ण देवी, स्त्रियां ( एषु ) इन ( वानस्पत्येषु ) वनस्पतियों से पूर्ण जंगलों में ( अधितस्थुः ) अधिकारी रूप से रहते हैं अथवा—( गन्धर्वाः अप्सरसः च ) पुरुष और स्त्रियां जो ( वानस्पत्येषु अधितस्थुः ) वृक्ष और लता के समान परस्पर मिलकर घर बना कर रहते हैं । ( ते ) वे (अस्यै) इस ( वध्वै ) नव वधू के लिये ( स्योनाः भवन्तु ) सुखकारी हों वे ( उह्यमानम् ) उठाकर ले जाये जाते हुए, गुजरते हुए ( वहतुम् ) दहेज या रथ को ( मा हिंसिषुः ) विनाश न करें, न लूटें पाटें ।

ये वध्व/श्चन्द्रं वंहतुं यक्ष्मा यन्ति जनाँ अनुं ।
पुनस्तान् यज्ञिया देवा नयन्तु यत आगताः ॥ १० ॥ ( ७ )

ऋ० । १० । ८५ । ३१ ॥

भा०—( ये ) जो ( यक्ष्माः ) पूजा करने योग्य, आदर सत्कार के योग्य अतिथि लोग ( जनान् अनु ) सर्वसाधारण मनुष्यों के साथ २ ( वध्वः ) नववधू के ( चन्द्रम् ) आह्लादकारी ( वहतुम् ) रथ या दहेज को

९-( च० ) 'एषु वृक्षेषु वानस्पत्येष्वासते' ( पं० ) 'शिवास्ते', ( प० ) 'उह्यमानम्' इति आप० ।

१०-( द्वि० ) 'जनाननु' इति ऋ० ।

देखने के लिये ( यन्ति ) आवें ( तान् ) उनको ( यज्ञियाः देवाः ) यज्ञ, विवाह कृत्य के करने वाले विद्वान् ब्राह्मण या रक्षक लोग ( पुनः ) फिर ( नयन्तु ) आदर सत्कार से उसी स्थान पर पहुंचा दें ( यत आगताः ) जहां से वे पधारे हों।

यज्ञ='जन्ज'=विवाह की बारात। 'यज्ञिया देवाः'=बारात के रक्षक लोग।

मा विदन् परिपन्थिनो य आसीदन्ति दंपती ।
सुगेन दुर्गमतीतामप द्रान्त्वरातयः ॥ ११ ॥

ऋ० १० । ८५ । ३२ ॥

भा०—( ये ) जो ( परिपन्थिनः ) मार्ग के चोर, लुटेरे लोग ( आसीदन्ति ) समीप आकरके वे ( दम्पती ) पति पत्नी वरवधू को ( मा विदन् ) जान भी न पावें। ( दम्पती ) वर वधू दोनों ( सुगेन ) उत्तम मार्ग से ( दुर्गम् ) दुर्गम वन पर्वत के प्रदेश को ( अति इताम् ) पार कर जाय। और ( अरातयः ) शत्रु लोग ( अप द्रान्तु ) दूर भाग जाय।

सं काशयामि वहतुं ब्रह्मणा गृहैरघोरेण चक्षुषा मित्रियेण ।
पर्याणद्धं विश्वरूपं यदस्ति स्योनं पतिभ्यः सविता तत् कृणोतु ॥१२॥

भा०—मैं ( वहतुम् ) वधू के रथ और दहेज को ( गृहैः ) घरों या घरके पुरुषों को ( अघोरेण ) अघोर=सौम्य और ( मित्रियेण ) मित्रता या स्नेह से भरे ( चक्षुषा ) चक्षु से ( सं काशयामि ) दिखलाऊं। ( यत् ) जो ( विश्वरूपम् ) नाना प्रकार के आभूषणादि पदार्थ ( पर्याणद्धम् ) चारों तरफ सुसम्बद्ध रूप में बंधा या पहना है उसको ( सविता ) सर्वोत्पादक

११-( द्वि० ) 'सुगेभिः' इति ऋ० ।
१२-( च० ) 'कृणोतु तत्' इति पैप्प० सं० । ( द्वि० ) 'चक्षुषा मैत्रेण' ( तृ० ) 'यदस्याम्' इति मारत्त० ।

परमेश्वर ( पतिभ्यः ) पति और उसके भाई देवरों के लिये ( स्योनं ) सुखकारी ( कृणोतु ) करे ।

शिवा नारीयमस्तमागन्निमं धाता लोकमस्यै दिदेश ।
तामर्यमा भगो अश्विनोभा प्रजापतिः प्रजया वर्धयन्तु ॥१३॥

भा०—( नारी ) नारी, स्त्री ( शिवा ) कल्याणकारिणी होकर ( इमम् ) इस ( अस्ताम् ) गृह को ( आगन् ) आवे ( धाता ) धारण पोषणकर्त्ता परमेश्वर ( अस्यै ) इस वधू के लिये ( इमं लोकम् ) इस लोक को (दिदेश) नियत करता है । ( अर्यमा ) न्यायकारी परमेश्वर या राजा ( भगः ) ऐश्वर्यवान् धनाढ्य पुरुष और ( उभा ) दोनों ( अश्विना ) स्त्री पुरुष लोग और ( प्रजापतिः ) प्रजा का पालक, स्वामी परमेश्वर ( ताम् ) उस वधू को ( प्रजया ) उत्तम प्रजा से ( वर्धयन्तु ) बढ़ावें, बढ़ने दे ।

आत्मन्वत्युर्वरा नारीयमागन् तस्यां नरो वपत बीजमस्याम् ।
सा वः प्रजां जनयद् वक्षणाभ्यो बिभ्रती दुग्धमृषभस्य रेतः ॥१४॥

भा०—( आत्मन्वती ) सुदृढ़ शरीर वाली ( उर्वरा ) पुत्रोत्पादन करने में अति उत्तम, भूमिस्वरूप ( इयम् ) यह ( नारी ) स्त्री ( आगन् ) तुम्हें प्राप्त हो । हे ( नरः ) पुरुषो ! तुम लोग ( अस्याम् ) इस प्रकार की सुदृढ़ शरीर वाली, उर्वरा, सन्तानोत्पादन में समर्थ, उत्तम उपजाऊ भूमि में ( बीजम् ) बीज ( वपत ) बोओ । ( सा ) वह ( वः ) तुम्हारे लिये ही ( ऋषभस्य ) वीर्यवान् श्रेष्ठ पुरुष के ( दुग्धम् ) पूर्ण निषिक्त ( रेतः ) वीर्य को ( बिभ्रती ) धारण करती हुई ( वक्षणाभ्यः ) वक्षणा, कोखों से ( प्रजां ) प्रजा को ( जनयत् ) उत्पन्न करे ।

क्षेत्रभूता स्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान् ।
क्षेत्रबीजसमायोगात्सम्भवः सर्वदेहिनाम् ॥ मनु० ९ । ३३ ॥

नारी क्षेत्र है, पुरुष बीज है। क्षेत्र और बीज के योग से सब प्राणियों की उत्पत्ति होती है। कुरान में—"तुम्हारी बीवियां तुम्हारी खेतियां हैं"। ( २ । २२३ )

प्रति तिष्ठ विराडसि विष्णुरिवेह सरस्वति।
सिनीवालि प्र जायतां भगस्य सुमतावसत् ॥ १५ ॥

भा०—हे ( सरस्वति ) सरस्वति ! स्त्री ! तू ( प्रति तिष्ठ ) प्रतिष्ठा को प्राप्त हो। तू ( विराड् असि ) साक्षात् विराड् विशेष रूप से शोभा देने वाली द्यौलोक या पृथिवी के समान है। और हे पुरुष ! ( इह ) इस स्त्री के प्रति तू भी ( विष्णुः इव ) विष्णु, व्यापक सूर्य के समान है। हे ( सिनी-वालि ) सिनीवालि, स्त्री ! ( प्रजायताम् ) सुख से तेरी सन्तान उत्पन्न हो और तू ( भगस्य ) ऐश्वर्यवान् पति के ( सुमतौ ) शुभ मति या आज्ञा में ( असत् ) रह।

योषा वै सिनीवाली। श० ६। ५। १। १० ॥ योषा वै सरस्वती वृषा पूषा। श० २। ५। १। ११ ॥ 'प्रजायताम्' 'असत्' इति वचन-व्यत्ययः।

उद् व ऊर्मिः शम्या हन्त्वापो योक्त्राणि मुञ्चत।
माऽदुष्कृतौ व्येनसावघ्न्यावशुनमारताम् ॥ १६ ॥

ऋ० ३। ३३। १३ ॥

भा०—हे ( शम्याः आपः ) शान्त गुणों से युक्त, शम साधन से सम्पन्न, शान्तिकारक आप्त पुरुषो ! ( वः ) आप लोगों का ( ऊर्मिः ) ऊपर उठने का उत्साह ( उत्-हन्तु ) ऊपर को बढ़े। आप लोग ( योक्त्राणि ) निन्दित कार्यों को ( प्रमुञ्चत ) छोड़ दो या छुड़ाओ। हे स्त्री पुरुष !

१६–( च० ) 'व्येनाघ्न्यौशूनमारताम्' इति ऋ०। ऋग्वेदे विश्वामित्र ऋषिर्नद्यो देवता।

तुम दोनों ( अदुष्कृतौ ) दुष्ट कर्मों से रहित ( वि-एनसौ ) पाप से रहित निष्पाप रहते हुए ( अघ्न्यौ ) कभी भी मारने या दण्ड देने योग्य न होकर ( अशुनम् ) असुख, दुःखदायी क्लेश को ( मा आ अरताम् ) कभी प्राप्त न होओ ।

अघो॑रचक्षुरप॑तिघ्नी स्यो॒ना श॒ग्मा सु॒शेवा॑ सु॒यमा॑ गृ॒हेभ्यः॑ ।
वी॒र॒सूर्दे॒वृका॑मा॒ सं त्वयै॑धिषीमहि सु॒मन॒स्यमा॑ना ॥ १७ ॥

ऋ० १० । ८५ । ४४ ॥

भा०—हे नववधु ! तू ( गृहेभ्यः ) हमारे गृहवासियों के लिये ( अघोर-चक्षुः ) घोर=क्रूर चक्षु से रहित, सौम्य दृष्टि से सम्पन्न ( अपतिघ्नी ) पति को नाश न करनेहारी, पति के प्रति प्रेमयुक्त ( स्योना ) सुखदायिनी ( सुशेवा ) उत्तम सेवा करनेहारी, ( सुयमा ) उत्तम रूप से नियम व्यवस्था में रहने और गृह को उत्तम नियम व्यवस्था में रखनेहारी ( वीरसूः ) वीर बालकों को उत्पन्न करने वाली ( देवृकामा ) पति से उतर कर देवर को सन्तान निमित्त चाहने वाली ( सुमनस्यमाना ) उत्तम चित्त वाली हो । ( त्वया ) तुझ से हम लोग ( सम् एधिषीमहि ) अच्छी प्रकार प्रजा, धन और सुख से सम्पन्न हों ।

अदे॑वृघ्न्यप॑तिघ्नीहैधि॑ शि॒वा प॒शुभ्यः॑ सु॒यमा॑ सु॒वर्चाः॑ ।
प्र॒जाव॑ती वीर॒सूर्दे॒वृका॑मा स्यो॒नेमम॒ग्निं गार्ह॑पत्यं सपर्य ॥ १८ ॥

ऋ० १० । ८५ । ४४ ॥

---

१७, १८–( च० ) 'स्योनान्त्वेधिषीमहि सुमनस्यमानाः' इति पैप्प० सं० । 'अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः । वीरसूर्देवृकामा स्योना शंनो भवद्विपदे शं चतुष्पदे' इति ऋ० । ( तृ० ) 'देवृकामा, देवकामा' इत्युभयथा पाठौ । गृह्यसूत्रेषु अघोरचक्षुः पाठः प्रायिकः ।

भा०—हे नववधु ! तू (अदेवृघ्नी अपतिघ्नी) देवर और पति को विनाश न करनेहारी होकर (इह एधि) इस घर में आ। और (पशुभ्यः) पशुओं के (सुयमा) उत्तम रीति से दमन करने वाली (सुवर्चाः) उत्तम तेजस्विनी और (शिवा) सुखकारिणी (प्रजावती) प्रजा से युक्त, (वीरसूः) वीर बालकों को प्रसव करनेवाली (देवृकामा) पति से सन्तान के अभाव में देवर की कामना करने वाली होकर (गार्हपत्यम्) गृहपति स्वरूप (अग्निम्) अपने गृहस्थ के नेता पति को (सपर्य) गार्हपत्याग्नि देव के समान ही पूजा कर।

'देवृकामा'—देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ्नियुक्तया।
प्रजेप्सिताधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये ॥ मनु० ९ । ५९ ॥
यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः।
तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः ॥ मनु० ९ । ६९ ॥

पाणिग्राह पति की सन्तान के नाश हो जाने पर नियोग विधि से देवर, तदभाव में सपिण्ड पुरुष से स्त्री सन्तान प्राप्त करे। वाणी से प्रतिज्ञा मन्त्रों द्वारा पति को मर लेने पर भी नियोग विधि से ही देवर उस कन्या को स्वीकार करे।

उत्तिष्ठेतः किमिच्छन्तीदमागा अहं त्वेडे अभिभूः स्वाद् गृहात्।
शून्यैषी निर्ऋते याजगन्थोत्तिष्ठाराते प्र पत मेह रंस्थाः ॥ १९ ॥

भा०—हे अलक्ष्मि ! (उत् तिष्ठ) तू उठ खड़ी हो। बतला (किम् इच्छन्ती) क्या चाहती हुई तू (इदम् आगाः) इस घर में आयी है। (अहम्)

१९–(द्वि०) 'याजगन्थ' इति क्वचित्। (प्र०) 'उत्तिष्ठातः किम्, आगाह त्वे', 'अयन्ते' इति पैप्प० सं०। 'त्वा। ईडे' इति क्विनिसम्मतः पदच्छेदः।

में ( अभिभूः ) सामर्थ्यवान् पुरुष ( स्वात् गृहात् ) अपने घर से ( त्वा ) तुझे ( ईडे ) बाहर करता हूं। हे ( निर्ऋते ) पापरूप ( या ) जो तू ( शून्यैषी ) गृह को सूना करना चाहती हुई, घरको उजाड़ कर देने की इच्छा करती हुई ( आजगन्थः ) आई है, तो हे ( अराते ) आदानशील! अरमण-स्वभावे! अलक्ष्मि ( उत्-तिष्ठ ) उठ, तू ( प्र पत ) परे भाग। ( इह मा रंस्थाः ) यहां मौज मत कर, यहां मत रह। नववधूरूप गृहलक्ष्मी को प्राप्त करके घरमें से अलक्ष्मी को दूर करना उचित है।

यदा गार्हपत्यमसंपर्यैत पूर्वमग्निं वधूरियम्।
अधा सरस्वत्यै नारि पितृभ्यश्च नमस्कुरु ॥ २० ॥ ( ८ )

भा०—( यदा ) जब ( इयम् वधूः ) यह नववधू ( गार्हपत्यम् ) गार्हपत्य ( अग्निम् ) अग्नि को ( असपर्यैत् ) सेवा करती है ( अधा ) तब ही हे ( नारि ) स्त्री! तू ( सरस्वत्यै ) सरस्वती, वेदवाणी का पाठ कर और ( पितृभ्यः च ) और घर के वृद्ध पालक पिता आदि को भी ( नमः कुरु ) नमस्कार किया कर अर्थात् नववधू अग्निहोत्र के पश्चात् ही वेद का स्वाध्याय और वृद्धों को नमस्कार किया करे।

शर्म वर्मैतदा हरास्यै नार्या उपस्तरे।
सिनीवालि प्र जायतां भगस्य सुमतावसत् ॥ २१ ॥
उत्तरार्धः अथर्व० १४ । २ । १५ । तृ० च० ॥

भा०—हे पुरुष वर! ( अस्यै ) इस ( नार्यै ) स्त्री के लिये ( शर्म ) सुखदायक और ( वर्म ) कष्ट के निवारक ( एतत् ) यह सब पदार्थ ( उपस्तरे ) विस्तर पर ओढ़ने बिछाने के लिये ( आ हर ) ले आ, उपस्थित कर। हे ( सिनीवालि ) स्त्रीजनो! यह वधू ( प्र जायताम् ) उत्तम रीति से

२१–( द्वि० ) 'नार्या उपस्तिरे' इति ह्विटनिकामितः।

पुत्र उत्पन्न करे और ( भगस्य ) ऐश्वर्यशील पति के ( सुमतौ ) उत्तम मति के अधीन ( असत् ) रहे ।

य बल्वजं न्यस्यथ चर्म चोपस्तृणीथन ।
तदा रोहतु सुप्रजा या कन्या विन्दते पतिम् ॥ २२ ॥

भा०—( यम् ) जिस ( बल्वजम् ) बल्वज नामक घास को ( न्यस्यथ ) नीचे बिछाती हो । ( अथ ) और उसके ऊपर ( चर्म च ) चर्म भी ( उपस्तृणीथन ) बिछा देती हो ( तद् ) उस पर ( या कन्या ) जो कन्या ( पतिम् ) पति को ( विन्दते ) वरती है वह ( सुप्रजा ) उत्तम प्रजा वाली होकर ( आ रोहतु ) चढ़ बिराजे ।

उप स्तृणीहि बल्वजमधि चर्मणि रोहिते ।
तत्रोपविश्य सुप्रजा इममग्निं सपर्यतु ॥ २३ ॥

भा०—हे पुरुष ! तू प्रथम ( बल्वजम् ) नर्म घास के आसन को ( रोहिते चर्मणि अधि ) रोहित नाम मृग के लाल चर्म पर ( उपस्तृणीहि ) बिछा दे ( तत्र ) उस पर ( सुप्रजा ) उत्तम सन्तान से युक्त पत्नी बैठकर ( इमम् अग्निम् ) इस गार्हपत्य अग्नि और परमेश्वर का ( सपर्यतु ) उपासना और अग्निहोत्र करे ।

आ रोह चर्मोप सीदाग्निमेष देवो हन्ति रक्षांसि सर्वा ।
इह प्रजां जनय पत्ये अस्मै सुज्येष्ठ्यो भवत् पुत्रस्त एषः ॥२४॥

भा०—हे सुभगे ! ( चर्म आरोह ) रोहित, मृगचर्म पर चढ़ । उस पर बैठ और ( अग्निम् उपसीद ) परमेश्वर की उपासना कर । ( एष देव ) यह उपास्यदेव प्रकाशस्वरूप ( सर्वा ) समस्त ( रक्षांसि ) विघ्नकारियों को ( हन्ति ) विनाश करता है । ( इह ) इस गृह में ( अस्मै पत्ये ) इस पति

२३–( च० ) ' सपर्यत ' इति क्वचित् ।

के लिये ( प्रजां जनय ) प्रजा उत्पन्न कर । ( ते एषः पुत्रः ) यह तेरा पुत्र ( सुज्येष्ठ्यः ) उत्तम श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न ( भवतु ) हो ।

वि तिष्ठन्तां मातुरस्या उपस्थान्नानारूपाः पशवो जायमानाः ।
सुमङ्गल्युप सीदेममग्निं संपत्नी प्रति भूषेह देवान् ॥ २५ ॥

भा०—जिस प्रकार ( अस्याः ) इस ( मातुः ) माता पृथ्वी के ( उपस्थात् ) गोद से ( नानारूपाः ) नाना प्रकार के ( जायमानाः ) उत्पन्न होनेहारे ( पशवः ) जीव उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार इस वधू रूप माता के गर्भ से भी नाना सन्ततियां उत्पन्न होकर ( वि तिष्ठन्ताम् ) नाना जीवन-पथों पर प्रस्थान करें । हे नववधु ! तू ( सुमङ्गली ) शुभ मङ्गलयुक्त होकर ( इमम् ) इस ( अग्निम् ) गार्हपत्य अग्नि, तत्प्रतिनिधिरूप पति एवं परमेश्वर को ( उप सीद ) उपासना कर, सेवा कर और ( सम्पत्नी ) उत्तम गृहपत्नी होकर ( इह ) इस गृह में ( देवान् ) देवों, विद्वान् अतिथियों को ( प्रति भूष ) सेवा कर ।

सुमङ्गली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुराय शंभूः ।
स्योना श्वश्र्वै प्र गृहान् विशेमान् ॥ २६ ॥

भा०—( सुमङ्गली ) उत्तम मङ्गलमय चिह्नों से युक्त और ( गृहाणां प्रतरणी ) गृह के जनों को दुःख से पार लगाने वाली ( पत्ये ) पति की ( सुशेवा ) उत्तम रूप से सेवा करनेहारी ( श्वशुराय ) श्वशुर को ( शम्भूः ) कल्याण और सुख देने वाली ( श्वश्र्वै ) सास को ( स्योना ) सुखी करनेहारी होकर ( इमान् ) इन ( गृहान् ) गृहजनों के बीच में ( प्रविश ) प्रवेश कर ।

स्योना भव श्वशुरेभ्यः स्योना पत्ये गृहेभ्यः ।
स्योनास्यै सर्वस्यै विशे स्योना पुष्टायैषां भव ॥ २७ ॥

भा०—हे नववधु ! (श्वशुरेभ्यः) श्वशुरों के लिये (स्योना भव) सुखकारिणी हो। (पत्ये गृहेभ्यः) पति के अन्य गृहजनों के लिये (स्योना) सुखकारिणी हो। (अस्यै) इस (सर्वस्यै) समस्त (विशे) प्रजा के लिये (स्योना भव) सुखकारिणी हो। और (एषां) इन सब के (पुष्टाय) पुष्टि समृद्धि के लिये (भव) हो।

सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत।
सौभाग्यमस्यै दत्त्वा दौर्भाग्यैर्विपरेतन ॥ २८ ॥
या दुर्हार्दो युवतयो याश्चेह जरतीरपि।
वर्चो न्व१स्यै सं दत्ताथास्तं विपरेतन ॥ २९ ॥
ऋ० १० । ८५ । ३३ ॥

भा०—हे भद्र पुरुषो ! (इयम्) यह (सुमङ्गली) शुभ मङ्गलमयी (वधूः) नववधू है। (सम् एत) आओ, पधारो। (इमां पश्यत) इसको देखो। और (अस्यै) इसको (सौभाग्यम्) उत्तम सौभाग्य का आशीर्वाद (दत्त्वा) प्रदान करके (विपरेतन) आप अपने २ घरों को पधारें। (याः) जो (युवतयः) जवान स्त्रियां (दुर्हार्दः) दुष्ट हृदय वाली हैं वे (दौर्भाग्यैः) दौर्भाग्यों सहित (विपरेतन) लौट जावें। और (याः च) जो (इह) इस स्थान पर (जरतीः अपि) वृद्ध स्त्रियां भी हैं वे (अस्यै) इसको (नु) ही (वर्चः) तेज (सं दत्त) प्रदान करें। (अथ) और अनन्तर (अस्तं) अपने २ घर को (विपरेतन) लौट जावें।

रुक्मप्रस्तरणं वह्यं विश्वा रूपाणि बिभ्रतम्।
आरोहत् सूर्या सावित्री बृहते सौभगाय कम् ॥ ३० ॥ (६)

---

८–(तृ० च०) 'सौभाग्यमस्यै दत्त्वायाथास्तं विपरेतन' इति ऋ०। 'सौभाग्यम्। अस्यै। दत्ताय। अथ। अस्तम्। विपरा। इतन' इति पदपाठः। ह्विटनि शाखा गृह्यसूत्रेषु। 'दौर्भाग्यैः' परेतन इति ह्विट० स०।

भा०—( सावित्री ) प्रजा उत्पन्न करने में समर्थ ( सूर्या ) सूर्य के समान कान्तिमती, कन्या ( बृहते सौभगाय ) बड़े भारी सौभाग्य के लिये ( कम् ) ही ( रुक्मप्रस्तरणम् ) सुनहले बिछौने से सजे ( विश्वा रूपाणि ) नाना सुन्दर रूपों के ( बिभ्रतम् ) धारण करने वाले ( वह्यं ) रथ पर ( आरोहत् ) सवार हो ।

आ रो॑ह॒ तल्पं॑ सुमन॒स्यमा॑ने॒ह प्र॒जां ज॑नय॒ पत्ये॑ अ॒स्मै ।
इ॒न्द्रा॒णीव॑ सु॒बुधा॒ बुध्य॑माना॒ ज्योति॑रग्रा उ॒षसः॒ प्रति॑ जागरासि ॥ ३१ ॥

भा०—हे नववधू ! तू ( सुमनस्यमाना ) शुभ चित्तवाली होकर ( तल्पम् ) सेज पर ( आरोह ) चढ़ । ( अस्मै पत्ये ) इस पति के लिये ( प्रजां जनय ) प्रजा को उत्पन्न कर । तू ( इन्द्राणी इव ) इन्द्र परमेश्वर की परम शक्ति या इन्द्र राजा की स्त्री महारानी के समान ( सुबुधाः ) उत्तम ज्ञान सम्पन्न होकर ( ज्योतिरग्रा ) नक्षत्र=ताराओं वाली ( उषसः ) उषाओं में ही ( बुध्यमाना ) सचेत होकर ( प्रति ) प्रतिदिन ( जागरवि ) जागा कर । प्रातः सूर्य उगने से पूर्व नक्षत्रों के होते २ प्रथम पत्नी को जागना चाहिये ।

दे॒वा अग्रे॒ न्य॑पद्यन्त॒ पत्नीः॒ सम॑स्पृशन्त त॒न्व॑स्त॒नूभिः॑ ।
सू॒र्येव॑ नारि वि॒श्वरू॑पा महि॒त्वा प्र॒जाव॑ती॒ पत्या॒ सं भ॑वे॒ह ॥ ३२ ॥

भा०—(अग्रे) पूर्वकाल में ( देवाः ) देवगण, विद्वान् लोग भी (पत्नीः) अपनी पत्नियों के साथ ( नि अपद्यन्त ) एक सेज पर सोते हैं और (तन्वः) अपने शरीर को ( तनूभिः ) अपनी स्त्रियों के शरीर के साथ ( सम् अस्पृशन्त ) स्पर्श कराते, आलिंगन करते हैं । हे ( नारि ) स्त्रि—तू (सूर्या इव)

---

३१–( तृ० ) 'इन्द्राणीव सुबुधा बुध्य-' ( च० ) 'प्रति जागृहि' इति पैप्प० सं० ।
३२–( प्र० ) 'देवाग्रे' इति पैप्प० सं० ।

सूर्य परमेश्वर की उत्पादक शक्ति के समान ही ( महिम्ना ) अपने बड़े ऐश्वर्य से ( विश्वरूपा ) विश्वरूप हो, नाना सामर्थ्यवती होकर ( प्रजावती ) प्रजा से सम्पन्न होकर ( इह ) इस लोक में ( पत्या ) पति के साथ ( सं भव ) मिलकर सन्तान उत्पन्न कर ।

उत्तिष्ठेतो विश्वावसो नमसेडामहे त्वा ।
जामिमिच्छ पितृषदं न्य/क्तां स ते भागो जनुषा तस्य विद्धि ॥३३॥
ऋ० १० । ८५ । २२ म० द्वि० २१ तृ० च० ॥

भा०—हे ( विश्वावसो ) समस्त प्रकार के धनों के स्वामिन् ! वर पुरुष ! ( इतः ) तू यहां से ( उत्तिष्ठ ) उठ ( त्वा ) तेरी ( नमसा ) नमस्कार द्वारा ( इडामहे ) हम पूजा करते हैं । ( पितृसदम् ) पिता के घर में रहने वाली ( न्यक्ताम् ) अति सुशोभित सुस्नाता, अञ्जनादि से सुशोभित ( जामिम् ) कन्या या वधू को तू ( इच्छ ) प्राप्त कर, उसकी कामना कर । ( सः ) वह ( ते ) तेरा ( भागः ) भाग है ( जनुषा ) उत्पत्ति कर्म से ( तस्य ) उस को ( विद्धि ) प्राप्त कर ।

जामि· भगिनी इति यद्यपि । जनयन्ति अस्याम् इति निर्वचनात् जामिः कन्या पत्नी वा । इस मन्त्र से विवाहविधि के उत्तर पितृगृह में ही चतुर्थी कर्म में वर वधू को एकान्त तल्पारोहण की आज्ञा दी जाती है ।

अप्सरसः सधमादं मदन्ति हविर्धानमन्तरा सूर्यं च ।
तास्ते जनित्रमभि ताः परेहि नमस्ते गन्धर्वर्तुना कृणोमि ॥३४॥
पूर्वार्ध· अथर्व० ७ । १०९ । ३ प्र० द्वि० ॥

---

३३-( प्र० ) 'उदीर्ष्वातो विश्वा' ( तृ० ) 'अन्यामिच्छ', 'व्यक्ताम्' इति ऋ० । 'उदीर्ष्वातः पतीवती विश्वावसुं नमसा गीर्भिरीडे' इति पैप्प० स० । 'पित्रषद विशोमिति' इति आपस्त० ।

३४-( प्र० ) 'याप्सरस स' इति पैप्प० स० ।

भा०—( हविर्धानम् सूर्यम् च अन्तरा ) हविर्धान अर्थात् पृथ्वी और सूर्य के बीच में ( अप्सरसः ) स्त्रियां ( सधमादम् ) एक ही साथ आनन्द उत्सव में मिलकर ( मदन्ति ) प्रसन्न होकर हर्ष प्रकट करें । हे गन्धर्व ! पुरुष ( ताः ते जनित्रम् ) वे तेरी जाया हैं ( ताः अभि परा इहि ) तू उनके समक्ष जा । हे गन्धर्व ! युवा पुरुष ! ( ऋतुना ) कन्या के ऋतुकाल के अवसर पर ही ( नमः ते कृणोमि ) तेरा आदर सत्कार करता हूं ।

गन्धर्व-ऋतुना इत्येकं पदम् पदपाठे । गन्धर्व ऋतुनेति पदद्वयम् इति ग्रीफिथः ।

नमो गन्धर्वस्य नमसे नमो भामाय चक्षुषे च कृण्मः ।
विश्वावसो ब्रह्मणा ते नमोभि जाया अप्सरसः परेहि ॥ ३५ ॥

भा०—( गन्धर्वस्य ) गन्धर्व, युवा पुरुष के (नमसे) बल वीर्य के लिये ( नमः कृण्मः ) हम आदर भाव प्रकट करें । और ( भामाय ) उसके अति दीप्तिमान् क्रोधपूर्ण ( चक्षुषे ) दृष्टि के लिये भी ( नमः कृण्मः ) हम नमस्कार करते हैं । हे ( विश्वावसो ) नाना धनों के स्वामिन् ! ( ते ) तेरा हम ( ब्रह्मणा ) ब्रह्म, वेदमन्त्र द्वारा ( नमः ) पूजा करते हैं । तु ( जायाः ) अपनी जाया, स्त्री रूप ( अप्सरसः ) स्त्रियों के ( अभि ) पास ( परेहि ) जा । 'विश्वावसो, जायाः, अप्सरसः' इत्यादिषु एकवचनबहुवचेन जात्याख्यायाम् बोध्ये ।

राया वयं सुमनसः स्यामोदितो गन्धर्वमावीवृताम ।
अगन्त्स देवः परमं सधस्थमगन्म यत्र प्रतिरन्त आयुः ॥ ३६ ॥

---

३५–( प्र० ) 'गन्धर्वस्य मनसे' इति ह्विटनिकामितः । 'गन्धर्वस्य नमसो नमो भामाय' ( तृ० ) 'विश्वावसो नमो ब्रह्मणा ते कृणोमि' इति पैप्प० सं० ।

३६–( च० ) 'अगन्म वयम्' इति पैप्प० सं० । 'यत्र । प्रतिरन्तः । आयुः' इति काश्मीरवैदिकाभिमतः पदपाठः ।

भा०—( वयम् ) हम लोग ( राया ) धन-सम्पन्न होकर भी ( सुमनसः ) एक दूसरे के प्रति शुभ चित्त वाले निष्कलह होकर प्रेम से ( स्याम ) रहें। और ( इतः ) यहां से ( उत् ) ऊर्ध्व स्थान पर ( गार्हपत्यम् ) पुरुष का ( अवाङ्कताम ) हम प्राप्त करें। ( सः देवः ) वह देव ( परमम् सधस्थम् ) परम उच्च समान स्थान गृहाश्रम में ( अगात् ) प्राप्त होता है ( यत्र ) जहां हम भी ( आयुः ) दीर्घ जीवन ( प्रतिरन्तः ) प्राप्त करते हुए ( अगन्म ) उस स्थान पर जावें।

सं पितरावृत्विये सृजेथां माता पिता च रेतसो भवाथः ।
मर्य इव योषामधिरोहयैनां प्रजां कृण्वाथामिह पुष्यतं रयिम् ॥ ३७ ॥

भा०—हे ( पितरौ ) माता और पिताओ ! ( ऋत्विये[1] ) ऋतुकाल के अवसर पर तुम परस्पर ( संसृजेथाम् ) संगत हुआ करो, परस्पर मिला करो। ( माता च पिता च ) तुम माता पिता हो ( रेतसः ) अपने वीर्य से पुत्र रूप में ( भवाथः ) उत्पन्न हुआ करते हो। हे पुरुष ! ( एनाम् योषाम् ) इस अपनी पत्नी को ( मर्यः इव ) मर्द के समान ( अधि रोहय ) अपने सेज पर चढ़ा। हे स्त्री पुरुषो ! ( इह ) इस लोक में ( प्रजाम् कृण्वाथाम् ) प्रजा को उत्पन्न करो और ( रयिम् पुष्यतम् ) वीर्य को पुष्ट किये रहो।

तां पूषञ्छिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या३ वपन्ति ।
या न ऊरू उशती विश्रयाति यस्यामुशन्तः प्रहराम शेपः ॥ ३८ ॥
ऋ० १० । ८५ । ३७ ॥

---

३७–( प्र० ) 'पितरा ऋत्वे' इति पैप्प० सं०। ( तृ० ) 'अधिरोहय शेप एना'मिति ह्विटनिकामित पाठः।

१ 'ऋत्विये' इति पदपाठः। तत्र पितरौ इत्यस्य विशेषणं 'ऋत्वियः' इति स्त्रीलिङ्गप्रयोगश्चिन्त्यः।

३८–( तृ० ) 'विश्रयाते' ( च० ) 'प्रहराम शेपम्' इति ऋ०, पैप्प० सं०। 'तां न विश्रयाते प्रहराम शेपम्' इति हि० गृ०

भा०—हे पूषन् ! पोषक पते ! तू ( ताम् ) उस परम प्रियतमा ( शिवतमाम् ) अति कल्याणकारिणी उस स्त्री को ( एरयस्व ) प्राप्त कर, ( यस्याम् ) जिसमें ( मनुष्याः ) मनुष्य, मननशील पुरुष ( बीजम् ) अपना बीज ( वपन्ति ) बोते हैं । ( या ) जो स्त्री ( उशती ) कामना करती हुई ( नः ) हमारे लिये ( ऊरू ) अपनी दोनों जंघाएं ( विश्रयाति ) खोलकर धर दे और ( यस्याम् ) जिसमें हम ( उशन्तः ) कामना करते हुए ( शेपः ) प्रजनन अंग को ( प्रहरेम ) प्रवेश करावें ।

आ रो॑होरुमुप॑ धत्स्व॒ हस्तं॒ परि॑ ष्वजस्व जा॒यां सु॑मन॒स्यमा॑नः ।
प्र॒जां कृ॑ण्वाथामि॒ह मोद॑मानौ दी॒र्घं वा॒मायुः॑ सवि॒ता कृ॑णोतु ॥३९॥

भा०—हे पुरुष ! ( ऊरुम् ) अपनी पत्नी को प्रेम से अपनी जंघा पर ( आरोह=आरोहय ) चढ़ा ले । ( हस्तम् ) अपने हाथ को या बाहू को ( उपधत्स्व ) उसके सिरहाने के समान लगा दे । और ( सुमनस्यमानः ) शुभ चित्त वाला होकर ( जायाम् ) अपनी स्त्री को ( परिष्वजस्व ) आलिंगन कर । हे स्त्री पुरुषो ! ( इह ) गृहस्थ में ( मोदमानौ ) परस्पर प्रसन्न रहते हुए, आनन्दविनोद करते हुए तुम दोनों ( प्रजाम् ) उत्तम सन्तानोत्पत्ति ( कृण्वाथाम् ) करो । ( सविता ) सब संसार का उत्पन्न करने वाला परमेश्वर ( वां ) तुम दोनों की ( दीर्घम् आयुः ) दीर्घ आयु ( कृणोतु ) करे ।

आ वां॑ प्र॒जां ज॑नयतु प्र॒जाप॑तिरहोरा॒त्राभ्यां॒ सम॑नक्त्वर्य॒मा ।
अदु॑र्मङ्गली पतिलो॒कमा वि॑शे॒मं शं नो॑ भव द्वि॒पदे॒ शं चतु॑ष्पदे ॥ ४० ( १० ) ऋ० १० । ८५ । ४३ ॥

---

ऋ० । ' सा नः पूषा शिवतमेरय सा न ऊरू उशती विहर । यस्यामुशन्तः प्रहराम शेपं यस्यामुकामा बहवो निविष्ट्यै ' पा० गृ० सू० ।
३९—' आरोहोरुमुपबर्हस्व बाहुम् ' इति आप०म० । ( तृ० ) ' रोदमानौ ' ( च० ) ' दीर्घं त्वायुः स- इति पैप्प० सं० ।
४०—( प्र० ) ' आ नः प्रजां ' ( द्वि० ) ' आजरसाय सम- ' ( तृ० ) ' अदुर्मङ्गलीः प- ' ( च० ) ' शंनो अस्तु ' इति ऋ० ।

भा०—( प्रजापतिः ) प्रजाओं का स्वामी, परिपालक परमेश्वर ( वा ) तुम दोनों की ( प्रजाम् ) प्रजा को ( जनयतु ) उत्पन्न करे ( अर्यमा ) न्यायकारी प्रभु तुमको ( अहोरात्राभ्याम् ) दिन और रात ( सम् अनक्तु ) एक दूसरे के साथ सदा परस्पर मिलाये रखे । हे वधू ! तू ( अदुर्मङ्गली ) दुःखदायी स्वरूप की न होकर ( इमं ) इस ( पतिलोकम् ) पतिगृह में ( आविश ) प्रविष्ट हो और ( नः ) हमारे ( द्विपदे ) दो पैर के मनुष्यों और ( चतुष्पदे ) पशुओं के लिये ( शं शं भव ) सदा कल्याणकारिणी, शान्तिदायिनी हो ।

देवैर्दत्तं मनुना साकमेतद् वाधूयं वासो वध्वश्च वस्त्रम् ।
यो ब्रह्मणे चिकितुषे ददाति स इद् रक्षांसि तल्पानि हन्ति ॥४१॥

भा०—( देवैः ) देव, दानशील वर कन्या के निमित्त देने वाले और ( मनुना ) मनु=प्रजापति, वर कन्या के पिता द्वारा ( दत्तम् ) प्रदान किये ( वाधूयम् वासः ) वधू के वरण करनेहारे वर का वस्त्र (वध्वः च वस्त्रम्) वधू के विवाहकाल के वस्त्र ( एतत् ) इस सबको ( साकम् ) एक साथ ही ( यः ) जो पति ( चिकितुषे ब्रह्मणे ) विद्वान् ब्राह्मण को ( ददाति ) प्रदान करता है ( सः इत् ) वह ही ( तल्पानि=तल्प्यानि ) तल्प अर्थात् सेज के ऊपर होने वाले ( रक्षांसि ) विघ्न या बाधक कारणों को ( हन्ति ) नाश कर देता है । १४ । १ । २९ ॥ मन्त्र में 'वाधूयवस्त्र' के दान का वर्णन पूर्व आ चुका है । फल यहां दर्शाते हैं ।

यं मे दत्तो ब्रह्मभागं वधूयोर्वाधूयं वासो वध्वश्च वस्त्रम् ।
युवं ब्रह्मणेऽनुमन्यमानौ बृहस्पते साकमिन्द्रश्च दत्तम् ॥ ४२ ॥

४१–( च० ) 'तल्पानि' इति ह्विटनिकामितः । 'तल्प्यानि' इति पैप्प० सं० । ( द्वि० ) 'वाधूयं वध्वो वासोऽस्याः' इति पैप्प० सं० ।

४२–( प्र० द्वि० ) 'यो मेदिनि ब्रह्मभाग वधूयोर्वासो वध्वश्च वस्त्रम्' ( च० ) 'भत्ताम्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—हे ( बृहस्पते ! ) बृहस्पते, बड़े २ लोकों के पालक और (इन्द्रः च) ऐश्वर्यशील परमेश्वर ! तुम दोनों (वधूयोः) वधू की कामना करने हारे वर का ( वाधूयम् ) कन्या को वरण करने के समय का ( वासः ) वस्त्र और उसी समय का ( वध्वः च वस्त्रम् ) वधू का वस्त्र इन दोनों के बने ( यम् ) जिस ( ब्रह्मभागम् ) ब्राह्मण के भाग को तुम दोनों आप ( मे ) मुझ ब्राह्मण को ( दत्तः ) प्रदान करते हो यह एक प्रकार से ( युवम् ) तुम दोनों ( अनुमन्यमानौ ) परस्पर अनुमति करते हुए ही ( ब्रह्मणे ) ब्राह्मण को ( दत्तम् ) प्रदान करते हो ।

स्योनाद्योनेरधि बुध्यमानौ हसामुदौ महसा मोदमानौ ।
सुगू सुपुत्रौ सुगृहौ तराथो जीवावुषसो विभातीः ॥ ४३ ॥

भा०—( स्योनाद् ) सुखकारी ( योनेः ) सेज या शयनस्थान में ( अधि बुध्यमानौ ) जागकर उठते हुए ( हसामुदौ ) परस्पर हंसी, विनोद युक्त होकर और ( महसा ) तेज और बल से ( मोदमानौ ) परस्पर आनन्द-विनोद करते हुए ( सुगू ) उत्तम इन्द्रियों या गौओं से सम्पन्न और ( सुपुत्रौ ) उत्तम पुत्रों से युक्त और ( सुगृहौ ) उत्तम गृह से सम्पन्न होकर ( जीवौ ) दोनों जीव-वर वधू , सुख से जीवन बीताते हुए ( विभातीः ) विविधरूप से प्रकाशमान ( उषसः ) उषाओं, दिनों को ( तराथः ) व्यतीत करें ।

नवं वसानः सुरभिः सुवासा उदागां जीव उषसो विभातीः ।
आण्डात् पतत्रीवामुक्षि विश्वस्मादेनसस्परि ॥ ४४ ॥

भा०—मैं गृह का स्वामी ( नवं वसानः ) नये वस्त्र पहन कर ( सुरभिः ) सुगन्धित पदार्थों से युक्त (सुवासाः) उत्तम वस्त्रों से सुशोभित होकर ( जीवः ) सुख में जीवन धारण करता हुआ ( विभातीः उषसः )

४३-( तृ० च० ) ' सुभौ मुपुत्री सुक्रौ चरातो जीवा उषासो विभातीः ' इति पैप्प० सं० । ' चराथः ' इति क्वचित् ।

विशेषरूप से प्रकाश वाली उषाओं में नित्य प्रतिदिन ( उद् अगाम् ) उदय करूं। और (पतत्री) पक्षी (आण्डात् इव) अण्ड से निकल कर जिस प्रकार बाहर आ जाता है और अण्ड से मुक्त हो जाता है उसी प्रकार मैं (विश्वस्मात् एनस ) समस्त पाप से ( परि अमुक्षि ) ऊपर होकर उससे मुक्त हो जाऊं।

शुम्भनी द्यावापृथिवी अन्तिसुम्ने महिव्रते ।
आपः सप्त सुस्रुवुर्देवीस्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ४५ ॥
अथर्व० ७ । ११२ । १ ॥

भा०—( शुम्भनी ) सुशोभन, सत्यभावने शुभचिन्तक ( द्यावापृथिवी ) द्यौ और पृथिवी के समान रक्षक और आश्रयभूत माता पिता ( अन्तिसुम्ने ) समीप रहकर सदा सुख देने हारे ( महिव्रते ) बड़े २ कार्य करने वाले हैं। ( सप्त ) सातों प्रकार की ( देवी ) ज्ञान दर्शन कराने वाली ( आपः ) जलधाराओं के समान स्वच्छ ज्ञानधाराएं ( सुस्रुवुः ) सदा बहें। ( ताः ) वे सब ( नः ) हमें ( अंहसः ) पाप से ( मुञ्चन्तु ) मुक्त करें।

सूर्यायै देवेभ्यो मित्राय वरुणाय च ।
ये भूतस्य प्रचेतसस्तेभ्य इदमकरं नमः ॥ ४६ ॥
ऋ० १० । ८५ । १७ ॥

भा०—( सूर्यायै ) संसार को उत्पन्न करनेहारी जगदम्बा शक्ति को, ( देवेभ्यः ) अग्नि, जल, सूर्य आदि देवों, ( मित्राय ) सब के स्नेही और ( वरुणाय ) सब के वरणीय श्रेष्ठ परमेश्वर के लिये और ( ये ) जो ( भूतस्य ) विश्व के ( प्रचेतसः ) उत्कृष्ट ज्ञान करानेहारे गुरु ( तेभ्यः ) उन सब को ( इदम् नमः ) यह नमस्कार ( अकरम् ) करता हूं।

४५—( द्वि० ) 'मन्तु सुम्ने' ( तृ० ) 'आपः सप्त सस्रुवीः' इति पैप्प० सं०।
४६—( च० ) 'इदं तेभ्योऽकरं नमः' इति ऋ०। 'तेभ्योऽहमकरं नमः' इति पैप्प० सं०।

य ऋते चिदभिश्रिषः पुरा जत्रुभ्य आतृदः ।
संधाता संधिं मघवा पुरूवसुर्निष्कर्ता विह्रुतं पुनः ॥ ४७ ॥

ऋ० ८ । १ । १२ ॥

भा०—( यः ) जो मघवा परमेश्वर ( ऋते ) विना ( अभिश्रिषः ) चिपकने के पदार्थों, गोंद, सरेस आदि के और विना जोड़ने के पदार्थ कील आदि के ( चित् ) भी और ( जत्रुभ्यः ) गर्दन की हंसुली की हड्डियों में ( आतृदः ) छेद किये विना ही ( संधिम् ) संधियों को ( संधाता ) जोड़ता है और ( विह्रुतं ) कुल अंगों को भी ( पुनः ) फिर ( निष्कर्त्ता ) ठीक कर देता है वह ( पुरुवसुः ) इन्द्रियों में बसनेहारे आत्मा के समान समस्त लोकों में बसनेहारा परमात्मा ही ( मघवा ) परमेश्वर है ।

अपास्मत् तम उच्छतु नीलं पिशङ्गमुत लोहितं यत् ।
निर्दहनी या पृषातक्य१स्मिन् तां स्थाणावध्या सजामि ॥ ४८ ॥

भा०—( नीलम् ) नीला ( पिशङ्गम् ) पीला ( उत ) और ( यत् ) जो ( लोहितम् ) लाल रंग का ( तमः ) पाप या मलिन पदार्थ है वह ( अस्मत् ) हम से ( अप उच्छतु ) दूर हो । ( या ) जो ( निर्दहनी ) जलानेहारी ( पृषातकी ) स्पर्श से ही दुःख देने वाली, रोगादि पीड़ा या अविद्या ( अस्मिन् ) इस वरवधू के दिये वस्त्र में या संसार में ( तां ) उसको ( स्थाणौ ) स्थाणु, वृक्ष में या परब्रह्म में ( अधि आसजामि ) लगा दूं । अर्थात् वस्त्रगत सब दुष्प्रभावों को वृक्ष के प्रभाव से और अविद्या के दुष्प्रभावों को ब्रह्म के आश्रय से दूर करूं ।

---

४७—ऋग्वेदे मेधातिथिर्मेध्यातिथी काण्वावृषी । इन्द्रो देवता । ( च० ) 'पुरुवसुरिष्कर्ता विह्रुतं पुनः' इति ऋ० । ( प्र० ) 'यद्ते' ( द्वि० ) 'जर्तृभ्यः' ( तृ० ) 'पुरोवसुः' इति तै० आ० । ( द्वि० ) 'आरिदः' इति पैप्प० सं० ।

यावती कृत्या उपवासने यावन्तो राज्ञो वरुणस्य पाशाः ।
व्यृद्धयो या असमृद्धयो या अस्मिन् ता स्थाणावधिसादयामि ॥४९

भा०—( यावतीः ) जितने ( कृत्याः ) हिंसाकारी प्रयोग और हानिकारक क्रियाएं ( उपवासने ) वरवधू के वस्त्र में हैं और ( यावन्तः ) जितने ( राज्ञः ) राजा ( वरुणस्य ) वरुण परमात्मा के ( पाशाः ) पाश हैं। और ( याः ) जितनी ( व्यृद्धयः ) दरिद्रताएं और ( याः ) जो ( असमृद्धयः ) दुरवस्थाएं ( अस्मिन् ) इस वस्त्र में एवं संसार में हैं ( ताः ) उनको ( स्थाणौ ) वृक्ष में एवं वृक्ष के समान कूटस्थ परमात्मा के आश्रय में ( अधि सादयामि ) छोड़ता हूं।

या मे प्रियतमा तनूः सा मे बिभाय वाससः ।
तस्याग्रे त्वं वनस्पते नीविं कृणुष्व मा वयं रिषाम ॥ ५० ॥ (११)

भा०—( या ) जो ( मे ) मेरी ( प्रियतमा ) अति प्रिय ( तनूः ) देह है ( सा ) वह मेरी देह ( वाससः ) इस वस्त्र से ( बिभाय ) भय खाती है। इसलिये हे ( वनस्पते ) वृक्ष ( अग्रे ) पहले ( तस्य ) उस वस्त्र का ( त्वं ) तू ( नीविम् कृणुष्व ) अपने तेह में बांध ले। जिससे ( वयम् ) हम ( मा रिषाम ) कभी पीड़ित न हों।

ये अन्ता यावतीः सिचो य ओतवो ये च तन्तवः ।
वासो यत् पत्नीभिरुतं तन्नः स्योनमुप स्पृशात् ॥ ५१ ॥

भा०—( ये अन्ताः ) जो वस्त्र की जो झालरें हैं, ( यावतीः सिचः ) और जितनी किनारियां हैं ( ये ओतवः ) जो तान और ( ये च तन्तवः ) जो ताने के

४९-( प्र० ) 'कृत्या पल्याचाने' ( च० ) 'अस्मिन् ता स्थाणा मुञ्चामि सत्रम्' इति पैप्प० सं०।

५१-'वासो यत् पत्नीभूत तन्त्वा स्योनमुपस्पृशत' इति पैप्प० सं०।

भूत हैं ( यत् वासः ) और जो वस्त्र ( पत्नीभिः ) गृहदेवियों ने ( उतम् ) बुना है ( तत् ) वह ( वः ) हमें ( स्योनं ) सुखपूर्वक ( उपस्पृशात् ) शरीर को छुए । यहां 'वासो यत् पत्नीभृतम्' यह पैप्पलादपाठ सुसंगतः है । कपड़ा जो पत्नी ने धारण किया है ।

उशतीः कन्यला इमाः पितृलोकात् पतिं यतीः ।
अव दीक्षामसृक्षत स्वाहा ॥ ५२ ॥

भा० —( उशतीः ) पति की कामना करती हुई ( इमाः ) ये ( कन्यलाः ) कन्याएं ( पितृलोकात् ) पिता के घर से ( पतिं यतीः ) पति के पास जाती हुई ( दीक्षाम् ) व्रतदीक्षा, दृढ़ व्रत को ( अव असृक्षत ) धारण करती हैं । ( स्वाहा ) यही सब से उत्तम शिक्षा है या यही एक यज्ञाहुति या यश का कार्य है ।

बृहस्पतिनावसृष्टां विश्वे देवा अंधारयन् ।
वर्चो गोषु प्रविष्टं यत् तेनेमां सं सृजामसि ॥ ५३ ॥

भा०—( बृहस्पति ) बृहस्पति परमेश्वर की ( अवसृष्टाम्[1] ) रची हुई दीक्षा को ( विश्वे देवाः ) समस्त देव, विद्वान्गण ( अधारयन् ) धारण करते हैं । अतः दीक्षा के कारण ही (यत् वर्चः) जो तेज, वीर्य, ज्ञान और आदर-भाव ( गोषु ) गौओं या वेदवाणियों में ( प्रविष्टम् ) विद्यमान है ( इमाम् ) इस कन्या को ( तेन ) उसी तेज, वीर्य और आदरभाव से ( सं सृजामसि ) युक्त करते हैं ।

बृहस्पतिना० । तेजो गोषु प्रविष्टं यत् तेनं० ॥ ५४ ॥

बृहस्पतिना० । भगो गोषु प्रविष्टो यस्तेनं० ॥ ५५ ॥

बृहस्पतिना० । यशो गोषु प्रविष्टं यत् तेनं० ॥ ५६ ॥

---

५३–' दीक्षामवसृष्टाम् ' इति पूर्वमन्त्रादीक्षापदस्यानुवृत्तः ।

बृहस्पतिना० । पयो गोषु प्रविष्टं यत् तेन० ॥ ५७ ॥

बृहस्पतिनावसृष्टां विश्वे देवा अधारयन् ।

रसो गोषु प्रविष्टो यस्तेनेमां सं सृजामसि ॥ ५८ ॥

भा०—( बृहस्पति ना० इत्यादि ) सर्व पूर्ववत् । ( गोषु ) गौओं में ( यत् तेजः प्रविष्ट ) जो तेज प्रविष्ट है, ( यत् भगः ) जो ऐश्वर्य है, ( यद् यशः ) जो यश है, ( यत् पयः ) जो पुष्टिकारक दुग्ध है ( यः रसः ) जो रस, आनन्द है ( तेन ) उन सब पदार्थों से हम ( इमां सं सृजामसि ) इस कन्या को भी संयुक्त करते हैं ।

यदीमे केशिनो जना गृहे ते समनर्तिषू रोदेन कृण्वन्तोऽघम् ।
अग्निष्ट्वा तस्मादेनसः सविता च प्र मुञ्चताम् ॥ ५९ ॥

भा०—हे गृहस्थ पुरुष ! ( यद् ) जब ( इमे ) ये ( केशिनः ) लम्बे केशों वाले, केश खोलकर ( जनाः ) पुरुष ( ते ) तेरे ( गृहे ) घर से ( रोदेन ) अपने रोने चिल्लाने से ( अघम् ) पाप या बुरे दृश्य या विघ्न ( कृण्वन्तः ) करते हुए ( सम् अनर्तिषु ) बहुत नाच कूद करें अपने गात्र फेंके, बिलखें तो ( तस्माद् ) उस ( एनसः ) बुरे कार्य या पाप से ( त्वा ) तुझे ( अग्निः ) ज्ञानी पुरुष ( सविता च ) उत्पादक परमेश्वर ( प्रमुञ्चताम् ) सदा भली प्रकार बचावें ।

यदीयं दुहिता तव विकेश्यरुदद् गृहे रोदेन कृण्वत्यघम् ।
अग्निष्ट्वा० ॥ ६० ॥ ( १२ )

५९–( प्र० ) 'यदमी' ( द्वि० ) 'कृण्वतीर' इति पैप्प० सं० ।

६०–( प्र० ) 'यदस्यै दुहिता तव विकेश्यरुदत्' । 'आहूरोषेन कृण्वत्यघम्' इति पैप्प० सं० ।

भा०—( यदि ) यदि ( इयम् ) यह ( तव ) तेरी ( दुहिता ) सब कामों को पूर्ण करने हारी स्त्री या दूर देश में विवाह के निमित्त दी गयी कन्या ( विकेशी ) बाल खोल २ कर ( गृहे ) घर भर में ( रोदेन ) अपने रोने से ( अघम् ) बुरा, दुःखदायी दृश्य ( कृण्वती ) उपस्थित करती हुई ( अरुदत् ) रोवे तो ( अग्निः त्वा० इत्यादि ) अग्नि=आचार्य और सविता= परमेश्वर या तुम्हारे पिता तुम्हें इस बुरे दृश्य से मुक्त करें ।

यज्जामयो यद्युवतयो गृहे ते समनर्तिषू रोदेन कृण्वतीरघम् ।
अग्निष्ट्वा० ॥ ६१ ॥

भा०—( यत् ) यदि ( जामयः ) बहनें या कन्याएं, ( यद् युवतयः ) यदि युवती स्त्रियां ( रोदेन अघम् कृण्वतीः सम् अनर्त्तिषुः ) अपने रोने चिल्लाने के सहित उत्पात मचाती हुई हाथ पैर फेंकें तो ( अग्निः त्वा० इत्यादि ) इस बुरे कार्य से आचार्य और पिता तुम्हें मुक्त करें ।

यत् ते प्रजायां पशुषु यद्वा गृहेषु निष्ठितमघकृद्भिरघं कृतम् ।
अग्निष्ट्वा तस्मादेनसः सविता च प्र मुञ्चताम् ॥ ६२ ॥

भा०—हे गृहपते ! ( यत् ) जो ( प्रजायाम् ) तेरी प्रजा में ( यद् वा पशुषु गृहेषु ) और जो तेरे पशुओं और गृहों में ( अघकृद्भिः ) उपद्रव-कारियों से ( कृतम् ) किया गया ( अघम् ) उपद्रव ( निष्ठितम् ) उठ खड़ा हो ( अग्निः त्वा० इत्यादि ) ज्ञानी आचार्य और सविता पिता और परमेश्वर उस पापरूप उपद्रव से मुक्त करे ।

इयं नार्युप ब्रूते पूल्यान्यावपन्तिका ।
दीर्घायुरस्तु मे पतिर्जीवाति शरदः शतम् ॥ ६३ ॥

६३–' पूल्यानि, पूल्यानीत्यनेन संदिग्धे वर्णाकृतिसाम्यात् । ' ( च० ) ' पथन्तां पितरो मम ' इति पैप्प० सं० । ( द्वि० ) ' पुल्पानि ' इत्या-

भा०—( इयं नारी ) यह स्त्री ( पूल्यानि ) फुल्लियों या खीलों को आवपन्तिका ) अग्नि में आहुति करती हुई ( उपब्रूते ) परमात्मा से प्रार्थना करती है कि ( मे पतिः ) मेरा पति ( दीर्घायुः ) दीर्घ आयु वाला ( अस्तु ) हो। और वह ( शरदः शतम् ) सौ बरस तक ( जीवाति ) जीवे।

इहेमाविन्द्र सं नुद चक्रवाकेव दम्पती।
प्रजयैनौ स्वस्तकौ विश्वमायुर्व्यश्नुताम् ॥ ६४ ॥

भा०—हे ( इन्द्र ) परमेश्वर ! ( इमौ ) इन दोनों ( चक्रवाका इव ) चकवा चकवी के समान परस्पर प्रेम से बंधे ( दम्पती ) पति पत्नीभाव से मिले हुए जोड़े को ( सं नुद ) प्रेरणा कर कि ( एनौ ) वे दोनों ( सु-अस्तकौ ) उत्तम घर में रहते हुए ( प्रजया ) अपनी प्रजा सहित ( विश्वम् आयुः ) समस्त आयु का ( वि अश्नुताम् ) नाना प्रकार से भोग करें।

यदासन्द्यामुपधाने यद् वोपवासने कृतम्।
विवाहे कृत्यां यां चक्रुरास्नाने तां नि दध्मसि ॥ ६५ ॥

भा०—( यत् ) जो ( आसन्द्याम् ) आसन्दी, या खाट या पलङ्ग पर ( यद् ) जो ( उपधाने ) सिरहाने और ( यद् वा ) जो ( उपवासने ) वस्त्रों पर और ( विवाहे ) विवाह के समय ( यां कृत्याम् ) जिस घातक विषम प्रयोग को करते हैं ( तां ) उसको हम ( आस्नाने ) स्नान कराने वाले द्वारा ही ( नि दध्मसि ) दूर करते हैं। चौकी, गद्दा, बिछौना, वस्त्र पहनाना आदि सब कार्यों की जिम्मेदारी नाई पर रखनी चाहिये।

पल्यान्य० । ' कुल्पानि ' इति क्वचित् । ' लाजान् आवपन्तिका ' ( च० ) ' एधन्तां ज्ञातयो मम ' इति पा० गृ० सू० । ' इह वर्षाणि जीवतु ' इत्यपि पाम० मै० ब्रा० ।

६४–( द्वि० ) ' प्रजावन्तौ स्वस्तकौ दीर्घमा० ' इति पैप्प० सं० ।

६५–' आसन्द्या उप-' इति पैप्प० सं० ।

यद् दुष्कृतं यच्छमलं विवाहे वहतौ च यत्।
तत् संभलस्य कम्बले मृज्महे दुरितं वयम्॥ ६६॥

भा०—( यद् ) जो ( विवाहे ) विवाह के अवसर पर और ( यत् च ) जो कुछ ( वहतौ ) दहेज में या रथ में ( दुःकृतम् ) बुरा, विघ्नकारी कार्य और ( यत् शमलम् ) जो शमल, घृणित, मलिन कार्य किया हो ( वयम् ) हम ( तत् दुरितम् ) उस बुरे कार्य को ( सम्भलस्य ) मधुर भाषी वरके प्रशंसक पुरुष के (कम्बले) कम्बल में ( मृज्महे ) शुद्ध करें। अर्थात् जो पुरुष कन्या के पिता के समक्ष वर के गुण वर्णन करता है उसका उसके कार्य के प्रतिफल में कम्बल दिया जाता है। वही विवाह के अवसर पर होने वाले विघ्न और त्रुटिका जिम्मेवार है। जैसे भृत्य के कार्य की त्रुटिको उसके वेतन में से पूर्ण करते हैं उसी प्रकार विवाह कार्य की त्रुटिको सम्भल के वेतन रूप कम्बल में से पूर्ण कर लेना चाहिये।

संभले मलं सादयित्वा कम्बले दुरितं वयम्।
अभूम यज्ञियाः शुद्धाः प्र ण आयूंषि तारिषत्॥ ६७॥

भा०—( सम्भले ) वर के प्रशंसक 'संभल' नामक पुरुष पर ( मलं ) विवाह के अवसर पर होने वाले दोष को अथवा दोष की उत्तरदायिता को ( सादयित्वा ) डाल कर और ( वयम् दुरितम् ) हुई त्रुटिको ( कम्बले ) कम्बल पर डाल कर हम ( यज्ञियाः ) विवाह यज्ञ में आये बाराती लोग ( शुद्धाः ) शुद्ध, निर्दोष ( अभूम ) रहें। वह 'सम्भल' ही ( नः ) हमारे ( आयूंषि ) जीवनों को उस अवसर ( प्र तारिषत् ) सुरक्षित रखता है। वही बरातियों के सुखपूर्वक रहने आदि का उत्तरदायी होता है।

६६–( तृ० ) 'संभरस्य' इति पैप्प० सं०।
६७–( च० ) 'तारिषन्' इति पैप्प० सं०।

कृत्रिमः कण्टकः शतदन् य एषः ।
अपास्याः केश्यं मलमप शीर्षण्यं लिखात् ॥ ६८ ॥

भा०—बालों की वधू कंघी से सवारा करे । ( यः एषः ) जो यह ( शतदन् ) सैकड़ों दांतों वाला ( कृत्रिमः ) कृत्रिम ( कण्टकः ) कण्टक अर्थात् कंघा है वह ( अस्याः ) इस वधू के ( शीर्षण्यम् ) सिर के और ( केश्यम् ) केशों के ( मलम् ) मलको ( अप अप लिखात् ) बाहर निकाल कर दूर करे ।

अङ्गादङ्गाद् वयमस्या अप यक्ष्मं नि दध्मसि ।
तन्मा प्रापत् पृथिवीं मोत देवान् दिवं मा प्रापदुर्वन्तरिक्षम् ।
अपो मा प्रापन्मलमेतदग्ने यमं मा प्रापत् पितॄंश्च सर्वान् ॥६९ ॥

भा०—( वयम् ) हम लोग ( अस्याः ) इस वधू के ( अङ्गात् अङ्गात् ) एक एक अङ्ग से ( यक्ष्मम् ) रोगांश को ( अप निदध्मसि ) दूर करें । ( तत् ) वह मल ( पृथिवीम् मा प्रापत् ) पृथिवी को न प्राप्त हो, ( मा उत देवान् ) देवों, विद्वानों एवं दिव्य पदार्थों को भी प्राप्त न हो ( उरु अन्तरिक्षम् ) विशाल अन्तरिक्ष और ( दिवम् ) द्यौ को भी ( मा प्रापत् ) प्राप्त न हो । हे अग्ने ( एतत् मलम् ) यह मल ( अपः मा प्रापत् ) जलों में भी न जाय । ( यमं मा प्रापत् ) यम ब्रह्मचारी और व्यवस्थापक और ( सर्वान् च पितॄन् ) समस्त प्रजा के पालकों को भी ( मा प्रापत् ) प्राप्त न हो । प्रत्युत तुझ में ही भस्म हो जाय । वेद के सिद्धान्त से मल को अग्नि में ही जलाना चाहिये । एकमन्त्रों में कन्या के सर्वाङ्ग दोषों को शमन करती हुई आहुतियां देते हैं ।

६८–( प्र० ) ' कृत्रिमः कैङ्कः ' ( तृ० ) ' अपास्याः केश्यम् ' इति पैप्प० सं० । ' कङ्कत ' इति च क्वचित् ।

६९–( प्र० द्वि० ) ' योऽयमस्यामुप यक्ष्म निधत्त नः ' इति पैप्प० सं० ।

सं त्वा नह्यामि पयसा पृथिव्याः सं त्वा नह्यामि पयसौषधीनाम् ।
सं त्वा नह्यामि प्रजया धनेन सा संनद्धा सनुहि वाजमेमम् ॥७०॥ (१३)

भा०—हे वधू ! ( त्वा ) तुझको मैं ( पृथिव्याः पयसा ) पृथिवी के पुष्टिकारक पदार्थ, अन्न से ( सं नह्यामि ) भली प्रकार बांधता हूं । और ( ओषधीनाम् पयसा ) ओषधियों के पुष्टिकारक रस से ( त्वा सं नह्यामि ) तुझे भली प्रकारक बांधता हूं । ( त्वा ) तुझे ( प्रजया ) प्रजा और ( धनेन ) धन के बल से ( सं नह्यामि ) बांधता हूं । ( सा ) वह तू ( सं नद्धा ) खूब उत्तम रीति से मेरे संग बद्ध होकर ( इमम् ) इस ( वाजम् ) वीर्य को ( सुनुहि ) धारण कर उत्पन्न कर । विवाह की उत्तर विधि में 'अन्न-पाशेन मणिना' इत्यादि तीन मन्त्रों से भात वरवधू क्रम से खाते हैं उससे परस्पर एक दूसरे को बांधते हैं ।

अमोहमस्मि सा त्वं सामाहमस्म्यृक् त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वम् ।
ताविह सं भवाव प्रजामा जनयावहै ॥ ७१ ॥

भा०—पति पत्नी का जोड़ा कैसा है ? हे वधु ! ( अहम् ) मैं पति ( अमः अस्मि ) 'अम' यह मुख्य प्राण हूं और ( सा त्वम् ) तू वह 'वाक्'

७०—'सं त्वा नह्यामि पयसा घृतेन सं त्वा नह्याम्यप ओषधीभिः ।
सं त्वा नह्यामि प्रजयाऽहमद्य सा दीक्षिता सनवो वाजमस्मे ॥' इति तै० सं० ।

७१—( प्र० ) 'अमूहमस्मि' इति तै० ब्रा० । 'सा त्वमस्यमोऽहमस्मि' इति पा० गृ० सू० । ( च० ) 'तावेह सं भवावहै' पै० सं० । 'तावेहि संभवाव सह रेतो दधावहै पुंसे पुत्राय वेत्तवै' इति तै० ब्रा० । 'संरभावहै', 'दधावहै', 'वित्तवै' इति मन्त्र० । 'तावेहि विवहावहै प्रजां प्रजनयावहै' इति आ० गृ० सू० । 'तावेहि विवहावहै सह रेतो दधावहै प्रजां प्रजनयावहै, पुत्रान् विन्दावहै बहून् ते सन्तु जरदष्टयः' इति पा० गृ० सू० ।

है। ( अहं साम ) मैं सामवेद या गायन हूं और ( त्वम् ऋक् ) तू ऋग्वेद की ऋचा या गानपद है। ( अहं द्यौः ) मैं द्यौ, महान् आकाश हूं ( त्वम् पृथिवी ) तू पृथिवी है। ( तौ ) वे दोनों हम ( सम् भवाव ) एकत्र हों, मिलें और ( प्रजाम् ) प्रजा को ( आ जनयावहै ) उत्पन्न करें।

जनियन्ति नावग्रवः पुत्रियन्ति सुदानवः।
अरिष्टासू सचेवहि बृहते वाजसातये ॥ ७२ ॥

ऋ० ७। ९६। ४॥

भा०—( अग्रवः ) अविवाहित पुरुष ( नौ ) हम दोनों के समान ही ( जनियन्ति ) प्रथम स्त्री की इच्छा करते हैं। और ( सुदानवः ) उत्तम दानशील, वीर्यदान में समर्थ या धनाढ्य पुरुष ( पुत्रियन्ति ) पुत्रों की कामना करते हैं। हम दोनों ( अरिष्टासू ) प्राणों को सुरक्षित रूप से रखते हुए ( बृहते ) बड़े भारी ( वाजसातये ) बलवीर्य के लाभ के लिये ( सचेवहि ) परस्पर मिलकर रहें।

ये पितरो वधूदर्शा इमं वहतुमागमन्।
ते अस्यै वध्वै संपत्न्यै प्रजावच्छर्म यच्छन्तु ॥ ७३ ॥

भा०—( ये ) जो ( पितरः ) गुरु, माता, पिता, वृद्ध पालकजन ( वधूदर्शाः ) वधू को देखने के निमित्त से ( इमं ) इस ( वहतुम् ) विवाह

७२–'नौ ऽग्रवः' इति ह्विटनिकामितः। 'जनीयन्तोन्वग्रवः पुत्रीयन्तः सुदानवः' इति ऋ०। तत्र वसिष्ठ ऋषिः। सरस्वान् देवता।

७३–( द्वि० ) 'सम्पत्न्यै, इति क्वचित्।

७४–' पूर्वी। मागन्' इति पदच्छेदः। ' पूर्वा। आ-अगन्' इति ह्विटनिकामितः।

में ( आगमन् ) पधारे हैं ( ते ) वे ( पत्न्यै ) मेरी पत्नी ( अस्यै वध्वै ) इस वधू को ( प्रजावत् ) प्रजा सहित ( शर्म ) सुख प्राप्त करने के आशीर्वाद ( सं यच्छन्तु ) प्रदान करें ।

येदं पूर्वागन् रशनायमाना प्रजामस्यै द्रविणं चेह दत्त्वा ।
तां वहन्त्वगतस्यानु पन्थां विराडियं सुप्रजा अत्यजैषीत् ॥ ७४ ॥

भा०—( या ) जो ( इदं ) यह सुसम्बद्ध ( रशनायमाना ) रस्सी के समान, या शृंखला के समान एक के बाद दूसरी वंश परम्परा ( पूर्वा ) हम से पूर्व ( आ अगन् ) आती चली आ रही है वह ( अस्यै ) इस वधू को ( प्रजाम् ) प्रजा और ( द्रविणं च ) धन ( दत्त्वा ) देकर ( ताम् ) उसको ( अगतस्य ) भविष्यत् के ( पन्थाम् ) मार्ग पर ( अनु वहन्तु ) ले जांय । और ( इयं ) यह ( विराड् ) विशेषरूप से शोभा या आनन्द देने वाली पत्नी ( सुप्रजा ) उत्तम प्रजा युक्त होकर ( अति अजैषीत् ) सब से आगे बढ़ जाय ।

एषाऽस्य पुरुषस्य पत्नी विराट् । श० १४ । ६ । ११ । ३ ॥ विराट् विरमणाद् विराजनाद्वा । दै० य० ३ । १२ ॥

प्र बुध्यस्व सुबुधा बुध्यमाना दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ।
गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो दीर्घं त आयुः सविता कृणोतु ॥७५॥(१४)

भा०—हे वधु ! तू ( सुबुधा ) उत्तम ज्ञान युक्त, एवं सुख से शीघ्र जागने वाली होकर ( बुध्यमाना ) प्रातः सचेत जागृत रहकर (शतशारदाय) सौ बरस के ( दीर्घायुत्वाय ) दीर्घ जीवन के लिये ( प्र बुध्यस्व ) खूब अच्छी प्रकार जागृत रह, सचेत रह । ( गृहान् गच्छ ) तू घर में ऐसे जा,

---

७५–( तृ० ) 'गृहान् प्रेहि सुमनस्यमाना' ( च० ) 'तायुः सवि-' इति पैप्प० सं० ।

प्रवेश कर ( यथा ) जिस प्रकार ( गृहपत्नी असः ) तू गृह स्वामिनी हो। ( सविता ) सर्वोत्पादक परमात्मा ( ते आयुः दीर्घम् कृणोतु ) तेरी आयु को लम्बा करे।

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

[ तत्रैकं सूक्तम्, अथच पञ्चसप्ततिः । ]



## इति चतुर्दशं काण्डं समाप्तम् ।

अनुवाकयुगं सूक्तयुगं चैव चतुर्दशे ।
एकोनचत्वारिंशत्स्याच्छतं तत्र ऋचां गणः ॥



बाणवस्वङ्कचन्द्राब्दे आषाढस्य शुक्लस्य पञ्चमी ।
भृगौ चतुर्दशं काण्डमाथर्वणमुपारमत् ॥

इति प्रतिष्ठितविद्यालङ्कार-मीमांसातीर्थविरुदोपशोभित-श्रीमज्जयदेवशर्मणा विरचितेऽथर्वणो ब्रह्मवेदस्यालोकभाष्ये चतुर्दशं काण्डं समाप्तम् ।



॥ ओ३म् ॥

# अथ पञ्चदशं काण्डम्

## [ १ (१) ] व्रात्य प्रजापति का वर्णन ।

अध्यात्मकम् । मन्त्रोक्ताः उत व्रात्यो देवता । तत्र अष्टादश पर्यायाः । १ साम्नीपंक्तिः, २ द्विपदा साम्नी बृहती, ३ एकपदा यजुर्ब्राह्मी अनुष्टुप्, ४ एकपदा विराड् गायत्री, ५ साम्नी अनुष्टुप्, ६ प्राजापत्या बृहती, ७ आसुरीपंक्तिः, ८ त्रिपदा अनुष्टुप् । अष्टर्चं प्रथमं पर्यायसूक्तम् ॥

**व्रात्यं आसीदीयमान एव स प्रजापतिं समैरयत् ॥ १ ॥**

भा०—( व्रात्यः ) 'व्रात्य' वैकारिक अहंकार आदि प्राकृतिकगण का स्वामी, या सब देह से आवृत जीवों का स्वामी, या स्वामीरूप से वरण करने हारे जीवों या अधीन प्रजाओं का हितकारी राजा के समान प्रभु, या सब व्रतों का एकमात्र उपास्य, व्रात्य परमेश्वर ( ईयमानः ) गति करता ( आसीत् ) रहता है । ( सः ) वही अपने को ( प्रजापतिम् ) प्रजा के पालक प्रजापति, मेघ, पर्जन्य और आत्मा के रूप में ( सम् ऐरयत् ) प्रेरित करता है, प्रकट करता है ।

व्रियन्ते देहेन इति व्रताः, तेषां समूहाः व्राताः, जीवसमूहाः । तेषां पतिर्व्रात्यः परमेश्वरः । वृण्वते इति व्रताः, तेभ्यो हितः व्रात्यः । व्रतेषु भवो वा व्रात्यः ।

---

[ १ ] १–' व्रात्यो वा इदमग्र आसीत् ' इति पैप्प० सं० ।

स प्रजापतिः सुवर्णमात्मन्नपश्यत् तत् प्राजनयत् ॥ २ ॥

भा०—( स प्रजापति ) वह प्रजापति ( आत्मन् ) अपने आत्मा में ही ( सुवर्णम् ) सुवर्ण=तेजोमयरूप को स्वयं ( अपश्यत् ) देखता है। ( तत् ) वह ही ( प्र अजनयत् ) पुनः संसार को उत्पन्न करता है।

तदेकमभवत् तल्ललाममभवत् तन्महदभवत् तज्ज्येष्ठमभवत् तद् ब्रह्माभवत् तत् तपोभवत् तत् सत्यमभवत् तेन प्राजायत ॥३॥

भा०—( तत् ) वह ( एकम् अभवत् ) एक है, ( तत् ललामम् अभवत् ) वह ललाम=सब से सुन्दर, एवं सबका योनि, स्थान, सबके उत्पादक बीजों को धारण करनेहारा ( अभवत् ) रहा। ( तत् ) वह ( महत् अभवत् ) सब से महान् रहा। ( तत् ज्येष्ठम् अभवत् ) वही 'ज्येष्ठ' था, ( तद् ब्रह्म अभवत् ) वह ब्रह्म था। ( तत् तप अभवत् ) वह तप था। ( तत् सत्यम् अभवत् ) वह सत्य था। ( तेन ) उस परमेश्वर के सामर्थ्य से यह ( प्र अजायत ) सुन्दर संसार ऐसे सुन्दर रूप में उत्पन्न हुआ और होता है।

सोऽवर्धत स महानभवत् स महादेवोऽभवत् ॥ ४ ॥

भा०—( स. अवर्धत ) वह और भी बढ़ा। ( स महान् अभवत् ) वह 'महान्' हुआ। इसीलिये ( स. ) वह ( महादेव· अभवत् ) 'महादेव' है।

स देवानामीशां पर्यैत् स ईशानोऽभवत् ॥ ५ ॥

भा०—( सः ) वह ( ईशाम् ) ऐश्वर्यशील, जगत् को वश करने वाले ( देवानाम् ) देवों, अग्नि, वायु, जल, आदि महान् शक्तियों पर भी ( परि-ऐत् ) शासक है। अतः ( स. ईशानः अभवत् ) वह 'ईशान' है।

---

२—' आत्मनः सुवर्णमपश्यत् ' इति पैप्प० सं०।

४, ५—' महादेवोऽभवत् स ईशानोऽभवत् ' इति पैप्प० सं०।

स एकव्रात्योऽभवत् स धनुरादत्त तदेवेन्द्रधनुः ॥ ६ ॥

भा०—( सः ) वह ( एक व्रात्यः ) एक मात्र व्रात्य है, वह एक मात्र समस्त व्रतों का आश्रय, सब 'व्रात' जीवगणों, देवगणों, भूतगणों का स्वामी उनमें एक व्यापक सत्-रूप है। ( सः ) वह ( धनुः ) धनुष् को ( आदत्त ) ग्रहण करता है। ( तद् एव ) वह ही ( इन्द्र धनुः ) इन्द्र का धनुष् है। अर्थात् वह परमेश्वर धनुः अर्थात् समस्त संसार के प्रेरक बल को अपने वश करता है और वही प्रेरक बल 'इन्द्र-धनुष्' है। जिसका प्रतिरूप, मेघरूप प्रजापति का 'इन्द्र-धनुष' है।

नीलमस्योदरं लोहितं पृष्ठम् ॥ ७ ॥

भा०—(अस्य) इस धनुष् का ( उदरम् नीलम् ) उदर अर्थात् भीतर का भाग नीला और ( पृष्ठम् लोहितम् ) पीठ का, बाहरी भाग लोहित=लाल है।

नीलेनैवाप्रियं भ्रातृव्यं प्रोर्णोति लोहितेन द्विषन्तं विध्यतीति ब्रह्मवादिनो वदन्ति ॥ ८ ॥

भा०—( ब्रह्मवादिनः ) ब्रह्मवादी, ब्रह्म के उपदेष्टा ( इति ) इस प्रकार ( वदन्ति ) उपदेश करते हैं कि वह परमेश्वर अपने धनुष के ( नीलेन एव ) नीले भाग से ही ( अप्रियम् ) अप्रिय ( भ्रातृव्यम् ) शत्रु को ( प्र ऊर्णोति ) आच्छादित करता, बांधता है और ( लोहितेन ) लोहित=लाल भाग से ( द्विषन्तं ) द्वेष करने हारे को ( विध्यति ) बेधता है। ईश्वर के सत्व, रजः तमोमय त्रिगुणात्मक धनुष् के तामस भाग से अप्रिय, मूढ़ पुरुष को आवृत करता और क्रोधात्मक द्वेषी को राजस गुण से पीड़ित करता है।

( २ ) व्रात्य प्रजापति का वर्णन।

१-४ ( प्र० ), १ प०, ४ प० साम्नीअनुष्टुप्, १, २, ४ ( द्वि० ) साम्नी

६—' स देवानामेक व्रात्यः '....... तदिन्द्रधनुरभवत् ' इति पैप्प० सं०।

त्रिष्टुप् , १ तृ० द्विपदा आर्षी पङ्क्ति , १ ३, ४ ( च० ) द्विपदा ब्राह्मी गायत्री, १-४ ( प० ) द्विपदा आर्षी जगती २ ( प० ) साम्नी पङ्क्ति ३ ( प० ) आसुरी गायत्री, १-४ ( स० ) पदपङ्क्ति, १-४ ( अ० ) त्रिपदा प्राजापत्या त्रिष्टुप् , २ ( द्वि० ) एकपदा उष्णिक् , २ ( तृ० ) द्विपदा आर्षी भुरिक् त्रिष्टुप् , २ ( च० ) आर्षी परानुष्टुप् ३ ( तृ० ) द्विपदा विराडार्षी पङ्क्ति , ४ ( तृ० ) निचृदार्षी पङ्क्ति । अष्टाविंशत्यृच द्वितीय पर्यायसूक्तम् ॥

स उदतिष्ठत् स प्राचीं दिशमनु व्यचलत् ॥ १ ॥ तं बृहच्च रथ न्तरं चादित्याश्च विश्वे च देवा अनुव्यचलन् ॥ २ ॥ बृहते च वै स रथन्तराय चादित्येभ्यश्च विश्वेभ्यश्च देवेभ्य आ वृश्चते य एवं विद्वांसं व्रात्यमुपवदति ॥ ३ ॥ बृहतश्च वै स रथन्तरस्य चादि त्यानां च विश्वेषां च देवानां प्रियं धाम भवति तस्य प्राच्यां दिशि ॥४॥ श्रद्धा पुंश्चली मित्रो मागधो विज्ञानं वासोऽहरुष्णीषं रात्री केशा हरितौ प्रवर्तौ कल्मलिर्मणिः ॥५॥ भूतं च भविष्यच्च परिष्कन्दौ मनो विपथम् ॥ ६ ॥ मातरिश्वा च पवमानश्च विप थवाहौ वातः सारथी रेष्मा प्रतोदः ॥ ७ ॥ कीर्तिश्च यशश्च पुरः सरावैनं कीर्तिर्गच्छत्या यशो गच्छति य एवं वेद ॥ ८ ॥

भा०— ( स ) वह व्रात्य ( उद् अतिष्ठत् ) उठा । ( स ) वह ( प्राचीं दिशम् ) प्राची दिशा को ( अनुव्यचलत् ) चला ॥ १ ॥ ( तम् अनु ) उसके पीछे २ ( बृहत् च रथन्तरम् च ) बृहत् और रथन्तर ( आदित्याः च विश्वे च देवाः ) आदित्य और विश्वेदेव ( अनुव्यचलन् ) चले ॥ २ ॥ ( यः एवं विद्वांसम् ) जो पुरुष इस प्रकार के विद्वान् व्रात्य की

४—' प्रियं धा भवति य एवं वेद ' इति ह्विटनिकामितः ।

( उपवदति ) निन्दा करता है वह ( बृहते च वै रथन्तराय ) बृहत् और रथन्तर, ( आदित्येभ्यः च विश्वेभ्यः देवेभ्यः च ) आदित्य और विश्वे देवों के प्रति ( आ वृश्चते ) अपराध करता है ॥ ३ ॥

उस व्रात्य का स्वरूप क्या है ? ( तस्य ) उसके ( प्राच्यां दिशि ) प्राची दिशा में ( श्रद्धा पुंश्चली ) श्रद्धा नारी के समान है, ( मित्रः मागधः ) मित्र सूर्य उसका मागध, स्तुतिपाठक के समान है, ( विज्ञानं वासः ) विज्ञान उसका वस्त्र के समान है। ( अहः उष्णीषम् ) अहः=दिन उसकी पगड़ी के समान है । ( रात्री केशाः ) रात्री उसके केश हैं। ( हरितौ ) दोनों पीत वर्ण के उज्ज्वल सूर्य और चन्द्र ( प्रवर्त्तौ ) दो कुण्डल हैं। ( कल्मलिः ) तारे उसके ( मणिः ) देह पर मणियें हैं। ( भूतं च भविष्यत् च ) भूत और भविष्यत् उसके ( परिस्कन्दौ ) आगे पीछे चलने वाले दो पैदल सिपाही हैं । ( मनः ) मन उसका ( विपथम् ) नाना मार्गों में चलने वाला युद्ध का रथ है ॥ ६ ॥ ( मातरिश्वा च पवमानश्च )मातरिश्वा और पवमान दोनों ( विपथवाहौ ) उसके युद्धरथ के घोड़े हैं। ( वातः सारथिः ) वात, सारथि है। ( रेष्मा प्रतोदः ) बवण्डर उसका हण्टर है ॥ ७ ॥ ( कीर्त्तिः च ) कीर्त्ति और ( यशः च ) यश उसके ( पुरःसरौ ) आगे चलने वाले हरकारे हैं। ( यः एवं वेद ) जो प्रजापति के इस प्रकार के स्वरूप का साक्षात् कर लेता है ( एनं ) उसको ( कीर्त्तिः गच्छति ) कीर्ति प्राप्त होती है और ( यशः आ गच्छति ) यश प्राप्त होता है। महादेव के त्रिपुर विजयी रथ के पौराणिक अलंकार की इससे तुलना करनी चाहिये।

स उद॑तिष्ठ॒त् स दक्षि॑णां दिश॒मनु॒ व्य॑चलत् ॥९॥ तं य॑ज्ञायज्ञियं॑ च वामदे॒व्यं च य॒ज्ञश्च॒ यज॑मानश्च प॒शव॑श्चानु॒व्य॑चलन् ॥ १० ॥ य॒ज्ञाय॒ज्ञियाय॒ च॒ वै स वा॑मदे॒व्याय॑ च य॒ज्ञाय॑ च॒ यज॑मानाय च प॒शुभ्य॒श्चा वृ॑श्चते य ए॒वं वि॒द्वांसं॒ व्रात्य॑मु॒पवद॑ति ॥ ११ ॥ य॒ज्ञा-

यज्ञायज्ञियस्य च वै स वामदेव्यस्य च यज्ञस्य च यजमानस्य च पशूनां च प्रियं धाम भवति तस्य दक्षिणायां दिशि ॥ १२ ॥ उषाः पुंश्चली मन्त्रो मागधो विज्ञानं० ०मणिः ॥ १३ ॥ अमावास्या च पौर्णमासी च परिष्कन्दौ मनो० १० ॥ १४ ॥

भा०—प्रजापति व्रात्य का द्वितीय स्वरूप। ( सः उद् अतिष्ठत् ) वह प्रजापति व्रात्य उठ खड़ा हुआ। ( स. दक्षिणाम् दिशम् अनुव्यचलत् ) वह दक्षिण दिशा की ओर चला ॥९॥ ( तम् यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च, यज्ञः च, यजमान· च पशवः च अनुव्यचलन् ) उसके पीछे यज्ञायज्ञिय, वामदेव्य, यज्ञ, यजमान और पशु भी चले ॥ १० ॥ ( य. एवं विद्वांसं व्रात्यम् उपवदति ) जो ऐसे विद्वान् व्रात्य की निन्दा करता है ( यज्ञायज्ञियाय, च, वै स वामदेव्याय च यज्ञाय च, यजमानाय च पशुभ्यः च आवृश्चते ) वह यज्ञायज्ञिय, वामदेव्य, यज्ञ, यजमान, और पशुओं के प्रति अपराधी होता है। और ( यः एवं वेद ) जो इस प्रकार व्रात्य प्रजापति का स्वरूप जान लेता है वह ( यज्ञायज्ञियस्य च वै सः वामदेव्यस्य च, यज्ञस्य च पशूनां च प्रिय धाम भवति ) यज्ञायज्ञिय, वामदेव्य, यज्ञ, यजमान, और पशुओं का भी प्रिय आश्रय हो जाता है। ( दक्षिणायाम् दिशि तस्य ) दक्षिण दिशा में उसकी ( पुंश्चली उषाः ) उषा, पुंश्चली, नारी के समान है। ( मन्त्र· मागध. ) वेद मन्त्र समूह उसके स्तुति पाठक के समान, ( विज्ञानं वासः ) विज्ञान उसके वस्त्र के समान, ( अहः उष्णीषम् रात्री केशाः हरितौ प्रवर्तौ कल्मलिः मणिः ) दिन पगड़ी, रात्रि केश, सूर्य चन्द्र दोनों कुण्डल और तारे गले में पड़ी मणियां हैं। ९ ॥ १३ ॥ ( अमवास्या च पौर्णमासी च परिष्कन्दौ मनो विपथम् ) अमावस्या और पौर्णमासी दोनों हरकारे हैं। मन उसका रथ है। ( मातरिश्वा च० इत्यादि ) पूर्ववत् ऋचा सं० ७८ की व्याख्या देखो ॥ १४ ॥

स उर्दतिष्ठत् स प्रतीचीं दिशमनु व्य/चलत् ॥ १५ ॥ तं वैरूपं च वैराजं चापश्च वरुणश्च राजानुव्यचलन् ॥१६॥ वैरूपाय च वै स वैराजाय चाद्भ्यश्च वरुणाय च राज्ञ आ वृश्चते य एवं विद्वांसं व्रात्यमुपवदति ॥ १७ ॥ वैरूपस्य च वै स वैराजस्य चापां च वरुणस्य च राज्ञः प्रियं धाम भवति तस्य प्रतीच्यां दिशि ॥ १८ ॥ इरा पुंश्चली हसो मागधो विज्ञानं० ०मणिः ॥१९॥ अहश्च रात्री च परिष्कन्दौ मनो० । ० ॥ २० ॥

भा०—व्रात्य का तृतीय स्वरूप। ( स उद् अतिष्ठत्० ॥ १५ ॥ ) वह व्रात्य उठा। वह प्रतीची अर्थात् पश्चिम दिशा की ओर चला। ( तं वैरूपं च, वैराजं च, आपः च वरुणः च राजा अनुव्यचलन् ॥ १६ ॥ ) उसके पीछे पीछे वैरूप, वैराज, आपः, और राजा वरुण चले। ( वैरूपाय च० इत्यादि ॥ १७ ॥ ) जो ऐसे विद्वान् की निन्दा करता है वह वैरूप, वैराज, आपः और राजा वरुण का अपमान करता है। ( वैरूपस्य०·· प्रियं धाम भवति ) और जो उसको जान लेता है वह वैरूप, वैराज, आपः और राजा वरुण का प्रिय आश्रय हो जाता है।

( तस्यां प्रतीच्याम् दिशि ॥ १८ ॥ इरा पुंश्चली, हसः मागधः विज्ञानं वासः इत्यादि ) ॥ १९ ॥ ( अहः च रात्री च परिष्कन्दौ मनः विपथम्० । ० ॥ २० ॥ इत्यादि पूर्ववत् ) उसकी पश्चिम दिशा में इरा=अन्न पुंश्चली हस=आनन्द प्रमोद, उसका मागध=स्तुतिपाठक, विज्ञान वस्त्र, दिन पगड़ी रात्रि केश हैं, इत्यादि पूर्ववत् ( ऋचा सं० ५ ) और रात्रि दो हरकारे मन रथ है, इत्यादि पूर्ववत् ऋचा ( सं० ६ ) ॥ २० ॥

स उर्दतिष्ठत् स उदीचीं दिशमनु व्य/चलत् ॥ २१ ॥ तं श्यैतं च नौधसं च सप्तर्षयश्च सोमश्च राजानुव्य/चलन् ॥ २२ ॥ श्यैताय

## व्रात्य प्रजापति के चारों दिशाओं के प्रस्थान के चार रूप ।

| दिशा | प्राची १ | दक्षिणा २ | प्रतीची ३ | उदीची ४ |
|---|---|---|---|---|
| अनुगन्तारः | बृहत्, रथन्तरम्, आदित्याः विश्वेदेवाः | यज्ञायज्ञियं, वामदेव्यं, यज-मानः, पशवः | वैरूपं, वैराजं आपः, वरुणो, राजा | श्यैतं, नौधसं, सप्तर्षयः, सोमो राजा |
| पुंश्चली | श्रद्धा | उषा | इरा | विद्युत् |
| मागधः | मित्रः | मन्त्रः | हसः | स्तनयित्नुः |
| वासः | विज्ञानं | विज्ञानं | विज्ञानं | विज्ञानं |
| उष्णीषः | अहः | अहः | अहः | अहः |
| केशाः | रात्रिः | रात्रिः | रात्रिः | रात्रिः |
| प्रवर्त्तौ | हरितौ | हरितौ | हरितौ | हरितौ |
| मणिः | कल्मलिः | कल्मलिः | कल्मलिः | कल्मलिः |
| परिष्कन्दौ | भूतं, भविष्यत् | अमावस्या, पौर्ण० | अहः, रात्री | श्रुतं, विश्रुतं |
| विपथम् | मनः | मनः | मनः | मनः |
| विपथवाहौ | मातरिश्वा, पवमानः | मातरिश्वा, पवमानः | मातरिश्वा, पवमानः | मातरिश्वा, पवमानः |
| सारथिः | वातः | वातः | वातः | वातः |
| प्रतोदः | रेष्मा | रेष्मा | रेष्मा | रेष्मा |

१—बृहत्=ऐश्वर्यं, दीर्घम्, द्यौः, स्वर्गः, प्राणः, क्षत्रं, मनः अदः । रथन्तरम्=पृथिवी, वाक्, ब्रह्मवर्चसम्, ऋग्वेदः, अपानः, देवरथः, अन्नम्, अग्निः, मननं । रथन्तरं परोक्षं वैरूपम् ।

## ( ३ ) व्रात्य के सिंहासन का वर्णन ।

१ पिपीलिका मध्या गायत्री, २ साम्नी उष्णिक्, ३ याजुषी जगती, ४ द्विपदा आर्ची उष्णिक्, ५ आर्ची बृहती, ६ आसुरी अनुष्टुप्, ७ साम्नी गायत्री, ८ आसुरी पंक्तिः, ९ आसुरी जगती, १० प्राजापत्या त्रिष्टुप्, ११ विराड् गायत्री। एकादशर्चं तृतीय पर्याय सूक्तम् ॥

**स सं॑वत्स॒रमू॒र्ध्वो॑ऽतिष्ठ॒त्तं दे॒वा अ॑ब्रुव॒न् व्रात्य॒ किं नु ति॑ष्ठ॒सीति॑ ॥१॥**

भा०—( सः ) वह ( संवत्सरम् ) वर्ष भर तक ( ऊर्ध्वः अतिष्ठत् ) खड़ा ही रहा। ( तं देवाः अब्रुवन् ) उसको देवों ने कहा। ( व्रात्य किं नु तिष्ठसि इति ) हे व्रात्य प्रजापते! तू क्यों खड़ा है।

**सो॑ऽब्रवीदास॒न्दीं मे॒ सं भ॑रन्त्विति॑ ॥ २ ॥**

भा०—( सः अब्रवीत् ) वह बोला ( मे ) मेरे लिये ( आसन्दीं सं भरन्तु इति ) आसन्दी, बैठने की चौकी या पीढ़ा या आसन ले आओ।

**तस्मै॒ व्रात्या॑यास॒न्दीं सम॑भरन् ॥ ३ ॥**

भा०—( तस्मै व्रात्याय ) उस व्रात्य के लिये ( आसन्दीम् सम् अभरन् ) चौकी ले आये।

---

२—ऊर्ध्वस्थितिः=ऊर्ध्वः अप्रासनम्। चामरेव्य, पिता, आत्मा, शान्ति- भेषज, प्रजनन, प्राजापत्य, प्राणः ऊर्ध्वः, यजमानलोक, अमृतलोकः, स्वर्गः अन्तरिक्षम्। स्वर्गो लोकः।

३—वैरूप=वाग्, पशवः, दिशः। वैराज=प्रजापतिः। आप=प्रजाः, वरुणो राजा शूद्रो राजा शासकः। बृहद्वैराजम्। बृहद् एतद् परोक्ष यद्वैरूपम् ॥

४—रथं साम=ऊर्ध्वः। गौतमम्-अक्षतम्। सर्वः स्म प्राणाः। सोमः राजा ब्रह्मचारी। बृहद् वै परोक्ष गौतमम्। रथन्तर इदेतद् ऐवम्।

तस्या ग्रीष्मश्च वसन्तश्च द्वौ पादावास्तां शरच्च वर्षाश्च द्वौ ॥४॥

भा०—चौकी का स्वरूप क्या था ? ( तस्याः ग्रीष्मः च वसन्तः च द्वौ पादौ आस्ताम् ) उस ' आसन्दी ' के दो पाये ग्रीष्म और वसन्त रहे। और ( शरत् च वर्षाः च द्वौ ) शरत् और वर्षा ये दो पाये और थे।

बृहच्च रथन्तरं चानूच्येऽआस्तां यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च तिरश्च्ये/ ॥ ५ ॥

भा०—( बृहतः च ) ' बृहत् ' ( रथन्तरम् च ) और ' रथन्तर ' ये दोनों ( अनूच्ये आस्ताम् ) दायें बायें की लकड़ी थे, और ( यज्ञायज्ञियम् ) यज्ञायज्ञिय और ( वामदेव्यं च ) ' वामदेव्य ' ये दोनों ( तिरश्च्ये ) तिरछे, सिर-पांयते की लकड़ी थे।

ऋचः प्राञ्चस्तन्तवो यजूंषि तिर्यञ्चः ॥ ६ ॥

भा०—उस पीढ़े के ( प्राञ्चः तन्तवः ) लम्बे, तन्तु या निवार के पलेट ( ऋचः ) ऋग्वेद के मन्त्र थे और ( तीर्यञ्चः ) तिरछे तन्तु या पलेट ( यजूंषि ) यजुर्वेद के मन्त्र थे।

वेद आस्तरणं ब्रह्मोपबर्हणम् ॥ ७ ॥

भा०—( वेदः ) वेद ज्ञानमय ( आस्तरणम् ) उसका विछौना और ( ब्रह्म उपबर्हणम् ) ब्रह्म=ब्रह्मविद्या उसका सिरहाना था।

सामासाद उद्गीथोऽपश्रयः ॥ ८ ॥

भा०—( साम आसादः ) 'साम' उस पीढ़े पर बैठने का स्थान था। ( उद्गीथः उपश्रयः ) उद्गीथ उसमें ढासने के 'ढ़ध्धे' लगे थे।

तामासन्दीं व्रात्य आरोहत् ॥ ९ ॥

५-' तिरश्चे ' इति क्वचित्।

भा०—( ताम् ) उस ( आसन्दीम् ) चौकी, पीढ़ी पर ( व्रात्य. अरोहत् ) प्रजापति व्रात्य चढ़ा ।

तस्य देव जनाः परिष्कन्दा आसन्त्संकल्पाः ।
प्रहाय्या३ विश्वानि भूतान्युपसदः ॥ १० ॥

भा०—( तस्य ) उसके ( परिष्कन्दाः ) चारों ओर खड़े होने वाले अङ्गरक्षक सिपाही ( देवजनाः ) दिव्य शक्तियां, या देवजन, विद्वान्गण थे। (संकल्पाः) संकल्प ही (प्रहाय्याः) दूत या गुप्तचर थे। और (विश्वानि भूतानि) समस्त प्राणी ( उपसदः ) समीप बैठने वाले उपजीवी, भृत्य, दरबारी थे।

विश्वान्येवास्य भूतान्युपसदो भवन्ति य एवं वेद ॥ ११ ॥

भा०— यः एवं वेद ) जो इस प्रकार जान लेता है या जो ( एवं ) व्रात्य प्रजापति के इस प्रकार के स्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है ( अस्य ) उसके समीप ( विश्वानि एव भूतानि ) समस्त प्राणी ( उपसदः भवन्ति ) निर्भय होकर उसकी शरण में रहते हैं ।

( ४ ) व्रात्य प्रजापति का राजतन्त्र ।

१, ५, ६ ( द्वि० ) दैवी जगती, २, ३, ४ (प्र०) प्राजापत्या गायत्र्यः, १ (द्वि०), २ ( द्वि० ) आर्च्यनुष्टुभौ १ ( तृ० ), ४ ( तृ० ) द्विपदा प्राजापत्या जगती, ३ ( द्वि० ) प्राजापत्या पङ्क्तिः, २ ( तृ० ) आर्ची जगती, ३ ( तृ० ) भौमार्ची त्रिष्टुप्, ४ ( द्वि० ) साम्नी त्रिष्टुप्, ५ ( द्वि० ) प्राजापत्या बृहती, ५ (तृ०), ६ ( तृ० ) द्विपदा आर्ची पङ्क्तिः, ६ ( द्वि० ) आर्ची उष्णिक् । अष्टादशर्चं चतुर्थं पर्यायसूक्तम् ॥

तस्मै प्राच्या दिशः ॥ १ ॥ वासन्तौ मासौ गोप्तारावकुर्वन् बृहच्च रथन्तरं चानुष्ठातारौ ॥ २ ॥ वासन्तावेनं मासौ प्राच्या दिशो गोपायतो बृहच्च रथन्तरं चानु तिष्ठतो य एवं वेद ॥ ३ ॥

१०—'प्रहाय्यो वि-' इति क्वचित् ।

भा०—( प्राच्याः दिशः ) प्राची दिशा में ( तस्मै ) उस व्रात्य के ( वासन्तौ मासौ ) वसन्त ऋतु के दोनों मासों को ( गोप्तारौ अकुर्वन् ) देवों ने रक्षक कल्पित किया। ( बृहत् च रथन्तरं च ) बृहत् और रथन्तर दोनों को ( अनुष्ठातारौ ) अनुष्ठाता, कर्मकर भृत्य या सेवक कल्पित किया। ( यः एवं वेद ) जो पुरुष व्रात्य प्रजापति के इस स्वरूप का भली प्रकार साक्षात् कर लेता है ( एनं ) उसको ( वासन्तौ मासौ ) वसन्त के दोनों मास ( प्राच्याः दिशः ) प्राची दिशा से ( गोपायतः ) रक्षा करते हैं। ( बृहत् च ) बृहत् और ( रथन्तरं च ) रथन्तर दोनों ( अनु तिष्ठतः ) उसकी सेवा करते हैं।

तस्मै॑ दक्षि॑णाया दि॒शः ॥ ४ ॥ ग्रैष्मौ॒ मासौ॑ गोप्ता॒राव॑कुर्वन् यज्ञा॒यज्ञियं॑ च वामदे॒व्यं॑ चा॑नुष्ठा॒तारौ॑ ॥ ५ ॥ ग्रैष्मा॑वेनं॒ मासौ॑ दक्षि॑णाया दि॒शो गो॑पायतो यज्ञा॒यज्ञियं॑ च वामदे॒व्यं॑ चानु॑ तिष्ठतो॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ ६ ॥

भा०—( तस्मै ) उस व्रात्य के ( दक्षिणायाः दिशः ) दक्षिण दिशा में ( ग्रैष्मौ मासौ ) ग्रीष्म के दोनों मासों को ( गोप्तारौ अकुर्वन् ) गोप्ता, अङ्गरक्षक कल्पित किया (यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च अनुष्ठातारौ) यज्ञायज्ञिय और वामदेव्य इन दोनों को भृत्य कल्पित किया ( यः एवं वेद ) जो इस प्रकार के व्रात्य प्रजापति के स्वरूप को साक्षात् जान लेता है ( एनं ) उस को ( ग्रैष्मौ मासौ ) ग्रीष्म के दोनों मास ( दक्षिणायाः दिशः ) दक्षिण दिशा से ( गोपायतः ) रक्षा करते हैं और ( यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च ) यज्ञायज्ञिय और वामदेव्य दोनों उसकी (अनु तिष्ठतः) आज्ञा पालन करते हैं।

तस्मै॑ प्र॒तीच्या॑ दि॒शः ॥ ७ ॥ वार्षि॑कौ॒ मासौ॑ गोप्ता॒राव॑कुर्वन् वैरू॒पं च॑ वैरा॒जं चा॑नुष्ठा॒तारौ॑ ॥ ८ ॥ वार्षि॑कावेनं॒ मासौ॑ प्र॒तीच्या॑ दि॒शो गो॑पायतो वैरू॒पं च॑ वैरा॒जं चानु॑ तिष्ठतो॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ ९ ॥

भा०—( तस्मै प्राच्याः दिशः ) प्राची दिशा से उसके लिये (वार्षिकौ मासौ ) वर्षा के दो मासों को ( गोप्तारौ अकुर्वन् ) रक्षक कल्पित करते हैं। और (वैरूपं च वैराजं च अनुष्ठातारौ) वैरूप और वैराज को अनुष्ठाता, आज्ञा पालक भृत्य कल्पित किया है। ( यः एवं वेद ) जो इस प्रकार व्रात्य प्रजापति के स्वरूप को साक्षात् जान लेता है ( एनं ) उसको (प्रतीच्याः दिशः ) प्रतीची=पश्चिम दिशा से पिछली तरफ से ( वार्षिकौ मासौ गोपायतः ) वर्षा काल के दोनों मास रक्षा करते हैं ( वैरूपं च वैराजं च ) वैरूप और वैराज ये दोनों ( अनु तिष्ठतः ) भृत्य के समान उस की आज्ञानुकूल कार्य करते हैं।

तस्मा उदीच्या दिशः ॥ १० ॥ शारदौ मासौ गोप्तारावकुर्वञ्छ्यैतं च नौधसं चानुष्ठातारौ ॥ ११ ॥ शारदावेनं मासावुदीच्या दिशो गोपायतः श्यैतं च नौधसं चानु तिष्ठतो य एवं वेद ॥ १२ ॥

भा०—( उदीच्या दिशः ) उत्तर दिशा से ( तस्मै ) उस व्रात्य प्रजापति के लिये ( शारदौ मासौ ) शरद् ऋतु के दोनों मासों को ( गोप्तारौ ) रक्षक ( अकुर्वन् ) बनाया। ( श्यैतं च नौधसं च अनुष्ठातारौ ) श्यैत और नौधस दोनों को उसके आज्ञा पालक भृत्य कल्पित किया। ( यः एवं वेद ) जो इस प्रकार व्रात्य प्रजापति के स्वरूप को साक्षात् करता है ( एनं ) उसको ( शारदौ मासौ ) शरद् ऋतु के दोनों मास ( उदीच्याः दिशः ) उत्तर दिशा से ( गोपायतः ) रक्षा करते हैं। ( श्यैतं च नौधसं च ) श्यैत और नौधस दोनों ( अनु तिष्ठत ) उसकी सेवा करते हैं।

तस्मै ध्रुवायां दिशः ॥ १३ ॥ हैमनौ मासौ गोप्तारावकुर्वन् भूमिं चाग्निं चानुष्ठातारौ ॥ १४ ॥ हैमनावेनं मासौ ध्रुवायां दिशो गोपायतो भूमिश्चाग्निश्चानु तिष्ठतो य एवं वेद ॥ १५ ॥

भा०—( ध्रुवायाः दिशः ) ध्रुवा=नीचे की दिशा से ( तस्मै ) उसके लिये ( हैमनौ मासौ ) हेमन्त ऋतु के दोनों मासों को ( गोप्तारौ अकुर्वन् )

रक्षक कल्पित किया । ( भूमिं च अग्निम् च अनुष्ठातारौ ) भूमि और अग्नि को उसके भृत्य कल्पित किया । ( यः एवं वेद ) जो व्रात्य प्रजापति के इस प्रकार के स्वरूप को साक्षात् कर लेता है ( एनम् ) उसको ( हैमनौ मासौ ) हेमन्त ऋतु के दोनों मास ( ध्रुवायाः दिशः ) 'ध्रुवा' दिशा, अर्थात् भूमि की ओर से, नीचे से ( गोपायतः ) रक्षा करते हैं और ( भूमिः च ) भूमि और ( अग्निः च ) अग्नि ( अनु तिष्ठतः ) उसके भृत्य के समान काम करते हैं ।

**तस्मा ऊर्ध्वाया दिशः ॥ १६ ॥ शैशिरौ मासौ गोप्तारावकुर्वन् दिवं चादित्यं चानुष्ठातारौ ॥ १७ ॥ शैशिरावेनं मासावूर्ध्वाया दिशो गोपायतो द्यौश्चादित्यश्चानु तिष्ठतो य एवं वेद ॥ १८ ॥**

भा०—( ऊर्ध्वायाः दिशः ) ऊपर की दिशा से ( तस्मै ) उसके लिये ( शैशिरौ मासौ ) शिशिर ऋतु के दोनों मासों को ( गोप्तारौ ) रक्षक ( अकुर्वन् ) कल्पित किया । और ( दिवं च आदित्यं च ) द्यौ=आकाश और सूर्य को ( अनुष्ठातारौ ) कर्मकर भृत्य कल्पित किया । १७ ॥ ( यः एवं वेद ) जो व्रात्य प्रजापति के इस प्रकार के स्वरूप को साक्षात् करता है ( एनं ) उसको ( शैशिरौ मासौ ) शिशिर काल के दोनों मास (ऊर्ध्वायाः दिशः ) ऊपर की दिशा से ( गोपायतः ) रक्षा करते हैं और ( द्यौः च आदित्यः च ) आकाश और सूर्य ( अनु तिष्ठतः ) उसका भृत्य के समान काम करते हैं ॥ १८ ॥

## ( ५ ) व्रात्य प्रजापति का राज्यतन्त्र ।

अग्न्यमन्तम् । मन्त्रोक्तो रुद्रो देवता । १ प्र० त्रिपदा समविषमा गायत्री, १ द्वि० त्रिपदा भुरिक् आर्ची त्रिष्टुप्, १-७ तृ० द्विपदा प्राजापत्यानुष्टुप्, २ प्र० त्रिपदा स्वराट् प्राजापत्या पंक्तिः, २-४ द्वि०, ६ त्रिपदा ब्राह्मी गायत्री, ३, ४, ६ प्र० त्रिपदा ककुभः, ५, ७ प्र० भुरिग्विषमागायत्र्यौ, ५ द्वि० निचृद् ब्राह्मी गायत्री, ७ द्वि० विराट् । षोडशर्चं पञ्चमं पर्यायसूक्तम् ॥

तस्मै प्राच्या दिशो अन्तर्देशाद् भवमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ १ ॥ भव एनमिष्वासः प्राच्या दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातानु तिष्ठति नैनं शर्वो न भवो नेशानः ॥ २ ॥ नास्य पशून् समानान् हिनस्ति य एवं वेद ॥ ३ ॥

भा०—( तस्मै ) उस व्रात्य प्रजापति के लिये ( प्राच्याः दिशः अन्तर्देशात् ) प्राची दिशा के भीतरी देश से ( इष्वासम् ) धनुर्धारी ( भवम् ) भव को ( अनुष्ठातारम् ) उसका कर्मचारी ( अकुर्वन् ) बनाया ॥ १ ॥ ( यः एवम् ) जो इसके इस रहस्य को ( वेद ) जानता है ( एनम् ) उसको ( इष्वासः ) धनुर्धर, ( भवः ) भव ( प्राच्या दिशः अन्तः देशात् ) प्राची दिशा के अन्तः देश से ( अनुष्ठाता ) उसका कर्मकर होकर ( अनुतिष्ठति ) उसकी आज्ञानुसार कार्य करता है। ( न शर्व० ) न शर्व, ( न भव ) न भव और ( न ईशानः ) न ईशान ही ( एनं ) उसको विनाश करता है और वे भव, शर्व, और ईशान ( न अस्य पशून् ) न इसके पशुओं को ( न समानान् ) और न इसके समान, बन्धुओं को ही ( हिनस्ति ) विनाश करता है।

तस्मै दक्षिणाया दिशो अन्तर्देशाच्छर्वमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ ४ ॥ शर्व एनमिष्वासो दक्षिणाया दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातानु तिष्ठति नैनं० ॥ ५ ॥

भा०—( दक्षिणायाः दिशः अन्तः देशात् ) दक्षिण दिशा के भीतरी भाग से देव विद्वानगण ( तस्मै ) उसके लिये ( शर्वम् इष्वासम् अनुष्ठातारम् अकुर्वन् ) शर्व धनुर्धर को उसका भृत्य कल्पित करते हैं। ( यः एवं वेद शर्वः एनम् इष्वासः दक्षिणाया दिशः अन्तः देशात् अनुष्ठाता अनुतिष्ठति न एनं० ( नास्य पशून्० इत्यादि पूर्ववत् ) जो मारप के इस प्रकार

के स्वरूप को जानता है शर्व धनुर्धर होकर दक्षिण दिशा के भीतरी देश से उसका भृत्य होकर उसके आज्ञानुसार कर्म करता है। और भव, शर्व और ईशान भी न उसको नाश करते हैं और न उसके मित्रों का नाश करते हैं।

तस्मै प्रतीच्या दिशो अन्तर्देशात् पशुपतिमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ ६ ॥ पशुपतिरेनमिष्वासः प्रतीच्या दिशो अन्तर्देशादनु० ॥ ७ ॥

भा०—( प्रतीच्याः दिशः अन्तः देशात् ) पश्चिम दिशा के भीतरी देश से ( तस्मै ) उस व्रात्य प्रजापति के लिये ( इष्वासम् पशुपतिम् ) बाण फेंकने वाले धनुर्धर पशुपति को ( अनुष्ठातारम् अकुर्वन् ) चाकर कल्पित करते हैं। ( यः एवं वेद ) जो इस प्रकार के प्रजापति व्रात्य के स्वरूप को जानता है ( पशुपतिः इष्वासः ) पशुपति धनुर्धर ( एनम् ) उसको ( प्रतीच्याः दिशः अन्तर्देशात् ) पश्चिम दिशा के भीतरी प्रदेश से ( अनुष्ठाता अनुतिष्ठति ) भृत्य उसकी सेवा करता है ( नैनं० ) इत्यादि पूर्ववत्।

तस्मा उदीच्या दिशो अन्तर्देशादुग्रं देवमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ ८ ॥ उग्र एनं देव इष्वास उदीच्या दिशो अन्तर्देशादनु० ॥ ९ ॥

( तस्मै उदीच्याः दिशः इत्यादि ) उत्तर दिशा से धनुर्धर उग्रदेव को उसका भृत्य कल्पित करते हैं। ( य एवं वेद इत्यादि० ) जो इस प्रकार के व्रात्य प्रजापति के स्वरूप को साक्षात् करता है ( उग्रः देवः इष्वासः एनं उदीच्या० इत्यादि ) उग्र देव, धनुर्धर उसको उत्तर दिशा के भीतरी देश से सेवा करता है। इत्यादि पूर्ववत्।

तस्मै ध्रुवायां दिशो अन्तर्देशाद् रुद्रमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ १० ॥ रुद्र एनमिष्वासो ध्रुवायां दिशो अन्तर्देशादनु० ॥ ११ ॥

भा०—( ध्रुवायाः दिशः अन्तर्देशात् ) ध्रुवा=नीचे की दिशा के भीतरी देश से ( तस्मै ) उसके लिये ( रुद्रम् इष्वासम् अनुष्ठातारम् अकुर्वन् ) रुद्र धनुर्धर को उसका भृत्य कल्पित किया। ( यः एवं वेद ) जो इस प्रकार के व्रात्य प्रजापति के स्वरूप को साक्षात् करता है ( एनं रुद्रः इष्वासः ) उसको रुद्र धनुर्धर ( ध्रुवायाः दिशः ) ध्रुवा दिशा के ( अन्तः देशात् अनुष्ठाता अनुतिष्ठति नास्य पशु० इत्यादि ) भीतरी प्रदेश से उसकी सेवा करता है इत्यादि पूर्ववत्।

**तस्मा ऊर्ध्वाया दिशो अन्तर्देशान्महादेवमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ १२ ॥ महादेव एनमिष्वास ऊर्ध्वाया दिशो अन्तर्देशादनु० ॥ १३ ॥**

भा०—( ऊर्ध्वायाः दिशः अन्तः देशात् तस्मै महादेवम् इष्वासम् अनुष्ठातारम् अकुर्वन् ) ऊपर की दिशा के भीतरी देश से उसके लिये 'महादेव' धनुर्धर को उसका भृत्य कल्पित किया ( यः एवं वेद महादेवः इष्वासः एनम्० ) जो व्रात्य के ऐसे स्वरूप को साक्षात् जान लेता है ऊर्ध्व दिशा के भीतरी देश से महादेव धनुर्धर उसका कर्मकर होकर आज्ञा पालन करता है। ( नास्य० ) इत्यादि पूर्ववत्।

**तस्मै सर्वेभ्यो अन्तर्देशेभ्य ईशानमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ १४ ॥ ईशान एनमिष्वासः सर्वेभ्यो अन्तर्देशेभ्योनुष्ठातानु तिष्ठति नैनं शर्वो न भवो नेशानः ॥ १५ ॥ नास्य पशून् न संमानान् हिंनस्ति य एवं वेद ॥ १६ ॥**

भा०—( सर्वेभ्यः अन्तर्देशेभ्यः तस्मै ईशानम् इष्वासम् अनुष्ठातारम् अकुर्वन् ) समस्त भीतरी देशों से उसके लिये ईशान धनुर्धर को उसका भृत्य कल्पित करते हैं। ( ईशानः एनम् इष्वासः सर्वेभ्यः अन्तः देशेभ्यः ) समस्त अन्तर्देशों से ईशान धनुर्धर ( अनुष्ठाता अनु तिष्ठति ) भृत्य उसकी

आज्ञा पालन करता है (नैनं शर्व० इत्यादि) पूर्ववत्। (नास्य पशून्० इत्यादि) पूर्ववत्।



## (६) व्रात्य प्रजापति का प्रस्थान।

१ प्र०, २ प्र० आसुरी पंक्तिः, ३–६, ९ प्र० आसुरी बृहती, ८ प्र० परोष्णिक्, १ द्वि०, ६ द्वि० आर्ची पंक्तिः, ७ प्र० आर्ची उष्णिक्, २ द्वि०, ४ द्वि० साम्नी त्रिष्टुप्, ३ द्वि० साम्नी पंक्तिः, ५ द्वि०, ८ द्वि० आर्षी त्रिष्टुप्, ७ द्वि० साम्नी अनुष्टुप्, ९ द्वि० आर्ची अनुष्टुप् १ तृ० आर्षी पंक्तिः, २ तृ०, ४ तृ० निचृद् बृहती, ३ तृ० प्राजापत्या त्रिष्टुप्, ५ तृ०, ६ तृ० विराड् जगती, ७ तृ० आर्ची बृहती, ९ तृ० विराड् बृहती। षड्विंशत्यृचं षष्ठं पर्यायसूक्तम्॥

स ध्रुवां दिशमनु व्य/चलत्॥ १॥ तं भूमिश्चाग्निश्चौषधयश्च वनस्पतयश्च वानस्पत्याश्च वीरुधश्चानुव्य/चलन्॥ २॥ भूमेश्च वै सोऽग्नेश्चौषधीनां च वनस्पतीनां च वानस्पत्यानां च वीरुधां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद॥ ३॥

भा०—(सः ध्रुवाम् दिशम् अनुव्यचलत्) वह ध्रुवा=भूमि की ओर की दिशा को चला। (तम्) उसके साथ २ (भूमिः च अग्निः च ओषधयः च वनस्पतयः च वानस्पत्याः च वीरुधः च अनु वि अचलन्) भूमि अग्नि, ओषधियां, वनस्पतियें बड़े वृक्ष और उनसे बनने वाले नाना पदार्थ या उसकी जाति की लताएं भी इसके पीछे चलीं। (यः एवं वेद) जो व्रात्य प्रजापति के इस प्रकार के स्वरूप को साक्षात् करता है (सः भूमेः च, अग्नेः च, ओषधीनाम् च, वनस्पतीनां च, वानस्पत्यानां च, वीरुधाम् च प्रियम् धाम भवति) वह भूमि का, अग्नि का, ओषधियों का वनस्पतियों का, वनस्पति के बने विकारों का और उन लताओं का प्रिय आश्रय हो जाता है।

स ऊर्ध्वां दिशमनु व्यचलत् ॥ ४ ॥ तमृतं च सत्यं च सूर्यश्च चन्द्रश्च नक्षत्राणि चानुव्य/चलन् ॥ ५ ॥ ऋतस्य च वै स सत्यस्य च सूर्यस्य च चन्द्रस्य च नक्षत्राणां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ ६ ॥

भा०—( स ऊर्ध्वां दिशम् अनु वि अचलत् ) वह ऊर्ध्वा, ऊपर की दिशा को चला। ( ऋतं च, सत्यं च, सूर्यं च चन्द्र, च नक्षत्राणि च, तम् अनु वि अचलन् ) ऋत, सत्य, सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र उसके साथ उसके पीछे २ चले। ( य एवं वेद ऋतस्य च, सत्यस्य च, सूर्यस्य च, चन्द्रस्य च, नक्षत्राणाम् च प्रिय धाम भवति ) जो व्रात्य प्रजापति का इस प्रकार का रहस्य साक्षात् करता है वह ऋत, सत्य, सूर्य चन्द्र और नक्षत्रों का प्रिय आश्रय हो जाता है।

स उत्तमां दिशमनु व्य/चलत् ॥ ७ ॥ तमृचश्च सामानि च यजूंषि च ब्रह्म चानुव्यचलन् ॥ ८ ॥ ऋचां च स साम्नां च यजुषां च ब्रह्मणश्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ ९ ॥

भा०—( स उत्तमाम् दिशम् अनु वि अचलत् ) वह व्रात्य प्रजापति उत्तमाऽन्य से अधिक ऊंचा दिशा की ओर चला ( तम् ) उसके पीछे पीछे ( ऋच च, सामानि च यजूंषि च, ब्रह्म च अनु वि अचलन् ) ऋग्वेद के मन्त्र, साम गायन मन्त्र, यजुर्मन्त्र और ब्रह्मवेद, अर्थात् अथर्ववेद के मन्त्र चले। ( य एवं वेद ) जो व्रात्य के इस प्रकार के स्वरूप को साक्षात् करता है ( ऋचां स, साम्नां च, यजुषां च ब्रह्मणः च, प्रिय धाम भवति ) वह ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद के मन्त्रों का प्रिय आश्रय होजाता है।

स बृहतीं दिशमनुव्य/चलत् ॥ १० ॥ तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्य/चलन् ॥ ११ ॥ इतिहासस्य च वै स

पुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ १२ ॥

भा०—( सः ) वह ( बृहतीं दिशम् अनुव्यचलत् ) 'बृहती' दिशा को चला । ( ११ ) ( तम् इतिहासः च, पुराणं च, गाथाः च, नाराशंसीः च अनु वि-अचलन् ) उसके पीछे २ इतिहास, पुराण, गाथाएं और नाराशंसियें भी चलीं । ( १२ ) ( यः एवं वेद ) जो इस प्रकार जानता है ( सः वै इतिहासस्य च, पुराणस्य च, गाथानां च, नाराशंसीनां च, प्रियं धाम भवति ) वह निश्चय ही इतिहास पुराण, अर्थात् सृष्टि विषयक पुरातन ऐतिह्य, गाथा और नाराशंसियों का भी प्रिय आश्रय हो जाता है ।

स पर॒मां दिश॒मनु॒ व्य/चलत् ॥ १३ ॥ तमा॑हव॒नीय॑श्च गार्ह॑पत्यश्च दक्षिणा॒ग्निश्च॑ य॒ज्ञश्च॒ यज॑मानश्च प॒शव॑श्चानु॒व्य/चलन् ॥ १४ ॥ आ॒हव॒नीय॑स्य च॒ वै स गार्ह॑पत्यस्य च दक्षिणा॒ग्नेश्च॑ य॒ज्ञस्य॑ च॒ यज॑मानस्य च प॒शूनां॑ च प्रि॒यं धाम॑ भवति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ १५ ॥

भा०—( सः परमाम् दिशम् अनु वि-अचलत् ) वह परम दिशा में चला । ( तम् आहवनीयः च, गार्हपत्यः च, दक्षिणाग्निः च, यज्ञः च, यजमानः च पशवः च अनुव्यचलन् ) उसके पीछे २ आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, यज्ञ, यजमान और पशु भी चले । ( य एवं वेद सः वै आहवनीयस्य० प्रियं धाम भवति ) जो व्रात्य प्रजापति के इस प्रकार के तत्व को जान लेता है वह आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, यज्ञ, यजमान, और पशुओं को भी प्रिय आश्रय हो जाता है ।

सोऽना॑दिष्टां दिश॒मनु॒ व्य/चलत् ॥ १६ ॥ तमृ॒तव॑श्चार्त॒वाश्च॑ लो॒काश्च॑ लौ॒क्याश्च॒ मासा॑श्चार्धमा॒साश्चा॑होरा॒त्रे चा॑नु॒व्य/चलन् ॥ १७ ॥ ऋ॒तूनां॑ च॒ वै स आ॑र्त॒वानां॑ च॒ लो॒कानां॑ च लौ॒क्यानां॑ च॒ मासा॑नां चार्ध॒मा॒सानां॑ चाहोरा॒त्रयो॑श्च प्रि॒यं धाम॑ भवति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ १८ ॥

भा०—स वह व्रात्य प्रजापति ( अनादिष्टां दिशम् अनुव्यचलत् ) 'अनादिष्टा' दिशा को चला। ( तम् ऋतवः च आर्तवाः च, लोकाः च, लौक्याः च, मासाः च, अर्धमासाः च, अहोरात्रे च अनुवि अचलन् ) उसके पीछे ऋतु, ऋतुओं के अनुकूल वायु आदि, लोक, लोक में विद्यमान नाना प्राणी, मास, अर्धमास, दिनरात ये सब चले। ( य एवं वेद स वै ऋतूनां च० अहोरात्रयोः च प्रियं धाम भवति ) जो व्रात्य के इस प्रकार के स्वरूप को साक्षात् करता है वह ऋतु, ऋतुओं के होने वाले विशेष पदार्थों, लोकों में स्थित पदार्थों और प्राणियों, मासों अर्धमासों दिनों और रातों का प्रिय आश्रय हो जाता है।

सोनावृत्तां दिशमनु व्य/चलत् ततो नावर्त्स्यन्नमन्यत ॥ १९ ॥ तं दितिश्चादितिश्चेडा चेन्द्राणी चानुव्य चलन् ॥ २० ॥ दितेश्च वै सोदितेश्चेडायाश्चेन्द्राण्याश्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥२१॥

भा०—( स ) वह ( अनावृत्तां दिशम् अनुव्यचलत् ) 'अनावृत्ता' जिधर से लौटकर फिर न आया जाय उस दिशा को चला। ( ततः ) तब वह व्रात्य प्रजापति अपने को ( न आवर्त्स्यन् ) कभी न लौटने वाला ही ( अमन्यत ) मानने लगा। ( तं ) उसके पीछे ( दितिः च अदितिः च ) दिति और अदिति (इडा च इन्द्राणी च) इडा और इन्द्राणी भी ( अनु व्य चलन् ) चले। (य एवं वेद) जो प्रजापति के इस स्वरूप को साक्षात् करता है (स ) वह ( दितेः च, अदितेः च, इडायाः च, इन्द्राण्याः च ) दिति, अदिति, इडा और इन्द्राणी का ( प्रियं धाम भवति ) प्रिय आश्रय हो जाता है।

स दिशोनु व्यचलत् तं विराडनु व्यचलत् सर्वे च देवाः सर्वाश्च देवताः ॥ २२ ॥ विराजश्च वै स सर्वेषां च देवानां सर्वासां च देवतानां प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ २३ ॥

१९—'सोऽनावृत्तां दिशम्' इति ह्विटनिकामितः पाठः।

भा०—( सः दिशः अनु व्यचलत् ) वह समस्त दिशाओं में चला। ( तं विराट् अनुव्यचलत् ) उसके पीछे विराट् चला और ( सर्वे च देवाः सर्वाः च देवताः ) और सब देव और सब देवता भी उसके पीछे चले। ( यः एवं वेद ) जो व्रात्य के इस प्रकार के स्वरूप को जान लेता है ( सः ) वह ( विराजः च सर्वेषां च देवतानां, सर्वासां च देवतानां ) विराट् का, सर्व देवों और सब देवताओं का ( प्रियं धाम भवति ) प्रिय आश्रय हो जाता है।

स सर्वानन्तर्देशाननु व्यचलत् ॥ २४ ॥ तं प्रजापतिश्च परमेष्ठी च पिता च पितामहश्चानुव्य/चलन् ॥ २५ ॥ प्रजापतेश्च वै स परमेष्ठिनश्च पितुश्च पितामहस्य च प्रियं धामं भवति य एवं वेद ॥२६॥

भा०—( सः ) वह ( सर्वान् अन्तर्देशान् अनु व्यचलत् ) समस्त भीतरी दिशों में चला। ( तम् प्रजापतिः च, परमेष्ठी च, पिता च, पितामहः च अनुव्यचलन् ) उसके पीछे प्रजापति, परमेष्ठी, पिता और पितामह भी चले। ( यः एवं वेद ) जो मनुष्य प्रजापति के इस प्रकार स्वरूप को साक्षात् करता है ( सः वै ) वह निश्चय से ( प्रजापतेः च परमेष्ठिनः च, पितामहस्य च प्रियं धाम भवति ) प्रजापति, परमेष्ठी, पिता और पितामह का प्रिय आश्रय हो जाता है।

---

## ( ७ ) व्रात्य की समुद्र विभूति।

१ त्रिपदानिचृद् गायत्री, २ एकपदा विराट् बृहती, ३ विराड् उष्णिक्, ४ एकपदा गायत्री, ५ पंक्तिः। पञ्चर्चं सूक्तम्।

स महिमा सद्रुर्भूत्वान्तं पृथिव्या अगच्छत् स समुद्रोऽभवत् ॥१॥

भा०—( सः ) वह प्रजापति, व्रतपति, समस्त कर्मों और शक्तियों का आश्रय 'व्रात्य' ( महिमा ) महान्, अनन्त परिमाण वाला ( सद्रुः ) वेगशील ( भूत्वा ) होकर ( पृथिव्याः अन्तम् ) पृथिवी के सब ओर ( अगच्छत् ) व्याप्त हो गया। ( सः समुद्रः अभवत् ) वही समुद्र हो गया।

( ८ ) व्रात्य राजा ।

१ साम्नी उष्णिक्, २ प्राजापत्यानुष्टुप्, ३ आर्ची पंक्तिः । तृचं सूक्तम् ॥

सो॑ऽरज्यत॒ ततो॑ राज॒न्यो॑ऽजायत ॥ १ ॥

भा०—( सः ) वह व्रात्य प्रजापति ( अरज्यत ) सबका प्रेमपात्र हो रहा । ( ततः ) उसके बाद, उसी कारण से वह ( राजन्यः अजायत ) राजन्य अर्थात् राजा हुआ ।

स वि॒शः सब॑न्धू॒नन्न॑म॒न्नाद्य॑म॒भ्युद॑तिष्ठत् ॥ २ ॥

भा०—( सः ) वह व्रात्य प्रजापति ( सबन्धून् विशः ) अपने बन्धुओं सहित समस्त प्रजाओं के और ( अन्नम् अन्नाद्यम् ) अन्न और अन्न के समान समस्त भोग्य पदार्थों या भोग सामर्थ्यों के ( अभि-उत्-अतिष्ठत् ) प्रति उठा । सबका अधिष्ठाता स्वामी हो गया ।

वि॒शां च॒ वै स सब॑न्धूनां॒ चान्न॑स्य॒ चान्नाद्य॑स्य च प्रि॒यं धाम॑ भवति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ ३ ॥

भा०—( यः एवं वेद ) जो व्रात्य के इस प्रकार के स्वरूप को जानता है ( सः ) वह ( विशाम् सबन्धूनां ) समस्त बन्धुओं सहित समस्त प्रजाओं का ( अन्नस्य च अन्नाद्यस्य च ) अन्न और अन्न से उत्पन्न अन्य खाद्य पदार्थों का ( प्रियं धाम भवति ) प्रिय आश्रय हो जाता है ।

( ९ ) व्रात्य, सभापति, समितिपति, सेनापति और गृहपति ।

१ आसुरी, २ आर्ची गायत्री, आर्ची पंक्तिः । तृचं सूक्तम् ॥

स वि॒शोऽनु॒ व्य॑चलत् ॥ १ ॥

भा०—( सः ) वह व्रात्य प्रजापति ( विशः अनुव्यचलत् ) प्रजाओं की ओर आया ।

त सभा च समितिश्च सेना च सुरा चानुव्य/चलन् ॥ २ ॥

भा०—(तम्) उसके पीछे २ (सभा च समिति च, सेना च, सुरा च अनुव्यचलन्) सभा, समिति, और सेना और सुरा अर्थात् स्त्री भी चले।

सभायाश्च वै स समितेश्च सेनायाश्च सुरायाश्च प्रिय धाम भवति य एव वेद ॥ ३ ॥

भा०—(य एव वेद) जो इस प्रकार के व्रात्य के राजन्य स्वरूप को जानता है (स) वह (सभाया च वै स समितेः च, सुराया च, प्रिय धाम भवति) सभा, समिति, सेना और सुरा अर्थात् स्त्री का प्रिय आश्रय हो जाता है।

---

( १० ) व्रात्य का आदर, ब्राह्मबल और क्षात्रबल का आश्रय।

१ द्विपदा साम्नी बृहती, २ त्रिपदा आर्ची पंक्ति, ३ द्विपदा प्राजापत्या पंक्ति, ४ त्रिपदा वर्धमाना गायत्री, ५ त्रिपदा साम्नी बृहती, ६, ८, १० द्विपदा आसुरी गायत्री ७, ९ साम्नी उष्णिक् ११ आसुरी बृहती। एकादशर्चं सूक्तम् ॥

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यो राज्ञोऽतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥ १ ॥

श्रेयांसमेनमात्मनो मानयेत् तथा क्षत्राय ना वृश्चते तथा राष्ट्राय ना वृश्चते ॥ २ ॥

भा०—(तत्) तो (यस्य राज्ञः) जिस राजा के (गृहान्) घरों पर (एव विद्वान्) इस प्रकार के व्रात्य प्रजापति के स्वरूप को साक्षात् करने वाला (व्रात्यः) व्रात्य प्रजापति (अतिथिः) अतिथि होकर (आगच्छेत्) आवे वह (एनम्) इस विद्वान् 'व्रातपति' लोकपति प्रजापति, आचार्य को (आत्मनः) अपने लिये (श्रेयांसम्) अति अधिक कल्याण कारी अतिश्रेष्ठ मान कर (मानयेत्) उसका आदर करे (तथा) वैसा करने से वह (क्षत्राय) क्षत्र अर्थात् क्षात्रबल या राज्य का (न आ वृश्चते),

अपराध नहीं करता ( तथा ) इसी प्रकार वह ( राष्ट्राय न आ वृश्चते ) अपने राष्ट्र का भी अपराध नहीं करता। विद्वान् अतिथि की सेवा कर के राजा अपने क्षात्र तेज, बल और राज्य और राष्ट्र को हानि नहीं पहुंचाता।

अतो वै ब्रह्म च क्षत्रं चोदतिष्ठतां ते अब्रूतां कं प्र विशावेति ॥३॥
अतो वै बृहस्पतिमेव ब्रह्म प्र विशत्विन्द्रं क्षत्रं तथा वा इति ॥४॥
अतो वै बृहस्पतिमेव ब्रह्म प्राविशदिन्द्रं क्षत्रम् ॥ ५ ॥

भा०—( अतः ) उस विद्वान् प्रजापति रूप आचार्य से ही ( ब्रह्म च ) ब्रह्म-वेद और वेदज्ञ ब्राह्मण और ( क्षत्रं च ) क्षात्रबल और वीर्यवान् क्षत्रिय ( उत् अतिष्ठताम् ) उत्पन्न होते हैं। ( ते अब्रूताम् ) वे दोनों कहते हैं। ( कम् प्रविशाव ) हम दोनों ब्रह्मबल और क्षात्रबल कहां प्रविष्ट होकर रहें। ( अतः ) इस व्रात्य से उत्पन्न ( ब्रह्म ) ब्रह्मबल, ब्रह्मज्ञान, वेद और ब्राह्मण लोग ( बृहस्पतिम् एव प्रविशतु ) बृहस्पति परमेश्वर या महान् वेदज्ञ का आश्रय लें और ( क्षत्रम् ) क्षात्रबल, वीर्य ( इन्द्रं प्रविशतु ) ऐश्वर्यवान् राजा का आश्रय लें। ( तथा वा इति ) ब्रह्म और क्षत्र दोनों को 'तथाऽस्तु' कह कर स्वीकार करता है। ( अतः वै ) निश्चय से उस व्रात्य आचार्य प्रजापति से उत्पन्न ( ब्रह्म ) ब्रह्मबल ( बृहस्पतिम् एव ) बृहस्पति आचार्य में ( प्र अविशत् ) प्रविष्ट है। और ( क्षत्रम् इन्द्रं प्र अविशत् ) क्षात्रबल राजा के अधीन होता है।

इयं वा उ पृथिवी बृहस्पतिर्द्यौरेवेन्द्रः ॥ ६ ॥
अयं वा उ अग्निर्ब्रह्मासावादित्यः क्षत्रम् ॥ ७ ॥

भा०—( इयम् वा उ पृथिवी बृहस्पतिः ) यह पृथिवी ही बृहस्पति है और ( द्यौः एव इन्द्रः ) यह द्यौ इन्द्र है। अर्थात् बृहस्पति पृथिवी के समान सर्वाश्रय है ( अयं वा उ अग्निः ब्रह्म ) यह ब्रह्म ही अग्नि है और

( असौ आदित्य क्षत्रम् ) यह आदित्य 'क्षत्र' है। अर्थात् ब्रह्म अग्नि के समान प्रकाशमान है और क्षत्रबल सूर्य के समान तेजस्वी है।

पेन ब्रह्म गच्छति ब्रह्मवर्चसी भवति ॥ ८ ॥

य पृथिवीं बृहस्पतिमग्निं ब्रह्म वेद ॥ ९ ॥

भा०—( य ) जो ( पृथिवीम् बृहस्पतिम् ) पृथिवी को बृहस्पति और ( अग्निम् ब्रह्म ) अग्नि को ब्रह्म ( वेद ) जान लेता है ( एनं ) उसको ( ब्रह्म आगच्छति ) ब्रह्मबल प्राप्त होता है ( ब्रह्मवर्चसी भवति ) वह ब्रह्मवर्चस्वी हो जाता है।

एनमिन्द्रियं गच्छतीन्द्रियवान् भवति ॥ १० ॥

य आदित्य क्षत्र दिवमिन्द्र वेद ॥ ११ ॥

भा०—( य ) जो ( आदित्यम् क्षत्रम् ) आदित्य को क्षत्र=वीर्य और ( दिवम् इन्द्रम् वेद ) द्यौ लोक को इन्द्र जानता है अर्थात् जो आदित्य के समान क्षात्रबल को द्यौ लोक के समान इन्द्र राजा को जानता है ( एनम् ) उसको ( इन्द्रियम् ) इन्द्र का ऐश्वर्य ( आगच्छति ) प्राप्त होता है और वह ( इन्द्रियवान् भवति ) इन्द्रिय=इन्द्र के ऐश्वर्य से सम्पन्न हो जाता है।



( ११ ) व्रातपति आचार्य का आतिथ्य और अतिथियज्ञ

१ दैवी पंक्ति, २ द्विपदा पूर्वा त्रिष्टुप् अतिशक्वरी, ३,-६ ८, १०, त्रिपदा आर्ची बृहती ( १० भुरिक् ) ७, ९, द्विपदा प्राजापत्या बृहती ११ द्विपदा आर्ची, अनुष्टुप्। एकादश सूक्तम् ॥

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्योऽतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥ १ ॥

(११) १—२—' आद्विवार्धि चन्तिधिरम्याग च्छेत्। स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयात् ब्रात्य क्वाऽवात्सीरिति। व्रात्य उदकमिति व्रात्य तर्पयन्त्विति। पुरोहितोऽस्य

भा०—(तद्) तो (यस्य) जिस गृहस्थ पुरुष के (गृहान्) घर पर (एवं विद्वान्) इस प्रकार के प्रजापति स्वरूप को जाननेहारा (व्रात्यः) व्रात पति, शिष्यगणों का आचार्य (अतिथिः) अतिथि होकर (आगच्छेत्) आवे तब—

स्वयमेनमभ्युदेत्यं ब्रूयाद् व्रात्य क्वा/वात्सीर्व्रात्योदकं व्रात्यं तर्पयन्तु व्रात्य यथां ते प्रियं तथास्तु व्रात्य यथां ते वशस्तथास्तु व्रात्य यथां ते निकामस्तथास्त्विति ॥ २ ॥

भा०—गृहपति (स्वयम्) अपने आप (एनम्) इसके समीप (अभि उत्-एत्य) उसके सन्मुख, उठकर, आकर (ब्रूयात्) आदर सत्कार पूर्वक कहे, हे (व्रात्य) 'व्रात्य' व्रातपते ! प्रजापते ! (क्व अवात्सीः) आप कहां रहते हैं । हे (व्रात्य) व्रात्य, प्रजापते ! (उदकम्) यह आपके लिये जल है । हे (व्रात्य) व्रात्य प्रजापते ! (तर्पयन्तु) ये मेरे गृह के जन आपको भोजन से तृप्त करें । (व्रात्य) हे व्रात्य ! प्रजापते ! (यथा) जिस प्रकार भी (ते) आपको (प्रियम्) प्रिय हो (तथा अस्तु) वैसा ही हो । हे (व्रात्य) व्रात्य ! (यथा ते वशः) जैसी आपकी इच्छा हो (तथा अस्तु) वैसा ही हो । हे (व्रात्य) व्रात्य प्रजापते ! (यथा ते निकामः) जिस प्रकार आपकी अभिलाषा हो (तथा अस्तु इति) वैसा ही हो अर्थात् वैसा ही किया जाय आप वैसा ही करने की आज्ञा दीजिये ।

यदे॒नमाह॒ व्रात्य॒ क्वा/वात्सी॒रिति॑ प॒थ ए॒व तेन॑ देव॒याना॒नव॑ रुन्द्धे ॥३॥

भा०—(यद्) जो (एनम्) अतिथि के प्रति (आह) गृहपति कहता है कि (व्रात्य क्व अवात्सीः इति) हे प्रजापते व्रात्य ! व्रातपते ! आप

---

[illegible] । व्रात्य यथा ते मनस्तथास्त्विति । व्रात्य यथा ते वशस्तथास्त्विति व्रात्य यथा ते प्रियं तथास्त्विति व्रात्य यथा ते निकामस्तथास्त्विति ' इति आप० श्रौ० सू० ।

कहां रहते हैं ( तेन ) इस प्रकार के प्रश्न से ( देवयानान् पथः एव अवरुन्धे ) देवयान मार्गों को अपने वश करता है।

यदेनमाह व्रात्योदकमित्यप एव तेनार्व रुन्द्धे ॥ ४ ॥

भा०—( यद् ) जब ( एनम् आह ) अतिथि को गृहपति कहता है कि ( व्रात्य उदकम् इति ) हे व्रातपते ! यह जल है ( अपः एव तेन अवरुन्धे ) इससे यह समस्त 'अपः', आप्तजनों, प्राप्तव्य ज्ञानों और कर्मों, बुद्धियों, प्रजाओं को अपने अधीन करता है।

यदेनमाह व्रात्य तर्पयन्त्विति प्राणमेव तेन वर्षीयांसं कुरुते ॥५॥

भा०—( यद् एनम् आह ) जब इस अतिथि को कहा जाता है ( तर्पयन्तु इति ) कि मेरे गृहजन आपको भोजन से तृप्त करें ( इति ) इस प्रकार ( तेन ) भोजन से तृप्त करने के कार्य से वह ( प्राणम् एव ) अपने प्राण, जीवन को ( वर्षीयांसम् कुरुते ) चिर वर्षों तक रहने वाला कर लेता है अर्थात् अपने जीवन को ही दीर्घ करता है।

यदेनमाह व्रात्य यथा ते प्रियं तथास्त्विति प्रियमेव तेनार्व रुन्द्धे ॥६॥

भा०—( यद् एनम् आह ) जब इस अतिथि को कहा जाता है कि ( यथा ते प्रियं तथा अस्तु इति ) जैसा आपको प्रिय हो वैसा ही हो ( तेन प्रियम् एव अवरुन्धे ) इससे वह गृहपति अपने प्रिय लगने वाले पदार्थों पर ही वश करता है।

ऐनं प्रियं गच्छति प्रियः प्रियस्य भवति य एवं वेद ॥ ७ ॥

भा०—( यः एवं वेद ) जो इस प्रकार के तत्व को जानता है ( एनं *प्रिय आ गच्छति* ) *उसको समस्त प्रिय पदार्थ प्राप्त होजाते हैं।* ( *प्रियः प्रियस्य* भवति ) अपने प्रिय लगने वाले जन को स्वयं भी वह प्रिय हो जाता है।

यदेनमाह व्रात्य यथा ते वशस्तथास्त्विति वशमेव तेनार्व रुन्द्धे ॥८॥

भा०—( यद् एनम् आह ) जो अतिथि को कहता है कि ( व्रात्य यथा ते वशः ) हे व्रात्य जैसी आपकी कामना है ( तथा अस्तु इति ) वैसा ही हो ( तेन वशम् एव अवरुन्धे ) इससे कामनायोग्य सब पदार्थों को वह अपने वश करता है ।

ऐनं॒ वशो॑ गच्छति व॒शी व॒शिनां॑ भवति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ ९ ॥

भा०—( यः एवं वेद ) जो इस तत्व को इस प्रकार साक्षात् कर लेता है ( वशः ) समस्त अभिलाषा योग्य पदार्थ ( एनं आ गच्छति ) उसको प्राप्त होते हैं । और वह ( वशिनां वशी भवति ) वशी लोगों से भी सब से बढ़ कर वशी, सब काम्य पदार्थों का स्वामी हो जाता है ।

यदे॒नमाह॒ व्रात्य॒ यथा॑ ते निका॒मस्त॒थास्त्विति॑ निका॒ममे॒व तेनाव॑ रुन्द्धे ॥ १० ॥ ऐनं॑ निका॒मो ग॑च्छति निका॒मे नि॑का॒मस्य॑ भवति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ ११ ॥

भा०—( यद् एनम् आह ) जो अतिथि को कहा जाता है कि हे ( व्रात्य यथा ते निकामः ) व्रात्य ! जो आपकी कामना है ( तथा अस्तु ) वैसा ही हो, वैसी आज्ञा कीजिये ( इति तेन निकामम् एव अवरुन्धे ) उससे वह अपने ही कामना योग्य सब पदार्थों को प्राप्त करता है । ( यः एवं वेद ) जो इस तत्व को जानता है ( एनं निकामः आ गच्छति ) उसको उसका कामनायोग्य पदार्थ प्राप्त होता है और ( निकामस्य निकामे भवति ) जिसको वह चाहता है वह भी उसके इच्छा के अधीन हो जाता है ।

## ( १२ ) अतिथि यज्ञ ।

१ त्रिपदा गायत्री, २ प्राजापत्या बृहती, ३, ४ भुरिक् प्राजापत्याऽनुष्टुप्, [ ४ साम्नी ], ५, ६, ९, १० आसुरी गायत्री, ८ विराड् गायत्री, ७, ११ त्रिपदे प्राजापत्ये त्रिष्टुभौ । एकादशर्चं द्वादशं पर्यायसूक्तम् ॥

११–' निकामी ' इति ह्विटनिकामितः ।

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्य उद्धृतेष्वग्निष्वधिश्रितेग्निहोत्रेतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥ १ ॥ स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद् व्रात्यातिसृज होष्यामीति ॥ २ ॥

भा०—( तत् ) तो ( यस्य गृहान् ) जिसके घर पर ( एव विद्वान् व्रात्य ) इस प्रकार ज्ञानवान् 'व्रात्य', आचार्य, प्रजापति ( उद्धृतेषु अग्निषु ) अग्नियों के उद्धृत होने पर, अर्थात् गार्हपत्याग्नि से उठा कर आहवनीय में आधान किये जाने पर और ( अग्निहोत्रे अधिश्रिते ) अग्निहोत्र के प्रारम्भ हो जाने पर ( आगच्छेत् ) आवे तब गृहपति ( स्वयम् एनम् अधि-उद्-एत्य ) स्वयम् उसके लिये आदर पूर्वक उठ कर, उसके समीप आकर ( ब्रूयात् ) कहे ( व्रात्य अतिसृज ) हे व्रात्य, प्रजापते ! आज्ञा दो ( होष्यामि इति ) मैं अग्निहोत्र करूंगा।

स चातिसृजेज्जुहुयान्न चातिसृजेन्न जुहुयात् ॥ ३ ॥

भा०—( स च अतिसृजेत् ) और यदि वह आज्ञा दे तो ( जुहुयात् ) हवन करे। ( नच अतिसृजेत् न जुहुयात् ) न आज्ञा करे तो न होम करे।

स य एवं विदुषा व्रात्येनातिसृष्टो जुहोति ॥ ४ ॥
प्र पितृयाणं पन्थां जानाति प्र देवयानम् ॥ ५ ॥

भा०—( यः ) जो ( एव ) इस प्रकार से ( विदुषा व्रात्येन अतिसृष्ट ) विद्वान् व्रात्य से आज्ञा पाकर ( जुहोति ) अग्निहोत्र करता है ( स ) वह ( पितृयाणं पन्थाम् ) पितृयाण मार्ग को ( प्रजानाति ) भली प्रकार जान लेता है और ( देवयानं प्र ) देवयान मार्ग के तत्व को भी जान लेता है।

---

१–२–' यस्योद्धृतेष्वग्निष्वतिथिरभ्यागच्छेत्स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयात् व्रात्यातिसृज होष्यामि इत्यनि सृष्टेन होतव्यम्। अनतिसृष्टश्चेज्जुहुयाद्दोष माम्नायाद' इत्यापस्तम्ब धर्म सूत्रे।

न द्वेवेष्वा वृंश्चते हुतमंस्य भवति ॥ ६ ॥ पर्यंस्यास्मिल्लोक आय-तनं शिष्यते य एवं विदुषा व्रात्येनातिसृष्टो जुहोतिं ॥ ७ ॥

भा०—(यः) जो (एवं) इस प्रकार (विदुषा व्रात्येन अतिसृष्टः जुहोति) विद्वान् प्रजापति से आज्ञा प्राप्त करके अग्निहोत्र करता है वह (न देवेषु आ वृश्चते) देवताओं, विद्वानों के प्रति कोई अपराध नहीं करता। (अस्मिन् लोके) इस लोक में (अस्य) इसका (आयतनम्) आयतन आश्रय या प्रतिष्ठा (परिशिष्यते) उसके बाद भी बनी रहती है।

अथ य एवं विदुषा व्रात्येनानंतिसृष्टो जुहोतिं ॥ ८ ॥ न पितृयाणं पन्थां जानाति न देवयानंम् ॥ ९ ॥ आ देवेषुं वृश्चते अहुतमंस्य भवति ॥१०॥ नास्यास्मिल्लोक आयतंनं शिष्यते य एवं विदुषा व्रात्येनानंतिसृष्टो जुहोतिं ॥ ११ ॥

भा०—(अथ) और (यः) जो (एवं विदुषा व्रात्येन) इस प्रकार के व्रात्य से (अनतिसृष्टः) बिना आज्ञा प्राप्त किये ही (जुहोति) अग्निहोत्र करता है वह (न पितृयाणं पन्थां जानाति न देवयानम्) न पितृयाण के मार्ग के तत्व को जानता है और न देवयान के मार्ग को ही जानता है। वह (देवेषु आ वृश्चते) देवों, विद्वानों के प्रति भी अपराध करता है, उनको अप्रसन्न करता है। (अस्य अहुतम् भवति) उसके बिना आज्ञा के हवन किया हुआ भी न हवन किये के समान है। वह निष्फल हो जाता है। और (यः) जो (एवं विदुषा व्रात्येन) इस प्रकार के विद्वान से (अनतिसृष्टः) बिना आज्ञा प्राप्त किये (जुहोति) आहुति करता है (अस्य अस्मिन् लोके आयतनं न शिष्यते) उसका इस लोक में आयतन, प्रतिष्ठा भी शेष नहीं रहती।



## ( १३ ) अतिथि यज्ञ का फल ।

२ प्र० साम्नी उष्णिक्, १ द्वि० ३ द्वि० प्राजापत्यानुष्टुप्, २-४ ( प्र० ) आसुरी गायत्री, २ द्वि०, ४ द्वि० साम्नी बृहती, ५ प्र० त्रिपदा निचृद् गायत्री, ५ द्वि० द्विपदा विराड् गायत्री, ६ प्राजापत्या पङ्क्ति, ७ आसुरी जगती, ८ सप्त पङ्क्ति, ९ अक्षरपङ्क्तिः । चतुर्दशर्चं त्रयोदशं पर्यायसूक्तम् ॥

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्य एकां रात्रिमतिथिर्गृहे वसति ॥ १ ॥
ये पृथिव्यां पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे ॥ २ ॥

भा०—( तद् ) तो ( यस्य गृहे ) जिसके घर में ( एवम् विद्वान् व्रात्यः ) इस प्रकार का विद्वान व्रात्य प्रजापति ( एकाम् रात्रिम् ) एक रात्रि भर ( अतिथि ) अतिथि होकर ( वसति ) रह जाता है ( तेन ) उससे वह गृहपति ( ये पृथिव्यां पुण्याः लोकाः ) जो पृथिवी पर पुण्य लोक हैं ( तान् अव रुन्धे ) उनको प्राप्त करता है, अपने वश करता है ।

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यो द्वितीयां रात्रिमतिथिर्गृहे वसति ॥३॥
येऽन्तरिक्षे पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे ॥ ४ ॥

भा०—( तत् यस्य गृहे एवं विद्वान् व्रात्यः अतिथिः द्वितीयां रात्रिम् वसति ) तो जिसके घर पर इस प्रकार का विद्वान् व्रात्य अतिथि होकर दूसरी रात्रिभर भी रह जाता है ( ये अन्तरिक्षे पुण्याः लोकाः तान् तेन अव रुन्धे ) तो वह गृहपति अन्तरिक्ष में जो पुण्य लोक हैं ( तान् अव-रुन्धे ) उनको अपने वश करता है ।

---

१-५-‘ एकरात्रं चेदतिथिं वासयेत् पार्थिवान् लोकान् अभिजयति द्वितीय यान्तरिक्ष्यां स्तृतीयया दिव्यांश्चतुर्थ्यापरावतो लोकानपरिमिताभिरपरिमिताल्लोकानभिजयतीति विज्ञायते ’ इति आपस्तम्बधर्मसूत्रे ।

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यस्तृतीयां रात्रिमतिथिर्गृहे वसति ॥५॥
ये दिवि पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे ॥ ६ ॥

भा०—( तत् यस्य गृहे एवं विद्वान् व्रात्यः तृतीयां रात्रिम् अतिथिः वसति ये दिवि पुण्याः लोकाः तान् तेन अवरुन्धे ) तो जिस घर में ऐसा विद्वान् व्रात्य तीसरी रात रह जाता है तो जो द्यौ लोक में पुण्य लोक हैं वह गृहपति उन पर भी वश करता है।

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यश्चतुर्थी रात्रिमतिथिर्गृहे वसति ॥ ७ ॥
ये पुण्यानां पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे ॥ ८ ॥

भा०—( तद् यस्य० चतुर्थी रात्रिम्० वसति ये पुण्यानां पुण्या लोकाः० ) जिसके घर पर इस प्रकार का विद्वान् व्रात्य अतिथि होकर रहता है वह जो पुण्य लोकों में से भी उत्तम पुण्य लोक हैं उनको अपने वश करता है।

तद् यस्यैवं विद्वान व्रात्योपरिमिता रात्रीरतिथिर्गृहे वसति ॥९॥
य एवापरिमिताः पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे ॥ १० ॥

भा०—( तत् यस्य० अपरिमिताः रात्रीः अतिथिः गृहे वसति ये एव अपरिमिताः पुण्याः लोकाः० ) जिसके घर पर इस प्रकार विद्वान् व्रात्य प्रजापति अपरिमित, अनेक रात्रियें निवास करता है तो वह गृहपति जो अपरिमित, असंख्य पुण्य लोक हैं उनको भी अपने वश कर लेता है।

अथ यस्याव्रात्यो व्रात्यब्रुवो नामबिभ्रत्यतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥११॥
कर्षेदेनं न चैनं कर्षेत् ॥ १२ ॥

भा०—( अथ ) और ( यस्य ) जिसके ( गृहान् ) घर पर ( अव्रात्यः ) व्रात्य न होता हुआ भी ( व्रात्यब्रुवः ) अपने को व्रात्य बतलाता हुआ केवल ( नामबिभ्रती[1] ) नाममात्र धारण करने वाला ( अतिथिः ) अतिथि

१. 'नामबिभ्रत' इति ह्विटनिकामितः पाठः। 'नाम–बिभ्रती' इति दयाविद्याधीशरागानुसंस्थानमिति सोरिकपारसवछन्दसः।

( आगच्छेत् ) आ जाय तो फिर ( कथं नु एनम्[2] ) क्या उसका अनादर करे ? ( न च एनं कर्येत् ) ना । उसका भी अनादर न करे । परन्तु—

अस्यै देवतांया उदकं याचामीमां देवतां वासय इमामिमां देवतां परि वेवेष्मीत्येनं परि वेविष्यात् ॥१३॥ तस्यामेवास्य तद् देवतायां हुतं भवति य एवं वेदं ॥ १४ ॥

भा०—( अस्यै देवतायै ) इस देवता के निमित्त ( उदकं याचामि ) जल स्वीकार करने की प्रार्थना करता हूं । ( इमां देवतां वासये ) इस देवता को मैं अपने घर में निवास देता हूं । ( इमाम् इमाम् देवता परिवेवेष्मि ) इस देवता को मैं भोजन आदि परोसता हूं ( इति ) इस प्रकार भावना से ही ( एनं ) उसके भी ( परिवेविष्यात् ) सेवा शुश्रूषा करे और भोजनादि दे । ( यः एवं वेद ) जो इस प्रकार का तत्व जानता है ( तस्याम् एव देवतायाम् ) उसही देवता के निमित्त ( अस्य ) इस गृहस्थ का ( तत् हुतम् ) वह त्याग उसे प्राप्त ( भवति ) हो जाता है ।

---

( १४ ) व्रात्य अन्नाद के नानारूप और नाना ऐश्वर्य भोग ।

१ प्र० त्रिपदाऽनुष्टुप्, १–१२ द्वि० द्विपदा आसुरी गायत्री, [ ६–९ द्वि० भुरिक् प्राजापत्यानुष्टुप् ], २ प्र०, ५ प्र० पुरोष्णिक्, ३ प्र० अनुष्टुप्, ४ प्र० प्रस्तार पंक्तिः, ६ प्र० स्वराड् गायत्री, ७ प्र० ८ प्र० आर्ची पंक्तिः, १० प्र० भुरिङ् नागी गायत्री, ११ प्र० प्राजापत्या त्रिष्टुप । चतुर्विंशत्यृचं चतुर्दश पर्यायसूक्तम् ॥

स यत् प्राचीं दिशमनु व्यचलन्मारुतं शर्धो भूत्वानुव्य/चलन्मनो-ऽन्नादं कृत्वा ॥ १ ॥ मनसान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेदं ॥ २ ॥

---

२. ' कर्थनम् ' इति पूर्व प्रश्नाभिप्रायेण पाठः ।

भा०—( सः ) वह व्रात्य प्रजापति ( यत् ) जब ( प्राचीं दिशम् ) प्राची दिशा की ओर ( अनुवि-अचलत् ) चला तो वह ( मनः ) मनको ( अन्नादं ) अन्न का भोक्ता ( कृत्वा ) बनाकर ( मारुतम् शर्धः भूत्वा ) मारुत, मरुत् सम्बन्धी बल स्वरूप होकर ( अनुवि-अचलत् ) चला। ( यः एवं वेद ) जो इस प्रकार का तत्व साक्षात् कर लेता है वह ( मनसा ) मनोरूप ( अन्नादेन ) अन्न के भोक्तृ सामर्थ्य से ( अन्नम् ) अन्न पृथिवी के अन्नादि पदार्थ को ( अत्ति ) भोग करता है।

**स यद् दक्षिणां दिशमनु व्यचलदिन्द्रो भूत्वानुव्य/चलद् बलमन्नादं कृत्वा ॥ ३ ॥ बलेनान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ ४ ॥**

भा०—( सः ) वह व्रात्य प्रजापति ( यत् ) जब ( दक्षिणाम् दिशम् ) दक्षिणा ( दक्ष=बलकी ) दिशा की ओर ( अनुव्यचलत् ) चला तो ( बलम् अन्नादं कृत्वा ) बलको अन्नाद, भोक्ता बना कर ( इन्द्रः भूत्वा अनुव्यचलत् ) इन्द्र, ऐश्वर्यवान्, सम्राट होकर चला। ( यः एवं वेद बलेन अन्नादेन अन्नम् अत्ति ) जो व्रात्य के इस प्रकार के स्वरूप को जानता है वह बल रूप अन्न का भोक्ता होकर भोग करता है।

**स यत् प्रतीचीं दिशमनु व्यचलद् वरुणो राजा भूत्वानुव्य/चलद्-पो/न्नादीः कृत्वा ॥ ५ ॥ अद्भिरन्नादीभिरन्नमत्ति य एवं वेद ॥ ६ ॥**

भा०—( सः ) वह व्रात्य प्रजापति ( यत् ) जब ( प्रतीचीम् दिशम् ) प्रतीची अर्थात् पश्चिम दिशा की ओर ( अनुव्यचलत् ) चला। वह स्वयं ( वरुणः राजा भूत्वा ) सबके वरण करने योग्य, राजा होकर ( अपः ) समस्त आप्त प्रजाओं को ( अन्नादीः ) अन्न=राष्ट्र के भोग्य पदार्थों का भोक्ता ( कृत्वा ) बनाकर ( अनुव्यचलत् ) चला। ( यः एवं वेद ) जो इस प्रकार के व्रात्य प्रजापति के स्वरूप को जानता है वह ( अद्भिः अन्नादीभिः अन्नम् अत्ति )

स्वयं भी अन्न आदि की भोक्ता प्राप्त प्रजाओं द्वारा स्वयं ( अन्नम् अत्ति ) अन्न का भोग करता है ।

स यदुदीचीं दिशमनु व्यचलत् सोमो राजा भूत्वानुव्य/चलत् सप्तर्षिभिर्हुत आहुतिमन्नादीं कृत्वा ॥ ७ ॥ आहुत्यान्नाद्यान्नमत्ति य एवं वेद ॥ ८ ॥

भा०—( स ) वह ( यद् ) जब ( उदीचीम् दिशम् अनुव्यचलत् ) उदीची दिशा को चला तो वह ( सोमः राजा भूत्वा ) सोम राजा होकर ( आहुतिम् अन्नादीम् कृत्वा सप्तर्षिभिः हुतः ) आहुति को पृथिवी के समस्त भोग्य पदार्थों का भोक्ता बनाकर स्वयं सप्तर्षियों द्वारा प्रदीप्त होकर ( अनुव्यचलत् ) चला। ( आहुत्या अन्नाद्या ) आहुति रूप अन्न की भोक्तृ शक्ति से वह ( अन्नम् अत्ति ) अन्न का भोग करता है ( य एवं वेद ) जो व्रात्य के इस स्वरूप का साक्षात् करता है ।

स यद् ध्रुवां दिशमनु व्यचलद् विष्णुर्भूत्वानुव्य/चलद् विराजमन्नादीं कृत्वा ॥ ९ ॥ विराजान्नाद्यान्नमत्ति य एवं वेद ॥ १० ॥

भा०—( सः ) वह व्रात्य प्रजापति ( यद् ) जब ( ध्रुवाम् दिशम् अनु वि अचलत् ) ध्रुवा दिशा की ओर चला ( विष्णुः भूत्वा विराजम् अन्नादीम् कृत्वा ) स्वयं विष्णु होकर विराट् पृथ्वी को ही अन्न का भोक्ता बना कर ( अनु वि-अचलत् ) चला । ( य एवं वेद ) जो इस प्रकार व्रात्य प्रजापति के स्वरूप को जानता है वह ( विराजा अन्नाद्या अन्नम् अत्ति ) 'विराट्' रूप अन्न की भोक्त्री से अन्न का भोग करता है ।

स यत् पशूननु व्यचलद् रुद्रो भूत्वानुव्य/चलदोषधीरन्नादीः कृत्वा ॥ ११ ॥ ओषधीभिरन्नादीभिरन्नमत्ति य एवं वेद ॥ १२ ॥

भा०—(सः) वह प्रजापति व्रात्य ( यत् ) जब ( पशून् अनुव्यचलत् ) पशुओं की ओर चला तब ( रुद्रः भूत्वा ओषधीः अन्नादीः कृत्वा अनुव्य-

चलन् ) वह स्वयं ' रुद्र ' होकर और ओषधियों को अन्न की भोक्त्री बनाकर ( अनुव्यचलत् ) चला । ( यः एवं वेद ) जो व्रात्य के इस प्रकार के स्वरूप को जानलेता है वह ( ओषधीभिः अन्नादीभिः अन्नम् अत्ति ) ओषधिस्वरूप अन्न की भोक्तृशक्तियों से अन्न का भोग करता है ।

स यत् पितॄननु व्यचलद् यमो राजा भूत्वानुव्य/चलत् स्वधाकार-मन्नादं कृत्वा ॥१३॥ स्वधाकारेणान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥१४॥

भा०—( सः ) वह ( यत् ) जब ( पितॄन् ) पितृ=पालकों के प्रति ( अनुव्यचलन् ) चला तो वह स्वयं ( यमः राजा भूत्वा ) यम राजा होकर ( स्वधाकारम् अन्नादं कृत्वा अनुव्यचलत् ) स्वधाकार को अन्नभोक्ता बनाकर चला । ( यः एवं वेद ) जो व्रात्य के प्रजापति के इस स्वरूप को जान लेता है वह ( स्वधाकारेण अन्नादेन अन्नम् अत्ति ) स्वधाकार रूप अन्नाद से अन्न का भोग करता है ।

स यन्मनुष्या३ननु व्यचलदग्निर्भूत्वानुव्य/चलत् स्वाहाकारमन्नादं कृत्वा ॥ १५ ॥ स्वाहाकारेणान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ १६ ॥

भा०—( सः यत् मनुष्यान् अनुव्यचलत् ) वह व्रात्य प्रजापति जब मनुष्यों के प्रति चला तो ( अग्निः भूत्वा स्वाहाकारम् अन्नादं कृत्वा अनुव्य-चलत् ) वह स्वयं अग्नि होकर स्वाहाकार को अन्नाद बना कर चला । ( स्वाहाकारेण अन्नादेन अन्नम् अत्ति यः एवं वेद ) स्वाहाकार रूप अन्नाद से ही वह अन्न भोग करता है जो व्रात्य के इस स्वरूप को जानता है ।

स यदूर्ध्वां दिशमनु व्यचलद् बृहस्पतिर्भूत्वानुव्य/चलद् वषट्का-रमन्नादं कृत्वा ॥१७॥ वषट्कारेणान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥१८॥

भा०—( सः यत् ऊर्ध्वां दिशम् अनुव्यचलत् ) वह जब ऊर्ध्वदिशा को चला तब वह स्वयं ( बृहस्पतिः भूत्वा वषट्कारम् अन्नादं कृत्वा अनुव्य-चलत् ) बृहस्पति होकर वषट्कार को अन्नाद बना कर चला । (यः एवं वेद)

जो इस प्रकार के व्रात्य के स्वरूप को जानता है ( वषट्कारेण अन्नादेन अन्नम् अत्ति ) वषट्कार रूप अन्नाद से स्वयं अन्न का भोग करता है ।

स यद् देवाननुव्यचलदीशानो भूत्वानुव्यचलन्मन्युमन्नादं कृत्वा॥१९

मन्युनान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ २० ॥

भा०—( सः यद् देवान् अनुव्यचलत् ) वह जब देवों की ओर चला तब वह ( ईशानः भूत्वा मन्युम् अन्नाद कृत्वा ) स्वयं ' ईशान ' हो कर और मन्यु को ' अन्नाद ' बना कर ( अनुव्यचलत् ) चला । ( यः एवं वेद ) जो प्रजापति के इस स्वरूप को जानता है वह ( मन्युना अन्नादेन ) मन्यु रूप अन्नाद से ( अन्नम् अत्ति ) अन्न का भोग करता है ।

स यत् प्रजा अनु व्यचलत् प्रजापतिर्भूत्वानुव्यचलत् प्राणमन्नादं

कृत्वा ॥ २१ ॥ प्राणेनान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ २२ ॥

भा०—( सः यत् प्रजाः अनुव्यचलत् प्रजापतिः भूत्वा प्राणम् अन्नादं कृत्वा अनु वि-अचलत् ) वह जब प्रजाओं की ओर चला तब वह स्वयं प्रजापति होकर प्राण को अन्नाद बना कर चला । ( यः एवं वेद ) जो इस प्रकार के व्रात्य के स्वरूप को जानता है ( प्राणेन अन्नादेन ) प्राण रूप अन्नाद से ( अन्नम् अत्ति ) अन्न का भोग करता है ।

स यत् सर्वानन्तर्देशाननु व्यचलत् परमेष्ठी भूत्वानुव्यचलद्

ब्रह्मान्नादं कृत्वा ॥२३॥ ब्रह्मणान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥२४॥

भा०—( सः यत् सर्वान् अन्तर्देशान् अनु वि-अचलत् ) वह जो सब 'अन्तर्देश' अर्थात् उपदिशाओं बीच के समस्त देशों में चला तो ( परमेष्ठी भूत्वा ब्रह्म अन्नादं कृत्वा अनुव्यचलत् ) स्वयं परमेष्ठी होकर ब्रह्म को अन्नाद बनाकर चला । ( ब्रह्मणा अन्नादेन अन्नम् अत्ति य एवं वेद ) जो इस प्रकार व्रात्य प्रजापति के स्वरूप को जानता है वह 'ब्रह्म' रूप अन्नाद से अन्न का भोग करता है ।

## ( १५ ) व्रात्य के सात प्राणों का निरूपण ।

१ दैवी पंक्तिः, २ आसुरी बृहती, ३, ४, ७, ८ प्राजापत्यानुष्टुप्, [ ४, ७, ८ भुरिक् ], ५, ६ द्विपदा साम्नी बृहती, ९ विराड् गायत्री । नवर्चं पञ्चदशं पर्यायसूक्तम् ॥

तस्य व्रात्यस्य ॥ १ ॥ सप्त प्राणाः सप्तापानाः सप्त व्यानाः ॥ २ ॥

भा०—( तस्य व्रात्यस्य ) उस व्रात्य प्रजापति के ( सप्त प्राणाः ) सात प्राण, ( सप्त अपानाः ) सात अपान और ( सप्त व्यानाः ) सात व्यान हैं ।

तस्य व्रात्यस्य । यो/स्य प्रथमः प्राण ऊर्ध्वो नामायं सो अग्निः ॥३॥

भा०—( अस्य यः प्रथमः प्राणः ) जो इस जीव का प्रथम मुख्य 'प्राण' ( ऊर्ध्वः नाम ) 'ऊर्ध्व' नामक है ( तस्य व्रात्यस्य ) उस व्रात्य प्रजापति के ( अयं सः अग्निः ) वह प्रथम प्राण यह 'अग्नि' है ।

तस्य व्रात्यस्य । यो/स्य द्वितीयः प्राणः प्रौढो नामासौ स आदित्यः॥४॥

भा०—( यः अस्य द्वितीयः प्राणः ) जो इसका द्वितीय प्राण ( प्रौढः नाम ) 'प्रौढ' नाम का है ( तस्य व्रात्यस्य असौ सः आदित्यः ) उस प्रजापति व्रात्य का वह प्रौढ प्राण वह आदित्य है ।

तस्य व्रात्यस्य । यो/स्य तृतीयः प्राणो/भ्यूढो नामासौ स चन्द्रमाः॥५॥

भा०—( यः अस्य तृतीयः प्राणः अभ्यूढः नाम ) इस जीव का जो तीसरा प्राण 'अभ्यूढ' नाम का है ( तस्य व्रात्यस्य ) उस व्रात्य प्रजापति का ( असौ सः चन्द्रमाः ) वह 'अभ्यूढ' प्राण यह चन्द्रमा है ।

तस्य व्रात्यस्य । यो/स्य चतुर्थः प्राणो विभूर्नामायं स पवमानः॥६॥

भा०—( यः अस्य चतुर्थः प्राणः विभूः नाम अयं सः पवमानः ) जो इस जीव का चौथा प्राण 'विभू' नाम का है वह ( तस्य व्रात्यस्य ) उस प्रजापति व्रात्य का यह 'पवमान' 'वायु' है ।

तस्य व्रात्यस्य । यो/स्य पञ्चमः प्राणो योनिर्नाम ता इमा आपः ॥७॥

भा०—( यः ) जो अस्य इस जीव का ( पञ्चमः प्राणः ) पांचवां प्राण ( योनिः नाम ) योनि नामक है ( तस्य व्रात्यस्य ) उस व्रात्य का ( ताः इमाः आपः ) वह योनि नामक प्राण ही ये आप=जल हैं।

तस्य व्रात्यस्य । यो/स्य षष्ठः प्राणः प्रियो नाम त इमे पशवः ॥७॥

भा०—( यः अस्य षष्ठः प्राणः ) जो इस का छठा प्राण ( प्रियः नाम ) प्रिय नामक है ( तस्य व्रात्यस्य ते इमे पशवः ) उस व्रात्य के 'प्रिय' नाम प्राण वे ये पशु हैं।

तस्य व्रात्यस्य । यो/स्य सप्तमः प्राणोऽपरिमितो नाम ता इमाः प्रजाः ॥ ६ ॥

भा०—( यः अस्य सप्तमः प्राणः अपरिमितः नाम ) जो इस जीव का सातवां प्राण अपरिमित नामक है ( तस्य व्रात्यस्य ) उस व्रात्य प्रजापति का भी सातवां अपरिमित नामक प्राण ( ताः इमाः प्रजा ) वे ये प्रजाएं हैं।

---

## ( १६ ) व्रात्य के सात अपानों का निरूपण।

१-३ साम्न्युष्णिहौ, २, ४, ५ प्राजापत्योष्णिह, ६ याजुषीत्रिष्टुप, ७ आसुरी गायत्री। सप्तर्चं षोडशं पर्यायसूक्तम् ॥

तस्य व्रात्यस्य । यो/स्य प्रथमोऽपानः सा पौर्णमासी ॥ १ ॥

भा०—( यः अस्य प्रथमः अपानः ) जो इस जीव का प्रथम अपान है वैसा ही ( तस्य व्रात्यस्य ) उस व्रात्य प्रजापति का प्रथम अपान ( सा पौर्णमासी ) वह पौर्णमासी है।

तस्य व्रात्यस्य । यो/स्य द्वितीयोऽपानः साष्टका ॥ २ ॥

भा०—( यः अस्य द्वितीयः अपानः ) जो इस जीव का द्वितीय अपान है वैसे ही ( तस्य व्रात्यस्य ) उस व्रात्य प्रजापति का द्वितीय अपान ( सा अष्टका ) वह अष्टका है।

तस्य॒ व्रात्य॑स्य। यो॑ऽस्य तृतीयो॑ऽपानः सामावास्या॑ ॥३॥

भा०—( यः अस्य तृतीयः अपानः ) जो इस जीव का तीसरा अपान है वैसे ही ( तस्य व्रात्यस्य ) उस व्रात्य प्रजापति का तीसरा अपान ( सा अमावास्या ) वह अमावास्या है।

तस्य॒ व्रात्य॑स्य। यो॑ऽस्य चतुर्थो॑ऽपानः सा श्र॒द्धा ॥ ४ ॥

भा०—( यः अस्य चतुर्थः अपानः ) जो इस जीव का चतुर्थ अपान है वैसे ही ( तस्य व्रात्यस्य ) उस व्रात्य प्रजापति का चतुर्थ अपान ( सा श्रद्धा ) वह श्रद्धा है।

तस्य॒ व्रात्य॑स्य। यो॑ऽस्य पञ्च॒मो॑ऽपानः सा दी॒क्षा ॥५॥

भा०—( यः अस्य पञ्चमः अपानः ) जो इस जीव का पांचवा अपान है वैसे ही ( तस्य व्रात्यस्य ) उस व्रात्य प्रजापति का पांचवा अपान ( सा दीक्षा ) वह दीक्षा है।

तस्य॒ व्रात्य॑स्य। यो॑ऽस्य ष॒ष्ठो॑ऽपानः स य॒ज्ञः ॥ ६ ॥

भा०—( यः अस्य षष्ठः अपानः ) जो इस जीव का छठा अपान है वैसे ही ( तस्य व्रात्यस्य ) उस व्रात्य प्रजापति का षष्ठ अपान ( सः यज्ञः ) वह यज्ञ है।

तस्य॒ व्रात्य॑स्य। यो॑ऽस्य स॒प्तमो॑ऽपानस्ता इ॒मा दक्षि॑णाः ॥७॥

भा०—( यः अस्य सप्तमः अपानः ) जो इस जीव का सातवां अपान है ( तस्य व्रात्यस्य ता इमाः दक्षिणाः ) उसी प्रकार उस व्रात्य प्रजापति का सातवां अपान ये दक्षिणाएं हैं।

## ( १७ ) व्रात्य प्रजापति के सात व्यान ।

१, ५ प्राजापत्योष्णिहौ, २, आसुर्यनुष्टुभौ, ३, याजुषी पंक्तिः, ४ साम्न्युष्णिक्, ६ याजुषीत्रिष्टुप, ८ त्रिपदा प्रतिष्ठार्ची पंक्ति, ९ द्विपदा साम्नीत्रिष्टुप्, १० साम्न्यनुष्टुप् । दशर्चं सप्तदशं सूक्तम् ॥

तस्य व्रात्यस्य । यो॑ऽस्य प्रथमो व्यान सेयं भूमिः ॥१॥

भा०—( य अस्य प्रथम. व्यान ) जो इस जीव का प्रथम व्यान है वैसे ही ( तस्य व्रात्यस्य ) उस व्रात्य प्रजापति का प्रथम व्यान ( सा इयं भूमि ) वह यह भूमि है ।

तस्य व्रात्यस्य । यो॑ऽस्य द्वितीयो व्यानस्तद्न्तरिक्षम् ॥२॥

भा०—( य अस्य द्वितीय. व्यान. ) जो इस जीव का दूसरा व्यान है वैसे ही ( तस्य व्रात्यस्य ) उस व्रात्य प्रजापति का दूसरा व्यान ( तद् अन्तरिक्षम् ) वह अन्तरिक्ष है ।

तस्य व्रात्यस्य । यो॑ऽस्य तृतीयो व्यानः सा द्यौः ॥ ३ ॥

भा०—(य अस्य तृतीय व्यानः) जो इस जीव का तृतीय व्यान है वैसे ही (तस्य व्रात्यस्य सा द्यौः) उस व्रात्य प्रजापति का तृतीय व्यान 'द्यौ' आकाश है ।

तस्य व्रात्यस्य । यो॑ऽस्य चतुर्थो व्यानस्तानि नक्षत्राणि ॥४॥

भा०—( यः अस्य चतुर्थः व्यान. ) जो इस जीव का चतुर्थ व्यान है वैसे ही ( तस्य व्रात्यस्य तानि नक्षत्राणि ) उस व्रात्य प्रजापति का चतुर्थ व्यान वे नक्षत्र हैं ।

तस्य व्रात्यस्य । यो॑ऽस्य पञ्चमो व्यानस्त ऋतवः ॥ ५ ॥

भा०—( यः अस्य पञ्चम. व्यानः ) जो इस जीव का पांचवां व्यान है वैसे ही ( तस्य व्रात्यस्य ते ऋतव ) उस व्रात्य का पांचवा व्यान वे ऋतुएं हैं ।

तस्य॒ व्रात्य॑स्य । यो॑ऽस्य ष॒ष्ठो व्या॒नस्त आ॑र्त॒वाः ॥ ६ ॥

भा०—( यः अस्य षष्ठः व्यानः ) जो इस जीव का छठा व्यान है वैसे ही ( तस्य व्रात्यस्य ) उस व्रात्य का छठा व्यान ( ते आर्त्तवाः ) वे ऋतु सम्बन्धी नाना पदार्थ हैं ।

तस्य॒ व्रात्य॑स्य । यो॑ऽस्य स॒प्तमो॑ व्या॒नः स सं॑वत्स॒रः ॥ ७ ॥

भा०—( यः अस्य सप्तमः व्यानः ) जो इस जीव का सातवां व्यान है वैसे ही ( तस्य व्रात्यस्य सः संवत्सरः ) उस व्रात्य का सातवां व्यान वह संवत्सर है ।

तस्य॒ व्रात्य॑स्य । स॒मा॒नमर्थं॒ परि॑ यन्ति दे॒वाः सं॑वत्स॒रं वा ए॒त-द्द॒तवो॑नु परि॑यन्ति॒ व्रात्यं॑ च ॥ ८ ॥

भा०—( संवत्सरं वा अनु ) जिस प्रकार संवत्सर के आश्रय में ( ऋतवः ) ऋतुगण ( परि यन्ति ) रहते हैं उसी प्रकार ( तस्य व्रात्यस्य ) उस व्रात्य प्रजापति के विषय में भी जानना चाहिये कि ( देवाः ) समस्त दिव्य पदार्थ ( समानम् अर्थम् व्रात्यं च परि यन्ति ) अपने समान स्तुति योग्य पदार्थ और व्रात्य प्रजापति के आश्रय होकर रहते हैं ।

तस्य॒ व्रात्य॑स्य । यदा॑दि॒त्यम॑भि॒संवि॒शन्त्य॑मावा॒स्यां॑ चै॒व तत्पौर्ण॑-मा॒सीं च॑ ॥ ६ ॥

भा०—( यत् ) जिस प्रकार ( देवाः आदित्यम् ) देव=किरणें सूर्य में प्रवेश करती हैं और जिस प्रकार ( अमावास्याम् ) अमावास्या में सब चन्द्र कलाएं लुप्त हो जाती हैं या सूर्य और चन्द्र एक साथ रहते हैं और ( पौर्ण-मासीम् च ) जिस प्रकार पौर्णमासी में समस्त चन्द्र कलाएं एकत्र हो जाती हैं ( तत् ) उसी प्रकार ये समस्त देवगण मुमुक्षु ज्ञानी लोग ( तस्य व्रात्यस्य ) उस व्रात्य प्रजापति के ( आदित्यम् ) आदित्य के समान प्रकाश-मान स्वरूप में ( अभि सं विशन्ति ) प्रवेश करते हैं ।

तस्य व्रात्यस्य। एकं तदेषाममृतत्वमित्याहुतिरेव ॥ १० ॥

भा०—( तस्य व्रात्यस्य ) उस व्रात्य प्रजापति का ( तत् ) वह अचिन्त्य, परम स्वरूप ( एकम् ) एक है। यही ( एषाम् ) इन देवों का ( अमृतत्वम् ) अमृत, मोक्ष स्वरूप है ( इति ) इस प्रकार उन जीवों और देवों का उसमें लीन हो जाना भी ( आहुतिः एव ) आहुति ही है। यही उनका परम ब्रह्म में महान् आत्मसमर्पण है।

( १८ ) व्रात्य के अन्य अङ्ग प्रत्यङ्ग।

१ दैवी पंक्ति, २, ३ आर्ची बृहत्यौ, ४ आर्ची अनुष्टुप्, ५ साम्न्युष्णिक्। पञ्चर्चं अष्टादशं पर्यायसूक्तम् ॥

तस्य व्रात्यस्य ॥ १ ॥ यदस्य दक्षिणमक्ष्यसौ स आदित्यो यदस्य सव्यमक्ष्यसौ स चन्द्रमाः ॥ २ ॥

भा०—(यद् अस्य दक्षिणम् अक्षि) जिस प्रकार इस जीव की दाहिनी आंख है उसी प्रकार ( तस्य व्रात्यस्य ) उस व्रात्य प्रजापति की दाहिनी आंख ( सः आदित्यः ) वह आदित्य है। ( यद् अस्य सव्यम् अक्षि ) जो इस जीव की बायीं आंख है उसी प्रकार उस व्रात्य की बायीं आंख (सः चन्द्रमाः) वह चन्द्रमा है।

यो॑ऽस्य दक्षिणः कर्णो॒ऽयं सो अ॒ग्निर्यो॑ऽस्य स॒व्यः कर्णो॒ऽयं स पव॑मानः ॥३॥

भा०—( यः अस्य दक्षिणः कर्णः ) जो जीव का यह दायां कान है उसी प्रकार इस व्रात्य प्रजापति का दायां कान ( अयं सः अग्निः ) यह वह अग्नि है। ( यः अस्य सव्यः कर्णः ) जो इस जीव का बायां कान है वैसे ही उस व्रात्य का बायां कान ( सः पवमानः ) वह पवमान=वायु है।

अ॒होरा॒त्रे नासि॑के॒ दिति॒श्चादि॑तिश्च शीर्षकपा॒ले सं॑वत्स॒रः शिरः॑ ॥४॥

भा०—उस व्रात्य के ( नासिके अहोरात्रे ) दिन और रात दोनों नासिकाओं के समान हैं। ( दितिः च अदितिः च ) दिति=द्यौ अदिति

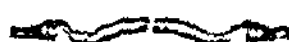
पृथ्वी ये दोनों ( शीर्षकपाले ) शिर के दोनों कपाल हैं । (संवत्सरः शिरः) और संवत्सर शिर है ।

अह्ना प्रत्यङ् व्रात्यो रात्र्या प्राङ् नमो व्रात्याय ॥ ५ ॥

भा०—जिस प्रकार सूर्य एक दिन में चलकर पूर्व दिशा से पश्चिम में अस्त हो जाता है उसी प्रकार वह ( व्रात्यः ) व्रात्य प्रजापति ( अह्ना ) अपने अगम्य स्वरूप से प्रत्यग् आत्मा में अदृश्य होकर रहता है । और जिस प्रकार ( रात्र्या ) एक रात्रि काल के पश्चात् सूर्य ( प्राङ् ) प्राची दिशा में आजाता है उसी प्रकार (रात्र्या) रमणकारिणी शक्ति से वह सबके ( प्राङ् ) सन्मुख आजाता है । ऐसे ( व्रात्याय ) सब व्रतों कर्मों, के स्वामी प्रजापति को ( नमः ) हम सदा नमस्कार करते हैं ।

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

[ तत्रैकादश पर्यायाः । अवसानर्चोऽष्टोत्तरशतम् । ]



## इति पञ्चदशं काण्डं समाप्तम् ।

अनुवाकद्वयं पञ्चदशेऽष्टादशसूक्तकम् ।
ऋचस्तत्रैव गण्यन्ते विंशतिश्च शतद्वयम् ॥



[illegible] श्रावणे च सिते शनौ ।
[illegible] पञ्चदशकं काण्डमाथर्वणं गतम् ॥

इति प्रतिष्ठितविद्यालंकार-मीमांसातीर्थविरुदोपशोभित-श्रीमज्जयदेवशर्मणा विरचितेऽथर्वणो ब्रह्मवेदस्यालोकभाष्ये पञ्चदशं काण्डं समाप्तम् ।



ॐ ओ३म् ॐ

# अथ षोडशं काण्डम्



## [ १ (१) ] पापशोधन ।

प्रजापतिर्देवता । १, ३ साम्नी बृहत्यौ, २, १० याजुषीत्रिष्टुभौ, ४ आसुरी गायत्री, ५, ८ साम्नीपङ्क्त्यौ, ( ५ द्विपदा ) ६ साम्नी अनुष्टुप्, ७ निचृद्विराड् गायत्री, ९ आसुरी पङ्क्तिः, ११ साम्नीउष्णिक्, १२, १३, आर्च्यनुष्टुभौ त्रयोदशर्चं प्रथम पर्यायसूक्तम् ॥

अतिसृष्टो अपां वृषभोऽतिसृष्टा अग्नयो दिव्याः ॥ १ ॥

भा०( अपां ) जलों का ( वृषभः ) वर्षण करने वाला सूर्य ( अतिसृष्टः ) अच्छे प्रकार से रचा गया है । इसी प्रकार ( दिव्याः ) और भी दिव्य अग्नि में, द्यौ लोक में प्रकाशमान सहस्रों सूर्य और विद्युत् आदि ( अतिसृष्टाः ) रचे गये हैं ।

रुजन् परिरुजन् मृणन् प्रमृणन् ॥ २ ॥

म्रोको मनोहा खनो निर्दाह आत्मदूषिस्तनूदूषिः ॥३॥

इदं तमति सृजामि तं माभ्यवनिक्षि ॥ ४ ॥

भा०—( रुजन् ) देह को तोड़ने वाला ( परि रुजन् ) सब प्रकार से देह को फोड़ता हुआ, पीड़ित करता हुआ ( मृणन् प्रमृणन् ) मारता हुआ, काटता हुआ रोग भी अग्नि है । वह ( म्रोकः ) अति संतापकारी, (मनोहा) मन का नाशक, चेतना का नाशक, ( खनः ) शरीर के रस धातुओं को

[ १ ] ३–' निर्दाहात्म ' इति पैप्प० सं ।

खोद डालने वाला, ( निर्दाहः ) अति अधिक दाहकारी, जलन उत्पन्न करने वाला, ( आत्मदूषिः ) अपने चित्त में विकार उत्पन्न करने वाला और ( तनूदूषिः ) शरीर में दोष उत्पन्न करने वाला ये सब प्रकार के भी संताप ही हैं । ( तम् ) इस उक्त प्रकार सब संतापक पदार्थों को ( इदम् ) यह इस रीति से ( अति सृजामि ) अपने से दूर करता हूं कि मैं ( तम् ) उस संतापकारी पदार्थ को ( मा ) कभी न ( अभि अवनिक्षि ) प्राप्त करूं । मैं उस में डूब न जाऊं ।

तेन तमभ्यतिसृजामो योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥

भा०—( तेन ) उस पूर्वोक्त संतापदायक पदार्थ से ( तम् अभि ) उस पुरुष के प्रति ( अति सृजामः ) उसका प्रयोग करें ( यः अस्मान् द्वेष्टि ) जो हमें द्वेष करता है ( यं वयं द्विष्मः ) और जिससे हम द्वेष करते हैं ।

अपामग्रमसि समुद्रं वोऽभ्यवसृजामि ॥ ६ ॥

भा०—हे अग्ने ! तू ( अपाम् अग्रम् असि ) जलों का अग्र, उनसे प्रथम उत्पन्न, उनका उपादान कारण है । हे अग्नियो ! रोगकारक संतापक पदार्थो ! ( वः ) तुमको मैं ( समुद्रम् ) समुद्र के प्रति (अभि अव सृजामि) बहा देता हूं ।

योऽप्स्वर्ग्निरति तं सृजामि म्रोकं खनिं तनूदूषिम् ॥ ७ ॥

भा०—( यः ) जो ( अप्सु ) जलों में ( अग्निः ) अग्नि के समान संतापक पदार्थ है ( तं ) उसको ( अतिसृजामि ) दूर करता हूं । और ( अप्सु अन्तः ) प्रजाओं के बीच में विद्यमान ( म्रोकं ) चोर, ( खनिं ) सेंध खोदने और ( तनू दूषिम् ) शरीर के नाश करने वाले संतापक पुरुष को भी ( अति सृजामि ) दूर करता हूं ।

यो व आपोऽग्निराविवेश स एष यद् वो घोरं तदेतत् ॥ ८ ॥

भा०—( आप अग्नि ) जलों के भीतर जिस प्रकार अग्नि प्रविष्ट होकर उसे भी तृप्त करता और उसको भाप बनाकर नष्ट कर देता है उसी प्रकार ( यः ) जो संतापकारी पुरुष ( वः ) तुम लोगों में ( आविवेश ) आ घुसे । ( सः एष. ) यह वह है अर्थात् वह उसी जलों में प्रविष्ट अग्नि के समान है । ( यत् ) जो पदार्थ भी ( व ) तुम्हारे लिये ( घोरं ) अति घोर कष्टदायी है ( तत् एतत् ) वही वह अग्नि है ।

इन्द्रस्य व इन्द्रियेणाभि षिञ्चेत् ॥ ९ ॥

भा०—हे पुरुषो ! ( व. ) आप लोगों में से ( इन्द्रस्य ) इन्द्र, ऐश्वर्य वान् पुरुष का ही ( इन्द्रियेण ) राजा के ऐश्वर्य, मान प्रतिष्ठा से ( अभि षिञ्चत् ) अभिषेक किया जाय ।

अरिप्रा आपो अप रिप्रमस्मत् ॥ १० ॥

भा०—( आप ) स्वच्छ जल जिस प्रकार मल रहित होते हैं उसी प्रकार आप्त पुरुष भी ( अरिप्राः ) मल और पाप से रहित होते हैं । वे ( अस्मत् ) हम से भी ( रिप्रम् ) पाप और मल ( अप ) दूर करें ।

प्रास्मदेनो वहन्तु प्र दुष्वप्न्यं वहन्तु ॥ ११ ॥

भा०—वे आप्त पुरुष जलों के समान ही ( अस्मत् ) हम में (एनः) पाप मल को ( प्र वहन्तु ) दूर बहा दें और ( दुष्वप्न्यं ) बुरे स्वप्नों के कारण को भी ( प्र वहन्तु ) दूर करें ।

शिवेन मा चक्षुषा पश्यतापः शिवया तन्वोप स्पृशत त्वचं मे ॥१२॥
अथर्व० १० । ५ । २४ ॥

भा०—हे ( आपः ) जलों के समान स्वच्छ हृदय के आप्त पुरुषो ! आप लोग ( मा ) मुझे ( शिवेन चक्षुषा ) कल्याणकारी चक्षु से ( पश्यत ) देखो । और ( शिवया तन्वा ) कल्याणकारी शरीर से ( मे त्वचम् ) मेरी त्वचा को ( उप स्पृशत ) स्पर्श करो ।

शिवानग्नीनप्सुषदो हवामहे मयि क्षत्रं वर्चं आ धत्त देवीः ॥१३॥

भा०—हम लोग (शिवान्) कल्याणकारी (अप्सुषदः) आप्त प्रजाओं के ऊपर शासक रूप में विराजमान (शिवान्) कल्याणकारी (अग्नीन्) अग्नि के समान विद्वान्, प्रकाशमान् और अग्रणी नेताओं को हम लोग (हवामहे) आदर सत्कार से बुलाते हैं। हे (देवीः) दिव्य गुण वाली प्रजागणो ! आप लोग (क्षत्रं) क्षात्र धर्मयुक्त बल और (वर्चः) तेज (आ धत्त) धारण करो।

## (२) शक्ति उपार्जन।

वागृषिर्वा। १ आसुरी अनुष्टुप्, २ आसुरी उष्णिक्, ३ साम्नी उष्णिक्, ४ त्रिपदा साम्नी बृहती, ५ आर्ची अनुष्टुप्, ६ निचृद् विराड् गायत्री द्वितीयं पर्यायसूक्तम् ॥

निर्दुरर्मण्य ऊर्जा मधुमती वाक् ॥ १ ॥

भा०—(दुरर्मण्यः निः) दुष्ट भोजन और दुष्ट प्रवृत्ति दूर हो। क्योंकि (ऊर्जा) ऊर्ग् उत्तम रसवान् अन्न से (वाक्) वाणी भी (मधुमती) मधु से सिक्त, ज्ञान से युक्त, मधुर होती है।

मधुमती स्थ मधुमतीं वाचमुदेयम् ॥ २ ॥

भा०—हे प्रजाजनो, आप्त पुरुषो ! आप लोग (मधुमतीः स्थ) मधु अर्थात् ज्ञान से सम्पन्न हो, मैं भी (मधुमतीम्) मधुर, ज्ञान से पूर्ण (वाचम्) वाणी (उदेयम्) बोलूं।

उपहूतो मे गोपा उपहूतो गोपीथः ॥ ३ ॥

भा०—(मे गोपाः उपहूतः) अपने रक्षक परमात्मा को आदर पूर्वक स्मरण किया जाय। और (उपहूतः गोपीथः) गो=वाणी का पान और पालन करनेहारे ईश्वर को आदर से बुलाया जाय।

---

१—'दुरमात्य' इति ग्रीफिथ ब्हिटनिसम्मतः।

सुश्रुतौ कर्णौ भद्रश्रुतौ कर्णौ भद्रं श्लोकं श्रूयासम् ॥ ४ ॥

भा०—( कर्णौ ) दोनों कान ( सुश्रुतौ ) उत्तम सुनने वाले हों, ( कर्णौ भद्रश्रुतौ ) दोनों कान भद्र, सुखकारी कल्याणजनक शब्द का श्रवण करें। ( भद्रश्लोकम् ) भद्र, सुखकारी कल्याणजनक स्तुति को मैं ( श्रूयासम् ) सुना करूं।

सुश्रुतिश्च मोपश्रुतिश्च मा हासिष्टां सौपर्णं चक्षुरजस्रं ज्योतिः ॥५॥

भा०—( सुश्रुति च ) उत्तम श्रवण शक्ति और ( उपश्रुतिः च ) सूक्ष्म श्रवण शक्ति दोनों ( मा ) मुझे ( मा हासिष्टाम् ) कभी न छोड़ें। और ( सौपर्णं चक्षु. ) मेरी आंख गरुड़ या बाज के समान हो और ( ज्योतिः ) ज्योति, प्रकाश ( अजस्रम् ) निरन्तर रहे। वे कभी मुझ से दूर न हों।

ऋषीणां प्रस्तरोऽसि नमोऽस्तु दैवाय प्रस्तराय ॥ ६ ॥

भा०—हे परमात्मन् ! आप ( ऋषीणां ) मन्त्रद्रष्टा विद्वानों के ( प्रस्तरः असि ) सर्वत्र विस्तार करने हारे हैं उस ( दैवाय ) देव स्वरूप ( प्रस्तराय ) समस्त जगत् के विस्तार करने हारे परमेश्वर को (नमः अस्तु) नमस्कार है।

---

## ( २ ) ऐश्वर्य उपार्जन।

ब्रह्मा ऋषिः। आदित्यो देवता। १ आसुरी गायत्री, २, ३ आर्च्यनुष्टुभौ, ४ प्राजापत्या त्रिष्टुप्, ५ साम्नी उष्णिक्, ६ द्विपदा साम्नी त्रिष्टुप्। षड्च तृतीयं पर्यायसूक्तम् ॥

मूर्धाहं रयीणां मूर्धा समानानां भूयासम् ॥ १ ॥

भा०—( रयीणाम् ) समस्त रयि, ऐश्वर्यों और बलों का मैं ( अहम् ) ( मूर्धा ) शिरोमणि अधिष्ठाता, उनका बांधने वाला स्वामी बनूं। और

( समानानाम् ) अपने समान बल ऐश्वर्य वालों में भी सब का ( मूर्धा ) शिरोमणि मैं ही ( भूयासम् ) हो जाऊं ।

रुजश्च मा वेनश्च मा हासिष्टं मूर्धा च मा विधर्मा च मा हासिष्टाम् ॥ २ ॥

भा०—( रुजः=रुचः च ) नाना प्रकार की कान्तियां और तेज या रुजः शत्रुओं का हिंसाकारी बल और ( वेनः च ) प्रकाश ये दोनों ( मा मा हासिष्टं ) मुझे कभी न छोड़ें । ( मूर्धा च ) शिर और ( विधर्मा च ) नाना प्रकार का धारक बल भी ( मा मा हासिष्टाम् ) मुझे कभी परित्याग न करें ।

उखश्च मा चमसश्च मा हासिष्टं धर्ता च मा धरुणश्च मा हासिष्टाम् ॥ ३ ॥

भा०—( उखः ) भोजन पकाने की हांडी और ( चमसः च ) चमचा दोनों ( मा मा हासिष्टं ) मुझे परित्याग न करें । ( धर्ता च धरुणः च ) धारणकर्त्ता और धरुण=आश्रय ये दोनों भी ( मा मा हासिष्टाम् ) मुझे त्याग न करें ।

विमोकश्च मार्द्रपविश्च मा हासिष्टामार्द्रदानुश्च मा मातरिश्वा च मा हासिष्टाम् ॥ ४ ॥

भा०—( विमोकः च ) जलधाराएं बरसाने वाला मेघ और ( आर्द्र-पविः च ) जलप्रद बादल की वाणी, गर्जनशील विद्युत् ( मा मा हासिष्टाम् ) मुझे परित्याग न करें । ( आर्द्रदानुः ) जलों को देने वाले मेघ को ला देने वाला और ( मातरिश्वा च ) अन्तरिक्षगामी वायु भी ( मा मा हासिष्टाम् ) मुझे न छोड़ें । एष [ वायुः ] आर्द्रं ददाति इति आर्द्रदानुः । श० ६ । ४ । २ । ५ ॥

---

३–'हासिष्टाम्' इति पाठभिन्नदः । 'उखश्च' इति पैप्प० सं० ।

बृहस्पतिर्म आत्मा नृमणा नाम हृद्यः ॥ ५ ॥

भा०—( बृहस्पतिः ) बृहस्पति, वाणी का पालक ( मे ) मेरा (आत्मा) आत्मा ( नृमणाः नाम ) समस्त मनुष्यों या प्राणों के भीतर मनन करने वाला और ( हृद्यः ) हृदय में विराजमान रहता है।

असंतापं मे हृदयमुर्वी गव्यूतिः समुद्रो अस्मि विधर्मणा ॥ ६ ॥

भा०—( मे हृदयम् ) मेरा हृदय ( असंतापम् ) संताप रहित हो। मेरी ( गव्यूतिः ) गो-वाणी की गति या इन्द्रियों की पहुंच ( उर्वी ) विशाल हो। और मैं ( विधर्मणा ) विशेष धारण सामर्थ्य से ( समुद्रः अस्मि ) समुद्र के समान रहूं।

( ४ ) रक्षा, शक्ति और सुख की प्रार्थना।

ब्रह्मा ऋषिः। आदित्यो देवता। १, ३ साम्न्यनुष्टुभौ, २ साम्न्युष्णिक्, ४ त्रिपदाऽनुष्टुप्, ५ आसुरीगायत्री, ६ आर्च्युष्णिक्, ७ त्रिपदाविराड्गर्भाऽनुष्टुप्। सप्तर्चं पर्यायसूक्तम् ॥

नाभिरहं रयीणां नाभिः समानानां भूयासम् ॥ १ ॥

भा०—( अहम् ) मैं ( रयीणाम् नाभिः ) समस्त ऐश्वर्यों की नाभि बन्धन स्थान, केन्द्र हो जाऊं। ( समानानाम् नाभिः भूयासम् ) अपने समान के पुरुषों में भी मैं सबको बांधनेहारा, केन्द्र होकर रहूं।

स्वासदसि सूषा अमृतो मर्त्येष्वा ॥ २ ॥ २ ॥

भा०—हे आत्मन् तू ( सु आसत् ) उत्तम आसन वाला और ( सु ऊषा ) प्रभात के समान उत्तम प्रकाशवान्, पापों का दहन करने वाला है वह ही ( मर्त्येषु ) मरण धर्मा मनुष्यों में ( अमृतः ) अमृत, नित्य है।

मा मां प्राणो हासीन्मो अपानोऽवहाय परा गात् ॥ ३ ॥

भा०—( माम् ) मुझको ( प्राणः मा हासीत् ) प्राण त्याग न करे । ( अपानः उ ) अपान भी ( मा अवहाय परा गात् ) मुझे छोड़ कर परे न जाय ।

सूर्यो माह्नः पात्वग्निः पृथिव्या वायुरन्तरिक्षाद् यमो मनुष्ये/भ्यः सरस्वती पार्थिवेभ्यः ॥ ४ ॥

भा—( सूर्यः ) सूर्य ( मा ) मुझे ( अह्नः पातु ) दिन से रक्षा करे । ( अग्निः पृथिव्याः पातु ) अग्नि पृथिवी से मेरी रक्षा करे । ( वायु अन्तरिक्षात् ) वायु अन्तरिक्ष से आने वाले उपद्रवों से मेरी रक्षा करे । ( यमः-मनुष्येभ्यः ) नियन्ता राजा मुझे मनुष्यों से रक्षा करे । ( सरस्वती ) ज्ञान और वाणी मुझे ( पार्थिवेभ्यः ) पृथिवी के स्वामी लोगों से सुरक्षित रक्खे ।

प्राणापानौ मा मां हासिष्टं मा जने प्र मेषि ॥ ५ ॥

भा—( प्राणापानौ ) प्राण और अपान दोनों ( मा मा हासिष्टम् ) मुझे त्याग न करें । मैं ( जने ) लोगों के बीच रहता हुआ ( मा प्रमेषि ) कभी न मरूं ।

स्वस्त्यद्योषसो दोषसश्च सर्व आपः सर्वगणो अशीय ॥ ६ ॥

भा—हे ( आपः ) प्रजाओ ! आप्त पुरुषो ! ( अद्य स्वस्ति ) आज, नित्य कल्याण हो ( उषसः दोषसः च ) दिनों और रातों का मैं ( सर्वः ) सर्वाङ्ग पूर्ण होकर और ( सर्वगणः ) अपने समस्त भृत्य और बन्धुजनों सहित ( अशीय ) सुख भोग करूं ।

शक्वरी स्थ पशवो मोप स्थेषुर्मित्रावरुणौ मे प्राणापानावग्निर्मे दक्षं दधातु ॥ ७ ॥

७–' स्थेषु ' इति बहुत्र ।

भा०—हे आप्त पुरुषो! आप लोग ( शक्वरीः स्थ ) शक्ति से सम्पन्न होओ। ( पशवः ) पशु लोग ( मा उपस्थेषु ) मेरे पास आवें। ( मित्रावरुणौ ) मित्र और वरुण ( मे ) मुझे ( प्राणापानौ ) प्राण और अपान, बल प्रदान करें। ( अग्निः मे दक्षं दधातु ) अग्नि, जाठर अग्नि मुझे बल प्रदान करे।

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

[ तत्र सप्त पर्यायाः, द्वादशाधिकशतमवसानर्चः । ]



## ( ५ ) दुःस्वप्न और मृत्यु से बचने के उपाय।

यम ऋषिः । दुःस्वप्ननाशनो देवता । १—६ (प्र०) विराड्गायत्री ( ५ प्र० भुरिक्, ६ प्र० स्वराड् ) १ प्र० ६ नि० प्राजापत्या गायत्री, तृ०, ६ तृ० द्विपदासाम्नी बृहती । दशर्चं पञ्चमं पर्यायसूक्तम् ॥

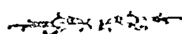
विद्म ते स्वप्न जनित्रं ग्राह्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः ॥१॥ अन्तकोऽसि मृत्युरसि ॥२॥ तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुःष्वप्न्यात् पाहि ॥३॥ अथर्व० ७।४६।२ ॥

भा०—हे ( स्वप्न ) स्वप्न! ( ते जनित्रं विद्म ) हम तेरे उत्पत्ति स्थान को जानते हैं तू ( ग्राह्याः ) ग्राही अंगों को शिथिल करने वाली शक्ति का ( पुत्रः असि= ) पुत्र है, उससे उत्पन्न होता है। तू ( यमस्य करणः ) यम बांध लेने वाले का करण, साधन है। तू ( अन्तकः असि ) अन्तक है सब चेतना वृत्तियों का अन्त करने वाला है। तू ( मृत्युः असि ) मृत्यु है। हे ( स्वप्न ) स्वप्न! ( तं त्वा ) उस तुझको हम ( तथा ) उस प्रकार ( संविद्म ) भली प्रकार से जानते हैं। ( सः नः ) वह तू हमें ( दुःष्वप्न्यात् ) ( पाहि ) दुःस्वप्न, स्वप्न की अवस्था या मृत्यु से बचा।

विद्म ते स्वप्न जनित्रं निर्ऋत्याः पुत्रो॑ऽसि यमस्य करणः । ० । ० ॥४॥ विद्म ते स्वप्न जनित्रमभूत्याः पुत्रो॑ऽसि० । ० । ० ॥ ५ ॥ विद्म ते स्वप्न जनित्रं निर्भूत्याः पुत्रो॑ऽसि० । ० । ॥ ६ ॥ विद्म ते स्वप्न जनित्रं पराभूत्याः पुत्रो॑ऽसि० । ० । ० ॥ ७ ॥ विद्म ते स्वप्न जनित्रं देवजामीनां पुत्रो॑ऽसि यमस्य करणः ॥ ८ ॥ अन्तकोसि मृत्युरसि ॥९॥ तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुष्वप्न्यात् पाहि ॥१०॥

अथर्व० ६ । ४६ । २ ॥

भा०—हे स्वप्न ! (विद्म ते जनित्रं) [४-८] हम तेरी उत्पत्ति का कारण जानते हैं । तू ( निर्ऋत्याः पुत्रः असि ) निर्ऋति, पापप्रवृत्ति का पुत्र है । तू ( अभूत्याः पुत्रः असि ) 'अभूति', चेतना या ऐश्वर्य की सत्ता के अभाव का पुत्र है, उससे उत्पन्न होता है । ( निर्भूत्याः पुत्रः असि ) 'निर्भूति', चेतनाकी बाह्य सत्ता या अपमान में उत्पन्न होता है । (परा-भूत्याः पुत्रः असि) चेतनाकी सत्ता से दूर की स्थिति या अपमान में उत्पन्न होता है । ( देवजामीनां पुत्रः असि ) देव=इन्द्रियगत प्राणों के भीतर विद्यमान जामि=दोषों से उत्पन्न होता है । ( अन्तकः असि तं त्वा स्वप्न० इत्यादि ) पूर्ववत् ऋचा २, ३ के समान ।



## ( ६ ) अन्तिम विजय, शान्ति, शत्रुशमन ।

यम ऋषिः । दुःस्वप्ननाशन उषा च देवता, १–४ प्राजापत्यानुष्टुभः, साम्नीपंक्तिः, ६ निचृद् आर्ची बृहती, ७ द्विपदा साम्नी बृहती, ८ आसुरी जगती, ९ आसुरी, १० आर्ची उष्णिक्, ११ त्रिपदा यवमध्या गायत्री वार्ष्यनुष्टुप् । एकादशर्चं षष्ठं पर्याय सूक्तम् ॥

अजैष्माद्यासनामाद्याभूमानागसो वयम् ॥ १ ॥

भा०—( अद्य ) आज ( अजैष्म ) हमने अपनी दुर्वृत्तियों पर विजय कर लिया है। ( अद्य असनाम ) आज हमने प्राप्तव्य पदार्थ को भी प्राप्त कर लिया है। ( वयम् ) हम अब ( अनागसः ) निष्पाप ( अभूम ) हो गये हैं।

उषो यस्माद् दुष्वप्न्यादभैष्माप तदुच्छतु ॥ २ ॥

ऋ० ८ । ४७ । १८ पू० च० ॥

भा०—हे ( उष )उषाकाल ! हम ( यस्मात् ) जिस ( दुः स्वप्न्यात् ) दुःस्वप्न, बुरे स्वप्न होने से ( अभैष्म ) भय करते हैं ( तत् अप उच्छतु ) वह दूर हो जाय।

द्विषते तत् परा वह शपते तत् परा वह ॥ ३ ॥

यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तस्मा एनद् गमयामः ॥ ४ ॥

भा०—( द्विषते ) जो हम से द्वेष करे उसके लिये ( तत् ) उस दुस्वप्न को (परा वह) परे लेजा। और ( शपते ) जो हमें बुरा भला कहे उसके लिये ( तत् परावह ) उस दुस्वप्न को लेजा।

उषा देवी वाचा संविदाना वाग् देव्युषसा संविदाना ॥ ५ ॥
उषस्पतिर्वाचस्पतिना संविदानो वाचस्पतिरुषस्पतिना संविदान- ॥६॥ तेऽमुष्मै परा वहन्त्वरायान् दुर्णाम्नः सदान्वा- ॥७॥

भा०—( देवी ) प्रकाश वाली ( उषा ) उषा, ( वाचा ) वाक् वेदवाणी से ( संविदाना ) संगत हो, और ( वाग् देवी ) ज्ञान के प्रकाश से युक्तवाणी ( उपसा ) पापदाहक उषा से ( सं विदाना ) संग लाभ करती है। ( उषस्पतिः ) उषा का पालक सूर्य ( वाचः पतिना ) वाणी के स्वामी विद्वान्, या परमेश्वर के साथ ( संविदानः ) संगति लाभ करे और ( वाचः पतिः ) वाणी का स्वामी विद्वान् ( उषः पतिना सं विदान )

५-( तृ० ) 'यश्च' इति ह्विटनिकामितः।

उषा के स्वामी सूर्य के साथ संगति लाभ करता हो। अर्थात् उषा के समान वाणी और वाणी के समान उषा है। वाक्पति परमेश्वर के समान सूर्य और सूर्य के समान परमेश्वर प्रकाशस्वरूप और ज्ञानस्वरूप है। ( ते ) वे सब ( अमुष्मै ) शत्रु को ( अरायान् ) धन, ऐश्वर्यो से रहित ( दुर्णाम्नः ) बुरे नाम वाले ( सदान्वाः ) सदा कष्टकारी विपत्तियां ( परावहन्तु ) प्राप्त करावें।

**कुम्भीकां दूषीकाः पीयकान् ॥ ८ ॥ जाग्रद् दुष्वप्न्यं स्वप्नेदुष्वप्न्यम् ॥ ९ ॥ अनागमिष्यतो वरानवित्तेः संकल्पानमुच्या द्रुहः पाशान् ॥ १० ॥ तदमुष्मा अग्ने देवाः परा वहन्तु वध्रिर्यथासद् विथुरो न साधुः ॥ ११ ॥**

भा०—वाणी उषा और उनके पालक लोग ( कुम्भीकाः ) कुम्भीक, घड़े के समान पेट बढ़ा देने वाली जलोदर आदि, ( दूषिकाः ) शरीर में विषका दोष उत्पन्न करने वाली और ( पीयकान् ) प्राण हिंसा करने वाली व्याधियों और रोगों को और ( जाग्रद्-दुष्वप्न्यम् ) जागते समय के दुस्वप्न होने और ( स्वप्नेदुष्वप्न्यम् ) सोते समय में दुस्वप्न होने, और ( वरान् अनागमिष्यतः ) भविष्यत् में कभी न आने वाले उत्तम ऐश्वर्य, अर्थात् उत्तम ऐश्वर्यों के भविष्यत् में न आने के कष्टों को ( अवित्तेः संकल्पान् ) द्रव्य लाभ न होने या दरिद्रता से उठे नाना संकल्प और (अमुच्याः) कभी न छूटने वाले ( द्रुहः ) परस्पर के कलहों के ( पाशान् ) पाशों को ( अग्ने ) अग्ने, शत्रुभयदायक ! राजन् ! प्रभो ! ( देवाः ) विद्वान् लोग ( तत् ) उन सब कष्टदायी बातों को ( अमुष्मै ) उस शत्रु के पास ( परावहन्तु ) पहुंचावें। ( यथा ) जिसमें वह शत्रुजन ( वध्रिः ) निर्वीर्य, वधिया ( विथुरः साधुः न ) तकलीफ़ में पड़े भले आदमी के समान ( असत् ) हो जाय।

## ( ७ ) शत्रुदमन ।

यमऋषिः । दुःस्वप्ननाशनो देवता । १ पंक्तिः, २ साम्न्यनुष्टुप्, ३ आसुरी उष्णिक्, ४ प्राजापत्या गायत्री ५ आर्च्युष्णिक् ६, ९, ११ साम्नीबृहत्यः, ७ याजुषी गायत्री ८ प्राजापत्या बृहती, १० साम्नी गायत्री, ११ भुरिक् प्राजापत्यानुष्टुप्, १३ आसुरी त्रिष्टुप् त्रयोदशर्चं सप्तमं पर्यायसूक्तम् ॥

तेनैनं विध्याम्यभूत्यैनं विध्यामि निर्भूत्यैनं विध्यामि
पराभूत्यैनं विध्यामि ग्राह्यैनं विध्यामि तमसैनं विध्यामि ॥ १ ॥

भा०—(तेन) मैं उस, नाना शस्त्र से (एनं) इस शत्रु को (विध्यामि) ताड़ना करूं (अभूत्या एनं विध्यामि) ऐश्वर्य के अभाव से उसको पीड़ित करूं (निर्भूत्या एनं विध्यामि) पराजय और तिरस्कार से उसको पीड़ित करूं, (ग्राह्या एनं विध्यामि) नाना प्रकार की जकड़ से उसको पीड़ित करूं। (तमसा एनं विध्यामि) तम अन्धकार और मृत्यु से पीड़ित करूं। अर्थात् शत्रु को शस्त्रास्त्र से पीड़ित करो। ऐश्वर्य उसके पास न जाने दो, उसकी धन सम्पत्ति छीन लो पराजित और तिरस्कार करो, पकड़ कर कैद करलो और अन्धेरे से भरे कैदखाने में उसे डालदो।

देवानामेनं घोरैः क्रूरैः प्रैषैरभिप्रेष्यामि ॥ २ ॥

भा०—(एनं) इस शत्रु को (देवानाम्) देवों के, अग्नि सूर्य, वायु आदि दिव्य पदार्थों के या विद्वानों के (घोरैः) अति भयानक (क्रूरैः) क्रूर, कष्टदायी (प्रैषैः) अस्त्रों द्वारा (अभिप्रेष्यामि) उखाड़ फेंकूं।

वैश्वानरस्यैनं दंष्ट्रयोरपि दधामि ॥ ३ ॥

भा०—(एनं) इस शत्रु को (वैश्वानरस्य दंष्ट्रयोः) वैश्वानर नामक अस्त्र, महान् अग्नि या परमात्मा की दाढ़ों में (अपि दधामि) धर दूं।

एवानेवाव सा गरत् ॥ ४ ॥

भा०—( सा ) वह दारु ( एव अनेव ) इस प्रकार से या अन्य प्रकार से भी शत्रु को ( अव गरत् ) निगल जाय।

योऽस्मान् द्वेष्टि तमात्मा द्वेष्टु यं वयं द्विष्मः स आत्मानं द्वेष्टु ॥५॥

भा०—( यः ) जो ( अस्मान् ) हम से ( द्वेष्टि ) द्वेष करता है ( तम् ) उसको ( आत्मा ) उसका अपना आत्मा ( द्वेष्टु ) द्वेष करे और ( यं वयं द्विष्मः ) जिससे हम द्वेष करते हैं ( सः आत्मानं द्वेष्टु ) वह भी अपने ही साथ द्वेष करे। शत्रु के राज्य में भेद नीति का प्रयोग करना चाहिये।

निर्द्विषन्तं दिवो निः पृथिव्या निरन्तरिक्षाद् भजाम ॥ ६ ॥

भा०—( द्विषन्तम् ) द्वेष करने वाले को ( दिवः पृथिव्याः अन्तरिक्षात् निः, निः, निः भजाम ) द्यौ लोक, पृथिवी लोक और अन्तरिक्ष तीनों लोकों से निकाल बाहर करें।

सुयामँश्चाक्षुष ॥ ७ ॥ इदमहमामुष्यायणेऽमुष्याः पुत्रे दुष्वप्न्यं मृजे ॥ ८ ॥

भा०—हे ( सुयामन् ) उत्तम रीति से नियम व्यवस्था करने हारे राजन् ! हे चाक्षुष ! अपराधियों के अपराधों को भली प्रकार देखनेहारे ! ( अहम् ) मैं आथर्वण पुरोहित, न्यायाधीश, ( इदम् ) यह इस प्रकार से ( अमुष्यायणे ) अमुक गोत्र के ( अमुष्याः पुत्रे ) अमुक स्त्री के पुत्र पर ( दुःस्वप्न्यं ) दुःस्वप्न मृत्यु दण्ड का ( मृजे ) प्रयोग करता हूं।

यददोअदो[1] अभ्यगच्छन् यद् दोषा यत् पूर्वां रात्रिम् ॥ ९ ॥

यज्जाग्रद् यत् सुप्तो यद् दिवा यन्नक्तम् ॥ १० ॥

यदहरहरभिगच्छामि तस्मादेनमव दये ॥ ११ ॥

१—'अभ्यगच्छम्', इति ह्विटनिकामितः।

भा०—( यत् ) जो ( अद अद ) अमुक अमुक अपराध ( अभि अगच्छन् ) मैं इस अपराधी का देखता हूं। ( यत् दोषा यत् पूर्वां रात्रिम् ) जो इस रात में और जो गयी पूर्व की रात्रि में और ( यत् जाग्रत् ) जो जागते हुए ( यत् सुप्त ) जो सोते हुए ( यत् दिवा, यत् नक्तम् ) जो दिन को और जो रात्रि का और ( यत् ) जो ( अहः अहः ) प्रतिदिन ( अभि गच्छामि ) इसका अपराध पाता हूं ( तस्मात् ) इस कारण से ( एनम् ) इस अपराधी को ( अवदये ) दण्डित करता हूं ।

तं जहि तेन मन्दस्व तस्य पृष्टीरपि शृणीहि ॥ १२ ॥

स मा जीवीत् तं प्राणो जहातु ॥ १३ ॥

भा०—हे दण्डकर्त्तः ! ( तं जहि ) उस अपराधी को दण्ड दे । ( तेन मन्दस्व ) उस अपराधी, दण्डनीय पुरुष से तू क्रीड़ा कर, उसका नाक कान काट कर खेला कर । और ( तस्य ) अमुक अपराधी पुरुष की ( पृष्टी अपि शृणीहि ) पसलियों को भी तोड़ डाल । ( सः ) वह अमुक अपराधी ( मा जीवीत् ) न जीवे । और ( तं प्राणः जहातु ) उस अपराधी को प्राण त्याग दे ।

---

## ( ८ ) विजयोत्तर शत्रुदमन ।

१–२७ ( प्र० ) एकपदा यजुर्ब्राह्म्यनुष्टुभ, १–२७ ( द्वि० ) निचृद् गायत्र्य, १ तृ० प्राजापत्या गायत्री, २–२७ (तृ०) त्रिपदा प्राजापत्यास्त्रिष्टुभ, २–४, ९, १७, १९, २४ आसुरीजगत्य, ५, ७, ८, १०, ११, १३, १८ ( तृ० ) आसुरीत्रिष्टुभ, ६, १२, १४, १६, २०, २३, २६ आसुरीपङ्क्तय, २५, २६ ( तृ० ) आसुरीबृहत्यौ, सप्तविंशत्यृचमष्टमं पर्यायसूक्तम् ॥

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं स्वरस्माकं यज्ञोऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा

अस्माकम् ॥ १ ॥ तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः ॥ २ ॥ स ग्राह्याः पाशान्मा मोचि ॥ ३ ॥ तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि ॥४॥

भा०—( अस्माकम् जितम् ) हमारा विजय है। ( अस्माकम् उद्भिन्नम् ) हमारा ही यह फल उत्पन्न हुआ है। ( ऋतम् अस्माकम् ) यह अन्न और राष्ट्र हमारा है। ( तेजः अस्माकम् ) यह तेज, क्षात्रबल हमारा है। ( ब्रह्म अस्माकम् ) यह समस्त वेद और वेद के विद्वान्, ब्राह्मण हमारे हैं ( स्वः अस्माकम् ) यह समस्त सुखकारक पदार्थ और आकाश भाग भी हमारा है ( यज्ञः अस्माकम् ) यह यज्ञ, परस्पर सत्संग और दान और राष्ट्र आदि के समस्त कार्य हमारे अधीन हैं। ( पशवः अस्माकम् ) ये समस्त पशु हमारे हैं। ( प्रजाः अस्माकम् ) ये समस्त प्रजाएं हमारी हैं और ( वीराः अस्माकम् ) ये सब वीर सैनिक भी हमारे हैं। ( तस्मात् अमुम् निर्-भजामः ) इसलिये उस शत्रु को हम इस राष्ट्र से निकालते हैं ( आमुष्यायणम् अमुष्याः पुत्रम् यः असौ ) अमुक वंश के, अमुक स्त्री के पुत्र और वह जो हमारा शत्रु है उसको हम राष्ट्र से निकालते, देशनिकाल करते हैं। ( सः ) वह ( ग्राह्याः ) अपराधी लोगों को पकड़ लेने वाली शक्ति के ( पाशात् ) पाश, दण्ड धारा से ( मा मोचि ) न छूटने पावे। ( तस्य ) उसका ( इदं वर्चः ) यह बल ( तेजः ) वीर्य ( प्राणम् आयुः ) प्राण आयु सब को ( नि वेष्टयामि ) बांध लेता हूं, काबू कर लेता हूं। ( इदम् ) यह अब मैं ( एनम् ) उसको ( अधराञ्चं पादयामि ) नीचे गिराता हूं।

जितम् ० । ० । स निर्ऋत्याः पाशान्मा मोचि । ० ॥ ५ ॥ जितम् ० । ० । सोऽभूत्या पाशान्मा मोचि । ० ॥ ६ ॥ जितम् ० । ० । स निर्भूत्याः पाशान्मा मोचि । ० ॥ ७ ॥ जितम् ० । ० । स पराभूत्याः पाशान्मा मोचि । ० ॥ ८ ॥ जितम् ० । ० । स देवजामीनां

पाशान्मा मोचि । ० ॥ जितम् ० । ० । स बृहस्पतेः पाशान्मा मोचि । ० ॥ १० ॥ जितम् ० । ० । स प्रजापतेः पाशान्मा मोचि ० ॥ ११ ॥ जितम् ० । ० । स ऋषीणां पाशान्मा मोचि । ० ॥ १२ ॥ जितम् ० । ० । स आर्षेयाणां पाशान्मा मोचि । ० ॥ १३ ॥ जितम् ० । ० । सोऽङ्गिरसां पाशान्मा मोचि । ० ॥ १४ ॥ जितम् ० । ० । स आङ्गिरसानां पाशान्मा मोचि । ० ॥ १५ ॥ जितम् ० । ० । सोऽथर्वणां पाशान्मा मोचि । ० ॥ १६ ॥ जितम् ० । ० । स आथर्वणानां पाशान्मा मोचि । ० ॥ १७ ॥ जितम् ० । ० । स वनस्पतीनां पाशान्मा मोचि । ० ॥ १८ ॥ जितम् ० । ० । स वानस्पत्यानां पाशान्मा मोचि । ० ॥ १९ ॥ जितम् ० । ० । स ऋतूनां पाशान्मा मोचि । ० ॥ २० ॥ जितम् ० । ० । स आर्तवानां पाशान्मा मोचि । ० ॥ २१ ॥ जितम् ० । ० । स मासानां पाशान्मा मोचि । ० ॥ २२ ॥ जितम् ० । ० । सोऽर्धमासानां पाशान्मा मोचि । ० ॥ २३ ॥ जितम् ० । ० । सोऽहोरात्रयोः पाशान्मा मोचि । ० ॥ २४ ॥ जितम् ० । ० । सोऽह्नोः संयतोः पाशान्मा मोचि । ० ॥ २५ ॥ जितम् ० । ० । स द्यावापृथिव्योः पाशान्मा मोचि । ० ॥ २६ ॥ जितम् ० । ० । स इन्द्राग्न्योः पाशान्मा मोचि । ० ॥ २७ ॥ जितम् ० । ० । स मित्रावरुणयोः पाशान्मा मोचि । ० ॥ २८ ॥ जितम् ० । ० । स राज्ञो वरुणस्य पाशान्मा मोचि । ० ॥ २९ ॥

भा०—( जितम्० इत्यादि ) सर्वत्र पूर्ववत् । ( सः निर्ऋत्याः पाशात् ) वह शत्रु निर्ऋति, कठोर दण्ड व्यवस्था के पाश से ( मा मोचि ) न छूट

पावे। ( सः ) वह ( अभूत्याः ) ऐश्वर्य के अभाव, ( निर्भूत्याः ) सम्पत्ति के छिनने, ( पराभूत्याः ) ऐश्वर्य के हाथ से निकल जाने या तिरस्कार के ( पाशात् मा मोचि ) पाश से न छूट जाय ॥ ५-८ ॥ ( सः ) वह ( देव जामीनाम् ) देव विद्वानों की सहज शक्तियों, ( बृहस्पतेः ) बृहस्पति, ( प्रजापतेः ) प्रजापति, ( ऋषीणाम् ) ऋषियों, ( आर्षेयाणाम् ) ऋषि सन्तानों ( अंगिरसाम् ) विशेष आंगिरस वेद के विद्वानों और ( आंगिरसानां ) उनके शिष्यों, ( अथर्वणाम् ) अथर्व वेद के ज्ञाताओं और ( आथर्वणानाम् ) अथर्वाओं के शिष्यों के ( पाशात् मा मोचि ) पाश से न छूट पावें ॥९-१७॥ ( सः ) वह ( वनस्पतीनाम् ) वनस्पतियों, प्रजापालकों, ( वानस्पत्यानाम् ) उनके अधीन अन्य शासकों, ( ऋतूनां ) ऋतुओं, ( आर्तवानाम् ) ऋतुओं में होने वाले पदार्थों, ( मासानाम् ) मासों ( अर्धमासानां ) अर्धमासों, पक्षों, ( अहोरात्रयोः ) दिन और रात्रि के ( पाशात् मामोचि ) पाशसे न छूट पावे ॥ १८-२९ ॥ ( सः ) वह ( संयतोः अन्होः ) गुजरते हुए दो दिनों के, ( द्यावापृथिव्योः ) द्यौ और पृथिवी के, ( इन्द्राग्न्योः ) इन्द्र और अग्नि के, ( मित्रावरुणयोः ) मित्र और वरुण के और ( राज्ञः वरुणस्य ) राजा वरुण के ( पाशात् मा मोचि ) पाशसे मुक्त न हो।

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं स्वरस्माकं यज्ञोऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम् ॥ ३० ॥ तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः ॥ ३१ ॥ स मृत्योः पड्वीशात् पाशान्मा मोचि ॥ ३२ ॥ तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि ॥ ३३ ॥

भा०—( जितम्० इत्यादि ) पूर्ववत्। ( तस्मादमुं० इत्यादि ) पूर्ववत् ( सः मृत्योः ) वह मृत्यु के ( पड्वीशात् ) चरण में पड़ने वाले ( पाशात् ) पाश से ( मा मोचि ) छूटने न पावे। ( तस्य इदं वर्च० इत्यादि ) पूर्ववत् व्याख्या १-४ ॥

## ( ६ ) ऐश्वर्य प्राप्ति ।

चत्वारि वै वचनानि । १ प्रजापति॰, २ मन्त्रोक्ता देवता च, ३, ४ आसुरी गायत्री, १ आसुरी अनुष्टुप , २ आर्च्युष्णिक् , ३ साम्नी पंक्ति॰, ४ परोष्णिक् । चतुर्ऋचं नवमं पर्यायसूक्तम् ॥

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमभ्य/ष्ठां विश्वाः पृतना अरातीः ॥१॥

अथर्व० १० । ५ । ३६ प्र० द्वि० ॥

भा०—( अस्माकम् जितम् ) यह जीता हुआ राष्ट्र हमारा है। ( अस्माकम् उद्भिन्नम् ) यह राष्ट्र की उपज हमारी है। मैं ( विश्वा॰ ) समस्त ( पृतना. ) सेनाओं और ( अराती ) शत्रु सेनाओं को ( अभि-अस्थाम् ) अपने वश करता हूं ।

तदग्निराह तदु सोम आह पूषा मा धात् सुकृतस्य लोके ॥ २ ॥

भा०—( अग्नि तत् आह ) अग्नि इस बात का उपदेश करता है, ( सोम उ तत् आह ) सोम भी इसी का उपदेश करता है । ( पूषा ) पुष्टिकारक भागधुक् नामक अध्यक्ष ( मा ) मुझ को ( सुकृतस्य लोके ) सुकृत अर्थात् पुण्य के लोक में ( धात् ) स्थापित करे ।

अगन्म स्वः स्व/रगन्म सं सूर्यस्य ज्योतिषागन्म ॥ ३ ॥

भा०—हम ( स्व॰ ) सुखमय राष्ट्र को ( अगन्म ) प्राप्त हों, ( सूर्यस्य ज्योतिषा सम् अगन्म ) सूर्य के तेज से युक्त हों, ( स्वः अगन्म ) हम सुख-मय लोक को प्राप्त करें ।

वस्योभूयाय वसुमान् यज्ञो वसु वंशिषीय वसुमान् भूयासं वसु मयि धेहि ॥ ४ ॥

---

१–' अभ्यस्थाम् ' इति मै० स० ।

२–' न आधात् ' इति मै० स० ।

भा०—अति अधिक ऐश्वर्यवान् होने के लिये ( यज्ञः वसुमान् ) यज्ञ, प्रजापति स्वयं वसु ऐश्वर्य से युक्त है । उसकी कृपासे मैं स्वयं ( वसु ) ऐश्वर्य को ( वंशिषीय ) प्राप्त करूं । मैं ( वसुमान् भूयासम् ) धनैश्वर्य सम्पन्न होऊं । (मयि) मेरे में हे परमात्मन्! ( वसु धेहि ) ऐश्वर्य प्रदान कर ।

यह समस्त विजयसूक्त अध्यात्म में अन्तः शत्रुओं के वशीकरण पर भी लगते हैं । समस्त विजय करके हम ( स्वः ) मोक्ष सुख का लाभ करें ।

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

[ तत्र पञ्च पर्यायाः । एकसप्ततिरवसानर्चः । ]



## इति षोडशं काण्डं समाप्तम् ।

षोडशे नव पर्यायाः अनुवाकद्वयं तथा ।
शतं तिस्रोऽवसानर्चो गणयन्तथर्ववेदिभिः ॥



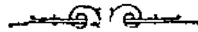
बाणवस्वङ्कसोमाब्दे श्रावणे च सिते शनौ ।
एकादश्यां गतं काण्डं ब्राह्मणः षोडशं शुभम् ॥

इति प्रतिष्ठितविद्यालंकार-मीमांसातीर्थविरुदोपशोभित-श्रीमज्जयदेवशर्मणा विरचिते-ऽथर्वणो ब्रह्मवेदस्यालोकभाष्ये षोडशं काण्डं समाप्तम् ।



❀ ओ३म् ❀

# अथ सप्तदशं काण्डम्



## [ १ ] अभ्युदय की प्रार्थना।

ब्रह्मा ऋषिः। आदित्यो देवता। १ जगती, १, ८ त्र्यवसाना, २-५ अतिजगत्यः, ६, ७, १० अत्यष्टयः, ८, ११, १६ अतिधृतयः, ९ पञ्चपदा शक्वरी, १०, १३, १६, १८, १९, २४ त्र्यवसाना, १० अष्टपदा धृतिः, १२ कृतिः, १३ प्रकृतिः, १४, १५ पञ्चपदे शक्वर्यौ, १७ पञ्चपदा विराडतिशक्वरी, १८ भुरिग् अष्टिः, २४ विराड् अत्यष्टिः, १, ५ द्विपदा, ६, ८, ११, १३, १६, १८, १९, २४ प्रपदा, २० ककुप्, २१ उपरिष्टाद् बृहती, २२ अनुष्टुप्, २३ निचृद् बृहती (२२, २३ यानुष्टुभौ द्विपदे), २५, २६ अनुष्टुप्, २७, ३०, जगत्यौ, २८, ३० त्रिष्टुभौ। त्रिंशदृचं सूक्तम्॥

विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम्। सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम्। ईड्यं नाम ह्व इन्द्रमायुष्मान् भूयासम्॥ १॥ विषासहिं०। ०। ० ह्व इन्द्रं प्रियो देवानां भूयासम्॥२॥ विषासहिं०। ०। ० ह्व इन्द्रं प्रियः पशूनां भूयासम्॥३॥ विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम्। सहमानं सहोजितं

[ १ ] १–( प्र० ) 'विषासहम्', ( तृ० प० ) विषहिन्तं, स्वर्जितं अभिजितं ... सत्राजितम्। " ... नाम भूयासम् इन्द्रमायुष्मान् प्रियो भूयासम्।" 'ह्वया देवानां प्रियो भूयासम्' इति च पैप्प० सं०।

स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम् । ईड्यं नाम ह्व इन्द्रं प्रियः समानानां भूयासम् ॥ ५ ॥

भा०—मैं ( वि-सासहिम् ) विशेष रूपसे शत्रुओं का दमन करने वाले, ( सहमानं ) दमन करते हुए, ( सासहानं ) पुनः २ दमन करने हारे, ( सहमानं ) दमनशील, ( सहोजितम् ) अपने बलसे शत्रु को जय करने वाले, ( स्वर्जितम् ) सुखमय राष्ट्र का विजय करने वाले, ( गोजितम् ) गौआदि पशुओं का विजय करने वाले, ( सं-धनाजितम् ) समस्त धन ऐश्वर्य का विजय करने वाले, ( ईड्यम् ) स्तुति योग्य ( इन्द्रं नाम ) इन्द्र उस ऐश्वर्यवान् सब के राजा परमेश्वर का ( ह्वे ) स्मरण करता हूं । और मैं स्वयम् ( आयुष्मान् ) दीर्घ आयुवाला ( भूयासम् ) होऊं ॥ १ ॥ ( विषासहिम्० ) इत्यादि सर्वत्र पूर्ववत् । ( देवानां प्रियः भूयासम् ) देवों, विद्वानों, अधिकारियों का मैं प्रिय होऊं ॥ २ ॥ ( प्रजानाम् प्रियः भूयासम् ) प्रजाओं का प्रिय होजाऊं ॥ ३ ॥ ( पशूनां प्रियः भूयासम् ) पशुओं का प्रिय होजाऊं ॥ ४ ॥ ( प्रियः समानानां भूयासम् ) अपने समान पुरुषों का प्रिय होजाऊं ॥ ५ ॥

उदिह्युदिहि सूर्य वर्चसा माभ्युदिहि । द्विषंश्च मह्यं रध्यतु मा चाहं द्विषते रधम् । तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि । त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ ६ ॥

भा०—हे ( सूर्य ) सूर्य, सर्वप्रेरक प्राणात्मन् परमेश्वर ! ( उत् इहि-उत् इहि ) तू उदय हो, उदय हो ! ( वर्चसा ) अपने तेज से ( मां ) मेरी

६–( म० ) 'स्वधायां नो धेहि' इति पैप्प० सं० । 'मयायतम्' इति सायणाभिमतः । '[illegible] विष्णेन [illegible] । [illegible] नोऽद्य हितो रथम्' इति ह्वि० का० ।

तरफ को ( उत् इहि ) उदय हो, मेरे सामने प्रकट हो। ( द्विषत् च ) द्वेष करने हारा ( मह्यं ) मेरे ( रध्यतु ) वश हो। और ( अहम् च ) मैं ( द्विषते ) शत्रु के ( मा रधम् ) वश न हो हूं। हे ( विष्णो ) विष्णो ! सर्वव्यापक प्रभो ! ( तव इत् ) तेरे ही ( बहुधा वीर्याणि ) बहुत प्रकार के वीर्य, बलसाध्य कार्य दृष्टिगोचर हो रहे हैं। ( त्वं ) तू ( नः ) हमें ( विश्वरूपैः ) समस्त प्रकार के ( पशुभिः ) पशुओं से ( पृणीहि ) पूर्ण कर। तू ( सुधायाम् ) अपनी उत्तम भरण पोषण करने वाली अमृतरूप शक्ति में और ( परमे व्योमन् ) परम रक्षाकारी स्थान में ( मा धेहि ) मुझे स्थापित कर।

उदिह्युदिहि सूर्य वर्चसा माभ्युदिहि। यांश्च पश्यामि यांश्च न तेषु मा सुमतिं कृधि तवे० । ० ॥ ७ ॥

भा०—हे ( सूर्य ) हृदयाकाश के परमसूर्य, प्रेरकप्रभो ! ( उद् इहि उत् इहि वर्चसा अभि उत् इहि ) उदय होवो, उदय होवो मेरे समक्ष उदय होवो, दर्शन दो। भगवन् ! ( या च पश्यामि ) जिन लोगों को मैं देखूं और ( यान् च न ) जिनको मैं न भी देखूं ( तेषु ) उनमें भी आप ( मा ) मुझको ( सुमतिम् ) सुमति, शुभ, उत्तम बुद्धि और चित्त वाला ( कृधि ) करो ( तव इत्० ) इत्यादि पूर्ववत्।

मा त्वा दभन्त्सलिले अप्स्वशन्तर्ये पाशिनं उपतिष्ठन्त्यत्र। हित्वाशस्तिं दिवमारुक्ष एतां स नो मृड सुमतौ ते स्याम तवे०।०॥८॥

भा०—हे सूर्य ! आत्मन् ! हे राजन् ! जैसे ( सलिले ) सलिल, जल में या गमन करने के मार्ग में ( ये ) जो ( पाशिनः ) गति रोकने वाले, पाश हाथ में

७–( च० ) 'मे' इति ह्विटनिकामितः।

८–( द्वि० ) 'पाशिनम्' ( तृ० ) 'आरुह एतान्' इति पैप्प० सं०।

लिये जालवाले पुरुष ही वैसे हों जो ( अप्सु अन्तः ) प्रजाओं के बीचमें (उपतिष्ठन्ति) आ उपस्थित होते हैं वे ( त्वा, तुझे ( मा दभन् ) पीड़ित न करें। तू (अशस्तिम्) निन्दा को (हित्वा) त्याग कर ( एताम् ) उस (दिवम् आरुहः) द्यौलोक, मोक्षपद को प्राप्त हो। (सः) वह तू (नः) हमें (मृड) सुखी कर। (ते) तेरी (सुमतौ) शुभमति में हम (स्याम) रहें। (तवेद्०) इत्यादि पूर्ववत्।

त्वं न॑ इन्द्र मह॒ते सौभ॑गा॒याद॑ब्धेभि॒: परि॑ पाह्य॒क्तुभि॒: तवे॒०।०॥९॥

भा०—हे ( इन्द्र ) ऐश्वर्यवन् ! ( त्वं ) तू ( नः ) हमें ( महते सौभगाय ) बड़े सौभाग्य—उत्तम ऐश्वर्यों की प्राप्ति के लिये अपने ( अदब्धेभिः ) कभी विनाश न होनें वाले ( अक्तुभिः ) प्रकाशों से ( परि पाहि ) सब ओर से रक्षा कर। ( तव इन्० ) इत्यादि पूर्ववत्।

त्वं न॑ इन्द्रो॒तिभि॑: शि॒वाभि॒: शंत॑मो भव। आ॒रोह॑न्त्रिदि॒वं दि॒वो गृ॑णा॒नः सोम॑पीतये प्रि॒यधा॑मा स्व॒स्तये॒ तवे॒०।०॥ १० ॥ ( १ )

भा०—हे ( इन्द्र ) इन्द्र ! ऐश्वर्यवन् ! साक्षात् दृश्यमान आत्मन् ! ( त्वं ) तू ( नः ) हमारे लिये ( शिवाभिः ) कल्याणकारी ( ऊतिभिः ) रक्षा करने वाली शक्तियों से ( शंतमः भव ) अति अधिक कल्याणकारी हो। हे आत्मन् ! तू ( त्रिदिवं ) अति तीर्णतम, परम लोक को ( आरोहन् ) चढ़ता हुआ ( दिवः ) तेजोमय परमेश्वर की ( गृणानः ) स्तुति करता हुआ ( सोमपीतये ) शान्तिदायक ब्रह्मानन्दरस, मोक्षानन्द का पान करने के लिये और ( स्वस्तये ) अपने पर कल्याण के लिये ( प्रियधामा ) समस्त संसार के धारक, परम धाम का प्रिय होकर रह।

---

९—' अक्तोः परि ' इति पैप्प० स०।

१०—' इन्द्रो ऊतिः दि '-इति पैप्प० स०।

त्वमिन्द्रासि विश्वजित् सर्ववित् पुरुहूतस्त्वमिन्द्र । त्वमिन्द्रेम सुहवं स्तोममेरयस्व स नो मृड सुमतौ ते स्याम तवे०।०॥ ११ ॥

भा०—हे ( इन्द्र ) ऐश्वर्यवान् ! विभूति सम्पन्न आत्मन् ! ( त्वम् ) तू ( विश्वजित् असि ) विश्व, समस्त संसार का विजेता है । हे ( इन्द्र ) इन्द्र ! साक्षात् दृश्यमाण ! आत्मन् ! शक्तिमन् तू ( त्वं सर्ववित् ) तू सर्वज्ञ और ( पुरुहूत असि ) बहुत ऋषि मुनियों द्वारा स्तुति योग्य है । हे ( इन्द्र ) इन्द्र ! आत्मन् ! ( त्व ) तू ( इम ) इस ( सुहव ) उत्तम ज्ञान से युक्त ( स्तोमम् ) स्तुति मन्त्र को ( आ ईरयस्व ) उच्चारण कर । ( स ) वह परम आत्मा ( न ) हमें ( मृड ) सुखी कर । हे परमात्मन् ! ( ते सुमतौ स्याम ) तेरी शुभ मतिमें हम रहें । ( तव इत् ) इत्यादि पूर्ववत् ।

अदब्धो दिवि पृथिव्यामुतासि न त आपुर्महिमानमन्तरिक्षे । अदब्धेन ब्रह्मणा वावृधानः स त्वं न इन्द्र दिवि षंछर्म यच्छ तवे० । ० ॥ १२ ॥

भा०—हे परमात्मन् ! ( दिवि ) द्यौ लोक प्रकाशमय मोक्षलोक में और ( पृथिव्याम् ) पृथिवी लोक भी ( उत ) भी तू ( अदब्ध असि ) अहिंसित, अविनाशी, नित्य अमृत ( असि ) है । ( अन्तरिक्षे ) इस अन्तरिक्षमें भी ये जीवगण ( ते महिमानम् ) तेरे महान् ऐश्वर्य को ( न आयु ) प्राप्त नहीं कर सकते । तू ( अदब्धेन ) अहिंसित नित्य अविनाशी ( ब्रह्मणा ) ब्रह्म के और वेदज्ञों के बल से ( वावृधान ) बराबर बढ़ता हुआ ( सन् ) रहकर ( दिवि ) उस द्यौ लोक, मोक्ष में ( न )

११–( प्र० ) 'विश्ववित्' ( च० ) 'शिवाभिस्तनूभिरभि न सुनस्व' इति पैप्प० सं० ।

१२–( प्र० ) 'दिवस्य' इति पैप्प० सं० ।

हमें (त्वं) तू (शर्म यच्छ) सुख, शरण प्रदान कर। (तव इन्द्र०) इत्यादि पूर्ववत्।

या त इन्द्र तनूरप्सु या पृथिव्यां यान्तरग्नौ या त इन्द्र पवमाने स्वर्विदि। ययेन्द्र तन्वाऽन्तरिक्षं व्यापिथ तया न इन्द्र तन्वा शर्म यच्छ तवे०।०॥ १३॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् परमेश्वर! (ते) तेरी या जो (तनूः) निर्माणकारिणी, सर्जन शक्ति (अप्सु) जलों में, (या पृथिव्याम्) जो पृथिवी में, (या अग्नौ अन्तः) जो अग्नि के भीतर और हे (इन्द्र) परमेश्वर! (या) जो रचना शक्ति (ते) तेरी (स्वर्विदि) स्वः=परम उच्च आकाश तक पहुंचे हुए (पवमाने) आदित्य में है। और हे (इन्द्र) परमेश्वर (यया तन्वा) जिस विस्तृत सर्जनकारिणी वायु शक्ति से (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को (व्यापिथ) व्याप्त करते हो। हे (इन्द्र) इन्द्र परमेश्वर! (तया तन्वा) उस सर्जन शक्ति से (नः) हमें (शर्म) सुख (यच्छ) प्रदान कर। शिवकी अष्टमूर्त्ति, गीताप्रोक्त अष्टधा प्रकृति अथवा 'पुर्यष्टक' का मूल यही मन्त्र है।

त्वामिन्द्र ब्रह्मणा वर्धयन्तः सत्रं नि षेदुरृषयो नाधमानास्तवे०।०॥१४

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र परमेश्वर! (त्वाम्) तुझको (ब्रह्मणा) ब्रह्म वेद से (वर्धयन्तः) बढ़ाते हुए, सर्वत्र तेरी महिमा को गाते हुए, (नाधमानाः) प्रार्थना उपासना करते हुए (ऋषयः) ऋषि लोग (सत्रम्) स्वनन्त ज्ञान यज्ञ में (निषेदुः) विराजते हैं। (तव इन्द्र०) इत्यादि पूर्ववत्।

त्वं तृतं त्वं पर्य्येष्युत्सं सहस्रधारं विदथं स्वर्विदं तवे०।०॥१५॥

भा०—हे इन्द्र परमात्मन्! (त्वं) तू (तृतं) अति विस्तीर्ण महान् आकाश में (परि-एषि) व्यापक है। (त्वं) तू (सहस्रधारम्) सहस्र=समस्त संसार को धारण पोषण करनेहारे (विदथम्) ज्ञान से परिपूर्ण (स्वर्विदम्)

---

१४—'नि' इति सायणाभिमतः।

स्वः, परम सुख, मोक्षानन्द के लाभ करानेहारे ( उरसं ) उस परम स्रोत को भी ( परि एषि ) व्यापे हुए है । ( तव इत्० ) इत्यादि पूर्ववत् ।

त्वं र॑क्षसे प्रदिश॒श्चत॑स्र॒स्त्वं शो॒चिषा॒ नभ॑सी॒ वि भा॑सि । त्वमि॒मा विश्वा॒ भुव॒नानु॑ तिष्ठस ऋ॒तस्य॒ पन्था॒मन्वे॑षि वि॒द्वांस्तवे०।०॥१६॥

भा०—हे परमात्मन् ! ( त्वं ) तू ( चतस्रः ) चारों ( प्रदिशः ) दिशाओं, उनमें निवास करने वाले लोकों की ( रक्षसे ) रक्षा करता है । और ( त्व ) तू ( शोचिषा ) अपने तेज, दीप्ति से ( नभसी ) नीचे और ऊपर के दोनों आकाशों के बीच के समस्त लोकों को भी ( वि भासि ) विविध रूपों में प्रकाशित करता है । ( त्वम् ) तू ( इमा ) इन ( विश्वा भुवना ) समस्त उत्पन्न होने वाले लोकों का ( अनुतिष्ठसे ) अनुष्ठान करता है, बनाता है और उनके समस्त कार्यों का संचालन, सम्पादन करता है । तू ही ( विद्वान् ) सब कुछ जानता हुआ ( ऋतस्य ) त्रिकाल, परम सत्य के ( पन्थाम् ) मार्ग का ( अन्वेषि ) अनुसरण करता है । ( तव इत्० ) इत्यादि पूर्ववत् ।

प॒ञ्चभि॒: परा॒ङ् तप॒स्येक॒यार्वा॒ङश॑स्ति॒मेषि सु॒दिने॒ बाध॑मान॒स्तवे० । ० ॥ १७ ॥

भा०—हे परमेश्वर ! तू ( पञ्चभिः ) पांचों से भी ( पराङ् ) परे, बाहर की ओर ( तपसि ) तप रहा है और तू ( एकया ) एक शक्ति से ( अर्वाङ् ) उरे की ओर ( तपसि ) तप करता है । तू ( सुदिने ) उत्तम दिन=प्रकाशमय अवसर में ( अशस्तिम् ) निन्दनीय अविद्या को ( बाधमानः ) बाधता हुआ ( एषि ) हमें प्राप्त होता है । तवेद्० इत्यादि पूर्ववत् ।

ब्रह्म पक्ष में पांच भूत और एक परम प्रकृति ।

अध्यात्म में—पांच बहिर्मुख प्राण और एक भीतरी चिति शक्ति ।

१७-( प्र० ) ' मसि, पराङ् ' इति पैप्प० सं० ।

त्वमिन्द्रस्त्वं महेन्द्रस्त्वं लोकस्त्वं प्रजापतिः तुभ्यं यज्ञो वि तायते तुभ्यं जुह्वति जुह्वतस्तवे० । ० ॥ १८ ॥

भा०—हे परम आत्मन्! ( त्वम् इन्द्रः ) तू 'इन्द्र' है। ( त्वं महेन्द्रः ) तू 'महेन्द्र' है। (त्वं लोकः) तू 'लोक'=प्रकाशस्वरूप सबका द्रष्टा है। ( त्वं-प्रजापतिः ) तू 'प्रजापति' समस्त प्रजाओं का पालक है। हे परमेश्वर! (यज्ञः) यज्ञ उपासना और देव पूजा के समस्त कार्य ( तुभ्यम् ) तेरे लिये (वितायते) विविध प्रकार से रचे जाते हैं। ( जुह्वतः ) आहुति देनेहारे, ( तुभ्यम् जुह्वति ) तेरे लिये आहुति देते हैं। ( तव इत्० ) इत्यादि पूर्ववत्।

असति सत् प्रतिष्ठितं सति भूतं प्रतिष्ठितम्। भूतं ह भव्य आहितं भव्यं भूते प्रतिष्ठितं तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि। त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ १९ ॥

भा०—(सत्) सत् रूप में प्रतीत होने वाला यह व्यक्त संसार ( असति[1] ) 'असत्', अव्यक्त में ( प्रतिष्ठितम् ) प्रतिष्ठित है, आश्रित है। अथवा ( असति ) 'असत्' अविद्यमान, क्षणभंगुर इस प्राकृतिक जगत् में ( सत् ) निरन्तर एक रस रहने वाला, सदाविद्यमान 'सत्' ही (प्रतिष्ठितम्) सबमें प्रतिष्ठित है, वह सर्वोच्च अधिष्ठातृ रूप पद पर स्थित है। ( सति ) 'सत्' सदा विद्यमान, सत्य विनाशी परमेश्वर पर ( भूतम् प्रतिष्ठितम् ) यह उत्पन्न संसार आश्रित है। ( भूतम् ) यह उत्पन्न हुआ संसार, 'भूत' ( भव्ये ) आगे होने वाले

१८–( द्वि० ) त्वं विष्णुस्त्वं प्रजा०, ( पू० ) 'तुभ्यं यज्ञो वितायते' इति पैप्प० सं०।

१९–'भव्याहितम्' इति पैप्प० सं०।

१. 'असत्' शब्देन निरस्तसमस्तोपाधिकं तत्त्वम्। [illegible] नामरूपात्मकेन [illegible] स्थूलसंस्थात्। अथवा [illegible], [illegible] अव्याकृतं प्रधानमुच्यते। [illegible] इति सायणः

भविष्य पर ( आहितम् ) आश्रित है। और ( भव्यम् ) अर्थात् 'भव्य' भविष्यत् जो होगा वह ( भूते ) भूत, गुजरे हुए काल पर ( प्रतिष्ठितम् ) प्रतिष्ठित है। (विष्णो तव इत् बहुधा वीर्याणि) हे व्यापक परमात्मन्! तेरे ही बहुत प्रकार के वीर्य, सामर्थ्य हैं। (त्वं विश्वरूपैः पशुभिः पृणाहि) तू हमें सब प्रकार के पशुओं से पूर्ण कर। (सुधायां परमे व्योमन् मा धेहि) उत्तम रूपसे धारण करने योग्य, सर्वोत्तम, अमृतस्वरूप परम रक्षास्थान, मोक्ष में मुझे रख। अथवा— असत्, प्रधान, प्रकृति में, 'सत्' व्यक्त, महत्तत्व आश्रित है। उस 'सत्' में 'भूत', पांचों तत्व आश्रित हैं। यह पांचों भूत ही 'भव्य' अर्थात् उत्पन्न होने वाले कार्य जगत् में प्रतिष्ठित हैं। और यह सर्व कार्य जगत् 'भूत' अपने कारणभूत सूक्ष्म पञ्च भूतों में आश्रित है। ये सब भी परमेश्वर के ही नाना आश्चर्यकारी कार्य हैं।

शुक्रो॑ऽसि भ्राजो॑ऽसि। स यथा॒ त्वं भ्राज॑ता भ्राजोऽस्ये॒वाहं भ्राज॑ता भ्राज्यासम् ॥ २० ॥ ( २ )

भा०—हे परमेश्वर ! तू ( शुक्रः असि ) 'शुक्र' कान्तिमय, तेजोमय, एवं सब संसार का बीजरूप है। ( भ्राजः असि ) हे परमेश्वर तू 'भ्राज' अति देदीप्यमान, सबका परिपाक करनेहारा है। ( सः त्वं ) वह तू (यथा) जिस प्रकार से ( भ्राजता ) अपने प्रखर प्रताप से, या जगत् के समस्त पदार्थों के परिपाक करने के सामर्थ्य से ( भ्राजः असि ) तू 'भ्राज' सबका परिपाक करनेहारा है ( एवं ) उसी प्रकार मैं ( भ्राजता ) प्रखर प्रताप से ( भ्राज्यासम् ) देदीप्यमान होऊं।

रुचि॑रसि रो॒चो॑ऽसि। स यथा॒ त्वं रुच्या॒ रोचो॒ऽस्ये॒वाहं प॒शुभि॑श्च ब्राह्मणवर्च॒सेन॑ च रुचिषीय ॥ २१ ॥

२१–' रुचिरसि रुचोऽसि स यथा त्वं रुच्या रोचस्य एवमहं रुच्या रोचिषीय' इति म० सं०।

भा०—( रुचिः असि ) हे ईश्वर तू 'रुचि', कान्ति है । तू ( रोचः असि ) 'रोचस्' है । तू कान्तिमान्, अतिमनोहर है । ( स त्वं ) वह तू ( यथा ) जिस प्रकार ( रुच्या ) अपनी कान्तिसे ( रोचः असि ) रोचस् रुचिकर, मनोहर है ( एवा अहम् ) उसी प्रकार मैं ( पशुभिः च ) पशुओं से और ( ब्राह्मणवर्चसेन च ) ब्रह्मतेज से ( रुचिषीय ) चमकूं, कान्तिमान् बनूं ।

उद्यते नम॑ उदा॒यते॒ नम॒ उदि॑ताय॒ नमः॑ । वि॒राजे॒ नमः॑ स्व॒राजे॒ नमः॑ स॒म्राजे॒ नमः॑ ॥ २२ ॥

भा०—हे परमेश्वर ! ( उद्यते नमः ) सूर्य के समान हृदय में कोमल प्रकाश से उदित होते हुए तुझे नमस्कार है । ( उत् आयते नमः ) ऊपर आने वाले तुझे नमस्कार है । ( उदिताय नमः ) उदित हुए तुझको नमस्कार है । ( विराजे नमः ) विविध रूप से प्रकाशमान 'विराट' रूप तुझको नमस्कार है । ( स्वराजे नमः ) स्वयं प्रकाशमान 'स्वराट्' रूप तुझको नमस्कार है । ( साम्राजे नमः ) समान भाव से सर्वत्र प्रकाशमान तुझ 'सम्राट्' को नमस्कार है ।

अ॒स्तं॒यते॒ नमो॑ऽस्तमेष्य॒ते नमो॑ऽस्तमिताय॒ नमः॑ ।
वि॒राजे॒ नमः॑ स्व॒राजे॒ नमः॑ स॒म्राजे॒ नमः॑ ॥ २३ ॥

भा०—( अस्तं यते नमः ) अस्त होते हुए को नमस्कार है, ( अस्तम् एष्यते नमः ) अस्त होजाना चाहते को नमस्कार है, ( अस्तम् इताय नमः ) अस्त हुए हुए को नमस्कार है । ( विराजे नमः, स्वराजे नमः, सम्राजे नमः ) इति पूर्ववत् । यह प्रलयकालिक परमेश्वर के स्वरूप का वर्णन है । सूर्य का उदय आदि प्राणके जागने के समान है और अस्त होजाना आदि शयन के समान है । उसी प्रकार ईश्वरी शक्ति के विषय में भी मनु कहते हैं:—

एवं स जाग्रत्स्वप्नाभ्यामिदं सर्वं चराचरम् ।
संजीवयति चाजस्रं प्रमापयति चाव्ययः ॥ म० १ ॥

२२—'रोचिषीय' इति पैप्प० सं० ।

इसका स्पष्टीकरण छान्दोग्य उपनिषद् में । देखो 'प्राण-सूर्य' का वर्णन ।

उदगादयमादित्यो विश्वेन तपसा सह । सपत्नान् मह्यं रन्धयन् मा चाहं द्विषते रधं तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि । त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ २४ ॥

ऋ० १ । ५० । १३ ॥

भा०—( अयम् ) यह साक्षात् ( आदित्यः ) सूर्य ( विश्वेन ) समस्त ( तपसा सह ) तप के साथ ( उत् अगात् ) उदित होता है । वह ( मह्यं ) मेरे लिये ( सपत्नान् ) शत्रुओं को ( रन्धयन् ) मेरे वश करे और (अहम्) मैं ( द्विषते ) शत्रु के ( मा रधम् ) वश न होऊं । ( तवेद् विष्णो० ) इत्यादि पूर्ववत् ।

आदित्य नावमारुक्षः शतारित्रां स्वस्तये । अहर्मात्यपीपरो रात्रिं सत्राति पारय ॥ २५ ॥

भा०—हे ( आदित्य ) सबको अपने वश में कर लेने वाले प्रकाशमान सूर्य ! तू ( स्वस्तये ) समस्त कल्याण के लिये ( शतारित्राम् ) सैंकड़ों प्राणियों को त्राण करने में समर्थ ( नावम्[1] ) समस्त संसार को प्रेरण, और संचालन करने में समर्थ शक्ति को ( आ रुक्षः ) सर्वत्र व्याप्त, अधिष्ठित हो । तू (मा) मुझको ( अहः ) दिन के समय या सृष्टि काल के ( अति अपीपरः ) पार पहुंचा और ( सत्रा ) साथ ही ( रात्रिम् अति पारय ) रात्रिकाल या प्रलयकाल के भी पार कर । अथवा ( हे आदित्य नावमारुक्षः[2] ) हे आदित्य ! मैं नाव के समान तेरा आश्रय लेता हूं । तू मुझे दिन रात के कष्टों से पार कर ।

२४–( द्वि० ) 'महमामह' ( तृ० ) 'सपत्नम्' ( च० ) 'माच', इति ऋ० ।

२५–' समारुक्ष ' ( च० ) ' द्विषतो ' ( द्वि० ) 'महमा' इति क्वचित् ।

१, नौ, ग्लानुदिभ्या डौ नुदति प्रेरयति इति नौ इति दयानन्दः उ० ।

सूर्य नावमारुक्षः शतारित्रां स्वस्तये। रात्रिं मात्यपीपरोऽहः सत्राति पारय ॥ २६ ॥

भा०—हे ( सूर्य ) सब जगत् के प्रेरक सूर्य परमात्मन् ! ( स्वस्तये ) कल्याण के लिये तू ( शतारित्राम् ) सैंकड़ों कष्टों से त्राण करने वाली, ( नावम् ) जगत् की प्रेरक शक्ति को ( आरुक्षः ) व्यापता है, उस पर अधिष्ठित है । ( रात्रिं मा अति अपीपरः ) इत्यादि पूर्ववत् ।

प्रजापतेरावृतो ब्रह्मणा वर्मणाहं कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च ।
जरदष्टिः कृतवीर्यो विहायाः सहस्रायुः सुकृतश्चरेयम् ॥ २७ ॥

भा०—( अहम् ) मैं ( प्रजापतेः ) प्रजापालक परमेश्वर के ( ब्रह्मणा ) ब्रह्म, वेदज्ञानरूप ( वर्मणा ) कवच से ( आवृतः ) आवृत, सुरक्षित और ( कश्यपस्य ) सर्वद्रष्टा, कश्यप सूर्य के ( ज्योतिषा ) तेज और ( वर्चसा ) प्रकाश से युक्त होकर (जरदष्टिः) वृद्धावस्था तक भोक्ता, दीर्घायु, (कृतवीर्यः) वीर्यवान् ( विहायाः ) विविध ज्ञान से सम्पन्न ( सहस्रायुः ) सहस्रों वर्षों का जीवन प्राप्त कर ( सुकृतः ) पुण्यकर्मा होकर ( चरेयम् ) विचरूं ।

परीवृतो ब्रह्मणा वर्मणाहं कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च ।
मा मा प्रापन्निषवो दैव्या या मा मानुषीरवसृष्टा वधाय ॥ २८ ॥

भा०—( अहम् ) मैं ( ब्रह्मणा ) ब्रह्म, वेदज्ञान रूप ( वर्मणा ) कवच से ( परिवृतः ) सुरक्षित और ( कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च परीवृतः ) सर्वद्रष्टा परमेश्वर के या सूर्य के समान तेज और कान्ति से युक्त होऊं ( याः दैव्याः ) जो दैवी और ( मानुषीः ) मनुष्य सम्बन्धी ( इषवः ) बाण ( वधाय ) मेरे विनाश के लिये ( अवसृष्टाः ) छोड़े गये हों वे ( मा मा प्रापन् ) मुझे प्राप्त न हों, मुझतक न पहुंचें ।

---

२६—' नावमारिक्षम् ' ' रात्रीं मात्यपीपरः ' इति पैप्प० सं० ।

ऋतेन गुप्त ऋतुभिश्च सर्वैर्भूतेन गुप्तो भव्येन चाहम्।
मा मा प्रापत् पाप्मा मोत मृत्युरन्तर्दधेऽहं सलिलेन वाचः ॥२९॥

भा०—( अहम् ) मैं ( ऋतेन ) सत्यज्ञान, ( सर्वैः ऋतुभिः ) समस्त ऋतु, सत्यज्ञान धारण करने वाले विद्वानों और (भूतेन) भूत और (भव्येन च) भविष्यत् से ( गुप्तः ) सुरक्षित रहूं। ( पाप्मा मा मा प्रापत् ) पाप मुझतक न पहुंचे। ( मृत्युः मा उत ) और मृत्यु भी मुझे प्राप्त न हो। ( अहम् ) मैं ( वाचः सलिलेन ) वाणी के बल से जल से भरी खाई से नगर के समान ( अन्तः दधे ) अपनी रक्षा करूं।

अग्निर्मा गोप्ता परि पातु विश्वत उद्यन्त्सूर्यो नुदतां मृत्युपाशान्।
व्युच्छन्तीरुषसः पर्वता ध्रुवाः सहस्रं प्राणा मय्या यतन्ताम्॥३०॥(३)

भा०—( अग्निः ) अग्नि, अग्रणी, या अग्नि के समान प्रकाशक ज्ञानवान् परमेश्वर ( मा ) मुझे ( विश्वतः परिपातु ) सब ओर से रक्षा करे। और ( सूर्यः ) सूर्य ( उद्यन् ) उदित होता हुआ ( मृत्युपाशान् ) मृत्यु के पाशों को ( नुदताम् ) पर करे। ( व्युच्छन्तीः उषसः ) प्रकाशित होती हुई उषाएं और ( ध्रुवाः पर्वताः ) स्थिर पर्वत और ( सहस्रं प्राणाः ) अपरिमित प्राण ( मयि आयतन्ताम् ) मेरे में क्रियाएं, चेष्टाएं उत्पन्न करें।

## इति सप्तदशं काण्डं समाप्तम्।

[ एकोऽनुवाकः सूक्तञ्च त्रिंशत् सप्तदशे ऋचः । ]

वाणवस्वङ्कसोमाब्दे श्रावणे प्रथमेऽसिते।
द्वितीयस्यां भृगौ सप्तदशं काण्डं गतं शुभम्॥

इति प्रतिष्ठितविद्यालंकार मीमांसातीर्थविरुदोपशोभित श्रीमज्जयदेवशर्मणा विरचिते ऽथर्वणो ब्रह्मवेदस्यालोकभाष्ये सप्तदशं काण्डं समाप्तम्।

३० ( प्र० ) 'गोप परि' ( च० ) 'मयि ते रमन्ताम्' इति पैप्प० सं०।